* ओ३म् *

श्रीमद्रामचन्द्रग्रन्थमालायाः—

(प्रथमप्रसूनरूपा)

श्रीमद्विद्वद्वर-वरदराजाचार्य्य-प्रणीता

* लघु - सिद्धान्त - कौमुदी *

तत्र

(पूर्वार्धरूपः प्रथमो भागः)



सा चेयं

वै० भीमसेन-शास्त्रि-एम्० ए०-साहित्यरत्न-निर्मितया

भैमीनाम्न्यातिपरिष्कृतनूतन–

हिन्दीव्याख्यया

समुद्भासिता

प्राप्ति-स्थानम्

५३७ लाजपतराय मार्केट,

दीवानहाल के सामने,

दिल्ली-६

प्रकाशक—
वैद्य भीमसेन शास्त्री,
M. A. साहित्यरत्न

५३७, लाजपतराय मार्केट
दीवानहाल के सामने
दिल्ली-६

प्रथम संस्करण
मूल्य [illegible] रुपये

मुद्रक
१. शान्ति प्रेस, नया बाज़ार. दिल्ली
(पृष्ठ १—४६४ तक)
२. नवीन प्रेस, फैज़बाज़ार, दिल्ली

Shri Ramachandra Granthamala :—

(1)

LAGHU–SIDDHANTA–KAUMUDI

of

SRI VARADARAJACARYA

PART (I)



Edited
With an exhaustive & critical commentary
known as *Bhaimi Vyakhya*

by

V. BHIM SEN SHASTRI, *M. A. SAHITYARATNA*



To be had of
537, Lajpat Rai Market
Opp : Diwan Hall, DELHI-6

Publisher :—
Vaidya Bhim Sen Shastri,
M. A. Sahityaratna

537, Lajpat Rai Market,
Delhi-6.

First Edition—
Price—Rupees [illegible].

Printed at :—
1. Shanti Press, Delhi
2. Naveen Press, Delhi

[प्रमुख पत्रों की तुला में यह ग्रन्थ]

● पाण्डीचेरीस्थित अरविन्द योगाश्रम का प्रमुख त्रैमासिकपत्र **अदिति** लिखता है :—

"जहाँ तक हमें ज्ञात है यह आधुनिक शैली से विश्लेषणपूर्वक विषय का मर्म समझाने वाली अपने ढंग की पहली व्याख्या है। व्याख्याकार ने भाष्य शैली में आधुनिक व्याख्या शैली का पुट देकर सर्वांग सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। इसमें मूल ग्रन्थ के एक एक शब्द व विचार को पूरा पूरा खोल कर पाठकों के हृदय पर अंकित कर देने का सुन्दर यत्न किया गया है। विद्वान् व्याख्याकार ने लघु सिद्धान्त कौमुदी की भैमीनामक सर्वांगपूर्ण व्याख्या प्रकाशित करके राष्ट्र-भाषा की महान् सेवा की है। व्याकरण में प्रवेश के इच्छुक छात्र व्युत्पन्न विद्यार्थी, जिज्ञासु, व्याकरणप्रेमी, अध्यापक और अन्वेषक सभी के लिये यह ग्रन्थरत्न एक सा उपयोगी सिद्ध होगा। इसमें हमें तनिक भी सन्देह नहीं"।

●● हिन्दी के प्रमुख मासिकपत्र **सरस्वती** की सम्मति :—

"लघुकौमुदी पर अब तक हिन्दी में कोई विश्लेषणात्मक व्याख्या नहीं निकली है, प्रस्तुत व्याख्या इस दिशा में नया कदम है। हमें विश्वास है कि प्रस्तुत व्याख्या की लेखनशैली, क्लिष्ट स्थलों का विस्तृत उद्घाटन तथा सूत्रों की प्राञ्जल व्याख्या प्रत्येक संस्कृतप्रेमी पाठक पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकेगी। पुस्तक न केवल विद्यार्थियों वरन् संस्कृत का अध्ययन करने वाले सभी लोगों के लिये सङ्ग्रहणीय है"।

●●● उत्तर भारत का प्रमुखपत्र **नवभारत टाइम्स** लिखता है :—

"लेखक महोदय ने कई वर्षों के कठोर परिश्रम के पश्चात् यह ग्रन्थ तैयार किया है। जो संस्कृत पढ़ने वाले विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिये समान रूप से उपयोगी है। ग्रन्थकर्ता स्वयं विद्याव्यसनी हैं और विद्याप्रसार ही उनके जीवन की लगन है। हमें पूरी पूरी आशा है कि आबालवृद्ध संस्कृत-प्रेमी इस ग्रन्थरत्न को अपनाकर परिश्रमी लेखक के इस प्रकार के अन्य भी अपूर्व ग्रन्थ प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त करेंगे"।

विषय-सूची

●

●

व्याकरण-प्रशस्तिः

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥१॥

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानाम् अधिविद्यं प्रकाशते ॥२॥

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानाम् अजिह्मा राजपद्धतिः ॥३॥

यदेकं प्रक्रियाभेदै-र्बहुधा प्रविभज्यते ।
तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥४॥

(महावैयाकरण-भर्तृहरिकृत-वाक्यपदीयतः)

प्राक्कथनम्

यह ग्रन्थ १७ अगस्त १९४१ में लिखा जाना आरम्भ होकर सन् १९४६ के अगस्त के अन्तिमचरण में समाप्त हुआ था। बीच के कुछ वर्षों में सामग्री के अभाव वा कुछ अन्य सांसारिक परिस्थितियों के कारण यह रुक गया था। इसका मुद्रण १९४६ के अगस्त मास के अन्तिम चरण से आरम्भ होकर दिसम्बर १९४९ में समाप्त हुआ है। मुद्रण के इस काल में मातृभूमि के खण्डशः होने का दुर्भाग्यपूर्ण काल भी सम्मिलित है। पाकिस्तान बनने से लेखक को जो आर्थिक वा मानसिक क्षति हुई–वह वर्णनातीत है। इसका प्रभाव ग्रन्थ पर भी पड़ा। लेखक के मन में जैसा इसका सौन्दर्यावह रूप चित्रित था–वैसा न बन पड़ा। कागजों की महर्घता भी कम रुकावट न थी। बाज़ार में इस साइज़ का कागज़ मिलना बहुत ही कठिन था। हम ने कई बार इसे मुद्रण के बीच में ही छोड़ देना चाहा; पर हमें सदा यही ध्यान आता रहा कि जिस ग्रन्थ को इतने परिश्रम से लिखा गया है उसका कम-से कम एक संस्करण तो जनता के आगे आ जाना चाहिये—फिर जनता जाने और उसका काम। हमारे कई विद्वान् मित्रों ने भी हमें धैर्य बन्धाया और कहा—"तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ नहीं जायगा, अभी भारत में गुण ग्राहकों का अभाव नहीं हुआ, एक बार ग्रन्थ किसी-न-किसी प्रकार मुद्रित अवश्य करा लो"। आज वृद्धों के शुभाशीर्वाद और मित्रों की मङ्गल प्रेरणास्वरूप यह ग्रन्थ आप लोगों के सामने प्रस्तुत है।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का उद्देश्य कुछ धनादि का अर्जन करना नहीं है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के उद्देश्य से लिखा और प्रकाशित किया गया है। यह तो "घाटे का सौदा" है। यद्यपि 'पाकिस्तान' बनने से पूर्व हमारा विचार इस ग्रन्थ को अत्यल्प नाममात्र मूल्य पर देने का था तथापि अब अपनी आर्थिक परिस्थितियों के कारण वैसा नहीं किया जा सकता। फिर भी यह ग्रन्थ लागत से बहुत कम मूल्य पर कई सहस्र का घाटा सह कर दिया जा रहा है। पर इतना होने पर भी यदि जनता व संस्कृतान्वेषणप्रेमी इस ग्रन्थ को अपना कर कुछ लाभान्वित हो सके तो मैं अपने परिश्रम को सफल मानूंगा और इस ग्रन्थ का उत्तरार्ध शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करने में सफल हो सकूंगा।

विनीत—
भीमसेन शास्त्री

मुकर्जी गली
गांधीनगर, दिल्ली-३१

आत्म-निवेदनम्

——०×०——

संस्कृतभाषा सब भाषाओं की जननी है अत एव वह संसार की अत्यन्त प्राचीनतम भाषा है—यह बात प्रायः निर्विवाद सिद्ध है। यदि कोई पुरुष संस्कृत-भाषा पर अधिकार करले तो संसार की किसी भी भाषा पर उसका आधिपत्य अल्पायास से ही सिद्ध हो सकता है। इसके अतिरिक्त संस्कृताध्ययन का एक और भी बड़ा प्रयोजन है। क्योंकि प्रायः संसार भर की सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्पराओं वा कलाकौशल आदि विद्याओं का आदिस्रोत भारत और तत्कालीन भाषा संस्कृत ही रही है अतः संसार की सांस्कृतिक परम्परा वा उसके सच्चे इतिहास का ज्ञान होना तब तक सम्भव नहीं जब तक संस्कृतभाषा पर आधिपत्य प्राप्त न कर लिया जावे। हिन्दू, आर्यों के लिए संस्कृत का जानना तो और भी आवश्यक है; क्योंकि उनकी सारी की सारी धार्मिक वा सांस्कृतिक परम्परा संस्कृतभाषा में ही निबद्ध है। संस्कृतभाषा में केवल भारत का ही नहीं किन्तु विश्व और मानवजाति का लाखों वर्ष पूर्व का इतिहास अब इस जीर्णावस्था में भी सुरक्षित है।

यद्यपि संस्कृतभाषा लाखों वर्षों तक विश्व में लोकव्यवहार वा बोलचाल की भाषा रह चुकी है और उसमें यह गुण संसार की किसी भी भाषा से कम नहीं है—तथापि विधिवशात् लोकव्यवहार वा बोलचाल से सर्वथा उठ जाने के कारण वह आज मृतभाषा [Dead Language] कही जाती है। अतः आज के युग में उसका अध्ययन विना व्याकरणज्ञान के होना सम्भव नहीं। संसार में केवल संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जिसका व्याकरण सर्वाङ्गीण और पूर्ण [Complete] कहा जा सकता है। संस्कृतभाषा के व्याकरणों में महामुनि पाणिनिनिर्मित पाणिनीयव्याकरण ही इस समय तक के बने व्याकरणों में सर्वश्रेष्ठ, अत्यन्तपरिष्कृत, वेदाङ्गों में गणनीय, प्राचीन और लब्धप्रतिष्ठ है।

महामुनि पाणिनिजी का काल अभी निश्चित नहीं हुआ; परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि उनका आविर्भाव भगवान् बुद्ध से बहुत पूर्व हो चुका था। कुछ

विद्वानों की सम्मति में छन्दःसूत्र के निर्माता श्रीपिङ्गल उनके छोटे भ्राता थे† । उनका जन्म निरुक्तकार यास्क से या तो कुछ पहले या समकाल में हुआ प्रतीत होता है* । महामुनि पाणिनि सरीखा वैयाकरण संसार में फिर आजतक उत्पन्न नहीं हुआ । साङ्गोपाङ्ग वेद, उसकी अनेकविध शाखाएँ, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषत्, कल्प, ज्योतिष, इतिहास, कोष, विविध कलात्मक साहित्य काव्यादि, अनेकविध देशीय वा प्रान्तीय भाषाओं के सूक्ष्मप्रभेदक ग्रन्थ, इस प्रकार न जाने अन्य भी

---

† सम्भवतः यह मत ठीक ही है । पिङ्गल भी अपने ज्येष्ठ भ्राता का अनुकरण करते हुए अष्टाध्यायी के समान छन्दःसूत्र को आठ ही अध्यायों में निबद्ध करते हैं । षड्गुरुशिष्य अपनी वेदार्थदीपिका में लिखता है—

"तथा च सूच्यते हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन 'क्वचिन्नवकाश्चत्वारः' इति परिभाषा" । अर्थात् पाणिनि के अनुज = कनिष्ठ भ्राता भगवान् पिङ्गल ने 'क्वचिन्नवकाश्चत्वारः' सूत्र बनाया । यह सूत्र पिङ्गल के छन्दःसूत्र में ३।३३ पर पढ़ा गया है ।

ध्यान रहे कि पाणिनि के नाम से प्रचलित 'पाणिनीयशिक्षा' भी पाणिनि के कनिष्ठ भ्राता पिङ्गल द्वारा ही छन्दोबद्ध की गई है । पाणिनि ने अपनी शिक्षा निश्चय ही सूत्रबद्ध की थी । 'बनारस संस्कृत सीरीज़' के शिक्षासङ्ग्रह में छपी ऋग्वेदीय पाणिनीयशिक्षा पर एक व्याख्या 'शिक्षाप्रकाश' नामक है । उसका कर्ता सम्भवतः यादवप्रकाश वा हलायुध है । उसके आरम्भ में यह दूसरा श्लोक आया है—"व्याख्याय पिङ्गलाचार्यसूत्राण्यादौ यथायथम् । शिक्षां तदीयां व्याख्यास्ये पाणिनीयानुसारिणीम्" । इसी प्रकार आगे—"ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो [ज्येष्ठ-?] व्याकरणेऽनुजस्तत्र भगवान् पिङ्गलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते" [शिक्षासंग्रह पृष्ठ ३८५]

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक श्रीस्वामीदयानन्दसरस्वती ने जिन शिक्षासूत्रों पर अपना व्याख्यान लिखा है—सम्भवतः वे वास्तविक पाणिनिशिक्षा के सूत्र हैं । काशिका में उद्धृत शिक्षासूत्र इसी शिक्षा के ही सूत्र प्रतीत होते हैं ।

*श्रीयास्क ने अपने निरुक्त में पाणिनि का एक सूत्र उद्धृत किया है—'परः सन्निकर्षः संहिता (देखो निरुक्त १ । १७ ।) । हमारा तो यह विचार है कि पिङ्गलपाणिनि और यास्क सम्भवतः समकालीन ही हैं । 'उरोबृहतीति यास्कस्य' (छन्दःसूत्र ३. ३०) सूत्र में पिङ्गल यास्क का स्मरण करता है । यास्क 'परः सन्निकर्षः संहिता' कह कर पाणिनि का स्मरण करता है और पाणिनि । ६ । २ । ८५ । के गण में पिङ्गल का तथा । ४ । ३ । ७३ । के गण में पिङ्गलकृत 'छन्दोविचिति' ग्रन्थ का स्मरण करता है ।

कितना विशाल वाङ्मय उनके अध्ययन और मनन का विषय रहा होगा—इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनका निस्सन्देह लोक एवं वेद पर समानरूप से अधिकार था। वे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी में प्रत्यक्षतः वा अप्रत्यक्षतः सैंकड़ों व्यक्तियों, ग्रन्थों और स्थानों का स्मरण करते हैं+। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि उन्हें सृष्टि के आदि से चली आ रही इतिहासपरम्परा, साहित्य, कला, दर्शन आदि का पूर्ण ज्ञान था। सचमुच वह अलौकिकप्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन जैसे व्यक्ति को जन्म देकर भारत का मुख चिरकाल तक उज्ज्वल रहेगा। इस प्रकार के व्यक्ति सृष्टि में बार-बार उत्पन्न नहीं होते। एक सुभाषित के अनुसार उनका निधन एक जङ्गली सिंह के कारण हुआ माना जाता है†।

पाणिनि के व्याकरण का सम्भवतः उसकी विशेषताओं के कारण बहुत शीघ्र प्रचार हुआ। लोगों ने पाणिनीयव्याकरण के आगे पूर्व के सब व्याकरणों को तुच्छ वा हेय समझा। इनके कई शताब्दी बाद कात्यायन और पतञ्जलि ने पाणिनीयव्याकरण को परिष्कृत करने का अपूर्व कार्य किया। कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों द्वारा सूत्रार्थ वा पाणिनि के गुप्त आशयों को भली प्रकार प्रकट किया। महामुनि पतञ्जलि ने रही-सही सब कसर पूरी करके पाणिनीयव्याकरण की

+ यथा—वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् (४. ३. ९८), कठचरकाल्लुक् (४. ३. १०७), पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (४. ३. ११०), तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् (४. ३. १०२), काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः (४. ३. १०३), कालापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च (४. ३. १०४), पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (४. ३. १०५), शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४. ३. १०६), कर्मन्दकृशाश्वादिनिः (४. ३. १११), सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ (४. ३. ९३), तूदीशलातुरवर्मतीकूचवारात्........ (४. ३. ९४), लोपः शाकल्यस्य (८. ३. १९), लङः शाकटायनस्यैव (३. ४. १११), ऋतो भारद्वाजस्य (७. २. ६३) इत्यादि।

† सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्,
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥

शार्दूलविक्रीडित छन्दः

कीर्त्तिपताका चहुं दिशाओं में फहरा दी। पाणिनीयव्याकरण पर पतञ्जलि का लिखा "महाभाष्य" नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक और अपनी शैली का अपूर्व भाष्य है*।

इस प्रकार सैंकड़ों वर्षों तक पाणिनीयव्याकरण अपने असली रूप अर्थात् सूत्रपाठ के क्रमानुसार पठनपाठन में प्रचलित रहा✓। परन्तु जब संस्कृत का स्थान अपभ्रंश वा प्राकृत आदि भाषाओं ने लेना शुरू किया—और संस्कृत केवल साहित्य में ही प्रयुक्त होने लगी तब लोगों को ज़रा असुगमता का भास हुआ। तब उन्होंने सूत्रक्रम के साथ प्रक्रियाक्रम का भी प्रचलन आरम्भ किया। इसके फलस्वरूप पाणिनिव्याकरण का आश्रय करते हुए माधवीय धातुवृत्ति, प्रक्रिया-कौमुदी, प्रक्रियासर्वस्व, सिद्धान्तकौमुदी आदि अनेक ग्रन्थ बने। परन्तु जिस प्रकार पाणिनि का व्याकरण अपने से पूर्ववर्त्ती सब व्याकरणों में मूर्धस्थानीय बन पड़ा था; ठीक उसी प्रकार श्रीभट्टोजिदीक्षित की 'सिद्धान्त-कौमुदी' भी प्रक्रिया-पन्थ का सर्वोत्तम ग्रन्थ बना। दीक्षितजी की यह कृति प्रक्रियामार्ग की पराकाष्ठा वा चरमसीमा समझनी चाहिये।अत एव भारत में उसके ग्रन्थ का महान् आदर हुआ। दीक्षितजी पाणिनीयव्याकरण में कृतभूरिपरिश्रम थे। अष्टाध्यायीक्रमानुसार लिखा गया उनका 'शब्द-कौस्तुभ' नामक ग्रन्थ उनके पाण्डित्य का परिचायक है। कई लोग दीक्षितजी की कुछ अशुद्धियों को देखकर उनके पाण्डित्य पर आक्षेप करते हैं—यह उनकी भूल है; अशुद्धियां करना मानव का स्वभाव है। इससे दीक्षितजी की कीर्त्तिचन्द्रिका कलङ्कित नहीं की जा सकती†।

---

*पतञ्जलि के विषय में विस्तृतविचार "महर्षि पतञ्जलि और तत्कालीन भारत" नामक लघुपुस्तक में देखें। यह पुस्तिका 'गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गड़ी हरिद्वार' से प्रकाशित हुई है।

✓ देखो 'इत्सिङ्ग की भारत यात्रा'।

† भट्टोजिदीक्षित का काल सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। नाम के अन्त में 'जी' के प्रयोग से इनका दाक्षिणात्य होना प्रतीत होता है परन्तु इनका निवास काशी में था। इनके पिता का नाम श्रीलक्ष्मीधरपण्डित तथा गुरु का नाम श्रीशेषकृष्ण था। दीक्षितजी के पुत्र श्रीभानुजीदीक्षित की अमरकोष पर 'व्याख्यासुधा' नामक व्याख्या अत्यन्त प्रसिद्ध है। दीक्षितजी केवल वैयाकरण ही न थे किन्तु धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड आदि के भी महापण्डित थे। इनके बनाए ग्रन्थों की सङ्ख्या ३१ बताई जाती है।

इन्हीं दीक्षितजी के शिष्य श्रीवरदराज ने+ आजकल के समय आरम्भ से ही सिद्धान्तकौमुदी के अध्ययन में विद्यार्थियों की असमर्थता देखते हुए 'मध्य-सिद्धान्त-कौमुदी' और 'लघु-सिद्धान्त-कौमुदी' नामक दो ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी को सङ्क्षिप्त करके लिखे। इन्हें सिद्धान्तकौमुदी का सङ्क्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है। उनका विचार पाणिनीयव्याकरण में बालकों का सरलता से प्रवेश कराना था। यह बात ग्रन्थारम्भ में स्वयं उन्होंने स्वीकार की है*। इन दोनों सङ्क्षिप्त संस्करणों में 'लघु-सिद्धान्त-कौमुदी' नामक ग्रन्थ विशेषरूप से प्रचलित हुआ है। प्रायः विद्यार्थी प्रारम्भ में इसे पढ़ कर तदनन्तर 'सिद्धान्तकौमुदी' के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ करते हैं।

लघुकौमुदी वा सिद्धान्तकौमुदी पर—जहां तक मेरा विचार है—अभी तक कोई आधुनिक ढंग पर विश्लेषणात्मक मर्म समझाने वाली विस्तृत हिन्दीव्याख्या नहीं निकली, जो थोड़ी बहुत हिन्दीव्याख्याएं मिलती भी हैं वे भी प्रायः सब पुरानी शैली की केवल संस्कृतशब्दों के स्थान पर हिन्दी पर्याय रख देने मात्र में

+ श्रीवरदराज का काल भी दीक्षितजी वाला है। श्रीवरदराज के पिता का नाम 'दुर्गातनय' था। इन्होंने मध्यकौमुदी और लघुकौमुदी के अतिरिक्त 'सारकौमुदी' और 'गीर्वाणपदमञ्जरी' नामक अन्य ग्रन्थ भी लिखे थे। श्रीवरदराज ने यद्यपि 'सिद्धान्तकौमुदी' का सङ्क्षिप्त संस्करण ही 'लघुकौमुदी' बनाया है, तथापि प्रकरणों की दृष्टि से लघुकौमुदी का क्रम 'सिद्धान्तकौमुदी' के क्रम से बहुत श्रेष्ठ है। सिद्धान्तकौमुदी में अव्ययप्रकरण के बाद 'स्त्रीप्रत्ययप्रकरण' आरम्भ हो जाता है, पर लघुकौमुदी में स्त्रीप्रत्ययप्रकरण सब प्रकरणों के अन्त में रखा गया है—और यह उचित भी है क्योंकि विना कृदन्त और तद्धितान्त का ज्ञान प्राप्त किये स्त्रीप्रत्ययप्रकरण के—'टिड्ढाणञ्......' 'कृदिकारादक्तिनः' आदि सूत्रों का समझना अतीव दुष्कर है। इसीप्रकार कारकप्रकरण के विषय में भी समझना चाहिये। कारकप्रकरणगत 'कर्तृकरणयोस्तृतीया, अकथितञ्च' आदि सूत्र तथा अभिहित अनभिहित आदि की व्यवस्था विना तिङन्त और कृदन्त प्रकरणों के ज्ञान के समझनी कठिन है। अतः वरदराज ने तिङन्त और कृदन्त प्रकरणों के अनन्तर ही कारकप्रकरण को रखा है।

* नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान्।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम्॥
नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्॥

ही सन्तोष प्रकट करने वाली हैं। ग्रन्थकार के एक-एक शब्द वा विचार का विस्फोरण कर पाठकों के हृदयों में उसे अङ्कित कर देने का तो किसी को विचार ही उपस्थित नहीं हुआ। उदाहरणतः—आप 'स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था', 'नष्टादीनां ग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्', 'अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषय आत्वं ज्ञापयति'—इत्यादि स्थलों को उन टीकाओं में देखें, आप सन्तुष्ट नहीं हो सकेंगे।

आज जब भारत स्वतन्त्र हुआ है—और हिन्दी उसकी राष्ट्रभाषा बनने जा रही है—निस्सन्देह विदेशी वा स्वदेशी लोग उसकी राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपनावेंगे। परन्तु यह निश्चित-सा है कि विना संस्कृत का अच्छा अध्ययन किये हिन्दी में प्रौढता प्राप्त करना दुष्कर ही नहीं वरन् असम्भव सा है। अतः इस काल में संस्कृतप्रचार के लिए हमें हिन्दी में ऊँचे-सेऊँचे ज्ञानवर्धक अन्वेषणात्मक ग्रन्थ सरल-से-सरल रीत्या लिखने चाहियें। हमने अपनी व्याख्या इसी विचार को दृष्टिगोचर रखते हुए लिखी है। इसमें हमारी मुख्यदृष्टि अन्वेषण पर ही रही है। जिसे आज के युग में व्याख्या का एक प्रमुख अङ्ग माना जाता है। मूल में जहां-जहां कोई कठिन स्थल आया है वहां-वहां हमने ग्रन्थविस्तर का भय छोड़ उसका पूरा-पूरा वर्णन किया है। ऊपर के उद्धृत स्थलों पर आप हमारा व्याख्यान देखकर यह अनुभव करने लगेंगे कि अब इस विषय पर कुछ शेष नहीं रहता।

यह व्याख्या सार्वजनीन अर्थात् सर्वजनोपयोगिनी है। इसे अत्यल्प ज्ञान वाले विद्यार्थी, व्युत्पन्न विद्यार्थी, जिज्ञासु, व्याकरणप्रेमी, अध्यापक, अन्वेषणप्रेमी—जो भी देखेंगे अपने-अपने सामर्थ्यानुकूल पूर्ण उपयोगी पाएंगे। अध्यापक यदि इसका स्वयं विचार करके विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाएंगे, तो वे ग्रन्थकार का आशय अपने छात्रों के हृदयपटल पर अतिशीघ्र अङ्कित करने में समर्थ हो सकेंगे। इसी प्रकार यदि छात्र अपने अध्यापकों से ग्रन्थ का पाठ पढ़ कर इस व्याख्या का अवलोकन करेंगे तो उन्हें निश्चय ही अपूर्व लाभ होगा। एवम् अन्वेषणप्रेमी विदेशी वा स्वदेशी विद्वानों के लिए भी यह समानरूपेण उपयुक्त सिद्ध होगी।

हमने व्याकरण जैसे कठिन विषय को सरल से सरल करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। अनेक विवादास्पद स्थलों का स्पष्टीकरण करते हुए भिन्न-भिन्न विद्वानों की सम्मति भलीभाँति लिखकर अपनी सम्मति भी स्पष्टरूपेण अङ्कित की है। कई कठिन स्थल अत्यन्त सरल रीति से लौकिक उदाहरण देकर स्पष्ट

किये गये हैं, यथा—'न लुमताङ्गस्य' की अनित्यता वाला स्थल, स्थानिवद्भाव में 'अनल्विधौ' वाला अंश आदि।

इस ग्रन्थ की कुछ मोटी-मोटी विशेषताएं निम्नलिखित हैं—१ सूत्रार्थ, २ अभ्यास, ३ शब्दसूची, ४ अव्ययप्रकरण।

सूत्रार्थ—

जहां तक हमें ज्ञात है कि लघुकौमुदी के किसी टीकाकार ने 'सूत्र से अर्थ कैसे उत्पन्न होता है'— इस पर कुछ भी विचार नहीं किया। लघुकौमुदी तो क्या सिद्धान्तकौमुदी तक के कुछ टीकाकारों को छोड़कर प्रायः सब व्याख्याकर्त्ताओं ने इस विशेषता की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया। तीन अक्षरों के सूत्र का पैंतीस अक्षरों वाला अर्थ कैसे हो गया—यह वे नहीं बताते। केवलमात्र वृत्ति को घोट कर सूत्रार्थ का स्मरण करना महान् दोषावह है। मैंने अनेक अच्छे-अच्छे व्युत्पन्न विद्यार्थी देखे हैं जो प्रत्येक सूत्र का अर्थ तो बता सकते हैं परन्तु सूत्र का पदच्छेद तक नहीं कर सकते। यह सारा दोष केवलमात्र वृत्ति घोटने (रटने) का है। हमारे विचार में तो प्रत्येक विद्यार्थी को व्याकरण अध्ययन करने से पूर्व पाणिनिजी का 'अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ' क्रमपूर्वक कण्ठस्थ करना चाहिये। इससे वृत्ति रटने की आवश्यकता नहीं रहती, केवलमात्र वृत्ति को समझ लेना ही पर्याप्त होता है; क्योंकि सूत्रों का पौर्वापर्य तो विदित होता ही है। हमारी यह निश्चित धारणा है कि विना अष्टाध्यायीक्रम जाने—प्रक्रियामार्ग से 'पूर्वत्रासिद्धम्', एकसञ्ज्ञाधिकार, एकादेशाधिकार, भसञ्ज्ञा, पदसञ्ज्ञा, 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' वाला परिगणन आदि अनेक सूत्र वा स्थल ठीक-ठीक रीति से कदापि हृदयङ्गम नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त अष्टाध्यायी में दर्जनों प्रकरण एकत्रितावस्था में अपने-अपने स्थान पर अवस्थित हैं। आपको यदि प्रक्रिया में कोई सूत्र भूल जाए या सन्देह पड़ जाय तो आप अष्टाध्यायी का वह सम्पूर्ण प्रकरण मन में पढ़ सकते हैं, तुरन्त आपका सन्देह मिट जायगा अथवा वह विस्मृत सूत्र याद आ जायगा। यथा—आपको कहीं प्रक्रिया में इत्सञ्ज्ञक सूत्र के विषय में सन्देह है तो आप अष्टाध्यायी का वह प्रकरण मन ही मन पढ़ कर अपना सन्देह निवारण

कर सकते हैं। अष्टाध्यायी का इत्सञ्ज्ञक प्रकरण प्रथमाध्याय के तृतीयपाद के आरम्भ में निम्नप्रकारेण है—

उपदेशेऽजनुनासिक इत् ।१।३।२।।
हलन्त्यम् ।१।३।३।।
न विभक्तौ तुस्माः १।३।४।।
आदिर्ञिटुडवः १।३।५।।
षः प्रत्ययस्य ।१।३।६।।
चुटू ।१।३।७।।
लशक्वतद्धिते ।१।३।८।।
तस्य लोपः ।१।३।९।।

इस प्रकरण के अतिरिक्त इत्सञ्ज्ञाविषयक सूत्र आपको अन्यत्र कहीं भी अष्टाध्यायी में नहीं मिलेगा। यह विशेषता प्रक्रियामार्गगामी कौमुदी आदि ग्रन्थों में उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसी प्रकार—णत्व, षत्व, कित्त्व, पित्त्व, प्रगृह्य-सञ्ज्ञा, आत्मनेपदप्रक्रिया, परस्मैपदप्रक्रिया, समासान्त, एकसञ्ज्ञाधिकार, एकादेशाधिकार आदि दर्जनों प्रकरण आपको एकत्रावस्थित अष्टाध्यायी में मिल सकेंगे। पटना कालेज के व्याकरणशास्त्र के प्रधानाध्यापक श्री पण्डित हरिशङ्कर शर्मा पाण्डेय स्वनिर्मित 'आर्ष पाणिनीयं व्याकरणम्' में इस विषय पर अत्यन्त मार्मिक लेखनी उठाते हुए लिखते हैं—

"यच्छास्त्रं वटुभिर्दिनैः कतिपयैः क्रीडामनस्कैरपि,
स्वाचार्याश्रमवासिभिः सरलया रीत्या पुराधीयते।
गुर्वर्थं परिपूर्णमुत्तमतया सङ्क्षिप्तकायञ्च यत्,
तत्कीदृग्विपरीतरूपमधुना हा हन्त ! जोघुष्यते ?।।

तदिदानीं महाकायं भीमरूपं गृहीतवत्।
यद्दृष्ट्वा प्रपलायन्ते बालाः कोमलबुद्धयः।।
योऽप्याग्रहेण पठति पाणिनिक्रमवर्जितम्।
तदवश्यं स सम्पूर्णं यापयत्यत्र जीवितम्।।
अयि विद्वद्वरा धीरा निजशिष्यायुषः क्षयम्।
रात्रिन्दिवं जायमानं मनागपि न पश्यथ !।।
तस्मात्क्रमेण सूत्राणि पठनीयानि यत्नतः।
अनुवृत्त्यादिसौकर्यात्तदर्थोऽपि न दुर्ग्रहः।।

पाणिनीयपठनाय पाणिनेयं: क्रम: स न कदापि हीयताम् ।
वृत्तिघोषणमहापरिश्रमान्मुक्तिरेव फलमस्य दृश्यताम् ।।"

तो हमने इस व्याख्यान में लघुकौमुदी के प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, पदों का विभक्ति-वचन, पिछले सूत्रों से आ रहे अनुवर्त्तित पद और उनका विभक्ति-वचन, समास और आवश्यक प्रत्यय तथा परिभाषाओं के कारण होने वाले परिवर्त्तनों का पूरा-पूरा वर्णन किया है। इसके पढ़ने से विद्यार्थी के हृदय में सूत्रार्थ के प्रति तनिक भी सन्देह शेष नहीं रह जाता—वह सूत्र के अन्दर तक घुस कर स्वयं ही वृत्ति वाला अर्थ निकाल सकता है। मेरे ध्यान में आज तक इस प्रकार का प्रयत्न लघुकौमुदी पर नहीं किया गया।

अभ्यास—

इस ग्रन्थ की दूसरी बड़ी विशेषता—"अभ्यास" है। प्रायः प्रत्येक प्रकरण वा अवान्तर प्राकरणिक विषय के अन्त में 'अभ्यास' जोड़ दिया गया है। ये अभ्यास साधारण पुस्तकों के अभ्यासों की तरह नहीं हैं, किन्तु महान् परिश्रम से जुटाए गये अभ्यास हैं। सन्धिप्रकरण के अभ्यासों में आप ऐसे अनेक उदाहरण पाएंगे—जो अन्यत्र मिलने दुर्लभ हैं। इसी प्रकार अन्य अभ्यासों में भी विद्यार्थियों की ज्ञानविवृद्धि के लिये अनेक भ्रमोत्पादक रूप भ्रमोच्छेदपूर्वक बड़े परिश्रम से सङ्गृहीत किये गये हैं, इन्हें देखकर विद्वत्समाज को निश्चय ही सन्तोष होगा। हमारी यह धारणा है कि यदि इन अभ्यासों को कोई छात्र युक्तरीत्या अभ्यस्त (हल) कर ले तो वह साधारण सिद्धान्तकौमुदी पढ़े-लिखे छात्र से अधिक व्युत्पन्न होगा। विद्यार्थियों को इन अभ्यासों का पुनः-पुनः मनन करना चाहिये। व्याख्यागत सभी विशिष्ट बातें प्रायः इन अभ्यासों में प्रश्नरूप से पूछ ली गई हैं।

शब्दसूची—

इस व्याख्या की तीसरी असाधारण विशेषता है—'शब्दसूची'। आपको आजतक के मुद्रित व्याकरणग्रन्थों में इस प्रकार का प्रयत्न कहीं भी किया गया नहीं मिलेगा। इन शब्दसूचियों का उद्देश्य विद्यार्थियों को अनुवादादि के लिये अत्यन्त-उपयोगिशब्दसङ्ग्रह प्रदान करना है। इन सूचियों में प्रायः दो हज़ार (२०००) चुने हुए शब्दों का सार्थ सङ्ग्रह किया गया है। इनमें से कई सूचियां तो अत्यन्त कठोर परिश्रम से सङ्ग्रह की गई हैं। शब्दों के प्रायः लोकप्रचलित

प्रसिद्ध अर्थ ही दिये गये हैं। विशेष-विशेष स्थानों पर काव्यकोषादि के वचन भी टिप्पणरूपेण दे दिये हैं। विद्यार्थियों के सुभीते के लिए णत्वप्रक्रियानिर्देशक चिह्न भी सर्वत्र लगा दिये हैं।

अव्यय-प्रकरण—

इस व्याख्या की चौथी बड़ी तथा सब से अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है—'अव्ययप्रकरण'। आपको कहीं भी इस प्रकार की व्याख्या सहित 'अव्यय-प्रकरण' देखने को नहीं मिलेगा। प्रत्येक अव्यय का विस्तृत अर्थ, उसका उदाहरण [जहां तक हो सका है किसी प्रसिद्ध सूक्ति वा सुभाषित को ही चुना गया है] तथा तद्विषयक विस्तृतान्वेषण आप इस प्रकरण में देख सकेंगे। यह प्रकरण ४७ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इस प्रकरण के कई अव्यय विवाद का विषय बने हुए हैं—उन सब का स्पष्टीकरण पूर्णरीत्या किया गया है। इन में किन्हीं अव्ययों पर कई-कई मास भी सोच-विचार किया गया है और कई आदरणीय विद्वानों की सम्मति भी ली गई है। इस प्रकरण को लिखने में सब से बड़ी सहायता हमारे विशाल संस्कृत पुस्तकालय की है जिस पर हमने प्रायः तीस हज़ार रुपये व्यय कर, चुने हुए तीन हज़ार संस्कृत ग्रन्थ संगृहीत किए हैं†। यदि यह पुस्तकालय हमारे पास न होता तो स्यात् यह प्रकरण अथवा समग्र ही यह ग्रन्थ लिखा ही न जा सकता।

इस ग्रन्थ के मुद्रण वा प्रूफ़ आदि के संशोधन में मुझे प्रायः अपने सब अन्तेवासियों ने यथाशक्ति पूरा-पूरा साहाय्य प्रदान किया है। चिरञ्जीव पुत्रकल्प श्यामसुन्दर ने इसमें अधिक परिश्रम किया है। मैं उसे भूयोभूयः शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

श्रीपण्डित दीनानाथजी शास्त्री सारस्वत विद्यावागीश भूतपूर्व प्रिंसिपल सनातनधर्म संस्कृत कालेज मुलतान का वर्णन न करना स्यात् कृतघ्नता की पराकाष्ठा मानी जायगी। गुरुकल्प श्रीपण्डितजी ने जिस परिश्रम, निःस्वार्थपरायणता, तन्मयता और लग्न के साथ इस ग्रन्थ का आदि से अन्त तक संशोधन किया और अनेक स्थलों पर अपने दीर्घकालीन-अध्यापन के अनुभव से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण विशेष-विशेष बातें सुझाई—वे वर्णनातीत हैं। जहां तक मैं समझ सका हूँ

---

† यह विशाल पुस्तकालय सौभाग्यवश पाकिस्तान के डेराइस्माईलखान (N.W.F.P.) नामक नगर से किसी प्रकार बचकर यहां दिल्ली में सुरक्षित पहुँच गया है। परन्तु स्थानादि की ठीक व्यवस्था न होने से आजकल इसकी अस्तव्यस्त दशा होती चली जा रही है।

कि पण्डितजी ने स्नेहातिरेक से इस कार्य्य को अपना ही कार्य्य समझ लिया था—जो उनके उच्च व्यक्तित्व का ज्वलन्त प्रमाण है। उनकी आदरणीय सम्मति ग्रन्थारम्भ से पूर्व आगे के पृष्ठों में विद्वज्जनों के अवलोकनार्थ मुद्रित की गई है। मैं नतमस्तक होकर केवल उनका आभार प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता हूं।

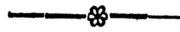
इतना परिश्रम करने पर भी इस ग्रन्थ में कुछ त्रुटियां रह गई हैं—जिनका यहां प्रदर्शन करना व्यर्थ सा है। आशा है विद्वज्जन अपनी उदारवृत्ति से सूचित करेंगे।

यह है हमारा आत्मनिवेदन। अब आगे आप का काम है कि लेखक को उत्साहित कर आगे सेवा करने का अवसर दें या न दें।

इति निवेदयति

गांधीनगर (यमुनापार) दिल्ली — विदुषामनुचरो

(माघ कृष्ण २ संवत् २००६) — भीमसेनः [शास्त्री प्रभाकरः]



द्वित्राः शब्दाः

[लेखक—श्रीपण्डित दीनानाथजी शास्त्री सारस्वत विद्यावागीश]

'लघुवैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितशिष्येण श्रीवरदराजेन बालानां कृते प्राणायि। यद्यपि इयं शब्दतो 'लघुकौमुदी', परमर्थतस्तथा न। यदि अदसीया अर्थाः कार्त्स्न्येन अधिगताः स्युः; तद् 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' अथवा एतदेव कथ्यतां यद् 'व्याकरणं' कठिनं न तिष्ठेत्। परं विषादस्य व्यतिकरो यद्—अद्यतनाः परीक्षार्थिनः सर्व्वाम् 'लघुकौमुदीं' न, किन्तु तदीयं पूर्वार्धमधीयते। पूर्व्वार्धस्यापि तेषामन्तरङ्गज्ञानं सर्व्वथा न भवति। यदि स्यात्; तत् तेषां हृदि उत्तरार्द्धाध्ययनस्यापि उत्कटाभिलाषो जागरूकः स्यात्। व्याकृति-पठनस्य फलं शब्दशुद्धिर्भाषाशुद्धिश्च। तत्फलं लघुकौमुद्या निगदशब्दनेन न जायते, किन्तु तदन्तःप्रवेशेन। तदन्तःप्रवेशे जाते 'कौमुद्यां' स आस्वाद आसाद्यते यः काव्योपन्यासाध्ययनेनापि नासाद्येत।

तस्यैवास्वादस्य विद्यार्थिनां साधारणाध्यापकानां च आसक्तिः स्याद्—इति विचिन्तयता गीर्वाणवाणीप्रणयिना डेराइस्माइलखानाभिजनेन श्रीभीमसेन-शास्त्रि-महाभागेन महत् परिश्रम्य 'लघुकौमुद्याः' इयं हिन्दीटीका प्राणायि। यद्यपि प्रणेता

संस्कृतटीकामपि कर्तुमस्वम्भूष्णुरासीत्; तथापि सर्वसाधारणानां हिन्दी-भाषाभिज्ञानां च लाभस्तथा न भवितुमर्हति, यथा हिन्दीटीकया—इति विविच्य स हिन्दीटीकामकार्षीत्। संस्कृतटीकायां कदाचित् प्रणेतुरज्ञानं गुप्तीभवति; परमत्र तथा नास्ति। अतएव हिन्दीटीकैव ज्ञानस्य निकषोऽस्ति। एतदभिप्रेत्यैव प्रणेत्रा हिन्दीटीकायामध्यवसितम्। सा च बहुमूल्यापि तेन एतज्जिज्ञासुभ्योऽल्पमूल्येन स्वयं हानिं सोढ्वापि दीयेत। इदानीमदसीयः पूर्वार्द्धोऽमुना प्रकाश्यते। उत्तरार्द्धः पुनः प्रकाश्येत। ततश्च 'सिद्धान्तकौमुद्याः' अपि ईदृश्येव टीका पाठकेभ्यः समर्प्येत।

टीकाया आलोचना प्रयोजनीयतां नापेक्षते। इयं स्वयं स्वपरिचायिका वरीवर्त्ति। विदुषो लेखकस्यात्र महान् परिश्रमः प्रत्यक्ष एव। महती सुगमता, सुस्पष्टता, विशदता चात्र वर्वर्त्ति। शब्दानामुच्चारणानि कात्स्न्र्येन लिखितानि। सूत्रार्थाः सम्यक् प्रस्फोटिताः। शब्देषु व्याक्रिया-प्रक्रिया वैशद्येनाङ्किता। शब्दान्तराणां सूची अपि निर्दिष्टा; येन अनुवादेपि महिष्ठो लाभ आशास्येत। विशिष्टविषया अपि सम्यक् सन्दृब्धाः; येन ज्ञानवृद्धिस्तत्पिपासा च विशदं जागृयात्। अहं लेखकमाशिषा युनज्मि यद्—यत् सदुद्देश्यमभिसन्धाय तेनेदं प्रणयनं कृतम्, तस्य साफल्यं तस्य भूयाद् भूयात्।

भाद्रपदशुक्ला
२ बुधे सं० २००३ वै०

इति हृदा आशासानः—
दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः।
[विद्यावागीशः, विद्यानिधिः, विद्याभूषणः,
प्रिंसिपल स० ध० संस्कृतकालेज
मुलतान सिटी]

———※———

* ओ३म् *

❁ अथ लघुसिद्धान्तकौमुदी ❁

भैमीव्याख्यया समुपबृंहिता ।

[व्याख्याकर्तुर्मङ्गलाचरणम्]

प्राप्यतेऽन्विष्यमाणो न यः कुत्रचिद्
योगिविद्वज्जनैर्हा कुतोऽन्यैर्नरैः ।
आदिमध्यान्तशून्यं प्रभुं निर्गुणं
स्वस्य चित्तोपशान्त्यै तमेवाश्रये ॥ १ ॥

सर्वाभिलाष—दातारं, शरणागत—तारकम् ।
अभिलाषशतं त्यक्त्वा, प्रपन्नोऽस्मि जगद्गुरुम् ॥ २ ॥
व्याख्याता सूरिभिः कामं, लघुसिद्धान्तकौमुदी ।
भाषाटीका तथाप्यस्या, ज्ञानदा नैव दृश्यते ॥ ३ ॥
अक्षरार्थपराः सर्वे, विमुखा भाववर्णनात् ।
वृथानपेक्षं जल्पन्तः, पाण्डित्यमदगर्विताः ॥ ४ ॥
तेभ्यः खिन्नो विनोदाय, बालानामुपकारिणीम् ।
स्वाधीतस्य प्रचाराय, टीकामेतां करोम्यहम् ॥ ५ ॥
सुस्पष्टपदलालित्यं, सुष्ठु भावस्य कीर्तनम् ।
बटून् दृष्ट्वा कृतं सर्वं, न च पाण्डित्यगर्वतः ॥ ६ ॥
टीकामेतां जगद्दृष्ट्वा, गदिष्यत्येकया गिरा ।
बालानामुपकारोऽभूद्, यः कृतो नैव केनचित् ॥ ७ ॥
कृपा स्याज्जगदीशस्य, यत्नो मे सफलो भवेत् ।
यतो मौर्ख्याभिभूतस्य, को देवादपरोऽस्ति मे ॥ ८ ॥

[लघु०] नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अहम् [वरदराजः] शुद्धां गुण्यां सरस्वतीं देवीं नत्वा पाणिनीय-प्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीं करोमि ।

अर्थः—मैं [वरदराज] शुद्ध तथा गुणों से युक्त सरस्वती देवी को नमस्कार कर के, पाणिनि के बनाये व्याकरणशास्त्र में (बालकों के) प्रवेश के लिये 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' को बनाता हूँ ।

व्याख्या—ज्ञान की अधिष्ठात्री (स्वामिनी) एक देवी मानी जाती है, जिसे सरस्वती कहते हैं । ग्रन्थकार ने आदि में उसे इसलिये नमस्कार किया है कि वह प्रसन्न होकर मेरे ऊपर कृपा करे जिससे मैं ग्रन्थ बनाने में समर्थ हो सकूं । इस ग्रन्थ के बनाने वाले वरदराज नामक पण्डित हैं । इनका सम्पूर्ण वृत्तान्त भूमिका में लिखा है देख लें । जिससे किसी भाषा के शुद्ध अशुद्ध होने का ज्ञान हो, उसे उस भाषा का व्याकरण कहते हैं । संस्कृत भाषा के अनेक व्याकरण हैं । यथा—पाणिनीय, मुग्धबोध, सारस्वत आदि । संस्कृत भाषा के सम्पूर्ण व्याकरणों में पाणिनि-मुनि का बनाया व्याकरण ही सब से श्रेष्ठ और प्रचलित है । इसके अध्ययन में कठिनता का अनुभव कर वरदराज ने यह 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' बनाई है । 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' शब्द का अर्थ "कुछ व्याकरण सिद्धान्तों को चांदनी के समान प्रकाशित करने वाली" है ।

टिप्पणी—गुण्याम्=प्रशस्ता गुणाः सन्त्यस्या इति=गुण्या । ताम्=गुण्याम् । ['रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्' (५ । २ । १२०) इति सूत्रस्थेन 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वार्तिकेन यप् ।] पाणिनीयप्रवेशाय = पाणिनिना प्रोक्तम् = पाणिनीयम्, तस्मिन् प्रवेशः = पाणिनीय-प्रवेशस्तस्मै = पाणिनीय-प्रवेशाय । लघुसिद्धान्तकौमुदी = लघवः = असमग्रा ये सिद्धान्ताः = ऊहापोहकृत-निश्चितविचारास्तेषां कौमुदी = कौमुदीव = चन्द्रिकेव । [अत्रत्यः कौमुदीशब्दः कौमुदीवेत्यर्थे लाक्षणिकः ।] यथा हि ज्योत्स्ना तमो निरस्य सकलभावान् प्रकाशयति, दिनकरकिरणजनितं तापमुपशमयति, तथेयमप्यज्ञानन्दूरीकृत्य महाभाष्यादिदुरूह-ग्रन्थजनितं तापमुपशमय्य व्याकरण-सिद्धान्तान् मानसे प्रकटीकरोतीति सादृश्यम् ।

[लघु०] अइउण् ॥१॥ ऋऌक् ॥२॥ एओङ् ॥३॥ ऐऔच् ॥४॥ हयवरट् ॥५॥ लँण् ॥६॥ ञमङणनम् ॥ ७ ॥ झभञ् ॥८॥ घढधष् ॥९॥ जबगडदश् ॥१०॥ खफछठथचटतव् ॥११॥ कपय् ॥१२॥ शषसर् ॥ १३ ॥ हल् ॥१४॥

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसञ्ज्ञार्थानि । एषामन्त्या इतः । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः । लणमध्ये त्वित्सञ्ज्ञकः ।

अर्थः—ये चौदह सूत्र माहेश्वर अर्थात् महादेव से आये हुए हैं। इनका प्रयोजन अण् आदि सञ्ज्ञा करना है। इनके अन्त्य वर्ण इत्सञ्ज्ञक हैं। हकार आदियों में अकार उच्चारण के लिये है। परन्तु 'लण्' सूत्र में वह इत्सञ्ज्ञक है।

व्याख्या— कहते हैं कि महामुनि पाणिनि विद्यार्थि-अवस्था में अत्यन्त मन्दमति थे। जब इन्हें पढ़ने से भी कुछ ज्ञान न हुआ, तब ये खिन्न हो गुरुकुल छोड़ तपस्या करने के लिए हिमाचल पर चले गये। वहां इन्होंने शिवजी की आराधना की। शिवजी ने प्रसन्न हो, चौदहबार डमरू बजाया। उससे पाणिनि ने 'अइउण्' आदि चौदह सूत्र प्राप्त किये। इस लिये इन सूत्रों को माहेश्वर अर्थात् महादेव से प्राप्त हुआ कहते हैं। परन्तु कई एक इस बात को प्रमाण-शून्य होने से ग़लत मानते हैं। उनका कथन है कि इन सूत्रों को बनाने वाले पाणिनि ही हैं*। परन्तु चाहे कुछ भी क्यों न हो, इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि ये सूत्र व्याकरण के प्राण हैं। इनके बिना पाणिनीय-व्याकरण चल ही नहीं सकता। इनका उपयोग आगे चल 'अण्' आदि संज्ञाओं के करने में किया जावेगा। हम वहीं पर इन्हें स्पष्ट करेंगे।

जो अन्त में रहे उसे अन्त्य या अन्तिम कहते हैं; इन चौदह सूत्रों के 'ण्, क्, ङ्, च्, ट्, ण्, म्, ञ्, ष्, श्, व्, य्, र्, ल्' ये चौदह वर्ण अन्त्य हैं। इनकी इत्सञ्ज्ञा है अर्थात ये इत् नाम वाले हैं। ध्यान रहे कि इस शास्त्र में सञ्ज्ञा, सञ्ज्ञक और सञ्ज्ञी शब्दों का बहुत व्यवहार होता है। जो नाम हो वह सञ्ज्ञा और जिसका नाम हो वह सञ्ज्ञक या सञ्ज्ञी होता है। जैसे 'इसका नाम देवदत्त है' यहां 'देवदत्त' यह शब्द सञ्ज्ञा और सामने खड़ा हुआ हाड मांस वाला लम्बा चौड़ा मनुष्य सञ्ज्ञक या सञ्ज्ञी है। इसी प्रकार यहां ण् क् आदि सञ्ज्ञक या सञ्ज्ञी होंगे और 'इत्' यह सञ्ज्ञा होगी। प्रत्येक वस्तु की सञ्ज्ञा व्यवहार की आसानी के लिये ही होती है; यथा मेरी सञ्ज्ञा 'भीमसेन' है। इससे यह होगा कि लोग मुझे व्यवहार में आसानी से ला सकेंगे। कोई मुझे बुलाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन! आओ'; कोई मुझे पढ़ाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन! पढ़ो'; कोई खिलाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन! खाओ'; कोई मेरा पता पूछेगा तो कहेगा 'भीमसेन कहां हैं?' अब कल्पना करें कि यदि मेरा कोई नाम न होता तो जिसने मुझे बुलाना होता वह दूसरे के प्रति क्या कहता? कि 'उस दुबले पतले मनुष्य को जिसका रङ्ग ऐसा २ है, सिर पर अमुक २ रङ्ग की पगड़ी है, पैर में फ़लां प्रकार का जूता है, लाओ'। तब सम्भव है कि सुनने वाला पुरुष उसे न समझ पाता। अथवा मेरी जगह किसी अन्य को ला खड़ा करता; तो कहने का तात्पर्य यह है कि नाम अर्थात् संज्ञा के बिना न तो जगत् का व्यवहार और न ही शास्त्र का व्यवहार चल सकता

---

* यह विषय ग्रन्थ के अन्त में 'प्रत्याहार-सूत्र किसने बनाये' नामक निबन्ध में देखें।

है। व्यवहार के लिये आवश्यक है कि जिसका हम व्यवहार करना चाहें उसकी कोई न कोई सञ्ज्ञा अवश्य करें। बिना सञ्ज्ञा के कभी व्यवहार नहीं चल सकता। यहां आगे 'आदिरन्त्येन सहेता (४) आदि सूत्रों में इन ण्, क् आदि अक्षरों का व्यवहार करना है, अतः इनकी 'इत्' यह सञ्ज्ञा की जाती है।

हमारी लिपि अर्थात् वर्णमाला में दो प्रकार के अक्षर हैं। एक तो 'अ, इ, उ' आदि स्वर, दूसरे 'क्, ख्, ग्, घ्' आदि व्यञ्जन या हल्। व्यञ्जनों का उच्चारण स्वरों के मिलाये बिना नहीं हो सकता। इसलिये आजकल की वर्णमाला की छोटी २ पुस्तकों में भी 'क, ख, ग, घ, ङ' इत्यादि प्रकार से अकार युक्त व्यञ्जन देखने में आते हैं *।

इन चौदह सूत्रों में हयवरट्' सूत्र के हकार से व्यञ्जन आरम्भ होते हैं। इनमें भी अकार केवल इसीलिये है कि इनका उच्चारण हो सके; क्योंकि अकार के बिना 'ह् य् व् र् ट्' इस प्रकार उच्चारण नहीं हो सकता। अतः अकार का इनमें ग्रहण नहीं करना चाहिये। यदि अलग २ अकार ग्रहण के लिये होता तो उसका बार २ उच्चारण न होता। क्योंकि ग्रहण तो एकबार के उच्चारण से भी हो जाता, तो पुनः ग्रन्थ क्यों बढाते ?।

'लण्' इस सूत्र में लकारस्थ [लकार में ठहरा हुआ] अकार उच्चारण के लिये नहीं किन्तु प्रयोजन-वशात् इत्सञ्ज्ञक है। इसका प्रयोजन 'रँ' प्रत्याहार सिद्ध करना है जो आगे 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र पर मूल में ही स्पष्ट हो जावेगा। हम भी इसकी वहीं व्याख्या करेंगे।

टिप्पणी—महेश्वरादागतानि=माहेश्वराणि। 'तत आगतः (१०६४) इत्यण्। अण् आदिर्यासां ता अणादयः अणादश्च ताः संज्ञाः=अणादिसंज्ञाः। अणादिसंज्ञा अर्थः प्रयोजनमेषान्तानीमानि=अणादिसंज्ञार्थानि।

अन्त्या वर्णा इतो ज्ञेयाः, प्रत्याहारोपयोगिनः।
अकारोऽत्र सुखार्थोऽस्ति, इत्तु लण्सूत्रगः स्मृतः॥ १॥

---

*व्यञ्जनों के साथ स्वर मिलाने का प्रकार यथा—

क्+अ=क, क्+आ=का, क्+इ=कि, क्+ई=की, क्+उ=कु, क्+ऊ=कू, क्+ऋ=कृ, क्+ॠ=कॄ, क्+लृ=क्लृ, क्+ए=के, क्+ऐ=कै, क्+ओ=को, क्+औ=कौ, क्+अं=कं, क्+अः=कः। इसी प्रकार अन्य व्यञ्जनों के साथ भी संयोग कर लेना चाहिए। इनमें से 'कि' पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रायः कई बालक 'कि' में 'इ' को प्रथम और क् को पश्चात् लिखा माना करते हैं, उन्हें उपर्युक्त प्रकार से अपनी भ्रान्ति दूर कर लेनी चाहिए। ध्यान रहे कि बिना स्वर व्यञ्जन का संयोग जाने कदाचित् इस ग्रन्थ में प्रवेश नहीं हो सकता।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१ **हलन्त्यम्** । १ । ३ । ३ ॥

उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात्। उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टम्पदं सूत्रान्तरादनुवर्त्तनीयं सर्वत्र ।

अर्थः—उपदेश में वर्त्तमान अन्त्य हल् इत्संज्ञक हो। आद्यों के उच्चारण को अथवा धातु आदि के आद्य उच्चारण को उपदेश कहते हैं। सूत्रों में जो पद न हो [पर वृत्ति में दिखाई दे] वह पद सर्वत्र पिछले [या कहीं २ अगले] सूत्रों से ले लेना चाहिये ।

व्याख्या—इस व्याकरण के प्रथम कर्त्ता महामुनि पाणिनि हैं। इन्हों ने 'अष्टाध्यायी' नामक जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा है। इस ग्रन्थमें आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार २ पाद हैं। अर्थात् सब मिला बत्तीस पाद अष्टाध्यायी में हैं। हर एक पाद में भिन्न भिन्न सङ्ख्याओं में सूत्र हैं। इन सब की तालिका निम्न-प्रकार से समझनी चाहिये* ।

अध्याय नाम	प्रथमपादे	द्वितीयपादे	तृतीयपादे	चतुर्थपादे	सम्पूर्ण सङ्ख्या
प्रथमाध्याये	७४	७३	९३	१०९	३४९
द्वितीयाध्याये	७१	३८	७३	८५	२६७
तृतीयाध्याये	१५०	१८८	१७६	११७	६३१
चतुर्थाध्याये	१७६	१४४	१६५	१४४	६२९
पञ्चमाध्याये	१३५	१४०	११९	१६०	५५४
षष्ठाध्याये	२१८	१९९	१३८	१७५	७३०
सप्तमाध्याये	१०३	११८	१२०	९७	४३८
अष्टमाध्याये	७४	१०८	११७	६८	३६७
समग्र अष्टाध्यायी की सूत्र सङ्ख्या—					३९६५

प्राचीन काल में यह सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ की जाती थी। + तदनन्तर व्याकरण पढ़ा जाता था। तभी तो काशिकाकार जयादित्य, पदमञ्जरीकार हरदत्त, शेखरकार

*अष्टाध्यायीसूत्र सङ्ख्याविषयक एक निबन्ध हमने बड़े परिश्रम से लिखा है, वह इस ग्रन्थ के अन्त में जोड़ दिया गया है। प्रत्येकअध्याय और प्रत्येक पाद की सूत्रसङ्ख्या का विस्तृत विचार वहीं देखें।

+ देखो "इत्सिङ्ग की भारत यात्रा" चौंतीसवां परिच्छेद ।

नागेशभट्ट सरीखे विद्वान् उत्पन्न होते थे। परन्तु अब इस परिपाटी के मन्द हो जाने से वैसे विद्वान् उत्पन्न नहीं होते। अब भी यदि इस परिपाटी का पुनरुद्धार होजावे तो पुनः वैसे विद्वान् निकलने लग पड़ेंगे। 'कर्त्तव्योऽत्र यत्नः'।

इस ग्रन्थमें अष्टाध्यायी के सूत्र बिखरे हुए हैं। उन सूत्रों के आगे तीन अङ्क लिखे हैं। इन में से पहला अष्टाध्यायी के अध्याय का सूचक, दूसरा पादसूचक तथा तीसरा सूत्र-सूचक समझना चाहिये। यथा—हलन्त्यम्। १। ३। ३॥ यहां '१' से तात्पर्य प्रथमाध्याय, '३' से तात्पर्य तृतीयपाद और अन्तिम '३' से तात्पर्य तीसरे सूत्र से है। तो इसप्रकार यह सूत्र प्रथमाध्याय के तृतीय पाद का तीसरा है ऐसा ज्ञान होता है। एवम् आगे भी सर्वत्र समझ लेना। पाणिनि के सूत्रपाठ के अर्थ करने का विचित्र ढंग है। कई पदों का सूत्रों में नामो-निशान नहीं होता, परन्तु अर्थ करते समय वे आ जाया करते हैं। अतः सूत्रों के अर्थ करने के ढंग पर कुछ थोड़ा विचार करते हैं।

१—सब से प्रथम सूत्रों का पदच्छेद करना चाहिये जैसे—हलन्त्यम्। १। ३। ३॥ हल्। अन्त्यम्। आदिरन्त्येन सहेता। १। १। ७०॥ आदिः। अन्त्येन। सह। इता। इको यणचि। ६। १। ७६॥ इकः। यण्। अचि। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः। १। १। ६८॥ अण्। उदित्। सवर्णस्य। च। अप्रत्ययः। कई स्थानों पर पिछले सूत्रों से तथा कहीं २ '१' अग्रिम सूत्रों से भी* पद ले लिये जाते हैं। महामुनि पाणिनि ने यद्यपि इनकी इस स्वरित के चिह्न से व्यवस्था की थी; परन्तु अब वह व्यवस्था बिगड़ गई है। अब तो गुरु-परम्परा से जो जो पद पीछे से या आगे से लिया जाता है लिया जाना चाहिये। इसमें अपनी ओर से कोई गड़बड़ नहीं करनी चाहिये। यथा—हलन्त्यम्। यहां पिछले 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से 'उपदेशे' और 'इत्' ये दो पद आते हैं। इन पदों को भी पदच्छेद में लिखना चाहिये और कोष्ठ में बता देना चाहिये कि ये पद कहां से आते हैं+। यथा—उपदेशे। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से]। हल्। 'अन्त्यम्। इत्। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से]।

(२) पदच्छेद के बाद उन पदों की विभक्तियां जाननी चाहियें। यथा—हलन्त्यम्। उपदेशे। ७। १। अन्त्यम्। १। १। हल्। १। १। इत्। १।१। [यहां पहले अङ्क से

---

*यथा 'ईशः से' (७।२।७७) सूत्र में अगले सूत्रसे 'ध्वे' पद लाया जाता है।

+इस अनुवृत्ति का व्यवहार लोक में भी देखा जाता है, जैसे किसी ने कहा 'भरत को चार आम दो' राम को तीन'। अब यहां 'राम को तीन' यह वाक्य अपूर्ण है, इसकी पूर्णता 'आम दो' इतने पद मिलाकर 'राम को तीन आम दो' इस प्रकार हो जाती है, तो यहाँ 'आम दो' इन दो पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिए। इस प्रकार इसका लोक में सर्वत्र अतीव प्रयोग देखा जाता है।

विभक्ति तथा दूसरे अङ्क से वचन समझना चाहिए ।] आदिरन्त्येन सहेता । आदिः । १।१ । अन्त्येन । ३ । १ । सह इत्यव्ययपदम् । इता ।३।१। इको यणचि । इकः ।६।१। यण् ।१।१। अचि ।७।१। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः । अण् ।१।१। उदित् ।१।१। सवर्णस्य ।६।१। च= इत्यव्ययपदम् । अप्रत्ययः ।१।१। स्मरण रहे कि कई स्थानों पर विभक्ति का लुक् तथा अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति भी लगी रहती है। इसे सूत्रकार की ग़लती नहीं समझी जाती क्योंकि 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' अर्थात् सूत्र वेद की नाईं होते हैं । जैसे वेद में विभक्ति का लुक् तथा अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति* लगी रहती है, वैसे सूत्रों में भी होता है । विभक्ति का लुक् यथा— 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) यहां 'न' और 'प्रातिपदिक' शब्दों से परे षष्ठी-विभक्ति का लुक् हुआ२ है। अन्यविभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति लगे रहने के उदाहरण आगे यत्र तत्र बहुत आएंगे ।

(३) पदच्छेद और विभक्ति जानने के पश्चात् समास जानना चाहिए । समास कहीं होता है और कहीं नहीं भी होता । यथा 'तस्य लोपः' (३) इस सूत्र में कोई समास नहीं । 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (१०) इत्यादि सूत्रों में समास है । आवश्यक तद्धितादि का समावेश भी हमने समास में कर दिया है । अर्थात् समास के जानने के साथ२ आवश्यक तद्धित आदि प्रत्यय भी जान लेने चाहियें ।

(४) इतना जान लेने के पश्चात् महामुनि पाणिनि के अर्थ करने के नियमों का ध्यान रख कर सूत्र का अर्थ करना चाहिये । पाणिनि के वे नियम प्रायः ये हैं—

१ षष्ठी स्थानेयोगा । १ । १ । ४८ ॥

२ तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य । १ । १ । ६५ ॥

३ तस्मादित्युत्तरस्य । १ । १ ।६६ ॥

४ अलोऽन्त्यस्य । १ । १ । ५१ ॥

५ आदेःपरस्य । १ । १ । ५३ ॥

६ इको गुणवृद्धी । १ । १ । ३ ॥

७ अचश्च । १ । २ । २८ ॥

८ येन विधिस्तदन्तस्य । १ । १ । ७१ ॥

९ यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे [वा०] इत्यादि ।

इन सब को हम यथा-स्थान स्पष्ट करेंगे ।

---

* यह समाधान सब करते आये हैं । पर यह किसीने नहीं लिखा कि सारे वाङ्मय को नियन्त्रित करने वाले भगवान् पाणिनि क्यों अपने बनाये नियमों की आपही अवहेलना करते हैं ? । यह विषय पर्याप्त गवेषणा का है । आशा है विद्वज्जन इस ओर ध्यान देंगे ।

पीछे 'एषामन्त्या इतः' कह के ण् क् आदियों को 'इत्' कह आये हैं। अब वह सूत्रों से सिद्ध करते हैं। 'हलन्त्यम्'। उपदेशे। ७। १॥ ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से] हल्। १। १॥ अन्त्यम्। १। १॥ इत्। १। १॥ ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से] अर्थः—[उपदेशे] उपदेश में विद्यमान [अन्त्यम्] अन्तिम [हल्] हल् व्यञ्जन [इत्] इत्सञ्ज्ञक होता है। यदि उपदेश में कहीं हमें अन्त्य हल् मिलेगा तो वह इत्सञ्ज्ञक होगा। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि उपदेश क्या है ? इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि **'उपदेश आद्योच्चारणम्'** आद्योच्चारण उपदेश होता है। इस आद्योच्चारण शब्द पर शेखरादि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में बहुत विवाद है। हम उस विवाद के निकट नहीं जाते, क्योंकि वह प्रपञ्च बालकों की समझ में नहीं आ सकता। यहां सरल मार्ग यह है कि यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास है—आद्यानाम् उच्चारणम्=आद्योच्चारणम्। जो आद्यों अर्थात् शिव, पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि का उच्चारण है, उसे 'उपदेश' कहते हैं। भाष्यकार ने सब स्थल नियत कर दिये हैं; उनका कथन है कि प्रत्याहार-सूत्र,* धातुपाठ, गणपाठ, प्रत्यय, आगम और आदेश ये सब उपदेश हैं। इनमें अन्त्य हल् इत्सञ्ज्ञक होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२ अदर्शनं लोपः।१।१।५६॥

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसञ्ज्ञं स्यात्।

अर्थः—विद्यमान का अदर्शन लोप सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—स्थानस्य। ६। १। ['स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र से 'स्थाने पद आकर विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है।] अदर्शनम्। १। १। लोपः। १। १। अर्थः—[स्थानस्य] विद्यमान का [अदर्शनम्] न सुनाई देना [लोपः] लोप होता है। यहाँ अदर्शन सञ्ज्ञी तथा लोप सञ्ज्ञा है। हमने 'अदर्शन' का अर्थ 'न सुनाई देना' किया है। इसका यह कारण है कि यह 'शब्दानुशासन' अर्थात् शब्द-शास्त्र है। इसमें शब्दों के साधु [ठीक] असाधु [ग़लत] होने का विवेचन है। शब्द कान से सुने जाते हैं, आँख से देखे नहीं जाते अतः यहाँ पर 'अदर्शन' का अर्थ 'न दिखाई देना' की अपेक्षा 'न सुनाई देना' ही युक्त है। ऐसा अर्थ करने पर 'दृश्' धातु को ज्ञानार्थक मानना

---

१ प्रत्याहारसूत्र यथा—'अइउण्' आदि। धातुपाठ यथा—'डुपचष् पाके' आदि। गणपाठ यथा—नदट्, देवट्, आदि। प्रत्यय यथा—तृच्, तृन्, तसिल्, आदि। आगम यथा—कुक्, टुक्, इट्, आदि। आदेश यथा—'अर्वणस्त्रसावनञः' (२६२) द्वारा 'तृ' आदेश इत्यादि।

"प्रत्ययाः शिवसूत्राणि, आदेशाआगमास्तथा।
धातुपाठो गणपाठः, उपदेशाः प्रकीर्त्तिताः"॥

चाहिये। ज्ञान—आंख, कान, नाक आदि सब से हो सकता है। 'शब्दानुशासन' का अधिकार होने से हम यहां ज्ञान कान-विषयक ही मानेंगे। यहां 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से स्थान शब्द लाने का तात्पर्य यह है कि विद्यमान का अदर्शन ही लोप सञ्ज्ञक हो, अविद्यमान का अदर्शन लोपसञ्ज्ञक न हो। यथा—'दधि, मधु' यहाँ 'क्विप्' प्रत्यय कभी नहीं हुआ अतः उसका अदर्शन है। यदि पीछे से स्थान शब्द न लावें तो यहां क्विप् प्रत्यय का अदर्शन होने से प्रत्ययलक्षणद्वारा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (७७७) से तुक् प्राप्त होगा जोकि अनिष्ट है; अतः 'स्थान' शब्द की अनुवृत्ति कर विद्यमान के अदर्शन की ही लोपसञ्ज्ञा करनी युक्त है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३ तस्य लोपः ।१।३।९॥

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः॥

अर्थः—उस इत्सञ्ज्ञक का लोप होता है। ण् आदि 'अण' आदियों के लिये हैं।

व्याख्या—तस्य ।६।१। इतः ।६।१। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत' सूत्र से प्रथमान्त 'इत' पद आकर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है]। लोपः ।१।१। अर्थः—[तस्य] उस [इतः] इत्सञ्ज्ञक का [लोपः] लोप होता है। अब यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि इस सूत्र में 'तस्य' पद न लेते तो भी अर्थ में कोई हानि नहीं हो सकती थी, क्योंकि 'इतः' पद की अनुवृत्ति तो आ ही रही है। इस का समाधान यह है कि यदि 'तस्य' पद ग्रहण न करते तो इत्सञ्ज्ञक के अन्त्य वर्ण का लोप होता, सम्पूर्ण इत्सञ्ज्ञक का लोप न होता। तथाहि—'ञिमिदा स्नेहने, टुनदि समृद्धौ, डुकृञ् करणे' यहाँ 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) सूत्र द्वारा ञि, टु, डु, की इत्सञ्ज्ञा होकर लोप प्राप्त होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र द्वारा अन्त्य इकार, उकार का लोप होता है जो कि अनिष्ट है। अब यदि सूत्र में 'तस्य' पद ग्रहण करते हैं तो यह दोष नहीं आता। क्योंकि आचार्य का 'तस्य' यह कहना जतलाता है कि आचार्य सारे का लोप चाहते हैं केवल अन्त्य का नहीं।

अब इस सूत्र से ण्, क्, ङ्, च्, आदि इतों का लोप प्राप्त होता है। इस पर कहते हैं कि इनका लोप नहीं करना, क्योंकि इनसे अण् आदि प्रत्याहार बनाये जायेंगे। यदि इनका लोप करना होता तो इनका ग्रहण किस लिये करते? अतः इनका लोप नहीं करना चाहिये।

अब इत्सञ्ज्ञकों से प्रत्याहार बनाने के लिये अग्रिम सूत्र लिखते हैं:—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—४ आदिरन्त्येन सहेता ।१।१।७०॥

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च सञ्ज्ञा स्यात्।

यथाण् इति 'अइउ' वर्णानां सञ्ज्ञा । एवमक्, अच्, हल्, अल् इत्यादयः ।

अर्थः—अन्त्य इत् से युक्त आदिवर्ण, मध्यगत वर्णों की तथा अपनी सञ्ज्ञा हो । जैसे 'अण्' यह 'अ इ उ' वर्णों की सञ्ज्ञा है । इसी प्रकार अक्, अच्, हल्, अल् आदि भी जान लेने चाहियें ।

व्याख्या—आदिः ।१।१। अन्त्येन ।३।१। सह=इत्यव्ययपदम् । इता ।३।१। स्वस्य ।६।१। ['स्व रूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' से । 'स्वम्' यह प्रथमान्त पद आकर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है ।] यह सूत्र सञ्ज्ञाधिकार के बीच पढ़ा जाने से सञ्ज्ञासूत्र है । यहां 'अन्त्येनेता सहादिः' अर्थात् 'अन्त्य इत् से युक्त आदि' यह सञ्ज्ञा है । अब सञ्ज्ञी का निर्णय करना है कि सञ्ज्ञी कौन हो ? क्योंकि सूत्र में तो किसी का निर्देश ही नहीं । आदि और अन्त्य अवयव शब्द हैं । अवयवों से अवयवी लाया जाता है । अतः यहां अवयवी ही सञ्ज्ञी होगा । उस अवयवी [समुदाय] से आदि और अन्त्य सञ्ज्ञा होने के कारण निकल जायेंगे । शेष मध्यगत वर्ण ही सञ्ज्ञी ठहरेंगे । पुनः 'स्वस्य' पद की अनुवृत्ति आकर आदि भी सञ्ज्ञी हो जाएगा । इस प्रकार आदि तथा मध्यगत वर्ण सञ्ज्ञी बनेंगे । तो अब इस सूत्र का अर्थ यह हुआ— अर्थः— [अन्त्येन] अन्त्य [इता] इत् से [सह] युक्त [आदिः] आदि वर्ण [स्वस्य] अपनी तथा मध्यगत वर्णों की सञ्ज्ञा होता है । यहां हमने 'स्वस्य' पद से आदि का ग्रहण किया है; पर कोई पूछ सकता है कि 'स्वस्य' पद से अन्त्य का ग्रहण कर 'अन्त्य इत् से युक्त आदि अन्त्य तथा मध्यगत वर्णों की सञ्ज्ञा हो' ऐसा अर्थ क्यों न किया जाय ? इसका उत्तर यह है कि 'स्व' यह सर्वनाम है । सर्वनाम प्रधान का ही निर्देश कराने वाले होते हैं, अप्रधान का नहीं । 'अन्त्येनेता सहादिः' यहां प्रधान आदि है, अन्त्य नहीं । क्योंकि 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२।३।१९) से अप्रधान में ही तृतीया होती है, अतः 'स्व' यह सर्वनाम प्रधान=आदि का ही ग्रहण करायेगा, अप्रधान अन्त्य का नहीं ।

'अइउण्' यहां अन्त्य इत्=ण् है । आदि 'अ' है । अतः अन्त्य इत् से युक्त आदि 'अण्' हुआ । यह सञ्ज्ञा है । 'इ उ' मध्यगत तथा 'अ' आदि ये तीन सञ्ज्ञी हैं । इसी प्रकार अच्, अक्, हल्, अल् आदि भी जानने चाहियें । इन अण् आदि सञ्ज्ञाओं को पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य 'प्रत्याहार' कहते चले आ रहे हैं । यहां इस शास्त्र में भी इनके लिये प्रत्याहार शब्द व्यवहृत होता है ।

यहां अन्त्य और आदि 'अ इ उण्' आदि सूत्रों की अपेक्षा से नहीं लेने, किन्तु मन में रखे समुदाय की अपेक्षा से लेने हैं । यथा—'इउण् ऋलृक्' इस समुदाय का आदि 'इ'

और अन्त्य 'क्' है। अन्त्य युक्त आदि=इक् सञ्ज्ञा होगा। 'रट्लँ' यहां 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) से लकारस्थ अकार इत् है। समुदाय का आदि 'र्' है। अन्त्य अँ है। अन्त्य युक्त आदि र्+अँ='रँ' यह सञ्ज्ञा होगा। इस सञ्ज्ञा के 'र्' और 'ल्' दो ही सञ्ज्ञी हैं।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अण् आदि प्रत्याहारों में आदि और मध्यगत वर्ण सञ्ज्ञी होते हैं तो इक् प्रत्याहार में 'क्' भले ही न आये, पर ण् तो आना चाहिये; क्योंकि वह मध्यगत वर्ण है। इसका उत्तर यह है कि आचार्य पाणिनि की शैली से यह प्रतीत होता है कि मध्यगत वर्ण यदि इत्सञ्ज्ञक होंगे तो उनका प्रत्याहारों के सञ्ज्ञियों में ग्रहण न होगा। तथाहि—यदि वे सञ्ज्ञी होते तो 'अच्' प्रत्याहार में 'क्' का भी ग्रहण होता क्योंकि यह मध्यवर्ण है। 'क्' के ग्रहण होने से 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) इस सूत्र के 'अनुनासिकः' इस पद में 'क्' इस अच् के परे होने पर सकारस्थ इकार को 'इको यणचि' (१५) से यण् तथा यण् का 'लोपो व्योर्वलि' (४२१) से लोप होकर 'अनुनास्कः' हुआ होता; पर आचार्य पाणिनि ने ऐसा नहीं किया। इससे यह विदित होता है कि इत्सञ्ज्ञक मध्यवर्त्ती होने पर भी सञ्ज्ञी नहीं होते।

'अइउण्' आदि चौदह सूत्रों से यद्यपि अनेक प्रत्याहार बन सकते हैं तथापि इस व्याकरण शास्त्र में जिनका व्यवहार किया गया है उनकी सङ्ख्या चवालीस (४४) है। कई लोग 'रँ' प्रत्याहार को नहीं मानते उनके मत में तेंतालीस (४३) प्रत्याहार होते हैं। इनमें से बयालीस ('रँ' प्रत्याहार मानने वालों के मत में इकतालीस ४१) प्रत्याहार तो मुनिवर पाणिनि ने स्वयं सूत्रों में व्यवहृत किये हैं। शेष दो में से एक 'ञम्' उणादि सूत्रों का तथा दूसरा 'चय्' वार्त्तिक-पाठ का है। हम इन प्रत्याहारों के लिखने से पूर्व यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि प्रत्याहारगत वर्णों के जानने का सुगम उपाय क्या है? प्रत्याहार-गत वर्णों के जानने का सुगम उपाय यह है कि निम्नलिखित बातों को अच्छी तरह से बुद्धि में बिठा लिया जाए।

(क) वर्गों के पाञ्चवें 'ञमङणनम्' सूत्र में हैं।

(ख) वर्गों के चौथे 'झभञ्, घढधष्' सूत्रों में हैं।

(ग) वर्गों के तीसरे 'जबगडदश्' सूत्र में हैं।

(घ) वर्गों के दूसरे वर्ण 'खफछठथ' तक हैं।

(ङ) वर्गों के प्रथम वर्ण 'चटतव्, कपय्' सूत्रों में हैं।

(च) ऊष्मवर्ण 'शषसर्, हल्' सूत्रों में हैं।

(छ) अन्तःस्थवर्ण 'यवरट्, लँण्' सूत्रों में हैं।

(ज) स्वरवर्ण 'अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्, सूत्रों में . ।

इसके अतिरिक्त जिन सूत्रों के बीच से कटाव हो कर प्रत्याहार बनते हैं उन सूत्रों के स्थान भी याद रखने योग्य हैं । वे स्थान निम्नलिखित हैं—

अइउण् । यहाँ 'इ' से कटाव होकर इक्, इच् तथा 'उ' से कटाव हो कर उक् प्रत्याहार बनता है ।

हयवरट् । यहां 'य' से कटाव हो कर यण्, यञ्, यम्, यय्, यर् प्रत्याहार 'व' से कटाव होकर वल् प्रत्याहार तथा 'र्' से कटाव हो कर रँ प्रत्याहार बनता है ।

ञमङणनम् यहां 'म' से कटाव होकर मय् तथा 'ङ' से कटाव होकर ङम् प्रत्याहार बनता है ।

झभञ् । यहां 'भ' से कटाव होकर भष् प्रत्याहार बनता है ।

जबगडदश् । यहां 'ब' से कटाव होकर बश् प्रत्याहार बनता है ।

खफछठथचटतव् । यहां 'छ' से कटाव होकर छव् प्रत्याहार बनता है ।

इस व्याकरण में व्यवहृत होने वाले प्रत्याहारों का निम्न के दो श्लोकों में सङ्ग्रह यथा—

> ङणटञ्वात् स्मृतो ह्येकः, चत्वारश्च चमान्मताः ।
> शलाभ्यां षड् यरात्पञ्च, षाद्द्वौ च कणतस्त्रयः । १ ॥
> केषाञ्चिच्च मते रोऽपि, प्रत्याहारोऽपरो मतः ।
> लस्थावर्णेन वाञ्छन्त्य—नुनासिकबलादिह । २ ॥

प्रत्याहार	सञ्ज्ञी—वर्ण	उदाहरण
१ अण्	अ, इ, उ ।	उरण्रपरः [२९]
२ अक्	अ, इ, उ, ऋ, लृ ।	अकः सवर्णे दीर्घः [४२]
३ इक्	इ, उ, ऋ, लृ ।	इको यणचि [१५]
४ उक्	उ, ऋ, लृ ।	उगितश्च [१२४६]
५ एङ्	ए, ओ ।	एङः पदान्तादति [४३]
६ अच्	सम्पूर्ण स्वर	इको यण् अचि [१५]
७ इच्	'अ' को छोड़ कर सब स्वर ।	नाद् इचि [१२७]
८ एच्	ए, ओ, ऐ, औ ।	एचोऽयवायावः [२२]
९ ऐच्	ऐ, औ ।	वृद्धिराद् ऐच् [३२]
१० अट्	स्वर, ह, य, व, र ।	अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि [१३८]

११	अण्	स्वर, ह, अन्तःस्थ।	अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः [११]
१२	इण्	'अ' को छोड़ स्वर, ह, अन्तःस्थ।	इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् [५१४]
१३	यण्	अन्तःस्थ।	इको यण् अचि [१५]
१४	अम्	स्वर, ह, अन्तःस्थ, वर्गपञ्चम।	पुमः खयि+अम्परे [६४]
१५	यम्	अन्तःस्थ, वर्गपञ्चम।	हलो यमां यमि लोपः। [६६७]
१६	ञम्	वर्गपञ्चम।	ञमन्ताड्डः। [उणा० १११]
१७	ङम्	ङ, ण, न।	ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् [८६]
१८	यञ्	अन्तःस्थ, वर्गपञ्चम, झ, भ।	अतो दीर्घो यञि [३६०]
१९	झष्	वर्ग-चतुर्थ।	एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः [२५३]
२०	भष्	'झ' को छोड़ वर्ग-चतुर्थ।	एकाचो बशो भष्० [२५३]
२१	अश्	स्वर, ह, अन्तःस्थ, वर्गों के ५,४,३।	भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि [१०८]
२२	हश्	ह, अन्तःस्थ, वर्गों के ५,४,३।	हशि च [१०७]
२३	वश्	व, र, ल, वर्गों के ५,४,३।	नेड्वशि कृति [८००]
२४	जश्	वर्ग-तृतीय।	झलां जशोऽन्ते [६७]
२५	झश्	वर्गों के चतुर्थ, तृतीय।	झलां जश् झशि [१६]
२६	बश्	ब, ग, ,ड, द।	एकाचो बशो भष्० [२५३]
२७	छव्	छ, ठ, थ, च, ट, त।	नश्छवि+अप्रशान् [६५]
२८	यय्	अन्तःस्थ, सब वर्ग।	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः [८६]
२९	मय्	'ञ' को छोड़ कर सब वर्ग।	मय उञो वो वा [५८]
३०	झय्	वर्गों के ४र्थ, ३य, २य, प्रथम।	झयो होऽन्यतरस्याम् [७५]
३१	खय्	वर्गों के प्रथम द्वितीय।	पुमः खयि+अम्परे [६४]
३२	चय्	वर्गों के प्रथम वर्ण।	चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् [वा० १४]
३३	यर्	अन्तःस्थ, वर्ग, श, ष, स।	यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा [६८]
३४	झर्	वर्गों के ४, ३, २, १, श, ष, स।	झरो झरि सवर्णे [७३]
३५	खर्	वर्गों के १, २, श, ष, स।	खरि च [७४]
३६	चर्	वर्गों के १, श, ष, स।	अभ्यासे चर् च [३६६]
३७	शर्	श, ष, स।	ङ्णोः कुक्टुक् शरि [८६)
३८	अल्	सब स्वर, सब व्यञ्जन।	अलोऽन्त्यस्य (२१)
३९	हल्	सब व्यञ्जन।	हलोऽनन्तराः संयोगः (१३)

४० वल्	'य' को छोड़ सब व्यञ्जन।	लोपो व्योर्वलि (४२९)
४१ रल्	'य' 'व' छोड़ सब व्यञ्जन।	रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (८८१)
४२ झल्	वर्गों के ४, ३, २, १, ऊष्म।	झलो झलि (४७८)
४३ शल्	ऊष्म वर्ण।	शल इगुपधादनिटः क्सः (५९०)
४४ रँ	र, ल।	उरण् रँ-परः (२९) इसे कई वैयाकरण स्वीकार नहीं करते हैं।

अब व्याकरण-शास्त्र में महोपकारक वक्ष्यमाण सवर्णसञ्ज्ञा और सवर्णग्राहक के उपयोगी अच् के अठारह भेद सिद्ध करते हैं।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५ ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घ-प्लुतः ।१।२।२७॥

उश्च ऊश्च ऊ३श्च=वः। वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ध्रस्व-दीर्घ-प्लुतसञ्ज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा ॥

अर्थः—एकमात्रिक, द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक उकार के उच्चारणकाल के सदृश जिस अच् का उच्चारणकाल हो, वह अच् क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ-प्लुत सञ्ज्ञक होता है। उस अच के तीनों भेदों में हर एक के पुनः उदात्त आदि तीन २ भेद होते हैं।

व्याख्या—ऊकालः।१।१। अच्।१।१। ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः।१।१। समासः—उश्च ऊश्च ऊ३श्च=वः। इतरेतरद्वन्द्वः। वः कालो यस्य सः=ऊकालः। बहुव्रीहि-समासः। (एकमात्रिक उकार, द्विमात्रिक उकार तथा त्रिमात्रिक उकार का द्वन्द्व करने से 'जस्' विभक्ति में 'वः' रूप निष्पन्न होता है। यहां सब उकार लक्षणाशक्ति से अपनेर उच्चारण-काल के सदृश अर्थ वाले हैं।) ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च=ह्रस्वदीर्घप्लुतः। इतरेतरद्वन्द्वः। (यहां इतरेतरद्वन्द्व होने से यद्यपि बहुवचन होना चाहिये था तथापि सौत्र होने के कारण एकवचन होगया है।) अर्थः—(ऊकालः) एकमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला, द्विमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला तथा त्रिमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला (अच्) अच्, क्रमशः (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः) ह्रस्व दीर्घ तथा प्लुत सञ्ज्ञक होता है। भाव—यदि एकमात्रिक* उकार के उच्चारणकाल के समान किसी अच् का उच्चारण-काल

---

* कई लोग—जितनी देर में आँख झपकती है उसे 'मात्रा' कहते हैं। कुछ लोग—जितनी देर में बिजली चमकती है उसे 'मात्रा' कहते हैं। अन्य लोग—जितनी देर में झरोखे के बीच कण दिखाई देता है उसे 'मात्रा' कहते हैं। इतर लोग—चाष=नीलकण्ठ पक्षी जितनी देर में बोलता है उसे 'मात्रा'

होगा तो वह ह्रस्व, यदि द्विमात्रिक उकार के उच्चारण-काल के समान किसी अच् का उच्चारण काल होगा तो वह दीर्घ और यदि त्रिमात्रिक उकार के उच्चारणकाल के समान अच् का उच्चारण-काल होगा तो वह प्लुत सञ्ज्ञक होगा।

कुक्कुट के 'कु कू कू३' शब्द में क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उकार का उच्चारण स्पष्ट प्रतीत होता है अतः यहां दृष्टान्त के लिये उकार को उपयुक्त समझा गया है वरन् 'आकालः' आदि भी कहा जा सकता था।

इस प्रकार अचों के ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत ये तीन २ भेद हो जाते हैं। (ध्यान रहे कि यहां सामान्यतः कथन किया गया है, सब अचों के तीन २ भेद नहीं होते हैं; पर हां यह तीनों भेद अचों के ही होते हैं अन्य वर्णों के नहीं) अब अग्रिम तीन सूत्रों से प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन २ भेद कहे जाते हैं।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—६ उच्चैरुदात्तः ।१।२।२९॥

[ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसञ्ज्ञः स्यात्]

सञ्ज्ञा-सूत्रम्—७ नीचैरनुदात्तः ।१।२।३०॥

[ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसञ्ज्ञः स्यात्।]

अर्थः—भागों वाले तालु आदि स्थानों में जो अच् उपरले भाग में बोला जाय वह 'उदात्त' होता है ॥ ६ ॥

भागों वाले तालु आदि स्थानों में जो अच निचले भाग में बोला जाय वह 'अनुदात्त' होता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—'उच्चैः' इत्यव्ययपदम्। उदात्तः ।१।१। अच् ।१।१। ('ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः' सूत्र से) ॥६॥ 'नीचैः' इत्यव्ययपदम्। अनुदात्तः १।१। अच् ।१।१। ('ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः' सूत्र से) ॥७॥ 'उच्चैस्' शब्द का अर्थ ऊँचा तथा 'नीचैस्' शब्द का अर्थ नीचा है। भाष्य के प्रमाणानुसार वर्णों का अपने २ स्थानों में ही ऊँचा व नीचापन समझना चाहिये। यदि स्थान अखण्ड हों अर्थात् उनके भाग न हो सकते हों तो ऊँचा नीचापन नहीं बन सकता। अतः स्थानों के दो भाग मानने पड़ेंगे एक ऊँचा भाग दूसरा नीचा भाग। वृत्ति में इसीलिये 'सभाग' शब्द लिखा गया है। अर्थः—(उच्चैः) अपने स्थान के ऊपर वाले भाग में

-मानते हैं। ये सब प्राचीन शिक्षाकार आचार्यों के मत हैं। परन्तु आजकल एक सैकेण्ड के समय को मात्रा-समय मानना सरल प्रतीत होता है। ह्रस्व के बोलने में एक सैकेण्ड, दीर्घ के बोलने में दो सैकेण्ड तथा प्लुत के बोलने में तीन सैकेण्ड का समय लगाना चाहिए।

उच्चार्यमाण (अच्) अच् (उदात्तः) उदात्तसञ्ज्ञक होता है ॥ ६ ॥ (नीचैः) अपने स्थान के नीचे वाले भाग में उच्चार्यमाण (अच्) अच् (अनुदात्तः) अनुदात्तसञ्ज्ञक होता है ॥ ७ ॥ यथा अकार का 'कण्ठ' स्थान है। यदि अकार कण्ठ में उपरले भाग से बोला जायगा तो उदात्त, यदि निचले भाग में बोला जायगा तो अनुदात्त सञ्ज्ञक होगा। इसी प्रकार इकार यदि अपने तालुस्थान के उपरले भाग में बोला जायगा तो उदात्त, यदि निचले भाग से बोला जायगा तो अनुदात्त सञ्ज्ञक होगा। एवम् आगे उकार आदियों के विषय में भी जान लेना चाहिये।

कुछ लोग 'जो ऊंचे स्वर से बोला जाय वह उदात्त होता है' ऐसा अनर्थ किया करते हैं। उनके अनर्गल–प्रलाप से सावधान रहना चाहिये; क्योंकि तब मानसिक जप में उदात्तत्व न माना जा सकेगा, पर यह अनिष्ट है।

नोट—इन सूत्रों की वृत्ति 'लघुकौमुदी' में नहीं दी गई। हमने सुगमता के लिये 'सिद्धान्तकौमुदी' से ले कर कोष्ठ में दे दी है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—८ समाहारः स्वरितः । १ । २ । ३१ ॥

उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसञ्ज्ञः स्यात् । स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा ।

अर्थः—उदात्त और अनुदात्त वर्णों के धर्म जो उदात्तत्व और अनुदात्तत्व ये दोनों जिस अच् में विद्यमान हों वह अच् 'स्वरित' सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—उदात्तस्य ।६।१। अनुदात्तस्य ('उच्चैरुदात्तः' से 'उदात्तः तथा 'नीचैरनुदात्तः' से 'अनुदात्तः' पद का अनुवर्तन होता है। इन दोनों का यहां षष्ठी–विभक्ति में विपरिणाम हो जाता है। ये दोनों पद भाष्य के प्रमाणानुसार धर्मप्रधान हैं, अर्थात् इनका अर्थ उदात्तत्व और अनुदात्तत्व है।) समाहारः ।१।१। (समाहरणम्=समाहारः, भावे घञ्। समाहारोऽस्त्यस्मिन्निति समाहारः, 'अर्श आदिभ्योऽच्' [११६१] इति मत्वर्थीयोऽच्-प्रत्ययः।) स्वरितः ।१।१। अर्थः—(उदात्तस्य=उदात्तत्वस्य) उदात्तपने (अनुदात्तस्य=अनुदात्तत्वस्य) और अनुदात्तपने के (समाहारः) मेल वाला (अच्) अच् (स्वरितः) स्वरितसञ्ज्ञक होता है। पूर्व-सूत्रों में स्थानों के दो भाग कह आये हैं, एक ऊपर वाला भाग और दूसरा नीचे वाला भाग। जो अच् इन दोनों भागों से बोला जाए उसे 'स्वरित' कहते हैं। यथा अकार का 'कण्ठ' स्थान होता है, यदि अकार कण्ठ के उपरले और निचले दोनों भागों से बोला जायगा तो 'स्वरित' सञ्ज्ञक होगा। इसी प्रकार अपने २ स्थानों के दोनों भागों से बोले जाने वाले इकार आदि भी 'स्वरित' सञ्ज्ञक होंगे।

अब इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित तीन २ भेद हो कर प्रत्येक अच् के नौ २ भेद हो जाते हैं। (ध्यान रहे कि यह सामान्यतः कथन किया गया है,) क्योंकि जिन अचों के ह्रस्व या दीर्घ नहीं होते, उनके तो छः २ भेद ही होते हैं।) ये नौ भेद निम्नलिखित हैं—

१ ह्रस्व	उदात्त	४ दीर्घ	उदात्त	७ प्लुत	उदात्त
२ "	अनुदात्त	५ "	अनुदात्त	८ "	अनुदात्त
३ "	स्वरित	६ "	स्वरित	९ "	स्वरित

इन नौ भेदों में भी हर एक के पुनः अनुनासिक तथा अननुनासिक धर्मों के कारण दो २ भेद होकर प्रत्येक अच् के अठारह २ भेद हो जाते हैं यह सब अग्रिम सूत्र में प्रतिपादन किया गया है।

* कोई समय था जब इन उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग लोक में भी किया जाता था; पर अब इन का प्रचार लोक से सर्वथा नष्ट हो गया है। ये प्रायः वेद में ही प्रयुक्त होते हैं। वेद में इनका सङ्केत चिह्नों द्वारा किया जाता है। उदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं होता; अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा तथा स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा का चिह्न होता है। यथा—

उदात्त— अ । इ । । इत्यादि ।

अनुदात्त— अ॒ । इ॒ । उ॒ । " ।

स्वरित— अ॑ । इ॑ । उ॑ । " ।

सामवेद आदि में अन्य प्रकार के भी चिह्न होते हैं जो वैदिक ग्रन्थों से जानने चाहियें।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—९ **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः । । १ । १ । ८ ॥**

मुख-सहित-नासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसञ्ज्ञः स्यात्। * तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। लृ-वर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

*अत्र "मुखसहितया नासिकया" इति व्यास एव न्याय्यः। समासे तु शाकपार्थिवादित्वात् 'सहित' पदलोपप्राप्तिः।

अर्थः—मुख सहित नासिका से बोला जाने वाला वर्ण 'अनुनासिक' सञ्ज्ञक होता है। इस प्रकार—'अ, इ, उ, ऋ' इन वर्णों में प्रत्येक के अठारह २ भेद हो जाते हैं। 'लृ' वर्ण के—दीर्घ न होने से बारह भेद हो जाते हैं। एचों (ए, ओ, ऐ, औ) के भी—ह्रस्व न होने से बारह २ भेद होते हैं।

व्याख्या—मुख-नासिका-वचनः।१।१। अनुनासिकः।१।१। समासः—मुखेन सहिता= मुख-सहिता, तृतीया-तत्पुरुष-समासः, मुख-सहिता नासिका=मुखनासिका, 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्' इति वार्तिकेन समासः। उच्यत इति वचनः (वर्ण इत्यर्थः), कर्मणि ल्युट्। मुखनासिकया वचनः=मुखनासिकावचनः। तृतीया-तत्पुरुष-समासः। अर्थः—(मुख-नासिका-वचनः) मुख सहित नासिका से बोला जाने वाला वर्ण (अनुनासिकः) 'अनुनासिक' सञ्ज्ञक होता है।

भाव यह है कि मुख से तो प्रत्येक वर्ण बोला ही जाता है, पर जो मुख और नासिका दोनों से बोला जाए वह अनुनासिक होता है। यथा ङ्, ञ्, ण्, न्, म् इत्यादि मुख और नासिका दोनों से बोले जाते हैं अतः 'अनुनासिक' सञ्ज्ञक हैं। इसी प्रकार यदि अच् मुख और नासिका दोनों से बोला जाएगा तो 'अनुनासिक' होगा और यदि केवल मुख से ही बोला जायगा तो 'अननुनासिक (न अनुनासिक, जो अनुनासिक नहीं) होगा। इस प्रकार पीछे कहे नौ २ भेदों के अनुनासिक और अननुनासिक धर्म के कारण अठारह २ भेद हो जाते हैं।

अब अचों का सामान्यतः भेदनिरूपण करके विशेषतः निरूपण करते हैं।

'अ, इ, उ, ऋ' इन में से प्रत्येक वर्ण के अठारह भेद होते हैं। 'लृ' वर्ण के बारह भेद होते हैं। इस का दीर्घ न होने से छः भेद कम हो जाते हैं। 'एच्' अर्थात् 'ए, ओ, ऐ, औ' वर्णों के भी बारह भेद होते हैं, क्योंकि इनको ह्रस्व नहीं होता। ह्रस्व न होने से छः २ भेद कम हो जाते हैं। यह ध्यान रहे कि 'ए, ऐ' व 'ओ, औ' परस्पर ह्रस्व दीर्घ नहीं, किन्तु सब दीर्घ और भिन्न २ जाति वाले हैं। इन सब की तालिका यथा—

अ, इ, उ, ऋ, लृ	अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ
१ ह्रस्व उदात्त अनुनासिक	७ दीर्घ उदात्त अनुनासिक	१३ प्लुत उदात्त अनुनासिक
२ " " अननुनासिक	८ " " अननुनासिक	१४ " " अननुनासिक
३ " अनुदात्त अनुनासिक	९ " अनुदात्त अनुनासिक	१५ " अनुदात्त अनुनासिक
४ " " अननुनासिक	१० " " अननुनासिक	१६ " " अननुनासिक
५ " स्वरित अनुनासिक	११ " स्वरित अनुनासिक	१७ " स्वरित अनुनासिक
६ " " अननुनासिक	१२ " " अननुनासिक	१८ " " अननुनासिक

प्रकरण का सार:—

इस प्रकरण का सार यह है कि सजातीय (एक ही स्थान वाले) अचों में परस्पर तीन प्रकार के भेद होते हैं। १ कालकृत भेद। २ स्थान भाग कृत भेद। ३ नासिकाकृत भेद।

'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' (४) सूत्र कालकृत भेद करता है। 'उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः' (६, ७, ८) ये सब स्थानभागकृत भेद करते हैं।

'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' (६) यह सूत्र नासिकाकृत भेद करता है। उदाहरण यथा—

अँ, अ, अँ, अ, अँ, अ।

आँ, आ, आँ, आ, आँ आ।

आँ३, आ३, आँ३, आ३, आँ३, आ३।

१ 'अँ' और 'अ' में केवल नासिका कृत भेद है क्योंकि पहला अनुनासिक और दूसरा अननुनासिक है। दोनों एक मात्रिक हैं अतः कालकृत भेद नहीं है दोनों उदात्त होने के कारण स्थान के उर्ध्वभाग में निष्पन्न होते हैं अतः स्थानभागकृत भेद भी नहीं है।

२ 'अ' और 'अँ' में नासिकाकृत तथा स्थान भागकृत दो प्रकार का भेद है। क्योंकि पहला अननुनासिक तथा कण्ठ स्थान के ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न होता है; दूसरा अनुनासिक तथा कण्ठ स्थान के अधोभाग में निष्पन्न होता है। इन दोनों में कालकृत भेद नहीं है क्योंकि दोनों एकमात्रिक हैं।

३ 'अ' और 'आँ' में तीनों प्रकार का भेद है। पहला एकमात्रिक तथा दूसरा द्विमात्रिक है। अतः कालकृत भेद हुआ; पहला उदात्त होने से ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न होने वाला तथा दूसरा अनुदात्त होने से अधोभाग में निष्पन्न होने वाला है अतः स्थानभागकृत भेद हुआ; पहला अननुनासिक तथा दूसरा अनुनासिक है अतः नासिकाकृत भेद हुआ।

सजातीय अर्थात् एक स्थान वाले अचों में इन तीन भेदों से अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं हो सकता, पर विजातीय अर्थात् भिन्न२ स्थानों वाले अचों में चौथा 'स्थानकृत' भेद भी हुआ करता है। यथा—'अँ' और 'ई' में पहला कण्ठस्थानीय तथा दूसरा तालुस्थानीय है अतः स्थानकृत भेद है।

नोट—विद्यार्थियों को अचों के परस्पर इन चार प्रकार के भेदों का सुचारु रूप से अभ्यास कर लेना चाहिये।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१० **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्।**
१।१।६॥

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्ण-सञ्ज्ञं स्यात्।

अर्थः—तालु आदि स्थान तथा आभ्यन्तर-प्रयत्न ये दोनों जिस वर्ण के जिस वर्ण से तुल्य हों वह वर्णजाल (अक्षर- समुदाय) परस्पर सवर्णसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—तुल्यास्यप्रयत्नम् ।१।१। सवर्णम् ।१।१। समासः—आस्ये (मुखे) भवम्=आस्यम्, 'शरीरावयवाच्च' (१०६१) इति भवार्थे यत्प्रत्ययः। 'यस्येति च' (२३६) इत्य-लोपे 'हलो यमां यमि लोपः' (६६७) इति यकारलोपः, प्रकृष्टो यत्नः=प्रयत्नः, यद्वा प्रारम्भिको यत्न प्रयत्नः 'कुगतिप्रादयः'(२४६) इति प्रादिसमासः। आस्यञ्च प्रयत्नश्च=आस्यप्रयत्नौ, इतरेतरद्वन्द्वः। तुल्यौ आस्य-प्रयत्नौ यस्य (वर्णजालस्य) तत्=तुल्यास्यप्रयत्नम्, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(तुल्यास्य- प्रयत्नम्) जिस वर्ण समूह का पारस्परिक ताल्वादिस्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हो वह (सवर्णम्) परस्पर सवर्ण-सञ्ज्ञक होता है।

स्थान कण्ठ से शुरु होते हैं अतः 'ताल्वादि'की अपेक्षा 'कण्ठादि' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कई लोग—'तालुन आदिस्ताल्वादिः (कण्ठः)। तालु आदिर्ये-षान्तानीमानि=ताल्वादीनि। ताल्वादिश्च ताल्वादीनि च=ताल्वादीनि, एकशेषः। इस प्रकार विग्रह कर के कण्ठ को भी ला घसीटते हैं, परन्तु हमारी सम्मति में सीधा 'कण्ठादि' न कह कर 'ताल्वादि' कहना द्रविड़-प्राणायाम से कम नहीं।

लोक में आभ्यन्तर तथा बाह्य यत्नों के लिये सामान्यतया 'प्रयत्न' शब्द प्रयुक्त होता है, पर शास्त्र में इन दोनों के लिये 'यत्न' शब्द का ही प्रयोग होता है। इस सूत्र में 'यत्न' शब्द के साथ 'प्र' जुड़ा हुआ है, जो बाह्ययत्न को हटा कर आभ्यन्तरयत्न का ही बोध कराता है। तथाहि—'प्रारम्भिको यत्नः=प्रयत्नः, अथवा प्रकृष्टो यत्नः=प्रयत्नः' जो पहला यत्न अथवा उत्कृष्ट यत्न हो उसे 'प्रयत्न' कहते हैं। इस रीति से 'आभ्यन्तर' ही 'प्रयत्न' ठहरता है, क्योंकि वह वर्णोत्पत्ति से पूर्व होता है तथा वर्णोत्पत्ति का कारण होने से उत्कृष्ट है। बाह्ययत्न वर्णोत्पत्ति के पश्चात होने तथा वर्णोत्पत्ति मे कारण न होने से वैसा नहीं है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जब तक सम्पूर्ण स्थान और सम्पूर्ण प्रयत्न तुल्य न हो तब तक 'सवर्ण' सञ्ज्ञा नहीं होती। यथा 'इ' और 'ए' वर्णों का प्रयत्न तुल्य है, तालुस्थान भी तुल्य है, परन्तु 'ए' का 'इ' से कण्ठस्थान अधिक है अतः इन की सवर्णसञ्ज्ञा

नहीं होती। सवर्णसञ्ज्ञा न होने से 'भवति×एव' इत्यादि में अनिष्ट सवर्ण-दीर्घ की निवृत्ति हो जाती है। यह सब मुनिवर पाणिनि के 'यजुष्येकेषाम्' (८।३।१०४) यजुषि+एकेषाम्) सूत्र में सवर्णदीर्घ न कर के यण् करने से विदित होता है।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि सम्पूर्ण स्थान+प्रयत्न के साम्य होने से ही सावर्ण्य माना जायगा तो 'क' और 'ङ' की सवर्ण सञ्ज्ञा न हो सकेगी, क्योंकि कण्ठस्थान और स्पृष्ट प्रयत्न के तुल्य होने पर भी ङकार का नासिकास्थान अधिक होता है। और यदि इन की सवर्ण-सञ्ज्ञा न होगी तो 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) सूत्र में ककार ङकार का ग्रहण न कराएगा इस से 'प्राङ्' आदि प्रयोगों में नकार को ङकार न हो कर अनिष्ट प्रयोग निष्पन्न होंगे। इसका समाधान यह है कि सूत्र में आस्य+प्रयत्न के तुल्य होने का उल्लेख है। 'आस्य' का अर्थ 'मुख में होने वाला स्थान' है। ककार और ङकार का मुख में होने वाला स्थान=कण्ठ तुल्य ही है। 'नासिका' तो मुख से बाहर का स्थान है; फिर चाहे तुल्य हो या न हो चिन्ता नहीं, सवर्णसञ्ज्ञा हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि—

यदि किसी वर्ण के मुखगत कण्ठादि स्थान तथा आभ्यन्तर यत्न अन्य वर्ण से पूरी तरह से तुल्य हों तो वे परस्पर 'सवर्ण' सञ्ज्ञक होते हैं।

स्मरण रहे कि 'ए' और 'ऐ' की तथा 'ओ' और 'औ' की सम्पूर्ण स्थान+प्रयत्न के साम्य होने पर भी सवर्णसञ्ज्ञा नहीं होती; इस का कारण यह है कि मुनिवर पाणिनि ने 'एओङ्' 'ऐऔच्' सूत्रों में दोनों का पृथक् २ निर्देश किया है।

[लघु०] वा०—१ ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।

अर्थः—ऋकार और लृकार वर्णों की परस्पर 'सवर्ण' सञ्ज्ञा कहनी चाहिये।

व्याख्या—'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (१०) सूत्र के अनुसार ऋकार और लृकार की परस्पर 'सवर्ण' सञ्ज्ञा नहीं हो सकती है; क्योंकि ऋकार का स्थान मूर्धा और लृकार का स्थान दन्त है। परन्तु 'तवल्कारः' आदि प्रयोगों के लिये इनकी सवर्ण-सञ्ज्ञा करना महा आवश्यक है। इस त्रुटि की पूर्त्ति मुनिवर कात्यायन ने उपर्युक्त वार्त्तिक द्वारा करदी है। अब दोनों का स्थानसाम्य न होने पर भी सवर्णसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।

नोट—'न हि सर्वः सर्वं जानाति' [हर एक पुरुष हर एक बात का ज्ञाता नहीं हुआ करता।] इस न्यायानुसार मुनिवर पाणिनि से जो कुछ छूट गया उसकी पूर्त्ति करने तथा मुनिवर पाणिनि के सूत्रपाठ का तात्पर्य समझाने के लिये महामुनि कात्यायन ने 'वार्त्तिक+पाठ' का निर्माण किया है। इस 'वार्त्तिक-पाठ' की भी त्रुटियों को दूर करने के लिये तथा श्रीकात्यायन का आशय स्पष्ट करने के लिये महामुनि पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' नामक अति-

सुन्दर बृहत्काय ग्रन्थ रचा है। यही तीनों मुनि व्याकरण के 'मुनित्रय' कहलाते हैं और इन के कारण ही इस पाणिनीय-व्याकरण को 'त्रिमुनिव्याकरणम्' कहते हैं। इन मुनियों में उत्तरोत्तर मुनि अर्थात् पाणिनि से कात्यायन तथा कात्यायन से पतञ्जलि अधिक प्रामाणिक हैं। इस का कारण यह है कि जगत् में यह नियम है कि सब से पहले पुरुष को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है वैसा उत्तरोत्तर पुरुषों को नहीं, क्योंकि पहले पुरुष की सम्पूर्ण विचार धारा उत्तर पुरुष को अनायास प्राप्त हो जाती है इस से वह उस से आगे के लिये यत्न किया करता है अत एव बुद्धिमान् लोग उत्तरोत्तर को अधिक प्रामाणिक माना करते हैं। **'उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'** यह उक्ति भी इसी आधार पर आश्रित है।

सूचना—इस ग्रन्थ में कात्यायन को वार्त्तिकों के आदि में **'वा०'** ऐसा चिह्न कर दिया गया है।

सवर्णसञ्ज्ञा में स्थान और प्रयत्न का उपयोग होने से अब उनका विवेचन किया जाता है।

[लघु०] अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।

अर्थः — अठारह प्रकार के अवर्ण, कवर्ग, हकार तथा विसर्ग का कण्ठ स्थान होता है।

व्याख्या—अकुहविसर्जनीयानम् ।६।३। कण्ठः ।१।१। समासः—अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्च=अकुहविसर्जनीयाः, तेषाम्=अकुहविसर्जनीयानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां 'अ' से लोकप्रसि-द्ध्यनुसार सारे का सारा अवर्णकुल तथा 'कु' से कवर्ग का ग्रहण समझना चाहिये। विसर्जनीय और विसर्ग पर्याय अर्थात् एकार्थवाची शब्द हैं। यहां यह ध्यान रहे कि विसर्गों का कण्ठस्थान तभी होता है जब वे आकाराश्रित अर्थात् अकार से परे होते हैं; जैसा कि पाणिनि के नाम से प्रचलित शिक्षा में कहा गया है—

'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थान भागिनः' [श्लो० २२]

अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय) का वही स्थान होता है जिस के वे आश्रित होते हैं। यम और अनुस्वार नासिकास्थानीय ही रहते हैं, क्योंकि 'शिक्षा' में कहा गया है—

'अनुस्वारयमानाञ्च नासिकास्थानमुच्यते'। [श्लोक० २२]

अर्थात् अनुस्वार और यमों का 'नासिका' स्थान होता है। अब अयोगवाहों में शेष रहे जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और विसर्ग। इन में से जिह्वामूलीय का 'जिह्वामूल' ही स्थान निश्चित है, इसी प्रकार उपध्मानीय भी सदैव पकार व फकार के आश्रित होने से

ओष्ठस्थानीय ही रहते हैं। तो अब विसर्ग के सिवाय अयोगवाहों में अन्य कोई अनियतस्थान वाला नहीं रहा। उदाहरण यथा—'कविः' यहां इकाराश्रित होने से विसर्गनीय का तालु-स्थान होता है। 'भानुः' यहां उकाराश्रित होने से विसर्जनीय का ओष्ठस्थान है। 'रामयोः' यहां ओकाराश्रित होने से विसर्गजीनय का कण्ठ+ओष्ठ स्थान है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जिस २ के आश्रित विसर्ग होंगे उस २ का वह २ स्थान विसर्गों का भी होगा।

[लघु०] इचुयशानां तालु।

अर्थः—अठारह प्रकार के इवर्ण, चवर्ग, दो प्रकार के यकार तथा शकार का 'तालु' स्थान होता है।

व्याख्या—इचुयशानाम् ।६।३। तालु ।१।१। समासः—इश्च चुश्च यश्च शश्च= इचुयशाः, तेषाम्=इचुयशानाम्; इतरेतरद्वन्द्वः। यहां लोकप्रसिद्ध्यनुसार 'इ' से इवर्णकुल, 'चु' से चवर्ग तथा 'य' से अनुनासिक दोनों प्रकार के यकारों का ग्रहण होता है। दान्तों के पीछे जो कठिन मुख की छत है उसे 'तालु' कहते हैं।

[लघु०] ऋ-टु-र-षाणां मूर्धा।

अर्थः—अठारह प्रकार के ऋवर्ण, टवर्ग, रेफ तथा षकार का 'मूर्धा' स्थान होता है।

व्याख्या—ऋटुरषाणाम् ।६।३। मूर्धा ।१।१। समासः—ऋ च टुश्च रश्च षश्च= ऋटुरषाः, तेषाम्=ऋटुरषाणाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। 'तालु' स्थान से पीछे मुख की छत का जो कोमल भाग है उसे 'मूर्धा' कहते हैं। आजकल षकार का उच्चारण सम्यग् रीत्या नहीं हुआ करता अतः इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

[लघु०] लृ-तु-ल-सानां दन्ताः।

अर्थः— बारह प्रकार के लृकार, तवर्ग, दो प्रकार के लकार तथा सकार का 'दन्त' स्थान होता है।

व्याख्या—लृतुलसानाम् ।६।३। दन्ताः ।१।३। समासः—लृ च तुश्च लश्च सश्च=लृतुलसाः, तेषाम्=लृतुलसानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां 'दन्त' से तात्पर्य ऊपर वाले दान्तों के पीछे साथ लगे हुए मांस से है; अतएव भग्न दान्तों वाला पुरुष भी इन वर्णों का उच्चारण कर सकता है।

[लघु०] उ-पूपध्मानीयानामोष्ठौ।

अर्थः—अठारह प्रकार के उकार, पवर्ग तथा उपध्मानीय का ओष्ठ (होंठ) स्थान होता है।

व्याख्या—उपूपध्मानीयानाम् ।६।३। ओष्ठौ ।१।२। समासः—उश्च पुश्च उपध्मानीयश्च=उपूपध्मानीयाः, तेषाम्=उपूपध्मानीयानाम् । इतरेतरद्वन्द्वः । अच् से परे तथा पकार फकार से पूर्व ' ' इस प्रकार उपध्मानीय होते हैं । इनका विवेचन आगे इसी प्रकरण में किया जायगा ।

[लघु०] ञ-म-ङ-ण-नानां नासिका च ।

अर्थः—ञ्, म्, ङ्, ण्, न इन पाञ्च वर्णों का 'नासिका' स्थान भी होता है ।

व्याख्या—ञमङणनानाम् ।६।३। नासिका ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । समासः—ञश्च मश्च ङश्च णश्च नश्च=ञमङणनाः, तेषाम्=ञमङणनानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । आदिष्वकार उच्चारणार्थः । यहां मूल में 'च' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि इन वर्णों का अपने २ वर्गों का स्थान भी होता है । यथा—ञकार का तालुस्थान और नासिकास्थान दोनों हैं । इस प्रकार मकारादि में भी समझ लेना चाहिये ।

[लघु०] एदैतोः कण्ठ-तालु ।

अर्थः—बारह प्रकार के एकार तथा ऐकार का 'कण्ठ' और 'तालु' स्थान होता है ।

व्याख्या—एदैतोः ।६।२। कण्ठतालु ।१।१। एच्च ऐच्च=एदैतौ, तयोः=एदैतोः, इतरेतरद्वन्द्वः । कण्ठश्च तालु च=कण्ठ=तालु । प्राण्यङ्गत्वात् समाहार-द्वन्द्वः । मूल में तकार सुखपूर्वक उच्चारण के लिये ग्रहण किया गया है, इसे तपर नहीं समझना चाहिये ।

[लघु०] ओदौतोः कण्ठोष्ठम् ।

अर्थः—बारह प्रकार के ओकार तथा औकार का 'कण्ट' और 'ओष्ठ' स्थान होता है ।

व्याख्या—ओदौतोः ।६।२। कण्ठोष्ठम् ।१।१। समासः—ओच्च औच्च=ओदौतौ, तयोः=ओदौतोः, इतरेतर-द्वन्द्वः । दन्ताश्च ओष्ठौ च=दन्तोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति वा पररूपता । यहां भी मूल में तकार मुख-सुखार्थ ही समझना चाहिये ।

[लघु०] वकारस्य दन्तोष्ठम् ।

अर्थः—वकार का 'दन्त' और 'ओष्ठ' स्थान होता है ।

व्याख्या—वकारस्य ।६।१। दन्तोष्ठम् ।१।१। समासः—दन्ताश्च ओष्ठौ च=दन्तोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात समाहारद्वन्द्वः । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति वा पररूपता । जो लोग

अकार के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का प्रयोग करके उसे बकार बना देते हैं। उन्हें यह अवधान ध्यान से पढ़ना चाहिये।

[लघु०] जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्।

अर्थः—जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वा की जड़ होता है।

व्याख्या—जिह्वामूलीयस्य ।६।१। जिह्वामूलम् ।१।१। जिह्वा का मूल स्थान प्रायः कण्ठ के ही निकट होता है। अच् से परे तथा ककार खकार से पूर्व '⌣' ऐसा चिह्न जिह्वामूलीय का होता है, इसका विवेचन आगे इसी प्रकरण में मूल में ही किया जावेगा।

[लघु०] नासिकाऽनुस्वारस्य।

अर्थः—अनुस्वार का नासिका-स्थान होता है।

व्याख्या—नासिका ।१।१। अनुस्वारस्य ।६।१। 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' (९) में 'मुख' ग्रहण का यही प्रयोजन है कि अनुस्वार की 'अनुनासिक' सञ्ज्ञा न हो जाय। यदि ऐसा होता; तो 'सँव्वत्सरः' में अनुस्वार को परसवर्ण अनुनासिक वकार न होता। यही 'स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम्' इस स्थल पर महाभाष्य में सूचित किया गया है।

अच् से परे '—' इस प्रकार के चिह्न को 'अनुस्वार' कहते हैं। इसका विवेचन आगे मूल में ही किया जायगा।

[लघु०] इति स्थानानि।

अर्थः— ये स्थान समाप्त हुए।

[लघु०] यत्नो द्विधा, आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा, स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रिया-दशायान्तु विवृतमेव।

अर्थः—यत्न दो प्रकार का होता है, एक 'आभ्यन्तर' और दूसरा 'बाह्य'। पहिला आभ्यन्तर-यत्न पाञ्च प्रकार का होता है, १ स्पृष्ट, २ ईषत्स्पृष्ट, ३ ईषद्विवृत, ४ विवृत, ५ संवृत। इनमें से स्पृष्ट-प्रयत्न स्पर्श अक्षरों का होता है। ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न अन्तःस्थ अक्षरों का होता है। ईषद्विवृत-प्रयत्न ऊष्म अक्षरों का होता है। स्वरों का विवृत-प्रयत्न होता है।

ह्रस्व अवर्ण का उच्चारण-काल में संवृत-प्रयत्न और प्रयोग-सिद्धि के समय विवृत-प्रयत्न होता है ।

व्याख्या—कोशिश को 'यत्न' कहते हैं । वह यत्न यहां दो प्रकार का होता है । एक वर्ण की उत्पत्ति से पूर्व और दूसरा वर्ण की उत्पत्ति के पश्चात् । जो यत्न वर्णोत्पत्ति से पूर्व किया जाता है उसे 'आभ्यन्तर' तथा जो वर्णोत्पत्ति के अनन्तर किया जाता है उसे 'बाह्य' कहते हैं । इनमें प्रथम 'आभ्यन्तर' यत्न पाञ्च प्रकार का होता है । यथा— १ स्पृष्ट २ ईषत्स्पृष्ट, ३ ईषद्विवृत, ४ विवृत, ५ संवृत । वर्णों की उत्पत्ति में जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भागों का उपयोग हुआ करता है । जिह्वा का स्थान को छूना 'स्पृष्ट', थोड़ा छूना ईषत्स्पृष्ट, थोड़ा दूर रहना 'ईषद्विवृत', दूर रहना 'विवृत' तथा हट कर समीप रहना 'संवृत' यत्न कहाता है ।

स्पर्श अर्थात् 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त वर्णों का 'स्पृष्ट' प्रयत्न है; अर्थात् इनके उच्चारण में जिह्वा [यह उपलक्षणमात्र है, पवर्गके उच्चारण में ओष्ठ भी समझ लेना चाहिए ।] को स्थान के साथ स्पर्शरूप यत्न करना पड़ता है । अन्तःस्थ अर्थात् य्, व्, र्, ल्, वर्णों का 'ईषत्स्पृष्ट' प्रयत्न है; अर्थात् इनके उच्चारण में जिह्वा [ओष्ठ भी] को स्थान के साथ थोड़ा स्पर्शरूप यत्न करना पड़ता है । ऊष्म अर्थात् श्, ष्; स्, ह् वर्णों का 'ईषद्विवृत' प्रयत्न है; अर्थात् इनके उच्चारणमें जिह्वा को स्थान से थोड़ी दूर रखना चाहिये । स्वरों का 'विवृत' प्रयत्न है; अर्थात् इनके उच्चारण में जिह्वा [उकार के उच्चारण में ओष्ठ] स्थान से दूर रखनी चाहिये । ह्रस्व अवर्ण का 'संवृत' प्रयत्न है; अर्थात् इसके उच्चारण में जिह्वा को स्थान से हटा कर उसके समीप रखना चाहिये ।

इन सब प्रयत्नों का शिक्षा-ग्रन्थों में यथावत् वर्णन किया गया है वहीं देखें । इन प्रयत्नों से व्याकरण में और तो कोई दोष नहीं आता किन्तु ह्रस्व अकार दीर्घ अकार का सवर्णी नहीं हो सकता; क्योंकि ह्रस्व अकार का संवृत और दीर्घ अकार का विवृत प्रयत्न होता है । सावर्ण्य न होने से 'दण्ड×आनयन' इत्यादि में 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ न हो सकेगा । इस दोष की निवृत्ति के लिये महामुनि पाणिनि ने इस शास्त्र में प्रक्रिया-अवस्था में ह्रस्व अकार को विवृत माना है, इससे दोनों की सवर्ण-सञ्ज्ञा हो जाने से कोई दोष नहीं आता । इस विषय का विस्तार 'काशिका' आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें ।

अब बाह्य-यत्न का वर्णन किया जाता है—

[लघु०] बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा । विवारः संवारः श्वासो नादोऽघोषो घोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति । खरो विवाराः श्वासा

अघोषाश्च । हशः संवारा नादा घोषाश्च । वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा यण-श्चाल्पप्राणाः । वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः ।

अर्थः—बाह्यप्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है । १–विवार, २–संवार, ३–श्वास, ४–नाद, ५–अघोष, ६–घोष,* ७–अल्पप्राण, ८–महाप्राण, ९–उदात्त, १०–अनुदात्त, ११–स्वरित । 'खर्' प्रत्यहार विवार, श्वास तथा अघोष यत्न वाले होते हैं । 'हश्' प्रत्याहार संवार, नाद तथा घोष यत्न वाले होते हैं । वर्गों के प्रथम, तृतीय, पञ्चम और यण् अल्पप्राणयत्न वाले होते हैं । वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ और शल् महाप्राण यत्न वाले होते हैं ।

व्याख्या—'हशः संवारा नादा घोषाश्च' 'यणश्चाल्पप्राणाः' इन दोनों स्थानों पर 'च' से 'अच्' का ग्रहण होता है । अतः अच्—संवार, नाद, घोष तथा अल्पप्राण यत्न वाले हैं । उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भी अचों के ही यत्न हैं इन का वर्णन पीछे हो चुका है अतः यहां इन के विषय में कुछ नहीं कहा गया ।

यद्यपि यह वर्णन ध्वनिशास्त्र का विषय है तथापि यहां विवार आदि का सङ्क्षिप्त सरलार्थ लिख देना अनुचित न होगा ।

विवार=वर्णोच्चारण के समय मुख के खुलने को विवार कहते हैं । जिन वर्णों के उच्चारण करते समय मुख खुलता है वे विवार-यत्न वाले कहाते हैं । **संवार**=वर्णोच्चारण के समय मुख के विकास न होने को संवार कहते हैं । **श्वास**=वर्णोच्चारण के समय श्वास चलने को श्वास यत्न कहते हैं । **नाद**=वर्णोच्चारण के समय नाद अर्थात् गम्भीर ध्वनि होने को नाद यत्न कहते हैं । **घोष**=वर्णोच्चारण के समय घोष अर्थात् गूंज का उठना घोष तथा गूंज का न उठना **अघोष** यत्न कहाता है । **अल्पप्राण**=वर्णोच्चारणके समय प्राण-वायु के अल्प उपयोग को अल्पप्राण तथा अधिक उपयोग को **महाप्राण** कहते हैं ।

अब स्थान+यत्न-प्रकरण में आए हुए† १ स्पर्श, २ अन्तःस्थ या अन्तःस्था, ३ ऊष्म, ४ स्वर, ५ जिह्वामूलीय, ६ उपध्मानीय, ७ अनुस्वार और ८ विसर्ग इन आठ शब्दों की व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार करते हैं—

---

*यहां पर "अघोषः, घोषः" ऐसा उपर्युक्त पाठ होने से अन्वय ठीक हो जाता है, फिर एक २ छोड़ देने से "विवार, श्वास, अघोष" तथा "संवार, नाद, घोष" यह क्रम ठीक हो जाता है ।

† तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्, ईषत्स्पृष्टम् अन्तःस्थानाम्, ईषद्विवृतम् ऊष्मणाम्, विवृतं स्वराणाम्, जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्, उपूपध्मानीयानामोष्ठौ, नासिकाऽनुस्वारस्य, अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः ।

[लघु०] कादयो मावसानाः स्पर्शाः । यणोऽन्तस्थाः । शल ऊष्माणः । अचः स्वराः । ≍ क ≍ ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः । ≍ प ≍ फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः । 'अं अः' इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ ।

अर्थः—'क' से लेकर 'म' पर्यन्त स्पर्श वर्ण हैं । यण् अर्थात् 'य, व, र, ल' ये चार वर्ण अन्तःस्थ व अन्तःस्था* हैं । शल् अर्थात् 'श, ष, स, ह' ये चार वर्ण ऊष्म हैं । अच् प्रत्याहार स्वर होता है । 'क' अथवा 'ख' वर्ण से पूर्व [तथा अच् से परे] आधे विसर्ग के तुल्य जिह्वामूलीय होता है । 'प' अथवा 'फ' वर्ण से पूर्व [तथा अच् से परे] आधे विसर्ग के तुल्य उपध्मानीय होता है । 'अं, अः' यहां अकार स्वर से परे क्रमशः अनुस्वार तथा विसर्ग हैं ।

व्याख्या— 'क' से 'म' तक स्पर्श वर्ण हैं । यहां लौकिक क्रम का आश्रयण किया गया है जो आज तक प्रसिद्ध चला आ रहा है । प्रत्याहारसूत्रों में 'क' से 'म' तक मिलना असम्भव है अतः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग ये पचीस वर्ण ही स्पर्श-सञ्ज्ञक होते हैं । इनका नाम स्पर्श इस कारण से हैं क्योंकि इनका उच्चारण जिह्वा [ओष्ठ भी] का स्थान के साथ स्पर्श होने से होता है । 'य, व, र, ल' इन चार वर्णों को अन्तःस्थ व अन्तःस्था इसलिये कहते हैं क्योंकि ये स्वर और व्यञ्जनों के बीच में रहते हैं । प्रत्याहार-सूत्रों में भी स्वरों और व्यञ्जनों के मध्य इनको पढ़ा गया है । ये व्यञ्जन भी हैं और स्वर भी । अंग्रेजी में इनको अर्धस्वर भी इसीलिये कहा जाता है । 'इको यणचि' (१५) 'इग्यणः-सम्प्रसारणम्' (२५६) आदि सूत्र भी यही प्रगट करते हैं+ । 'श, ष, स, ह' ये चार वर्ण ऊष्म कहाते हैं । इनको ऊष्म कहने का कदाचित् यह प्रयोजन है कि इनके उच्चारण से गरम वायु निकलती है† । 'क' या 'ख' परे होने पर विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय तथा 'प' या 'फ' परे होने पर उपध्मानीय होते हैं यह आगे 'कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च' (६८) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे । ये जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आधे विसर्ग के सदृश होते हैं । यहां सादृश्य

---

* 'अन्तःस्थ' शब्द का उच्चारण रामवत् तथा 'अन्तःस्था' शब्द का उच्चारण विश्वपा शब्दवत् होता है ।

+ कुछ लोगों का विचार है कि प्रसिद्धलिपिक्रम में स्पर्शों और ऊष्मों के मध्य में वर्त्तमान होने से इनका नाम अन्तःस्थ पड़ गया है ।

† कुछ लोगों की राय है कि इनके उच्चारण से शरीर में उष्णता=गरमी का अधिक सञ्चार होता है अतः ये ऊष्म कहाते हैं ।

उच्चारण की अपेक्षा से नहीं किन्तु लिपि की अपेक्षा से समझना चाहिए। यथा विसर्ग का स्वरूप 'ः' इन ऊपर नीचे लिखे दो गोल शून्य चिह्नों से प्रकट किया जाता है, इनका आधा 'ᳵ' यही उपध्मानीय और जिह्वामूलीय का स्वरूप समझना चाहिये। अनुस्वार की आकृति '—̇' इस प्रकार ऊपर एक बिन्दुरूप होती है। यह सदा स्वर के ऊपर लिखा जाता है परन्तु इसकी स्थिति सदा स्वर के अनन्तर स्वीकार की जाती है। अनुस्वार का चिह्न यथा—अं, इं, उं, कं, किं, कुं इत्यादि। विसर्ग की आकृति 'ः' इस प्रकार दो गोल चिह्नों से प्रकट की जाती है यह सदा स्वर के आगे प्रयुक्त किया जाता है। इसकी स्थिति भी स्वर के अनन्तर स्वीकार की जाती है। विसर्ग का उदाहरण यथा—अः, इः, उः, कः, किः, कुः इत्यादि।

अथ स्थान-बोधक-चक्रम्।

कण्ठः	तालु	ओष्ठौ	मूर्धा	दन्ताः	नासिका	कण्ठतालु	कण्ठोष्ठम्	दन्तोष्ठम्	जिह्वामूलम्
अ	इ	उ	ऋ	लृ	ञ्	ए	ओ	व्	ᳵक
क्	च्	प्	ट्	त्	म्	ऐ	औ		ᳵख
ख्	छ्	फ्	ठ्	थ्	ङ्				
ग्	ज्	ब्	ड्	द्	ण्				
घ्	झ्	भ्	ढ्	ध्	न्				
ङ्	ञ्	म्	ण्	न्	—̇				
ह्	य्	ᳶप	र्	ल्					
ः	श्	ᳶफ	ष्	स्					

अथ आभ्यन्तर-यत्न-बोधक-चक्रम्।

स्पृष्टम्	ईषत्स्पृष्टम्	विवृतम्	ईषद्विवृतम्	संवृतम्
क ख ग घ ङ	य	अ ए	श	ह्रस्वस्य
च छ ज झ ञ	व	इ ओ	ष	अवर्णस्य
ट ठ ड ढ ण	र	उ ऐ	स	उच्चारणकाले
त थ द ध न	ल	ऋ औ	ह	
प फ ब भ म		लृ		

अथ बाह्य-यत्न-बोधक-चक्रम् ।

विवारः, श्वासः, अघोषः	संवारः, नादः, घोषः	अल्पप्राणाः	महाप्राणाः	उदात्तानुदात्तस्वरिताः
क ख	ग घ ङ	क ग ङ	ख घ	अ
च छ	ज झ ञ	च ज ञ	छ झ	इ
ट ठ	ड ढ ण	ट ड ण	ठ ढ	उ
त थ	द ध न	त द न	थ ध	ऋ
प फ	ब भ म	प ब म	फ भ	लृ
श	य व	य	श	ए
ष	र ल	व [सब स्वर]	ष	ओ
स	ह	र	स	ऐ
	[सब स्वर]	ल	ह	औ

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—११ **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः ।**

।१।१।६८॥

प्रतीयते=विधीयत इति प्रत्ययः । अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य सञ्ज्ञा स्यात् । अत्रैवाण् परेण णकारेण । कु, चु, टु, तु, पु, एत उदितः । तदेवम्— अ इत्यष्टादशानां सञ्ज्ञा, तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः, एवम् लृकारोऽपि । एचो द्वादशानाम् । अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा, तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः सञ्ज्ञा ।

अर्थः—जिस का विधान किया जाय उसे 'प्रत्यय' कहते हैं । अप्रत्यय अर्थात् न विधान किया हुआ अण् और उदित सवर्णों की तथा अपनी सञ्ज्ञा वाला हो । केवल इसी सूत्र में अण् प्रत्याहार पर णकार से गृहीत होता है । 'कु, चु, टु, तु, पु' इनको उदित् कहते हैं इस प्रकार 'अ' यह अठारह प्रकार की सञ्ज्ञा वाला हो जाता है । इसी प्रकार 'इ'

और 'उ' भी। ऋकार तीस प्रकार की सञ्ज्ञा वाला होता है। इसी प्रकार लृकार भी। एच् प्रत्याहार का प्रत्येक बारह २ प्रकार की सञ्ज्ञा है। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य्, व्, ल् दो प्रकार के होते हैं, अतः अनुनासिक य्, व्, ल् ही दो २ प्रकार की सञ्ज्ञा होंगे।

व्याख्या—अण् ।१।१। उदित् ।१।१। सवर्णस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। स्वस्य ।६।१। [चकार के बल से 'स्वंरूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' सूत्र से 'स्वम्' पद आ कर षष्ठ्यन्त में परिणत हो जाता है।] अप्रत्ययः ।१।१। समासः—उत्=ह्रस्व उवर्णः इत् यस्मात् स उदित् बहुव्रीहि-समासः। प्रतीयते=विधीयते इति प्रत्ययः, प्रतिपूर्वाद् इणः कर्मणि अच्-प्रत्ययः। न प्रत्ययः=अप्रत्ययः, नञ्तत्पुरुषसमासः। अर्थः—(अप्रत्ययः) न विधान किया हुआ (अण्) अण् और (उदित्) उदित् (सवर्णस्य) सवर्णियों की (च) तथा (स्वस्य) अपने स्वरूप की सञ्ज्ञा होता है।

'प्रत्यय' शब्द यहां यौगिक है, इसका अर्थ है 'विधान किया हुआ'। यथा—'इको यण् अचि' (१५) सूत्र में 'यण्' और 'सनाशंसभिक्ष उः' (८४०) सूत्र में 'उ' विधान किया गया है। अतः ये दोनों प्रत्यय हैं।

अण् तथा इण् प्रत्याहार दो प्रकार से बन सकते हैं। एक—'अइउण्' के णकार से और दूसरा 'लण्' के णकार से। कहां पूर्व णकार से तथा कहां पर णकार से इन का ग्रहण करना चाहिये? इस विषय में भाष्यकार का निर्णय यह है—

'परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे, पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु॥'

अर्थात् इण् प्रत्याहार सर्वत्र पर 'लण्' वाले णकार से तथा अण् प्रत्याहार 'अणु-दित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (११) को छोड़ सर्वत्र 'अइउण्' वाले णकार से ग्रहण करना चाहिये। 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र में अण् प्रत्याहार 'लण्' वाले णकार से ग्रहण किया जाता है। इस नियम के अनुसार यहां 'अण्' पर णकार से ग्रहण होता है। तो इस प्रकार यहां 'अण्' में 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, इन चौदह वर्णों का ग्रहण होता है। यदि ये वर्ण अविधीयमान [न विधान किये हुए] होंगे तो अपनी तथा अपने सवर्णियों की सञ्ज्ञा होंगे यथा—'इको यण् अचि' (१५) यहां इक् और अच् अविधीयमान हैं—विधान नहीं किये गये [विधान तो यण् ही किया गया है]; इससे इक्-प्रत्याहारान्तर्गत 'इ, उ, ऋ, लृ' ये चार वर्ण अपनी तथा अपने सवर्णियों की सञ्ज्ञा होंगे। इस से 'सुधी+उपास्य' यहां दीर्घ ईकार के स्थान पर भी यण् हो जाता है। एवम् अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ' ये नौ वर्ण भी अपनी तथा

अपने सवर्णियों की सञ्ज्ञा होंगे। इससे 'दधि+आनय' यहां दीर्घ आकार के परे होने पर भी यण् सिद्ध हो जाता है।

'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' ये इस शास्त्र में उदित् माने जाते हैं। इनके उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होती है। यद्यपि 'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' इन समुदायों का कोई सवर्ण नहीं होता तथापि इन समुदायों के आदि वर्ण 'क्, च्, ट्, त्, प्' के सवर्णों का तथा उनके स्वरूप का यहां ग्रहण समझना चाहिये। 'क्' के सवर्ण 'ख्, ग्, घ्, ङ्' ये चार वर्ण हैं अतः 'कु' कहने से इन चार वर्णों तथा पाञ्चवें अपने रूप 'क्' अर्थात् कुल मिला कर पाञ्च वर्णों का ग्रहण होगा। इसी प्रकार 'चु' से चवर्ग, 'टु' से टवर्ग, 'तु' से तवर्ग तथा 'पु' से पवर्ग ग्रहण होगा।

उदित् के साथ 'अप्रत्ययः' का सम्बन्ध नहीं है, अतः उदित चाहे विधीयमान हो या अविधीयमान, प्रत्येक अवस्था में अपनी तथा अपने सवर्णों की सञ्ज्ञा होगा। यथा— 'चोः कुः' (६०६) यहां 'चु' अविधीयमान और 'कु' विधीयमान है, दोनों अपने तथा अपने सवर्णों के ग्राहक होंगे। 'अण्' के साथ 'अप्रत्ययः' का सम्बन्ध इसलिये किया गया है कि 'सनाशंसभिक्ष उः' (८४०) इत्यादि स्थानों में विधीयमान उकार आदि सवर्णों के ग्राहक न हों, इससे दीर्घ ऊकार आदि प्रसक्त न होंगे।

अब अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्; ल् ये सञ्ज्ञाएं हैं, इनके सञ्ज्ञी निम्नप्रकार से होते हैं।

अ, इ, उ, ।

इन सञ्ज्ञाओं के पीछे लिखे अनुसार अठारह २ सञ्ज्ञी होते हैं।

ऋ, लृ ।

वार्त्तिक (१) से इन दोनों की सवर्णसञ्ज्ञा हो जाने के कारण प्रत्येक वर्ण के तीस २ सञ्ज्ञी होते हैं। ['ऋ' के १८+'लृ' के १२]

ए, ओ, ऐ, औ ।

ह्रस्व न होने के कारण इन सञ्ज्ञाओं में से प्रत्येक वर्ण के पीछे लिखे अनुसार बारह २ सञ्ज्ञी होते हैं।

य्, व्, ल् ।

ये दो प्रकार के होते हैं, एक अनुनासिक और दूसरे अननुनासिक। अण् प्रत्याहार में अननुनासिक य्, व्, ल् का पाठ है, अतः अननुनासिक ही अपनी तथा दूसरे अनुनासिकों की सञ्ज्ञा होते हैं। यहां यह भी समझ लेना चाहिये कि दीर्घ तथा प्लुत वर्ण अण् प्रत्या-

अण्प्रत्याहारान्तर्गत न होने से सवर्णों के ग्राहक नहीं हुआ करते । ह्रस्व वर्ण ही [एच् दीर्घ ही] अणों में गृहीत होते हैं, अतः वे ही सवर्णों के ग्राहक हैं ।

रेफ और हकार अणों के अन्तर्गत होते हुए भी किसी अन्य वर्ण के ग्राहक नहीं होते, क्योंकि **'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति'** अर्थात् रेफ और ऊष्म वर्णों के सवर्ण नहीं हुआ करते ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**१२ परः सन्निकर्षः संहिता ।१।४।१०८॥**

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहिता-सञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थः—वर्णों की अत्यन्त समीपता 'संहिता'-सञ्ज्ञक होती है ।

व्याख्या—परः ।१।१। सन्निकर्षः ।१।१। संहिता ।१।१। अर्थः—(परः) अत्यन्त (सन्निकर्षः) सामीप्य (संहिता) 'संहिता' सञ्ज्ञक होता है । दो वर्णों के मध्य आधी मात्रा से कम का व्यवधान सम्भव नहीं हो सकता; यही अत्यन्त समीपता 'संहिता' कहाती है ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**१३ हलोऽनन्तराः संयोगः ।१।१।७॥**

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोग-सञ्ज्ञाः स्युः ।

अर्थः—अचों के व्यवधान से रहित हलों की 'संयोग' सञ्ज्ञा हो ।

व्याख्या—हलः ।१।३। अनन्तराः ।१।३। संयोगः ।१।१। समासः—अविद्यमानम् अन्तरम्=व्यवधानं येषान्तेऽनन्तराः, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(अनन्तराः) जिन में अन्तर अर्थात् व्यवधान नहीं ऐसे (हलः) हल् (संयोगः) संयोग-सञ्ज्ञक होते हैं । व्यवधान [परदा] सदा विजातीयों का ही हुआ करता है; सजातीयों का नहीं । हल् के विजातीय अच् हैं । अतः यदि हल् अचों के व्यवधान से रहित होंगे तो उन की संयोग सञ्ज्ञा होगी । सूत्र में 'हलः' पद में बहुवचन विवक्षित नहीं, किन्तु जाति में बहुवचन किया गया है । इस से दो या दो से अधिक हलों की संयोग-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है । उदाहरण यथा—भृट्, यहां 'भृस्ज्' शब्द के आगे 'सु' प्रत्यय के लोप होने पर स् और ज् की संयोग-सञ्ज्ञा हो कर 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (३०९) सूत्र से संयोग के आदि सकार का लोप हो जाता है । इसी प्रकार 'इन्द्रः' में नकार दकार और रेफ की, 'उष्ट्रः' में षकार टकार और रेफ की एवमन्यत्र भी संयोगसञ्ज्ञा समझ लेनी चाहिये ।

नोटः—ध्यान रहे कि प्रत्येक हल् की संयोगसञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु सम्पूर्ण हल् समुदाय की ही हुआ करती है । चाहे वह हल्-समुदाय दो हलों का हो अथवा दो से अधिक हलों का हो ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१४ **सुप्तिङन्तं पदम्** । १ । ४ । १४ ॥

सुबन्तं तिङन्तञ्च पदसञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः—सुबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप पद-सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—सुप्तिङन्तम् ।१।१। पदम् ।१।१। समासः—सुप् च तिङ् च=सुप्तिङौ, इतरेतरद्वन्द्वः । सुप्तिङौ अन्तौ यस्य तत्=सुप्तिङन्तम् (शब्दस्वरूपम्), बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(सुप्तिङन्तम्) सुबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप (पदम्) पद-सञ्ज्ञक होते हैं । [यहां शब्दानुशासन-शास्त्र के प्रस्तुत होने से 'सुप्तिङन्तम्' पद का 'शब्द-स्वरूपम्' विशेष्य अध्याहार कर लिया जाता है ।] 'स्वौजसमौट्——' (११८) सूत्र में विधान किये गए इक्कीस (२१) प्रत्यय 'सुप्' तथा 'तिप्तस्झिसिप् ——' (३७५) सूत्र में विधान किये गए अठारह (१८) प्रत्यय 'तिङ्' कहाते हैं । ये सुप् व तिङ् प्रत्यय जिसके अन्त में हों उन की पद-सञ्ज्ञा होती है । यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन प्रत्ययों से युक्त सम्पूर्ण समुदाय की ही पद सञ्ज्ञा होती है । केवल प्रकृति व प्रत्यय की नहीं । उदाहरण यथा—'रामः,पुरुषः, देवस्य, पुरुषस्य' इत्यादि सुप् अन्त में होने के कारण 'पद'सञ्ज्ञक हैं । 'पचति, पठति, अपचत्, अपठत्' इत्यादि तिङ् अन्त में होने के कारण 'पद' सञ्ज्ञक हैं । इस सूत्र में 'अन्त' ग्रहण का प्रयोजन आगे (१५५) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे ।

[लघु०] इति सञ्ज्ञा–प्रकरणं समाप्तम् ।

अर्थः—यह सञ्ज्ञा-प्रकरण समाप्त होता है ।

व्याख्या—इस प्रकरण में यद्यपि व्याकरण-गत सम्पूर्ण सञ्ज्ञाओं का समावेश नहीं किया गया है; तथापि सन्धि-प्रकरण के लिए उपयोगी प्रायः सभी सञ्ज्ञाओं का इस में वर्णन आ गया है । 'प्रायः' कथन का यह तात्पर्य है कि 'अदेङ् गुणः' (२५) 'वृद्धिरादैच्' (३२), 'अचोऽन्त्यादिटि' (३९), 'तस्य परमाम्रेडितम्' (३९) प्रभृति सूत्रों में गुण, वृद्धि, टि और आम्रेडित आदि अन्य भी सन्ध्युपयोगी सञ्ज्ञाएं आगे कही गई हैं ।

इति भैमी-व्याख्ययोपबृंहितायां लघुसिद्धान्त-कौमुद्यां सन्ध्युपयोगिसञ्ज्ञानां प्रायोवर्णनं समाप्तम् ॥

अभ्यास (१)

१ 'क्, श्, ए, व्, स्, स्, ख्, ह्, अ, र्, ऋ' इन वर्णों के स्थान तथा दोनों प्रकार के यत्न लिख कर यथासम्भव सवर्णों का निर्देश करो ।

२ 'अण्, इच्, रल्, अम्, यण्, छव्, खय्, झय्, रै' इन प्रत्याहारों की ससूत्र सिद्धि कर के तदन्तर्गत वर्णों का सङ्क्षिप्त रीत्या उल्लेख करें ।

३ अचों में परस्पर कितने प्रकार का अन्तर सम्भव है; उदाहरण दे कर स्पष्ट करें।

४ कौन सूत्र 'अ' सञ्ज्ञा करता है ? इस के कितने और कौन २ से सञ्ज्ञी होते हैं ?।

५ 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र में 'अप्रत्ययः' पद का क्या अभिप्राय है और इसका किस के साथ सम्बन्ध है ? सोदाहरण स्पष्ट करें।

६ सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञी स्पष्ट करते हुए 'अदर्शनं लोपः' सूत्र के 'अदर्शनम्' पद का विवेचन करें।

७ 'इतः' पद के पीछे से प्राप्त होने पर भी 'तस्य लोपः' सूत्र में 'तस्य' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?।

८ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में परस्पर भेद बताओ।

९ 'उपदेश' किसे कहते हैं ? यथाधीत स्पष्ट करें।

१० 'अष्टाध्यायी' किसने बनाई है ? इस में कितने अध्याय और कितने पाद हैं ? 'लघु-सिद्धान्त-कौमुदी' के साथ 'अष्टाध्यायी' का क्या सम्बन्ध है ?।

११ 'त्रिमुनि व्याकरणम्' और 'उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' का भाव स्पष्ट करो।

१२ 'लघु-सिद्धान्त-कौमुदी' शब्द का अर्थ लिख कर इस के कर्त्ता के विषय में सङ्क्षिप्त नोट लिखें।

१३ 'उँ' और 'इँ' में, 'ऋ' और 'लृ' में, 'एँ' और 'ओ' में, 'औ' और 'औ' में पारस्परिक भेद बताएं।

१४ आभ्यन्तर और बाह्य यत्नों के भेद लिख कर उनका सार्थ विवेचन करें।

१५ यदि सम्पूर्ण स्थान तुल्य होने पर ही सवर्ण-सञ्ज्ञा होती है तो क्या 'क' और 'ङ' की सवर्णसञ्ज्ञा नहीं होगी ?।

१६ 'लृ' और 'ऐ' के बारह २ भेद सूत्रों द्वारा सिद्ध करें।

१७ 'संयोग' सञ्ज्ञा क्या प्रत्येक वर्ण की होती है या समुदाय की ? सोदाहरण स्पष्ट करें।

१८ 'अर्ध-विसर्ग-सदृश उपध्मानीयः' इस वचन का विवेचन करें।

१९ निम्न-लिखित सूत्रों का सूत्रस्थ पदों द्वारा अर्थ निकाल कर व्याख्यान करें—
तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम्। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः। हलोऽनन्तराः संयोगः। ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। समाहारः स्वरितः।

२० पद, संहिता, अनुनासिक और लोप सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र सार्थ लिखें।

२१ 'इति सञ्ज्ञा-प्रकरणं समाप्तम्' इस वचन की विस्तृत समालोचना करें।

२२ 'विसर्जनीय' के स्थान का शास्त्ररीत्या विवेचन करें।

अथाऽच्सन्धि–प्रकरणम् ।

अब अचों की सन्धि का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में अचों अर्थात् स्वरों का स्वरों के साथ मेल दिखाया जाएगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**१५ इको यणचि । ६ । १ । ७६ ॥**

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । 'सुधी+उपास्य' इति स्थिते—

अर्थः—संहिता के विषय में अच् के विद्यमान होने पर इक् के स्थान पर यण् हो जाता है। 'सुधी+उपास्य' ऐसे स्थित होने पर [अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है।]

व्याख्या—इकः ।६।१।यण् ।१।१। अचि=भावसप्तम्यन्तम्। संहितायाम्=विषयसप्तम्यन्तम् ['संहितायाम्' यह पीछे से अधिकार चला आ रहा है।] महामुनि पाणिनि ने अपने सूत्रों का अर्थज्ञान कराने के लिये कुछ विशेष नियम बनाये हैं, जो कि अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के प्रथमपाद के अन्तर्गत हैं; यह हम पीछे कह चुके हैं। उनमें 'षष्ठीस्थानेयोगा' (१।१।४८) यह भी एक नियम है; इसका तात्पर्य यह है कि इस शास्त्र में षष्ठीविभक्ति का अर्थ 'स्थान पर' ऐसा करना चाहिए। यथा—'इकः' ।६।१। इसका अर्थ हुआ 'इक् के स्थान पर'। 'एचः' ।६।१। इसका अर्थ हुआ 'एच्' के स्थान पर'। परन्तु यह नियम वहां लागू नहीं होगा, जहां सम्बन्ध नियत किया गया होगा। यथा—'ऊद् उपधाया गोहः' (६।४।८६)। ऊत् ।१।१। उपधायाः ।६।१। गोहः ।६।१। यहां गोह् का सम्बन्ध उपधा से नियत किया गया है, अतः यहां स्थानषष्ठी का प्रसङ्ग न होगा। इस विषय का विस्तार काशिका [अष्टाध्यायी की एक व्याख्या] आदि में देखना चाहिए। यहां 'इकः' इसमें स्थानषष्ठी है, इससे 'इक् के स्थान पर' ऐसा इसका अर्थ होगा। 'अचि' यहां भावसप्तमी या सतिसप्तमी है*। अर्थः—[इकः] इक् के स्थान पर [यण्] यण् होता है [अचि] अच् होने पर [संहितायाम्] संहिता के विषय में। अच् विद्यमान हो तो संहिता के विषय में अर्थात् संहिता करने की इच्छा होने पर इक् [इ, उ, ऋ, लृ] के स्थान पर यण् [य्, व्, र्, ल्] करना चाहिये। यहां यण् विधान किया गया है; अतः यह अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत होता हुआ भी 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (११) से अपने सवर्णियों [अनुनासिक य् व् ल् वर्णों] का ग्राहक नहीं होगा। इक् और अच् दोनों अविधीयमान अण् हैं; अतः ये अपने सवर्णियों के ग्राहक होंगे।

---

*यह सप्तमी 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२।३।३७) सूत्र से विधान की जाती है। इस सप्तमी का 'विद्यमान होने पर' या 'होने पर' ऐसा अर्थ होता है।

'सुधीभिरुपास्यः' इस तृतीयातत्पुरुष समास में 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (७२१) से भिस् और सु का लुक् होने पर 'सुधी+उपास्य' यह रूप हुआ।

'१ संहितैकपदे नित्या, २ नित्या धातूपसर्गयोः।
३ नित्या समासे, ४ वाक्येतु, सा विवक्षामपेक्षते॥'

एकपद अर्थात् अखण्डपद में; धातु और उपसर्ग में तथा समास में संहिता नित्य करनी चाहिये; वाक्य में संहिता करना 'वक्ता' [यह उपलक्षणार्थ है, 'लेखक' भी समझ लेना चाहिये।] की इच्छा पर निर्भर है, चाहे करे या न करे। इनके उदाहरण यथा—१ चयः, जयः। यहां 'चे+अ' 'जे+अ' इस अवस्था में अयादेश एकपद होने के कारण नित्य होता है। २ 'प्र+एति' यहां धातु और उपसर्ग में नित्य संहिता होने से वृद्धि हो नित्य 'प्रैति' रूप ही बनेगा। ३ 'गजेन्द्रः' यहां 'गजानामिन्द्रः' इस प्रकार का समास होने से नित्य गुणादेश होगा। ४ 'नाहं वेद्मि' यहां वाक्य होने से 'न अहं वेद्मि' या 'नाहं वेद्मि' दोनों प्रयोग शुद्ध ; वक्ता चाहे जिसका प्रयोग करे।

'सुधी+उपास्य' यहां समास है; अतः संहिता नित्य होगी। इस प्रकार संहिता का विषय होने पर 'इको यणचि' (१५) सूत्र प्रवृत्त हुआ। यहां सकार में उकार, धकार में ईकार तथा 'उपास्य' शब्द का आदि उकार इक् हैं। यदि सकारस्थ उकार='इक्' को यण् करें तो धकारस्थ ईकार='अच्' विद्यमान है। यदि धकारस्थ ईकार='इक्' को यण् करें तो सकारस्थ उकार या 'उपास्य' शब्द का आदि उकार='अच्' विद्यमान है तथा यदि 'उपास्य' शब्द के आदि उकार='इक्' को यण् करें तो पकारस्थ आकार या विपरीत दिशा में धकारस्थ ईकार='अच्' विद्यमान रहता है। तो अब यह शङ्का उत्पन्न होती है कि किस अच् के विद्यमान रहते किस इक् के स्थान पर यण् किया जावे ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—१६ तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य।१।१।६५॥

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।

अर्थः—सप्तम्यन्त के निर्देश से क्रियमाण कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पूर्व के स्थान पर जानना चाहिए।

व्याख्या—तस्मिन्=सप्तम्यन्तानुकरणं लुप्तसप्तम्येकवचनान्तम्*। ['इकोयणचि' (१५) आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों का अनुकरण यहां 'तस्मिन्' शब्द से किया गया है। इसके आगे सप्तमी विभक्ति का 'सुपांसुलुक्—' (७।१।३९) सूत्र से लुक्

*'तस्मिन्' इत्यत्र नागेशस्तु 'अची' त्यादि-सप्तम्यन्तार्थकमच्छब्दात सप्तमीति मन्यते।

हुआ २ है । इसका अर्थ 'इको यणचि' (१५) आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के होने पर' ऐसा होता है ।] इति=इत्यव्ययपदम् । निर्दिष्टे ।७।१। पूर्वस्य ।६।१।

इति शब्द पदके अर्थ को उल्टा कर दिया करता है; अर्थात् इसके जोड़ने से शब्दपरक पद अर्थपरक और अर्थपरक पद शब्दपरक हो जाते हैं । यथा—'वृक्षः' इस पद का अर्थ लोक में विद्यमान पदार्थ विशेष है, अतः यह अर्थपरक है । अब यदि इसके आगे 'इति' शब्द जोड़ दें 'वृक्ष इति', तो इसका अर्थ 'वृक्ष' यह लिखा हुआ शब्द हो जायगा । शब्दपरक पद से अर्थपरक पद हो जाना 'नवेति विभाषा' (१।१।४३।) सूत्र में 'सिद्धान्त-कौमुदी' में देखें । तो अब यहां 'तस्मिन्' इस लुप्तसप्तम्यन्त पद का अर्थ "इको यणचि" (१५) आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के होने पर" ऐसा था । 'इति' के जोड़ने से यह शब्द-परक से अर्थ-परक हो गया; अर्थात् इसका अर्थ 'इको यणचि' आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के अर्थों के होने पर' ऐसा हो गया ।

'निर्दिष्टे' पद 'तस्मिन्' पद का विशेषण है । 'निर्' का अर्थ निरन्तर और 'दिश्' धातु का अर्थ 'उच्चारण करना' है । तो इस प्रकार 'निर्दिष्टे' पद का अर्थ 'निरन्तर उच्चरित 'होने पर' ऐसा हो जाता है ।

'तस्मिन्' और 'निर्दिष्टे' इन दोनों पदों में भाव-सप्तमी है । भाव-सप्तमी का अर्थ 'होने पर' ऐसा हुआ करता है । इसे 'सति सप्तमी' भी कहते हैं । यह 'यस्य च भावेन भाव-लक्षणम्' (२.३.३७) सूत्र से विधान की जाती है; यथा—'गच्छत्सु बालकेषु त्वं स्थितः' यहां भाव-सप्तमी है । इस प्रकार इस सूत्र का यह अर्थ हुआ—(तस्मिन्निति) 'इको यणचि' आदि सूत्रों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के अर्थों के (निर्दिष्टे) निरन्तर उच्चरित होने पर (पूर्वस्य) पूर्व के स्थान पर [कार्य होता है] ।

यदि सप्तम्यन्त पद के अर्थ से व्यवधान-रहित पूर्व को कार्य करेंगे तो तभी वह सप्तम्यन्त पद का अर्थ निरन्तर उच्चरित हो सकेगा । अतः निरन्तर कथन से यह प्राप्त हुआ कि 'सप्तम्यन्त पदार्थ के उच्चरित होने पर उससे व्यवधान-रहित पूर्व के स्थान पर कार्य हो' ।

यथा—'इको यणचि' (१५) सूत्र में 'अचि' यह सप्तम्यन्त पद है । इस सप्तम्यन्त पद का अर्थ यहां 'सुधी+उपास्य' में सकारोत्तर उकार, धकारोत्तर ईकार, 'उपास्य' शब्द का आदि उकार तथा पकारोत्तर आकार है । अब हमें इन में से ऐसा सप्तम्यन्त पदार्थ चुनना है, जिस से अव्यवहित पूर्व 'इक्' हो; हम उसी 'इक्' के स्थान पर ही 'यण्' करेंगे । तो ऐसा सप्तम्यन्त पदार्थ यहां 'उपास्य' शब्द के आदि वाले उकार के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता है; क्योंकि अन्यों से पूर्व अव्यवहित इक् नहीं है । तथाहि—पकारोत्तर

आकार को यदि सप्तम्यन्त पदार्थ अच् मानें तो उस से अव्यवहित पूर्व 'उपास्य' शब्द का उकार नहीं होता; पकार का व्यवधान पड़ता है। यदि धकारस्थ ईकार को सप्तम्यन्त पदार्थ अच् मानें तो उस से अव्यवहित पूर्व मकारस्थ उकार नहीं होता; धकार का व्यवधान पड़ता है। यदि मकारोत्तर उकार को सप्तम्यन्त पदार्थ अच् मानें तो इस से पूर्व कोई इक् नहीं रहता। अतः 'उपास्य' शब्द का आदि उकार ही सप्तम्यन्त पद का अर्थ=अच् होने योग्य है और इस से अव्यवहित पूर्व धकारोत्तर ईकार के स्थान पर ही यण् होना चाहिये।*

यह परिभाषा-सूत्र है। परिभाषा-सूत्रों का उपयोग रूप-सिद्धि में नहीं हुआ करता, किन्तु इनका उपयोग सूत्रों के अर्थ करने में ही होता है; अर्थात् इनकी सहायता से हम सूत्रों का अर्थ किया करते हैं। यहां भी इस सूत्र को रखने का तात्पर्य 'इको यणचि' (१५) सूत्र का अर्थ करना ही है। इस सूत्र की सहायता से 'इको यणचि' (१५) का यह अर्थ होगा— अच् होने पर, उससे अव्यवहित पूर्व इक् के स्थान पर यण् होता है संहिता के विषय में।

शास्त्र में पर-सप्तमी नाम की किसी सप्तमी का विधान नहीं किया गया। यही सूत्र जब सप्तम्यन्त पद के अर्थ से अव्यवहित पूर्व को कार्य करने के लिये कहता है तो एक प्रकार से भावसप्तमी ही पर-सप्तमी हो जाया करती है। अतः कई लोग 'इको यणचि' (१५) सूत्र का अर्थ 'इक् के स्थान पर यण् हो अच् परे होने पर संहिता के विषय में' ऐसा भी किया करते हैं। यह अर्थ भी शुद्ध है। आगे चलकर ग्रन्थकार भी इस परिभाषा को सूत्रार्थ के साथ मिलाते हुए 'परे होने पर' ऐसा ही अर्थ करेंगे।

तो अब धकारस्थ ईकार के स्थान पर यण् अर्थात् य्, व्, र्, ल् प्राप्त होते हैं। यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन चारों में से कौन सा यण् ईकार के स्थान पर किया जावे ?। इस शङ्का को दूर करने के लिये ग्रन्थकार, पाणिनि जी की अन्य परिभाषा को उद्धृत करते हैं।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—१७ स्थानेऽन्तरतमः ।१।१।४९॥

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। सुध्य्+उपास्य इति जाते।

अर्थः—प्रसङ्ग अर्थात् प्रसक्ति [प्राप्ति] होने पर अत्यन्त सदृश आदेश होता है। 'सुध्य्+उपास्य' इस प्रकार हो जाने पर [अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है।]

---

*ध्यान रहे कि कार्य्य केवल अव्यवहित को ही नहीं होता किन्तु जो अव्यवहित होते हुए पूर्व भी हो उसे कार्य होता है। इसीलिये यहां विपरीतता में भी कार्य न होगा अर्थात् 'उपास्य' वाले उकार की विपरीत दिशा में धकारोत्तर ईकार सप्तम्यन्त-पदार्थ अच माने तो उकार को यण न होगा; यद्यपि इसमें कोई व्यवधान नहीं, तथापि उकार पूर्व नहीं।

व्याख्या—स्थाने ।७।१। अन्तरतमः ।१।१। यहां 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'सदृश' है । अतिशयितोऽन्तरः=अन्तरतमः । अर्थः—(स्थाने) प्राप्ति होने पर (अन्तरतमः) अत्यन्त सदृश आदेश* होता है ।

एक के स्थान पर बहुतों की यदि प्राप्ति हो तो उनमें से जो स्थानी+ के अत्यन्त सदृश होगा वही स्थानी के स्थान पर आदेश होगा । वर्णों की सदृशता न तो आकृति से और न ही तराजू से तोल कर की जा सकती है । इनकी सदृशता अर्थ, स्थान, प्रयत्न अथवा मात्रा की दृष्टि से ही देखी जा सकती है । आगे इनके उदाहरण यत्र तत्र आएंगे; हम इनका स्पष्टी-करण भी वहीं करेंगे ।

यहां ईकार के साथ यणों की सदृशता अर्थ, प्रयत्न और मात्रा की दृष्टि से तो हो नहीं सकती; अब शेष रहे स्थान की दृष्टि से ही समता करेंगे । ईकार का स्थान 'इचुयशानां तालु' के अनुसार 'तालु' है । यणों में तालुस्थान यकार का है; अतः ईकार के स्थान पर यकार होकर 'सुध्य्+उपास्य' ऐसा हो जायगा ।

इस सूत्र में 'अन्तर' शब्द के साथ 'तमप्' जोड़ा गया है, इस कारण 'सदृशों में भी जो अत्यन्त सदृश हो वही आदेश हो' ऐसा अर्थ हो जाता है । इसका फल 'वाग्घरिः' प्रयोग पर 'हल्सन्धि' में स्पष्ट करेंगे ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**१८ अनचि च ।८।४।४७॥**

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि । इति धकारस्य द्वित्वम् ।

अर्थः—अच् से परे यर् को विकल्प करके द्वित्व हो जाता है परन्तु अच् परे होने पर नहीं होता । इस सूत्र से धकार को द्वित्व हो जाता है ।

व्याख्या—अचः ।५।१। ['अचो रहाभ्यां द्वे' से] यरः ।६।१। ['यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] द्वे ।१।२। ['अचो रहाभ्यां द्वे' से] वा इत्यव्ययपदम् । ['यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] अनचि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । समासः—न अच्=अनच्, तस्मिन्=अनचि, नञ्समासः । 'नञ्' प्रतिषेधार्थक अव्यय है । प्रतिषेध दो प्रकार का होता है । एक पर्युदास-प्रतिषेध और दूसरा प्रसज्य-प्रतिषेध । तथाहि—

---

*जो किसी के स्थान में उसको हटा कर होता है उसे 'आदेश' कहते हैं । 'शत्रुवदादेशः' आदेश शत्रु के समान होता है—शत्रु जैसा व्यवहार करता है । वह स्थानी को हटा कर वहां स्वयं बैठ जाता है । यथा 'सुधी+उपास्य' में ईकार के स्थान पर होने वाला 'य्' आदेश है ।

+जिसके स्थान पर आदेश होता है उसे 'स्थानी' कहते हैं । यथा 'सुधी+उपास्य' में ईकार स्थानी है ।

द्वौ नञौ तु समाख्यातौ, पर्युदास-प्रसज्यकौ ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेध-कृत् ॥ १ ॥
प्राधान्यं तु विधेर्यत्र, प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥ २ ॥
अप्राधान्यं विधेर्यत्र, प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यस्तु स विज्ञेयः, क्रियया सह यत्र नञ् ॥ ३ ॥

इन तीनों श्लोकों का तात्पर्य निम्नरीत्या जानना चाहिये ।

पर्युदास—प्रतिषेध

१ इस में विधि की प्रधानता तथा निषेध की अप्रधानता होती है । यथा—'अब्राह्मणमानय' । यहां लाने की प्रधानता है निषेध की नहीं; क्योंकि लाने का निषेध नहीं किया गया ।

२ इस में 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध किया करता है । यथा—'अब्राह्मणमानय' । यहां 'उत्तरपद' 'ब्राह्मण' का निषेध किया गया है ।

३ इस में जिस का निषेध किया जाता है पुनः विधि में उस के सदृश का ही ग्रहण किया जाता है । यथा—'अब्राह्मणमानय' । यहां ब्राह्मण का निषेध किया गया है, अब जो लाया जायगा वह भी ब्राह्मण के सदृश अर्थात् पुरुष ही होगा; पत्थर आदि नहीं लाए जाएंगे ।

प्रसज्य—प्रतिषेध

१ इस में विधि की अप्रधानता तथा निषेध की प्रधानता होती है यथा—'अनृतं न वक्तव्यम्' । यहां 'बोलना चाहिये' इस विधि की अप्रधानता और 'न बोलना चाहिये' इस निषेध की प्रधानता है ।

२ इसमें 'नञ्' क्रिया का निषेध किया करता है । यथा—'अनृतं न वक्तव्यम्' । यहां 'नञ्' ने 'बोलना चाहिये' इस क्रिया का निषेध कर दिया है ।

३ यहां केवल निषेध ही होता है । यथा—'अनृतं न वक्तव्यम्' । यहां केवल निषेध ही है ।

हम विद्यार्थियों के अभ्यास के लिये इन दोनों प्रकार के निषेधों के कुछ उदाहरण दे रहे हैं; इनका अत्यन्त सावधानता से अभ्यास करना चाहिये ।

प्रसज्य के उदाहरण—

१ 'न व्यापार-शतेनापि शुकवत् पाठ्यते बकः' ।

यहां 'न पाठ्यते' * इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानतां है, अतः यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है ।

२ 'न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः' ।

यहां 'न प्रविशन्ति' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है ।

३ 'शत्रुणा न हि सन्दध्यात्' ।

यहां 'न सन्दध्यात्' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है ।

४ 'न कुर्यान्निष्फलं कर्म' ।

यहां 'न कुर्यात्' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है ।

५ 'एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति' ।

यहां 'न सिध्यति' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है ।

पर्युदास के उदाहरण—

१ 'पुत्रः शत्रुरपण्डितः' ।

'अपण्डितः' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है । विधि की प्रधानता है । किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है; अतः यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है ।

२ 'जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः' ।

'अनाथः' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है । विधि की प्रधानता है । किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है; अतः यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है ।

३ 'दूरादस्पर्शनं वरम्' ।

'अस्पर्शनम्' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है । विधि की प्रधानता

---

*यद्यपि यहां पर पद्य में क्रिया के साथ 'नञ्' साक्षात् नहीं; तथापि

"यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।
अर्थतो ह्यसमर्थानाम् आनन्तर्यमकारणम् ।" [न्यायद० १.१.६]

इस न्यायदर्शनोद्धृत पद्यानुसार 'क्रियया सह यत्र नञ्' वाली बात समन्वित हो जाती है ।

है। किञ्च— विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है; अतः यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है।

४ 'नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति'।

'अप्राप्यम्' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है; अतः यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है।

५ 'समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः'।

'अपेयाः' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है; अतः यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रायः समास में पर्युदास और असमास में प्रसज्य प्रतिषेध हुआ करता है। 'प्रायः' इसलिये कहा गया है कि कहीं २ इस नियम का उल्लङ्घन भी हो जाया करता है। यथा—'अनचि च' 'सुडनपुंसकस्य' इत्यादि में समास होने पर भी 'प्रसज्य' प्रतिषेध है।

'अनचि' यहां प्रसज्य-प्रतिषेध है; अतः 'अच् परे होने पर द्वित्व न हो' इस निषेध की ही प्रधानता होगी, विधि की नहीं। अर्थात् अच् परे न हो, अच् से भिन्न चाहे अन्य वर्ण परे हो या न हो द्वित्व हो जायगा। इस का फल यह होगा कि अवसान में भी द्वित्व हो जायगा। यथा—वाक्क्, वाक्। यदि 'अनचि' में पर्युदास-प्रतिषेध होता तो सदृश का ग्रहण होने से अच् के सदृश=हल् के परे होने पर द्वित्व होता; 'वाक्' इत्यादि अवसान में द्वित्व न हो सकता। अतः पर्युदास की अपेक्षा प्रसज्य-प्रतिषेध मानना ही उपयुक्त है। किञ्च—यदि यहां मुनिवर पाणिनि को पर्युदास-प्रतिषेध अभीष्ट होता; तो वे 'अनचि' न कह कर इस के स्थान पर 'हलि' ही कह देते; इस से एक वर्ण का लाघव भी हो जाता; परन्तु उनके ऐसा न कहने से यह प्रतीत होता है कि यहां पर्युदास-प्रतिषेध नहीं किन्तु प्रसज्य-प्रतिषेध है।

अर्थः—(अचः) अच् से परे (यरः) यर् प्रत्याहार के स्थान पर (वा) विकल्प करके (द्वे) दो शब्द-स्वरूप हो जाते हैं। (अनचि) परन्तु अच् परे होने पर नहीं होते।

कार्य का होना और पक्ष में न होना 'विकल्प' कहाता है। एक को दो करने का नाम 'द्वित्व' है। द्वित्व हो भी और न भी हो, इसे द्वित्व का विकल्प कहते हैं।*

---

*ध्यान रहे कि विकल्प के दोनों रूप शुद्ध हुआ करते हैं। इनमें से चाहे जिसका प्रयोग करें हमारी इच्छा पर निर्भर है।

'सुध्य्+उपास्य' यहां मकारोत्तर उकार=अच् से परे यर्=धकार को इस सूत्र से विकल्प करके द्वित्व करने से दो रूप बन जाते हैं—

१ सुध्ध्य्+उपास्य [जहां द्वित्व होता है ।]

२ सुध्य्+उपास्य [जहां द्वित्व नहीं होता है ।]

अब द्वित्व वाले पक्ष में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१९ झलां जश् झशि ।८।४।५३॥

स्पष्टम् । इति पूर्व-धकारस्य दकारः ।

अर्थः—झश् प्रत्याहार परे होने पर झलों के स्थान पर जश् हो जाते हैं । इस सूत्र से पूर्व धकार के स्थान पर दकार हो जाता है ।

व्याख्या—झलाम् ।६।३। जश् ।१।१। झशि ।७।१। अर्थ –(झशि) 'झश्' प्रत्याहार परे होने पर (झलाम्) झलों के स्थान पर (जश्) 'जश्' हो जाता है ।

'झलाम्' पद में 'षष्ठी स्थाने-योगा' (१।१।४८) के अनुसार स्थान-षष्ठी है । 'झशि' पद सप्तम्यन्त है; अतः 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१६) सूत्र के अनुसार झश् से अव्यवहितपूर्व झल् को ही जश् होगा; अर्थात झश् परे होने पर झलों को जश् होगा* ।

झल् प्रत्याहार में वर्गों के चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम और ऊष्म वर्ण आते हैं । इनके स्थान पर जश् अर्थात् वर्गों के तृतीय वर्ण [ज् , ब् , ग् , ड् , द्] हो जाते हैं, यदि झश् अर्थात् वर्गों के तृतीय चतुर्थ वर्ण परे हों तो ।

'सु ध् ध् य्+उपास्य' यहां द्वित्व वाले पक्ष में इस सूत्र से पूर्व धकार=झल् को जश् होता है, क्योंकि इससे परे परला धकार=झश् विद्यमान है । जश् पाञ्च हैं—१ ज् , २ ब् , ३ ग् , ४ ड् , ५ द् । यहां 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) के अनुसार धकार के स्थान पर दकार=जश् होता है [देखो—'लृ-तु-ल-सानां दन्ताः'] । यथा—

१ सुद्ध्य्+उपास्य [द्वित्व पक्ष में जश्त्व होकर]

२ सुध्य्+उपास्य [द्वित्वाभाव पक्ष में]

अब दोनों पक्षों में समान रूप से अग्रिम-सूत्र प्राप्त होता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२० संयोगान्तस्य लोपः ।८।२।२३॥

संयोगान्तं यत् पदं तस्य लोपः स्यात् ।

अर्थः—जिस पद के अन्त में संयोग हो उसका लोप हो जाता है ।

---

*इस कारण परले 'ध्' को जश् नहीं होगा, क्योंकि समक्षस्थित 'य्' झश् नहीं ।

व्याख्या—संयोगान्तस्य ।६।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकार पीछे से आरहा है।] लोपः ।१।१। समासः—संयोगोऽन्तो यस्य तत्=संयोगान्तम्, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(संयोगान्तस्य) जिसके अन्त में संयोग है ऐसे (पदस्य) पद का (लोपः) लोप हो जाता है।

पाणिनीय-व्याकरण में 'येन विधिस्तदन्तस्य' [१।१।७१] यह भी एक नियम है। इसका भाव यह है कि विशेषण के साथ तदन्त-विधि करनी चाहिये। यथा—'अचो यत्' (७७३) यहां 'धातोः' पद की अनुवृत्ति आकर 'अचः ।५।१। धातोः ।५।१। यत् ।१।१।' ऐसा हो जाता है। इसमें 'अचः' पद 'धातोः' पद का विशेषण है, इससे तदन्त-विधि होकर 'अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो' ऐसा अर्थ बन जाता है। इस नियम के अनुसार यहां यदि 'संयोगस्य लोपः' सूत्र भी बनाते; तो भी 'संयोगस्य' पद के 'पदस्य' पद के विशेषण होने के कारण तदन्त-विधि होकर उपर्युक्त अर्थ सिद्ध हो सकता था; पुनः यहां स्पष्ट-प्रतिपत्ति अर्थात् विद्यार्थियों के क्लेश का ध्यान रख अनायास-ज्ञान के लिये ही मुनि ने 'अन्त' पद का ग्रहण किया है।

"सुद्ध्य्+उपास्य, सुध्य्+ उपास्य" इन रूपों में क्रमशः 'सुद्ध्य्' और 'सुध्य्' संयोगान्त पद हैं। 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (१३) के अनुसार 'द्, ध्, य्' अथवा 'ध्, य्' वर्णों की संयोग-सञ्ज्ञा है। 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र द्वारा यहां पद-सञ्ज्ञा होती है। यद्यपि इस के अन्त में भिस्=सुप् लुप्त हो चुका है, तथापि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) द्वारा सुबन्त के अक्षुण्ण रहने से पद-सञ्ज्ञा में कोई दोष नहीं होता। इस प्रकार दोनों पक्षों में सम्पूर्ण संयोगान्त-लोप प्राप्त होता है। अब अग्रिम-परिभाषा द्वारा केवल अन्त के लोप का विधान करते हैं।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—२१ अलोऽन्त्यस्य ।१।१।५२॥

*षष्ठी-निर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते—

अर्थः—आदेश—षष्ठी-निर्दिष्ट के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। इस सूत्र से (दोनों पक्षों में) यकार के लोप के प्राप्त होने पर (अग्रिम वार्त्तिक द्वारा निषेध हो जाता है।)

व्याख्या—स्थाने ।७।१। ['षष्ठी स्थाने-योगा' से] विधीयमान आदेशः [ये अध्याहार किये जाते हैं।] षष्ठ्या ।३।१। ['षष्ठी स्थानेयोगा' से] प्रथमान्त 'षष्ठी' शब्द आ कर तृतीयान्त-रूपेण परिणत हो जाता है।] निर्दिष्टस्य ।६।१। [इसका अध्याहार किया गया है।]

*अत्र 'षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात्' इति क्वाचित्कः पाठोऽपपाठ एव।

अन्त्यस्य ।६।१। अलः ।६।१। अर्थः—(स्थाने) स्थान पर विधान किया आदेश (षष्ठ्या) षष्ठी-विभक्ति से निर्देश किये गये के (अन्त्यस्य) अन्त्य (अलः) अल् के स्थान पर होता है।

इसका सार यह है कि जो आदेश षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान पर प्राप्त होता है वह उसके अन्तिम अल् को होता है। यथा—'त्यदादीनाम् अः' (१९३) त्यदादियों को 'अ' हो। यहां 'षष्ठी स्थाने-योगा' (१।१।४८) सूत्र से सम्पूर्ण त्यदादियों के स्थान पर 'अ' प्राप्त होता है, परन्तु इस परिभाषा (२१) से त्यदादियों के अन्त्य अल् को 'अ' हो जाता है। 'त्यदादीनाम्' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'रायो हलि' (२१५) हलादि विभक्ति परे होने पर रै शब्द को आकार आदेश होता है। यहां सम्पूर्ण 'रै' के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=ऐकार को हो जाता है। 'रायः' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'दिव औत्' (२६४) सु परे होने पर दिव् शब्द को औकार आदेश होता है। यहां सम्पूर्ण 'दिव्' के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=वकार को ही होता है। 'दिवः' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'दिव उत्' (२६५) पदान्त में दिव् को उकार आदेश हो। यहां सम्पूर्ण दिव् के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=वकार को हो होता है। 'दिवः' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) संयोगान्त पद का लोप होता है। यहां सम्पूर्ण संयोगान्त पद के स्थान पर प्राप्त लोप इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल् के स्थान पर ही होता है। 'संयोगान्तस्य' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

यह परिभाषा-सूत्र है, अतः इसका उपयोग रूप-सिद्धि में न होकर सूत्रार्थ करने में ही होता है। इस की सहायता से 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र का यह अर्थ होता है—संयोगान्त पद के अन्त्य अल् का लोप हो जाता है। इस प्रकार—

१ सुद्ध्य्+उपास्य। २ सुध्य्य्+उपास्य।

इन दोनों पक्षों में अन्त्य अल् यकार का ही लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्त्तिक से यकार के लोप का भी निषेध हो जाता है।

[लघु०] वा०—२ यणः प्रतिषेधो वाच्यः ॥

सुद्ध्युपास्यः, सुध्युपास्यः। मद्ध्वरिः, मध्वरिः। धात्त्रंशः, धात्रंशः। लाकृतिः।

अर्थः—संयोग के अन्त में यणों के लोप का निषेध कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्तिक 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र का है। जिस सूत्र पर जो

वार्तिक पढ़ा जाता है वह तद्विषयक ही समझा जाता है। 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र—संयोगान्त पद के अन्त्य अल् का लोप करता है; अब यदि वे अन्त्य अल् यण् (य्, व्, र्, ल्) होंगे तो उनका लोप न होगा।

इस प्रकार इस वार्तिक से पूर्वोक्त रूपों में प्राप्त यकार-लोप का निषेध हो जाता है।

१ सु द् ध् य् + उपास्य। २ सु ध् य् + उपास्य। ये दोनों उसी तरह अवस्थित रहते हैं।

हमारी लिपि [देव-नागरी] का नियम है कि 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' अर्थात् अच् से रहित हल्, अग्रिम वर्ण के साथ मिला देना चाहिये। इस नियमानुसार हलों का अग्रिम वर्णों के साथ संयोग करके 'सुद्ध्युपास्य' और 'सुध्युपास्य' ये दो रूप बनते हैं। अब समास होने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होकर विभक्ति आने पर 'सुद्ध्युपास्यः', 'सुध्युपास्यः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

नोटः— 'सुधी+उपास्यः' इस प्रकार विसर्ग वाला रूप प्रक्रिया-दशा में रखना अत्यन्त अशुद्ध है, क्योंकि समास में विभक्तियों के लुक् के बाद सन्धि और उसके बाद सु आदि प्रत्यय करने उचित होते हैं पूर्व नहीं। अतः यहाँ 'सुधी+उपास्य' ऐसी दशा में प्रथम सन्धि करके 'सुध्युपास्य' बना लेना उचित है, तदनन्तर सु प्रत्यय लाकर उसके स्थान पर विसर्ग आदेश करने से 'सुध्युपास्यः' प्रयोग सिद्ध करना चाहिये। [*]

'मधु+अरि' यहां 'इको यणचि' (१५) सूत्र से धकारोत्तर उकार के स्थान पर यण् प्राप्त होता है, पुनः 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) द्वारा ओष्ठ-स्थान के तुल्य होने के कारण उकार के स्थान पर वकार ही हो जाता है—'म ध् व् + अरि'। अब 'अनचि च' (१८) से धकार को वैकल्पिक द्वित्व होकर द्वित्व पक्ष में 'झलां जश्झशि' (१९) से आदि धकार को दकार करने पर—१. 'मद्ध्व्+अरि और २. मध्व्+अरि' ये दो रूप बनते हैं। अब इस दशा में दोनों पक्षों में 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) की सहायता से 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र द्वारा वकार के लोप के प्राप्त होने पर 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' वार्त्तिक से उसका निषेध हो जाता है। अब 'सु' प्रत्यय लाकर उसके स्थान पर विसर्ग आदेश करने से 'मद्ध्वरिः, मध्वरिः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'धातृ+अंश' यहां 'इकोयणचि' (१५) सूत्र से तकारोत्तर ऋकार के स्थान पर यण् प्राप्त होता है, पुनः 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) द्वारा मूर्धा-स्थान के तुल्य होने से ऋकार के

[*] 'सुधी+उपास्य' में 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (५९) से प्रकृति-भाव नहीं होता, 'न समासे' (वा०-९) से निषेध हो जाता है। 'न भू सुधियोः' (२०२) से यणि्नषेध भी नहीं होता; क्योंकि वह अजादि सुप् में निषेध करता है। किन्च—'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इस न्याय से वह 'एरनेकाचः—' (२००) के यण् का निषेध कर सकता है, 'इकोयणचि' (१५) के नहीं।

स्थान पर रेफ ही आदेश हो जाता है—'धातृ्र्+अंश'। अब 'अनचि च' (१८) सूत्र से तकार को वैकल्पिक द्वित्व होकर दोनों पक्षों में 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) की सहायता से 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र द्वारा रेफ के लोप के प्राप्त होने पर 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' (वा० २) वार्त्तिक से उसका निषेध हो जाता है। अब 'सु' प्रत्यय लाकर विसर्ग आदेश करने से 'धात्त्रंशः, धात्रंशः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'ऌ+आकृति' यहां 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र की सहायता से 'इको यणचि' (१५) सूत्र द्वारा दन्त-स्थान वाले ऌकार के स्थान पर तादृश दन्त-स्थानीय लकार आदेश होकर 'सु' प्रत्यय लाकर विसर्ग आदेश करने से 'लाकृतिः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सुद्ध्युपास्यः' और 'मद्ध्वरिः' प्रयोगों की सिद्धि एक समान होती है। 'धात्त्रंशः' में जश्त्व की तथा 'लाकृतिः' में द्वित्व और जश्त्व दोनों की प्रवृत्ति नहीं होती।

टिप्पणी—सुधीभिः=विद्वद्भिर् उपास्यः=आराधनीयः=सुद्ध्युपास्यो भगवान् विष्णुरित्यर्थः। [विद्वानों द्वारा आराधना करने योग्य भगवान् विष्णु।] मधोः=तदाख्यस्य दैत्यस्य अरिः=शत्रुः=मद्ध्वरिः, भगवान् विष्णुः। ['मधु' नामक दैत्य को मारने के कारण भगवान् विष्णु 'मद्ध्वरि' कहाते हैं।] धातुः=ब्रह्मणः, अंशः=भागः=धात्त्रंशः। [ब्रह्मा का भाग।] ऌ आकृतिरिव आकृतिः=स्वरूपं यस्य सः=लाकृतिः, वंशी-वादन-समये वक्राकृतिश्श्रीकृष्ण इत्यर्थः। [बांसुरी बजानेके समय 'ऌ' के समान टेढी आकृति वाले श्रीकृष्ण]

अभ्यास (२)

(१) अधोलिखित रूपों में सूत्रोपपत्ति-पूर्वक सन्धिच्छेद करो।

१ घस्लादेशः। २ मात्राज्ञा। ३ वद्ध्वागमनम्। ४ यद्यपि। ५ लनुबन्धः। ६ कर्त्त्रायुः। ७ शृण्विदम्। ८ करोत्ययम्। ९ लाकारः। १० पित्रधीनम्। ११ चार्वङ्गी। १२ वार्येति। १३ लादेशः। १४ धात्त्रेतत्। १५ गुर्वाज्ञा। १६ह्ययम्। १७ गम्लादेशः। १८ त्रसौ। १९ खल्वेहि। २० दध्यत्र। २१ मद्ध्वानय। २२ अस्त्यनुभवः। २३ कुर्विदम्। २४ भर्त्रादेशः। २५ पुनर्त्वस्मृतः।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्रोपपत्ति-पूर्वक सन्धि करो।

१ शशी+उदियाय। २ सिध्यतु+एतत्। ३ भाति+अम्बरे। ४ धातु+आदेश। ५ पातृ+असौ। ६ ऌ+अङ्ग। ७ शिशु+अङ्ग। ८ नृ+आत्मज। ९ स्मृति+आदेश। १० अनु+आदेश। ११ पितृ+अर्चा। १२ अपि+एतत्। १३ वृक्षेषु+अभिलाषः। १४ त्वष्टृ+आकाङ्क्षा। १५ दर्वी+असौ। १६ अभि+उदयः। १७ प्रति+एक। १८ बधू+अलङ्कार। १९ वस्तु+अस्ति। २० भ्रातृ+उक्तम्।

(३) 'लाकृतिः' का क्या विग्रह है ? 'लृ' शब्द का षष्ठ्येकवचन तथा प्रथमैकवचन क्या बनेगा ? अथवा 'लृ' शब्द का उच्चारण लिखो ।

(४) प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेधों का तात्पर्य अपनी भाषा में स्पष्ट करते हुए 'नायं शशी' और 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः' में कौन सा निषेध है सोपपत्तिक लिखें ।

(५) 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' 'अलोऽन्त्यस्य' तथा 'स्थानेऽन्तरतमः' ये सूत्र यदि न होते तो कौन २ सी हानियां होतीं ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(६) 'अनचि च' सूत्र में कौन सा प्रतिषेध है और वैसा मानने की क्या आवश्यकता है ? ।

(७) संहिता की विवक्षा कहां २ नित्य और कहां २ ऐच्छिक हुआ करती है ? सप्रमाण सोदाहरण विवेचन करें ।

(८) 'सुधी+उपास्य' में 'इकोऽसवर्णे—' सूत्र से प्रकृतिभाव क्यों नहीं होता ? अथवा 'न भू-सुधियोः' से यणिनषेध क्यों नहीं होता ? ।

—०:॥:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२२ एचोऽयवायावः ।६।१।७६॥

एचः क्रमाद् अय्, अव्, आय्, आव् एते स्युरचि ।

अर्थः—अच् परे होने पर एच् के स्थान पर क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् आदेश हो जाते हैं ।

व्याख्या—एचः ।६।१। ['षष्ठी स्थाने-योगा' के अनुसार यहां स्थान-षष्ठी है ।] अयवायावः ।१।३। अचि ।७।१। ['इको यणचि' सूत्र से] संहितायाम् ।७।१। [यह पीछे से अधिकृत है ।] समासः—अय् च अव् च आय् च आव् च=अयवायावः इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(अचि) अच् परे होने पर (संहितायां) संहिता के विषय में (एचः) एच् के स्थान पर (अयवायावः) अय्, अव्, आय्, आव् हो जाते हैं ।।

'एच्' प्रत्याहार के मध्य 'ए, ओ, ऐ, औ' ये चार वर्ण आते हैं । इनके स्थान पर 'अय्, अव्, आय्, आव्' ये चार आदेश होते हैं यदि इनसे परे अच् अर्थात् स्वर हों तो ।

'संहिता' के विषय में पीछे लिख चुके हैं, वही नियम यहां और अन्यत्र सब जगह समझ लेना चाहिये ।

'अचि' यहां भाव-सप्तमी है, यह पूर्ववत् 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१६) परिभाषा द्वारा पर-सप्तमी हो जाती है ।

यहां वृत्ति में 'क्रमात्' पद 'यथा-सङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) परिभाषा के कारण आया हुआ है । अब इस परिभाषा को स्पष्ट करते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—२३ यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ।१।३।१०॥

समसम्बन्धी विधिर्यथासङ्ख्यं स्यात् । हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः ।

अर्थः—[सङ्ख्या की दृष्टि से] समान सम्बन्ध वाली विधि सङ्ख्या के अनुसार हो ।

व्याख्या—समानाम् ।६।३। अनुदेशः ।१।१। यथा-सङ्ख्यम् ।१।१। समासः—सङ्ख्याम् अनतिक्रम्येति यथासङ्ख्यम्, अव्ययीभाव-समासः । यहां समानता सङ्ख्या की दृष्टि से अभिप्रेत है । अर्थः—(समानाम्) समान सङ्ख्या वालों का (अनुदेशः) कार्य्य (यथा-सङ्ख्यम्) सङ्ख्या के अनुसार अर्थात् बारी २ से होता है ।

'समानाम्' में 'षष्ठीशेषे' (६०१) सूत्र द्वारा सम्बन्ध में षष्ठी हुई है । यदि यहां 'कर्तृ-कर्मणोः कृति' (२।३।६५) सूत्र द्वारा कर्म में षष्ठी मानें तो जहां स्थानी के साथ तुल्य सङ्ख्या वालों का विधान किया जाएगा, वहां ही इस सूत्र की प्रवृत्ति हो सकेगी; यथा—'एचोऽयवायावः' सूत्र में । परन्तु जहां विधीयमान सम-सङ्ख्यक न होंगे किन्तु प्रकारान्तर से समान सङ्ख्या होती होगी वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति न हो सकेगी; यथा—'समूलाकृत-जीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' (३।४।३६) यहां विधीयमान 'णमुल्' एक है, इसकी किसी के साथ समान सङ्ख्या नहीं है; तीन उपपदों की तीन धातुओं के साथ समान सङ्ख्या है । यहां यदि यथासङ्ख्य नहीं करते तो अनिष्ट हो जाता है । अतः 'समानाम्' पद में कर्मणि षष्ठी न मान कर शेष-षष्ठी मानना ही युक्त है ।

'एचोऽयवायावः' (२२) सूत्र द्वारा विहित 'अय्, अव्, आय्, आव्' यह आदेश-रूप विधि सम-विधि है; क्योंकि एच् (ए, ओ, ऐ, औ) भी चार हैं और अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश भी चार हैं । अतः इस परिभाषा द्वारा यह विधि बारी २ अर्थात् पहले को पहला, दूसरे को दूसरा, तीसरे को तीसरा और चौथे को चौथा इस ढंग से होगी । 'ए' पहले को पहला अय्, 'ओ' दूसरे को दूसरा अव्, 'ऐ' तीसरे को तीसरा आय् तथा 'औ' चौथे को चौथा आव् होगा । इन सब के क्रमशः उदाहरण यथा—

हरे+ए=हर् अय्+ए=हरये । विष्णो+ए=विष्ण् अव्+ए=विष्णवे ।

इन दोनों उदाहरणों में 'हरि' और 'विष्णु' शब्दों से चतुर्थी का एकवचन 'ङे' आने पर ङकार अनुबन्ध का लोप हो 'घेर्ङिति' (१७२) सूत्र से गुण हो जाता है ।

नै+अक=न् आय्+अक=नायकः । पौ+अक=प् आव्+अक=पावकः ।

इन दोनों उदाहरणों में 'नी' और 'पू' धातुओं से 'ण्वुल्' प्रत्यय आने पर अनुबन्धों का लोप तथा 'वु' के स्थान पर अकादेश होकर 'अचो ञ्णिति' (१८२) सूत्र से क्रमशः ईकार

ऊकार को ऐकार औकार वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार भावुकः, चयनम्, गायकः, पवनः आदि प्रयोगों में भी अयादि-प्रक्रिया समझ लेनी चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४ वान्तो यि प्रत्यये। ६। १। ७८॥

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोर् अव् आव् एतौ स्तः।

गव्यम्। नाव्यम्।

अर्थः—यकारादि प्रत्यय परे होने पर 'ओ' को अव् तथा 'औ' को आव् हो जाता है।

व्याख्या—वान्तः ।१।१। यि ।७।१। प्रत्यये ।७।१। मुनि-वर पाणिनि के 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) नियम का 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' यह वार्तिक अपवाद है। इसका अभिप्राय यह है कि सप्तम्यन्त एकाल् विशेषण से तदन्त-विधि न हो किन्तु तदादि- विधि हो। यहां 'यि' यह सप्तम्यन्त एकाल् है और 'प्रत्यये' का विशेषण है. अतः इससे तदादि-विधि होकर 'यादौ प्रत्यये' ऐसा बन जायगा। समासः—वः अन्ते यस्य सः=वान्तः, वकारादकार उच्चारणार्थः, बहुव्रीहि-समासः। जिसके अन्त में 'व्' हो उसे वान्त कहते हैं। यहां वान्त से अभिप्राय पूर्व-सूत्र-पठित अव्, आव् आदेशों से है। यहां स्थानी 'ओदौतोश्चेति वक्तव्यम्' वार्तिक से ओ और औ समझने चाहियें। अर्थः- (यि=यादौ) जिसके आदि में 'य्' हो ऐसे (प्रत्यये) प्रत्यय के परे होने पर (वान्तः) 'ओ' और 'औ' के स्थान पर अव् और आव् आदेश हो जाते हैं। इनके उदाहरण यथा—

'गो+य' [यहां 'गो' से 'गोपयसोर्यत्' (४।३।१६०) द्वारा 'यत्' प्रत्यय होता है।] यहां 'य' यह यकारादि प्रत्यय परे है अतः गकारोत्तर ओकार के स्थान पर अव् आदेश हो—ग्अव्+य=गव्य। अब विभक्ति लाने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। [गोर्विकारः=गव्यम्, दुग्ध-दध्यादिकमित्यर्थः। दूध, दही आदि गौ के विकार 'गव्य' कहाते हैं।]

'नौ+य' [यहां 'नौ' से तार्य='तरने योग्य' अर्थ में 'नौ-वयो-धर्म——' (४।४।९१) सूत्र से 'यत्' प्रत्यय होता है।] यहां 'य' यह यकारादि प्रत्यय परे है अतः नकारोत्तर औकार के स्थान पर आव् आदेश होकर विभक्ति लाने से 'नाव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। [नावा तार्यम्=नाव्यं जलम्, नौका से तरने योग्य जल को 'नाव्य' कहते हैं, यथा—'गङ्गायां नाव्यं जलं वर्त्तते'।]

इन उदाहरणों में 'अच्' परे न होने के कारण 'एचोऽयवायावः' (२२) सूत्र से काम नहीं चल सकता था अतः यह सूत्र बनाना पड़ा है।

[लघु०] वा०—३ अध्वपरिमाणे च॥

गव्यूतिः ।

अर्थः—'गो' शब्द से 'यूति' शब्द परे होने पर ओकार को वान्त (अव्) आदेश हो जाता है; यदि समुदाय से मार्ग का परिमाण (माप) अर्थ ज्ञात हो तो ।

व्याख्या—गोः ।६।१। यूतौ ।७।१। ['गोयूतौ छन्दस्युपसङ्ख्यानम्' से] वान्तः ।१।१। ['वान्तो यि प्रत्यये' से] अध्व-परिमाणे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(यूतौ) 'यूति' शब्द परे होने पर (गोः) 'गो' शब्द के ओकार के स्थान पर (वान्तः) 'अव्' आदेश हो (अध्व-परिमाणे) मार्ग के परिमाण अर्थात् माप के गम्यमान होने पर । उदाहरण यथा—

गो+यूति=ग् अव्+यूति=गव्यूतिः । इस का अर्थ 'दो कोस' है । जहां मार्ग-परिमाण अर्थ न होगा वहां 'गोयूतिः' बनेगा ।

यहां पर यकारादि प्रत्यय न होने से यह वार्त्तिक बनाना पड़ा है ।

अभ्यास (३)

१ निम्न-लिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर के सूत्रों द्वारा उसे सिद्ध करें ।

१ वटवृक्षः* । २ ग्लायति । ३ भवति । ४ गणयति । ५ माण्डव्यः † । ६ स्तावकः । ७ नयति । ८ गायन्ति । ९ नाविकः । १० शयनम् । ११ जयः । १२ गोपयति । १३ औपगवः । १४ चयः । १५ चित्राय । १६ अलावीत् । १७ पवनः । १८ नयः । १९ त्रायते । २० कवये । २१ चयः । २२ मनवे । २३ रायौ । २४ पपावसाविह । २५ द्रवति ।

२ निम्न-लिखित रूपों में सन्धि कर के सूत्रों द्वारा उसे सिद्ध करें ।

१ असौ+अयम् । २ असे+ए । ३ चे+अन । ४ लो+अन । ५ चोरे+अति । ६ भौ+उक । ७ गै+अक । ८ साधो+ए । ९ शङ्को+य×। १० अग्नौ+इह । ११ भौ+अयति १२ पो+इत्र । १३ शे+आन । १४ भो+अन । १५ ग्लौ+औ । १६ बाभ्रो+य ‡। १७ गो+यूति । १८ बालौ+अत्र ।

३ 'एचोऽयवायावः' सूत्र में यदि 'अचि' पद का अनुवर्त्तन न करें तो कौन सा दोष उत्पन्न हो जायगा ?

---

*'वटो+ऋक्षः' इतिच्छेदः ।

†'मण्डु' शब्दाद् गोत्रापत्ये 'गर्गादिभ्यो यञ्' (१००५) इति यञ् ।

×शङ्कु शब्दात् 'तस्मै हितम्' (५।१।५) इत्यधिकारे 'उगवादिभ्यो यत्' (५। १। २) इति यत् प्रत्ययः ।

‡बभ्रु शब्दाद् अपत्येऽर्थे 'मधु-बभ्र्वोर्ब्राह्मण-कौशिकयोः' (४।१।१०६) इति यञि, ञित्वादादिवृद्धौ 'ओर्गुणः' (१००२) इति गुणः ।

४ 'यथा-सङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या करते हुए 'समानाम्' पद पर प्रकाश डालें।

५ 'वान्तो यि प्रत्यये' और 'अध्व-परिमाणे च' के निर्माण का प्रयोजन बताएं।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२५ अदेङ् गुणः। १। १। २॥

अद् एङ् च गुण-सञ्ज्ञः स्यात्।

अर्थः—अ, ए, ओ, इन तीन वर्णों की 'गुण' सञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या—अत्।१।१। एङ्।१।१। गुणः।१।१। अर्थः—(अत्, एङ्) अ, ए, ओ ये तीन वर्ण (गुणः) गुण-सञ्ज्ञक होते हैं। इस सूत्र पर जो वक्तव्य है वह अग्रिम सूत्र पर लिखा जायगा।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२६ तपरस्तत्कालस्य। १। १। ६९॥

तः परो यस्मात् स च, तात् परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव सञ्ज्ञा स्यात्।

अर्थः—'त्' जिससे परे है और 'त्' से जो परे है वह अपने सदृश काल वालों की सञ्ज्ञा होता है।

व्याख्या—तपरः।१।१। तत्कालस्य।६।१। स्वस्य।६।१। ['स्वं रूपं शब्दस्याशब्द-सञ्ज्ञा' से विभक्ति-विपरिणाम करके] समासः—तात् परः=तपरः, पञ्चमी-तत्पुरुषः। तः परो यस्मादसौ तपरः, बहुव्रीहि-समासः। तस्य=तपरस्येवोच्चार्यमाणस्य काल इव कालो यस्य स तत्कालः, तस्य=तत्कालस्य, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(तपरः) 'त्' जिससे परे है और 'त्' से जो परे है वह (तत्कालस्य) अपने काल के समान काल वालों की तथा (स्वस्य) अपनी सञ्ज्ञा होता है।

'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (११) सूत्र द्वारा अण् अपने तथा अपने सवर्णों के बोधक होते हैं; यह पीछे कह चुके हैं। यह सूत्र उसका अपवाद (निषेध करने वाला) है। जिसके आगे या पीछे 'त्' लगाया जाए वह केवल अपना तथा अपने काल के सदृश काल वाले सवर्णों का ही ग्राहक हो अन्य सवर्णों का न हो; यही इस सूत्र का तात्पर्य है। यथा—'अदेङ् गुणः' (२५) यहां 'अ' तपर है, क्योंकि इससे परे 'त्' है; एवम् 'एङ्' भी तपर है, क्योंकि यह 'त्' से परे है। अब यहां 'अ' और 'एङ्' ये दोनों तपर अण्-प्रत्याहार के अन्तर्गत होते हुए भी 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (११) सूत्र द्वारा अपने सम्पूर्ण सवर्णों का ग्रहण न कराएंगे, किन्तु उन्हीं सवर्णों का ग्रहण कराएंगे जिनका काल इनके साथ तुल्य होगा।

'अ' यह एक-मात्रिक है, अतः यह अपने एक-मात्रिक सवर्णों का ही बोधक होगा दीर्घादियों का नहीं। 'एङ्, अर्थात् 'ए', 'ओ' द्वि-मात्रिक हैं, अतः ये अपने द्विमात्रिक सवर्णों के ही बोधक होंगे ह्रस्वादियों के नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि तपर 'अ'—केवल अपने समकाल वाले छः ह्रस्व-भेदों का ही ग्राहक होगा सम्पूर्ण अठारह भेदों का नहीं। इसी प्रकार तपर 'ए, ओ'—केवल अपने समकाल वाले छः दीर्घ भेदों के ही ग्राहक होंगे सम्पूर्ण बारह भेदों के नहीं। एवम्-तपर इ, उ, ऋ, आ, ई आदियों में भी समझ लेना चाहिये।*

तो अब 'अदेङ् गुणः' (२५) सूत्र का यह अर्थ हुआ—'ह्रस्व अकार, दीर्घ एकार तथा दीर्घ ओकार गुण-सञ्ज्ञक होते हैं'। अब अग्रिम सूत्र में गुण-सञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७ आद् गुणः।६।१।८६॥

अवर्णादचि परे पूर्व-परयोरेको गुण आदेशः स्यात्। उपेन्द्रः। गङ्गोदकम्।

अर्थः—अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर एक गुण आदेश हो जाता है।

व्याख्या—'अष्टाध्यायी' के छठे अध्याय के प्रथम-पाद में 'एकः पूर्व-परयोः' (६।१।८२) यह अधिकार-सूत्र है; इसका अधिकार 'ख्यत्यात्परस्य' (६।१।१०९) सूत्र के पूर्व तक जाता है। इस अधिकार+ में 'पूर्व पर दोनों के स्थान पर एक आदेश होता है'। यह 'आद् गुणः' (२७) सूत्र भी इसी अधिकार में पढ़ा गया है। आत् ।५।१। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्व-परयोः' यह अधिकृत है] गुणः ।१।१। अर्थः—(आत्) अवर्ण से (अचि) अच् परे होने पर

*ध्यान रहे कि इस तपर से अतिरिक्त विभक्ति-तपर भी हुआ करता है। यथा 'आद्गुणः' (२७) यहां पर 'आत्' यह 'आ' शब्द की पञ्चमी का 'त' है; अतः यहां पर ह्रस्व (उपेन्द्रः) दीर्घ (रमेशः) दोनों अकारों का ग्रहण हो जाता है। इसमें 'उपसर्गादृति धातौ' (३७) सूत्र ज्ञापक है। 'उपसर्गात्' यहां पञ्चमी का 'त्' है; यदि यहां पर भी 'तपरस्तत्कालस्य' (२६) का उपयोग करते हैं, तो फिर उससे परे स्थित 'ऋ' में तपर-ग्रहण व्यर्थ हो जाता है।

+इस अधिकार के २१ सूत्र 'लघुकौमुदी' में प्रयुक्त किये गये हैं। तथाहि—१ अन्तादिवच्च। (४१), २ आद्गुणः। (२७), ३ वृद्धिरेचि। (३३), ४ एत्येधत्यूठ्सु। (३४), ५ आटश्च। (१६७), ६ उपसर्गादृति धातौ। (३७), ७ औतोम्शसोः। (२१४), ८ एङि पर-रूपम्। (३८), ९ ओमाङोश्च। (४०), १० उस्यपदान्तात्। (४६२), ११ अतो गुणे। (२७४), १२ अकः सवर्णे दीर्घः। (४२), १३ प्रथमयोः पूर्व-सवर्णः। (१२६), १४ तस्माच्छसो नः पुंसि (१३७), १५ नादिचि (१२७), १६ दीर्घाज्जसि च (१६२), १७ अमि पूर्वः (१३५), १८ सम्प्रसारणाच्च (२५८), १९ एङः पदान्तादति (४३), २० ङसि-ङसोश्च (१७३), २१ ऋत उत् (२०८), इन सूत्रों को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

(पूर्व-परयोः) पूर्व और पर के स्थान पर (एकः) एक (गुणः) गुण आदेश होता है।

अवर्ण से अवर्ण परे होने पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) तथा अवर्ण से 'ए, ओ, ऐ, औ' परे होने पर 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र इस गुण को बान्ध लेते हैं, अतः अवर्ण से इकार उकार, ऋकार तथा ऌकार परे होने पर ही गुण प्रवृत्त होता है।

उदाहरण यथा—'उपेन्द्रः'। [विष्णु]।

'उप+इन्द्र' यहां पकारोत्तर अवर्ण से परे 'इन्द्र' का आदि अच् 'इ' विद्यमान है, अतः पूर्व=अवर्ण तथा पर=इवर्ण दोनों के स्थान पर एक गुण प्राप्त होता है। 'अदेङ् गुणः' (२५) सूत्र के अनुसार 'अ, ए, ओ' ये तीन गुण हैं। अब इन तीनों में से कौन सा गुण 'अ+इ' के स्थान पर किया जाए ? इस शङ्का के उत्पन्न होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र से स्थान-कृत आन्तर्य द्वारा 'अ+इ' के स्थान पर 'ए' गुण हो जाता है। ['अ+इ' का स्थान 'कण्ठ+तालु' है, गुणों में कण्ठ+तालु स्थान वाला 'ए' ही है।] उप 'ए' न्द्र='उपेन्द्रः' * प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'गङ्गोदकम्'। [गङ्गा का जल]

'गङ्गा+उदक' यहां गकारोत्तर 'आ' अवर्ण है, इससे परे 'उदक' का आदि 'उ' अच् विद्यमान है। 'आ+उ' का स्थान 'कण्ठ+ओष्ठ' है। तीनों गुणों में 'कण्ठ+ओष्ठ' स्थान 'ओ' का ही है, अतः पूर्व=आ और पर=उ इन दोनों के स्थान पर+ 'आद् गुणः' (२७) द्वारा 'ओ' यह एक गुण आदेश हो कर गङ्ग् 'ओ' दक='गङ्गोदकम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अवर्ण से ऋ, ऌ परे वाले उदाहरणों में 'उरण्रपरः' (२६) सूत्र का उपयोग किया जाता है; वह सूत्र 'रँ' प्रत्याहार के आश्रित है, अतः प्रथम 'रँ' प्रत्याहार की सिद्धि के लिये 'इत्' सञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२८ उपदेशेऽजनुनासिक इत्।१।३।२॥

उपदेशेऽनुनासिकोऽज् इत्सञ्ज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। 'लण्' सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः सञ्ज्ञा।

अर्थः—जो अच् उपदेश अवस्था में अनुनासिक हो, उसकी इत् सञ्ज्ञा होती है।

---

*'जब समासादि में सन्धि हो चुकती है तब विभक्ति की उत्पत्ति हुआ करती है' यह हम पीछे लिख चुके हैं, सर्वत्र नहीं लिखेंगे।

+यद्यपि 'गङ्गा+उदक' में 'आ+उ' स्थानी के त्रिमात्र होने से आदेश 'ओ' भी सदृशतम त्रिमात्र होना चाहिए; तथापि 'अदेङ् गुणः' [२५] में एङ् के 'तपर' होने से द्विमात्र 'ओ' ही गुण एङ् हो जाता है। यह पूर्व-सूत्र में सङ्केतित कर आये हैं।

प्रतिज्ञेति—पाणिनि के वर्ण प्रतिज्ञा अर्थात् गुरु-परम्परा के उपदेश से अनुनासिक धर्म वाले हैं। **लण् इति**—'लण्' सूत्र में स्थित लकारोत्तर अवर्ण (अन्त्य) के साथ युक्त हुआ रेफ (आदि) र् और ल् वर्णों की सञ्ज्ञा होता है।

व्याख्या—उपदेशे ।७।१। अनुनासिकः ।१।१। अच् ।१।१। इत् ।१।१। अर्थः—(उपदेशे) उपदेश अवस्था में (अनुनासिकः) अनुनासिक (अच्) अच् (इत्) इत् सञ्ज्ञक होता है।

महामुनि पाणिनि ने अपने व्याकरण में अनुनासिक अचों पर (ँ) इस प्रकार का चिह्न किया था*, परन्तु अब वह अनुनासिक-पाठ परिभ्रष्ट हो गया है। अतः अब अनुनासिक जानने की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—

"प्रतिज्ञाऽनुनासिक्याः पाणिनीयाः"।

पाणिनीयाः=पाणिनिना प्रोक्ता वर्णाः, प्रतिज्ञया=गुरुपरम्परोपदेशेन आनुनासिक्याः=अनुनासिक-धर्मवन्तः सन्तीति शेषः। अर्थः—पाणिनि से कहे गये वर्ण गुरु-परम्परा के उपदेशानुसार अनुनासिक धर्म वाले जानने चाहियें। तात्पर्य यह है कि अनुनासिक के विषय में अब तक आ रही गुरु-परम्परा का आश्रय करना ही युक्त है; गुरुपरम्परा से जो २ अनुनासिक चला आ रहा है उसे अनुनासिक और जो अनुनासिक नहीं माना जा रहा उसे अनुनासिक न मानना ही ठीक है।

इस सूत्र से 'लण्' में लकारोत्तर अकार की इत् सञ्ज्ञा हो जाती है; क्योंकि गुरु-परम्परा से 'लणमध्येत्वित्सञ्ज्ञकः' ऐसा प्रवाद चला आ रहा है अतः यह अनुनासिक 'लँण्' इस रूप में है।

इस अन्त्य इत्=अकार के साथ 'हयवरट्' सूत्र का 'र्' [देखो—'हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः'।] मिलाने से र्+अँ='रँ' प्रत्याहार बन जाता है, इस 'रँ' प्रत्याहार के अन्तर्गत 'र्' और 'ल्' ये दो वर्ण आते हैं। टकार 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्-सञ्ज्ञक है अतः मध्यवर्ती होने पर भी उसका ग्रहण नहीं होता।

अब 'रँ' प्रत्याहार का अग्रिम सूत्र में उपयोग बतलाते हैं—

---

*जैसे 'एधँ वृद्धौ, गम्लृँ गतौ, यजँ देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु' इनमें अनुनासिक के चिह्न होने से ये अकार पाणिनि को 'इत्' अभीष्ट हैं। अनुदात्तेत् होने से एध धातु आत्मनेपदी और स्वरितेत् होने से यज धातु उभयपदी है। 'गम्लृँ' धातु में लृकार न अनुदात्त है और न स्वरित अतः अवशिष्ट उदात्त है, उदात्तेत् होने से गम्लृ धातु परस्मैपदी है। इत्-सञ्ज्ञा किसी प्रयोजन के लिये होती है। प्रयोजनाभाव में अकार उच्चारणार्थक ही होता है।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—२९ उरण्रपरः ।१।१।५०॥

'ऋ इति त्रिंशतः सञ्ज्ञे' त्युक्तम्; तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्त्तते। कृष्णर्द्धिः। तवल्कारः।

अर्थः—'ऋ' यह तीस की सञ्ज्ञा है; यह हम पीछे ('अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र पर) कह चुके हैं। उस तीस प्रकार वाले 'ऋ' के स्थान पर यदि अण् करना हो तो वह 'रँ' प्रत्याहार परे वाला ही प्रवृत्त होता है।

व्याख्या—उः ।६।१। ['ऋ' शब्द का षष्ठी के एकवचन में 'पितुः' के समान 'उः' प्रयोग बनता है।] अण् ।१।१। रपरः ।१।१। समासः—रः परो यस्माद् असौ रपरः, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(उः) 'ऋ' वर्ण के स्थान पर (अण्) अण् अर्थात् अ, इ, उ (रपरः) 'रँ' प्रत्याहार परे वाले होते हैं।

'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (११) सूत्र पर 'ऋ' की तीस सञ्ज्ञाओं का प्रतिपादन कर चुके हैं; उस 'ऋ' के स्थान पर यदि अण् (अ इ उ) आदेश होगा तो वह 'रँ' प्रत्याहार परे वाला अर्थात् उससे परे र् और ल् भी होंगे। यथा—अर्, अल्, आर्, आल्, इर्, इल्, उर्, उल् इत्यादि। उदाहरण यथा—

'कृष्णर्द्धिः' [कृष्ण की समृद्धि]। 'कृष्ण+ऋद्धि' यहां णकारस्थ अवर्ण से परे ऋकार=अच् के विद्यमान होने से 'आद् गुणः' (२७) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर एक गुण प्राप्त होता है। 'अ+ऋ' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' है। तीनों गुणों में 'कण्ठ' स्थान तो सब का मिलता है पर मूर्धा-स्थान किसी का नहीं मिलता। अब यदि पूर्व+पर के स्थान पर 'अ' गुण करें तो उस से परे 'रँ' प्रत्याहार प्राप्त हो जाता है। 'रँ' प्रत्याहार में र् और ल् दो वर्ण आते हैं; 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) द्वारा 'ऋ' के स्थान पर अण् करने से उस से परे 'र्' और 'ऌ' के स्थान पर अण् करने से उस से परे 'ल्' भी साथ प्रवृत्त हो जाता है। यहां पूर्व+पर के स्थान पर एकादेश होने से 'ऋ' के स्थान पर अण् (अ) करना है, अतः उस से परे 'र्' भी हो जाता है। इस प्रकार 'अर्' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' होने से स्थानी और आदेश तुल्य हो जाते हैं। तो अब 'अर्' करने से कृष्ण् 'अर्' द्धि = 'कृष्णर्द्धिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'तवल्कारः' [तेरा ऌकार]। 'तव+ऌकारः' यहां 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश प्राप्त होने पर 'उरण्रपरः' (२९) से 'रँ' प्रत्याहार भी परे प्राप्त होता है। अब 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र से लपर अण् होकर तव् 'अल्' कार = 'तवल्कारः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अभ्यास (४)

१ निम्न-लिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर उसे सूत्रों द्वारा सिद्ध करो—

१ गजेन्द्रः । २ परीक्षोत्सवः । ३ वसन्तर्तुः । ४ रमेशः । ५ सूर्योदयः । ६ गणेशः । ७ देवर्षिः । ८ ममत्कारः । ९ हितोपदेशः । १० तथेति । ११ अत्यन्तोर्ध्वम् । १२ परमोत्तमः । १३ नेति । १४ यथेच्छम् । १५ उमेशः । १६ महर्षिः । १७ यज्ञोपवीतम् । १८ महेष्वासः । १९ विकलेन्द्रियः । २० तवोत्साहः । २१ वेदर्क् । २२ दयोदयोज्ज्वलः ।

२ अधोलिखित प्रयोगों में उपपत्ति-पूर्वक सूत्रों द्वारा सन्धि करो—

१ महा+ईश । २ तीव्र+उच्चारण । ३ राम+इतिहास । ४ न+उपलब्धि । ५ भाष्य-कार+इष्टि । ६ परम+उपकारक । ७ स्वच्छ+उदक । ८ सतत+उद्यत । ९ तव+लृदन्तः । १० ग्रीष्म+ऋतु । ११ सप्त+ऋषि । १२ मम+लृवर्णः ।

३ (क) 'उरण्रपरः' (२९) में अण् प्रत्याहार किस णकार से ग्रहण करना चाहिये ? और क्यों ? ।

(ख) 'ऋ' की तीस सञ्ज्ञाओं का उल्लेख करो ।

(ग) 'रँ' प्रत्याहार की ससूत्र सिद्धि लिख कर तदन्तर्गत वर्णों को लिखते हुए 'रँ' प्रत्याहार स्वीकार करने का प्रयोजन बताओ ।

(घ) अनुनासिक जानने की आज कल क्या व्यवस्था है ? सप्रमाण सविस्तर लिखो ।

(ङ) तपर करने का क्या प्रयोजन है ? सोदाहरण सप्रमाण स्पष्ट करो ।

(च) 'आद् गुणः' सूत्र किस २ का अपवाद है ; सोदाहरण लिखो ।

—०:ॐ:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३० लोपः शाकल्यस्य ।८।३।१९॥

अवर्ण-पूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे ।

अर्थः—अश् प्रत्याहार परे होने पर अवर्ण पूर्व वाले पदान्त यकार वकार का विकल्प करके लोप हो जाता है ।

व्याख्या—अ-पूर्वयोः ।६।२। ['भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि' से 'अ-पूर्वस्य' अंश की अनुवृत्ति आकर वचन-विपरिणाम हो जाता है ।] व्योः ।६।२। ['व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' से] पदान्तयोः ।६।२। ['पदस्य' यह पीछे से अधिकार चला आ रहा है । 'व्योः' का विशेषण होने से इससे तदन्त-विधि होकर वचन-विपरिणाम से द्विवचन हो जाता है ।] लोपः ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। अशि ।७।१। ['भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि' से]

समासः—अः = अवर्णः पूर्वौ याभ्यां तौ = अ-पूर्वौ, तयोः = अपूर्वयोः, बहुव्रीहि-समासः। व् च य् च = व्यौ, तयोः = व्योः, इतरेतर-द्वन्द्वः। अर्थः—(अ-पूर्वयोः) अवर्ण पूर्व वाले (पदान्तयोः) पदान्त (व्योः) वकार यकार का (अशि) अश् परे होने पर (लोपः) लोप हो जाता है। (शाकल्यस्य) यह कार्य शाकल्याचार्य का है।

यह लोप शाकल्याचार्य—जो पाणिनि से पूर्व व्याकरण के एक महान् आचार्य हो चुके थे—के मत में होता है; पाणिनि के मत में नहीं। हमें दोनों आचार्य प्रमाण हैं अतः विकल्प से लोप होगा। उदाहरण यथा—

'हरे+इह' 'विष्णो+इह' यहां 'हरे' और 'विष्णो' पद सम्बोधन के एकवचनान्त होने से 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) के अनुसार पद-सञ्ज्ञक हैं। इन दोनों में 'एचोऽयवायावः' (२२) सूत्र से क्रमशः एकार को अय् और ओकार को अव् आदेश हो कर—'हर् अय्+इह' 'विष्ण् अव्+इह' बन जाते हैं। अब पुनः दोनों रूपों में 'इह' के आदि इकार=अश् के परे होने पर पदान्त यकार वकार का विकल्प से लोप हो—

लोप-पक्षे	लोपाभाव-पक्षे
१ हर् अ + इह।	२ हर् अय् + इह।
१ विष्ण् अ + इह।	२ विष्ण् अव् + इह।

अब लोप-पक्ष के रूपों में 'आद् गुणः' (२७) सूत्र द्वारा 'अ + इ' के स्थान पर 'ए' यह गुण एकादेश प्राप्त होता है। अब इसके निवारणार्थ अग्रिम सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—३१ पूर्वत्रासिद्धम्। ८। २। १॥

सपाद-सप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्। हर इह, हरयिह। विष्ण इह, विष्णविह।

अर्थः— सवा सात अध्यायों के प्रति त्रिपादी-सूत्र असिद्ध होते हैं और त्रिपादी-सूत्रों में भी पूर्वशास्त्र के प्रति पर-शास्त्र असिद्ध होता है।

व्याख्या— 'अष्टाध्यायी' में आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं; यह सब पीछे सञ्ज्ञा-प्रकरण में विस्तार-पूर्वक स्पष्ट कर चुके हैं। सात अध्याय सम्पूर्ण और आठवें अध्याय के प्रथम-पाद के व्यतीत होने पर आठवें अध्याय के दूसरे पाद का यह प्रथम-सूत्र है। यह अधिकार-सूत्र है। अधिकारसूत्र स्वयं कुछ नहीं किया करते किन्तु अग्रिम सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये हुआ करते हैं। इनकी अवधि [हद] नियत हुआ करती है। इस सूत्र का अधिकार यहां से लेकर ' अ अ' (८। ४। ६८) सूत्र अर्थात् अष्टाध्यायी के अन्त तक जाता है। आठवें अध्याय का दूसरा, तीसरा तथा चौथा पाद इसके अधिकार

में आता है। यह सूत्र इन तीनों पादों के सूत्रों में जा कर अनुवृत्ति करता है कि तू (पूर्वत्र इत्यव्ययपदम्) पूर्व-शास्त्र में (असिद्धम्) असिद्ध है; अर्थात् पूर्व की दृष्टि में तेरा कोई अस्तित्व ही नहीं। इससे यह होता है कि इन तीन पादों के सूत्र पूर्व-पठित सवा सात (८।१।) अध्यायों की दृष्टि में तथा इन (८।-२-३-४) में भी पूर्व के प्रति पर-सूत्र असिद्ध हो जाता है। यथा—'आद्गुणः' (२७) सवा सात अध्यायों के अन्तर्गत-सूत्र है। [यह छठे अध्याय के प्रथम-पाद का ८६ वां सूत्र है।] इसकी दृष्टि में आठवें अध्याय के तीसरे पाद में वर्त्तमान 'लोपः शाकल्यस्य' (३०) सूत्र असिद्ध है, अतः आद् गुणः' (२७) सूत्र 'लोपः शाकल्यस्य' (३०) सूत्र द्वारा किये गये यकार वकार के लोप को नहीं देखता; इसे तो अब भी यकार वकार पड़े हुए दीख रहे हैं। अवर्ण से परे यकार वकार के दिखाई देने से 'आद् गुणः' (२७) द्वारा गुण एकादेश नहीं होता। 'हर इह' 'विष्ण इह' ऐसे ही अवस्थित रहते हैं। तो इस प्रकार—लोप-पक्ष में 'हर इह, विष्ण इह' तथा लोपाभाव पक्ष में 'हरयिह, विष्णविह' रूप सिद्ध होते हैं।*

अभ्यास (५)

(१) कौमुदी में लिखा लम्बा चौड़ा अर्थ 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र से कैसे निकल आता है; सविस्तर स्पष्ट करें।

(२) सूत्र में विकल्प-वाची पद के न होने पर भी 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र कैसे वैकल्पिक लोप किया करता है?।

(३) 'हरय्+ए' 'विष्णव्+ए' रूपों में 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र द्वारा क्या यकार वकार का लोप हो जाय?।

(४) 'हरय्+इह', 'विष्णव्+इह' यहां जब 'लोपः शाकल्यस्य' से यकार वकार का लोप प्राप्त होता है तब 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' वार्तिक से उनके लोप का निषेध क्यों नहीं हो जाता?।

(५) निम्न-लिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर सूत्र-समन्वय-पूर्वक रूप सिद्धि करो—

१ गुरा आयाति। २ प्रभ इदानीम्। ३ शौर आगच्छ। ४ भाना अपि। ५ रवा उदिते। ६ न धातु-लोप आर्धधातुके। ७ श्रिय उत्कण्ठितः। ८ तयागच्छन्ति। ९ विधा इदिते। १० वन ऋषयः।

---

*त्रिपादियों में पूर्व के प्रति पर-शास्त्र की असिद्धि में उदाहरण यथा—'किम्वुक्तम्'। यहां पर 'मोऽनुस्वारः' [८।३।२३] इस पूर्व त्रिपादी के प्रति 'मय उञो वो वा' [८।३।३३] इस पर-त्रिपादी-सूत्र के असिद्ध होने से [अर्थात् व की जगह उ=अच् होने से] म् को अनुस्वार नहीं होता।

(६) अधो-लिखित रूपों में सूत्र-समन्वय-पूर्वक सन्धि करो—

१ रामौ+आगच्छतः । २ तस्मै+अदात् । ३ ते+इच्छन्ति । ४ बाले+इह । ५ एते+आगताः । ६ ये+इह । ७ इतौ+अनार्षे । ८ स्थले+इदानीम् । ९ बालौ+आगतौ । १० कस्मै+अयच्छत् ।

—०:❀:०—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्— ३२ वृद्धिरादैच् । १ । १ । १ ॥

आदैच् वृद्धि-सञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थः—'आ, ऐ, औ' वृद्धि-सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—वृद्धिः ।१।१। आत् ।१।१। ऐच् ।१।१। अर्थः—(आत् , ऐच्) दीर्घ आकार, दीर्घ ऐकार तथा दीर्घ औकार (वृद्धिः) वृद्धि-सञ्ज्ञक होते हैं । 'आदैच् ' यहां पर तपर किया गया है । यह तपर 'आ' के लिये नहीं किन्तु 'ऐच्' के लिये किया गया है; क्योंकि 'आ' तो अण्-प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (११) सूत्र द्वारा स्वतः ही सवर्णों का ग्रहण नहीं कराता, पुनः उसके लिये निषेध कैसा ? अतः यहां ऐच् के ग्रहण से प्लुत-सवर्णों का ग्रहण न हो अथवा 'देव + ऐश्वर्य' में त्रिमात्र-स्थानी तथा 'गङ्गा + ओघ' में चतुर्मात्र स्थानी होने से ऐ–औ भी कहीं त्रिमात्र चतुर्मात्र न हों, किन्तु द्विमात्र हों; इस लिये तपर किया गया है । इससे—दीर्घ आकार, दीर्घ ऐकार, तथा दीर्घ औकार इन तीन वर्णों की 'वृद्धि' सञ्ज्ञा होती है ।

अब अग्रिम-सूत्र में इस सञ्ज्ञा का फल दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३३ वृद्धिरेचि । ६ । १ । ८ । ७॥

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणापवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ।

अर्थः—अवर्ण से एच् परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर एक वृद्धि आदेश हो जाता है । गुणेति—यह सूत्र 'आद् गुणः' (२७) सूत्र का अपवाद है ।

व्याख्या—आत् । ५ । १ । ['आद् गुणः' से] एचि । ७ । १ । पूर्व-परयोः । ६ । २ । एकः । १ । १ । ['एकः पूर्व-परयोः' यह अधिकृत है ।] वृद्धिः । १ । १ । अर्थः—(आत्) अवर्ण से (एचि) एच् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि हो जाती है । यह सूत्र 'आद् गुणः' (२७) सूत्र का अपवाद है । बहुत विषय वाला उत्सर्ग और थोड़े विषय वाला अपवाद हुआ करता है । 'आद्-

गुणः' (२७) सूत्र बहुत विषय वाला है; क्योंकि इसका अवर्ण से परे अच्-मात्र विषय है। 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र थोड़े विषय वाला है; क्योंकि इसका अवर्ण से परे अच्-प्रत्याहार के अन्तर्गत केवल एच् ही विषय है। उत्सर्ग और अपवाद दोनों प्रकार के सूत्र महा-मुनि पाणिनि ने बनाये हैं; अतः हमें कोई ऐसा हल ढूंढना है जिससे दोनों प्रकार के सूत्र सार्थक हो जाएं, कोई अनर्थक न हो। अब यदि अपवाद के विषय में भी उत्सर्ग प्रवृत्त करते हैं तो अपवाद-सूत्र निरर्थक हो जाते हैं; क्योंकि तब इन्हें प्रवृत्त होने के लिये कोई स्थान ही नहीं मिल सकता। और यदि उत्सर्ग के विषय में अपवाद प्रवृत्त करते हैं तो उतने मात्र में प्रवृत्त होकर अपवाद सार्थक हो जाता है और शेष बचे हुए में उत्सर्ग भी प्रवृत्त हो सकता है; इस प्रकार दोनों सार्थक हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्सर्ग के विषय में ही अपवाद प्रवृत्त करना युक्त है। तो अब 'आद् गुणः' (२७) के विषय में 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र प्रवृत्त होकर 'एच्' के स्थानों को उससे छीन लेगा; शेष बचे हुए स्थानों में वह प्रवृत्त होगा। उदाहरण यथा—

'कृष्णैकत्वम्' (कृष्ण की एकता)। 'कृष्ण+एकत्व' यहां णकारोत्तर अवर्ण से परे 'एकत्व' शब्द का आदि एकार=एच् वर्त्तमान है। अतः 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र द्वारा पूर्व=अ और पर=ए के स्थान पर एक वृद्धि आदेश प्राप्त होता है। 'अ + ए' का स्थान 'कण्ठ + तालु' है; इधर वृद्धि-सञ्ज्ञकों में 'ऐ' का स्थान 'कण्ठ + तालु' है अतः 'अ + ए' के स्थान पर 'ऐ' यह एक वृद्धि आदेश होकर कृष्ण् 'ऐ' कत्व='कृष्णैकत्वम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'गङ्गौघः' (गङ्गा का प्रवाह)। 'गङ्गा + ओघ' यहां पूर्व=आ और पर=ओ का 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान है; अतः वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र द्वारा पूर्व + पर के स्थान पर 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान वाला 'औ' यह एक वृद्धि आदेश होकर गङ्ग् 'औ' घ='गङ्गौघः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'देवैश्वर्यम्' (देवताओं का ऐश्वर्य)। 'देव + ऐश्वर्य' यहां पूर्व=अ और पर=ऐ का 'कण्ठ + तालु' स्थान है; अतः 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र द्वारा पूर्व + पर के स्थान पर 'कण्ठ + तालु' स्थान वाला 'ऐ' यह एक वृद्धि आदेश होकर देव् 'ऐ' श्वर्य='देवैश्वर्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'कृष्णौत्कण्ठ्यम्' (कृष्ण की उत्कण्ठा)। 'कृष्ण+औत्कण्ठ्य' यहां पूर्व=अ और पर=औ का 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान है; अतः 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान वाला 'औ' यह एक वृद्धि आदेश होकर कृष्ण् 'औ' त्कण्ठ्य='कृष्णौत्कण्ठ्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभ्यास (६)

१ निम्न-लिखित रूपों में सूत्रार्थ-समन्वय-पूर्वक सन्धि करो—

१ पञ्च+एते। २ जन+एकता। ३ तण्डुल+ओदन। ४ राम+औत्सुक्य। ५ नृप+ऐश्वर्य। ६ महा+ओषध। ७ एक+एक। ८ राजा+एषः। ९ महा+औदार्य। १० वीर+एक। ११ महा+एनः। १२ दर्शन+औत्सुक्य। १३ अस्य+औचिती। १४ सुख+औपयिक। १५ दीर्घ+एरण्ड।

२ निम्न-लिखित प्रयोगों में सूत्रार्थ-समन्वय-पूर्वक सन्धिच्छेद करो—

१ अत्रैकमत्यम्। २ पूर्वैनः। ३ भृत्यौद्धत्यम्। ४ पण्डितौकः। ५ बालैषा। ६ चित्तैकाग्रयम्। ७ तथैव। ८ महौजसः। ९ बिम्बौष्ठी*। १० तवैवम्। ११ सत्यैतिह्यम्। १२ ममौदासीन्यम्। १३ कर्मौर्ध्व-दैहिकम्। १४ दीर्घैकारः। १५ ज्ञातौषधिः। १६ महौषण्यम्। १७ प्लुतौकारः। १८ स्थूलैणः। १९ मैवम्। २० स्थूलौतुः*।

३ उत्सर्ग और अपवाद किसे कहते हैं? अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति क्यों नहीं हुआ करती?।

४ 'वृद्धिरेचि' सूत्र गुण का अपवाद है; इस वचन की व्याख्या करो।

५ 'वृद्धिरादैच्' सूत्र में तपर करने का क्या प्रयोजन है?।

—०:॥:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३४ एत्येधत्यूठ्सु ।६।१।८७॥

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। पररूप-गुणापवादः। उपैति। उपैधते। प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम्? उपेतः। मा भवान् प्रेदिधत।

अर्थः—अवर्ण से परे यदि एच्-प्रत्याहार आदि वाली 'इण्' तथा 'एध्' धातु हो अथवा ऊठ् हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक वृद्धि आदेश हो जाता है। **पररूपेति**—यह सूत्र 'एङि पररूप०' (३८) तथा 'आद् गुणः' (२७) का अपवाद है।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आद् गुणः' से] एजाद्योः ।७।२। ['वृद्धिरेचि' सूत्र से 'एचि' पद की अनुवृत्ति आती है। यह पद 'एति' और 'एधति' का ही विशेषण बन सकता है, असम्भव होने से 'ऊठ्' का नहीं; अतः वचन-विपरिणाम से द्विवचन और 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्-ग्रहणे' से तदादि-विधि होकर 'एजाद्योः' ऐसा बन जाता है।] एत्येधत्यूठ्सु

---

*'बिम्बोष्ठी' और 'स्थूलोतुः' भी होता है। देखो—'सिद्धान्त-कौमुदी' में 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' (वा०)।

।७।३। [एति+एधति+ऊठ्सु] पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्व-परयोः' यह अधिकृत है] वृद्धिः ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] अर्थः—(आत्) अवर्ण से (एजाद्योः) एजादि (एत्येधत्यूठ्सु) इण् और एध् धातु परे होने पर अथवा ऊठ् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश होता है। उदाहरण यथा—

'उपैति' (पास आता है)। 'उप+एति' ('एति' यह पद 'इण् गतौ' (अदा०) धातु के लट् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है) यहां पकारोत्तर अवर्ण से परे एजादि 'इण्' धातु वर्त्तमान है, अतः इस सूत्र से पूर्व = अ और पर = ए के स्थान पर 'ऐ' यह एक वृद्धि आदेश हो कर उप् 'ऐ' ति= 'उपैति' प्रयोग सिद्ध होता है।

'उपैधते' (पास बढता है)। 'उप + एधते' ('एधते' यह पद 'एध वृद्धौ' (भ्वा०)धातु के लट् लकार के प्रथमपुरुष का एकवचन है) यहां अवर्ण से परे एजादि एध् धातु वर्त्तमान है अतः पूर्व = अ और पर= ए के स्थान पर एक 'ऐ' वृद्धि आदेश हो कर—उप् 'ऐ' धते = 'उपैधते' प्रयोग सिद्ध होता है।

'प्रष्ठौहः' (प्रष्ठवाह का×)। 'प्रष्ठ + ऊहः' (यहां 'ऊठ्' है। कैसे है ? यह हलन्त-पुलँलिङ्ग में 'विश्ववाह्' शब्द पर स्पष्ट होगा।) यहां अवर्ण से ऊठ् परे है अतः पूर्व=अ और पर =ऊ दोनों के स्थान पर 'औ' यह वृद्धि एकादेश हो कर प्रष्ठ् 'औ' हः ='प्रष्ठौहः' प्रयोग सिद्ध होता है।

यह सूत्र ऊठ् के विषय में गुण का तथा इण् और एध् के विषय में आगे वक्ष्यमाण 'एङि पर-रूपम्' (३८) सूत्र का अपवाद है।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस सूत्र में इण् और एध् धातु को एजादि क्यों कहा गया है ? अर्थात् यदि एजादि न कहते; तो कौन सी हानि हो जाती ? इस का उत्तर यह है कि एजादि न कहने से 'उपेतः' और 'प्रेदिधत्' प्रयोगों में भी वृद्धि हो जाती; जो नितान्त अशुद्ध है। तथाहि–'उपेतः' (समीप पहुँचा, युक्त अथवा वे दोनों पास आते हैं)। 'उप + इतः' ('इतः' यह पद 'इण् गतौ' धातु का क्तान्त रूप है अथवा लट् लकार के प्रथम-पुरुष का द्विवचन है) यहां अवर्ण से परे 'इण्' धातु तो है पर वह एजादि नहीं; अतः वृद्धि न हो कर 'आद् गुणः' (२७) सूत्र से 'ए' यह गुण एकादेश ही होगा। इस से उप् 'ए' तः = 'उपेतः' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा। 'मा भवान् प्रेदिधत्' (आप अधिक न बढ़ावें) ['इदिधत्' यह णिजन्त एध् धातु के लुङ् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है। यहां 'न माङ्योगे' सूत्र से 'आट्' आगम नहीं होता; इसी बात को जतलाने के लिये यहां 'मा' पद का प्रयोग किया

×उद्दण्डता दूर करने के लिए जिसके गले में भारी काष्ठ बान्ध देते हैं ऐसे बछड़े को 'प्रष्ठवाह' कहते हैं।

गया है।] यहां अवर्ण से परे 'एध्' धातु तो वर्त्तमान है; पर वह एजादि नहीं; अतः इस सूत्र से वृद्धि न हो 'आद् गुणः' (२७) सूत्र द्वारा गुण हो जायगा। इस से प्र् 'ए' दिधत् = 'प्रेदिधत्' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा।

ये दोनों उक्त सूत्र के प्रत्युदाहरण हैं। विपरीत उदाहरणों को प्रत्युदाहरण कहते हैं; अर्थात् 'यदि सूत्र में यह न कहते तो यह अशुद्ध हो जाता' इस प्रकार जो प्रयोग दर्शाए जाते हैं उन्हें प्रत्युदाहरण कहते हैं।

सूत्र में 'एति' और 'एधति' से 'इण्' और 'एध्' धातु का ही ग्रहण समझना चाहिये। जैसे वर्णों से स्वार्थ में 'कार' प्रत्यय लगाया जाता है [अकार, इकार, उकार, ककार आदि] वैसे धातुओं के निर्देश करने में भी 'इ' (इक्) या 'ति' (श्तिप्) लगाए जाते हैं। यथा—गमि व गच्छति, एधि व एधति, चलि व चलति आदि। इन सब का तात्पर्य गम्, एध्, चल् आदि मूल धातुओं से ही होता है।

[लघु०] वा०—४ अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम् ॥

अक्षौहिणी सेना।

अर्थः—'अक्ष' शब्द के अन्त्य अवर्ण से 'ऊहिनी' शब्द का आदि ऊकार परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है। ऐसा अधिक-वचन करना चाहिये।

व्याख्या—(अक्षात् ।५।१।) 'अक्ष' शब्द से (ऊहिन्याम् ।७।१।) 'ऊहिनी' शब्द परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है; ऐसा (उपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम्) अधिक-वचन करना चाहिये।

ध्यान रहे कि इस प्रकरण में 'आत्' और 'अचि' की अनुवृत्ति होने से सर्वत्र पूर्व से अवर्ण और पर से अच् का ग्रहण होता है।

उदाहरण यथा—'अक्षौहिणी' †। 'अक्ष + ऊहिनी' [अक्षाणाम् ऊहिनीति षष्ठीतत्पुरुष-समासः] यहां 'अ + ऊ' का स्थान 'कण्ठ + ओष्ठ' होने से तादृश-स्थान वाला 'औ' वृद्धि एकादेश हो—अक्ष् 'औ' हिनी= 'अक्षौहिनी' बना। अब 'पूर्व-पदात् सञ्ज्ञायामगः' (८।४।३) सूत्र से नकार को णकार आदेश करने से 'अक्षौहिणी' प्रयोग सिद्ध होता है।

---

†'अक्षौहिणी' विशेष परिमाण वाली सेना कहाती है। इसका परिमाण यथा—

'अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः। रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः'॥

२१८७०	रथ	अक्षौहिणी सेना
२१८७०	हाथी	
६५६१०	घोड़ (रथवाहकों से अतिरिक्त)	
१०९३५०	पैदल	

यहां गुण की प्राप्ति में वृद्धि विधान की गई है अतः यह वार्त्तिक गुण का अपवाद है।

[लघु०] वा०—५ प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु ॥

प्रौहः । प्रौढः । प्रौढिः । प्रैषः । प्रैष्यः ।

अर्थः—'प्र' शब्द के अन्त्य अवर्ण से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्दों का आदि अच् परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—प्रात् ।५।१। ऊहोढोढ्येषैष्येषु ।७।३। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः । १ । १ । वृद्धिः ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] समासः—ऊहश्च ऊढश्च ऊढिश्च एषश्च एष्यश्च तेषु= ऊहोढोढ्येषैष्येषु । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(प्रात्) 'प्र' शब्द से (ऊहोढोढ्येषैष्येषु) ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्द परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो । उदाहरण यथा—

प्र + ऊह = प्र् 'औ' ह='प्रौहः' । [उत्तम तर्क व उत्तम तर्क करने वाला]

प्र + ऊढ = प्र् 'औ' ढ='प्रौढः' । [बढ़ा हुआ व अधेड़]

प्र + ऊढि = प्र् 'औ' ढि='प्रौढिः' । [प्रौढता व शेखी]

प्र + एष = प्र् 'ऐ' ष='प्रैषः' । [प्रेरणा, घञन्तोऽत्र इष-धातुः]

प्र + एष्य = प्र् 'ऐ' ष्य='प्रैष्यः' । [प्रेरणीय, सेवक, ण्यदन्तोऽत्र इष-धातुः]

'प्रैषः, प्रैष्यः' यहां 'एङि पररूपम्' (३८) से पररूप प्राप्त था, शेष स्थानों पर 'आद् गुणः' (२७) सूत्र से गुण प्राप्त था । यह वार्त्तिक इन दोनों का अपवाद है ।

[लघु०] वा०—६ ऋते च तृतीया-समासे ॥

सुखेन ऋतः=सुखार्तः । तृतीयेति किम् ? परमर्तः ।

अर्थः—तृतीया-समास में अवर्ण से ऋत शब्द का आदि ऋवर्ण परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है ।

व्याख्या—आत् ।५।१। ('आद् गुणः' सूत्र से) ऋते ।७।१। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ('एकः पूर्व-परयोः' यह अधिकृत है) वृद्धिः ।१।१। ('वृद्धिरेचि' से) तृतीया-समासे ।७।१। अर्थः—(तृतीया-समासे) तृतीया-तत्पुरुष-समास में (आत्) अवर्ण से (ऋते) 'ऋत' शब्द परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है ।

उदाहरण यथा—'सुखेन ऋतः' यह लौकिक-विग्रह है । अलौकिक-विग्रह अर्थात् 'सुख टा, ऋत सु' में 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' (७२१) सूत्र द्वारा टा और सु का लुक् हो

जाने पर 'सुख + ऋत' ऐसा बनता है। अब इस वार्तिक से पूर्व=अवर्ण और पर=ऋवर्ण के स्थान पर वृद्धि करनी है। 'अ + ऋ' का स्थान 'कण्ठ + मूर्धा' है। 'कण्ठ + मूर्धा' स्थान वाला वृद्धि-सञ्ज्ञकों में कोई नहीं; सब का 'कण्ठ' स्थान ही तुल्य है। अब यदि 'आ' यह वृद्धि एकादेश करें तो 'उरण्रपरः' (२९) सूत्र से रपर होकर 'आर्' हो जाने से 'कण्ठ+मूर्धा' स्थान तुल्य हो जायगा। तो ऐसा करने से—सुख् 'आर्' त='सुखार्त' प्रयोग हो कर विभक्ति लाने से 'सुखार्तः' सिद्ध हो जाता है। इसका अर्थ—सुख में प्राप्त हुआ अर्थात् सुखी है।

अब यहां यह विचार उपस्थित होता है कि अवर्ण से 'ऋत' परे होने पर वृद्धि का विधान तो समास में करना ही चाहिये, क्योंकि 'सुखेन + ऋतः' यहां लौकिक-विग्रह में वृद्धि न हो कर गुण एकादेश होने से 'सुखेनर्तः' प्रयोग बन सके। परन्तु 'तृतीया का ही समास हो अन्य विभक्तियों का न हो' इस कथन का क्या प्रयोजन है? क्यों समास मात्र में ही वृद्धि का विधान न कर दिया जाए? इस का उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि यदि 'तृतीया' न कहेंगे; समास-मात्र में ही वृद्धि विधान करेंगे तो 'परमश्चासौ ऋतः=परम + ऋत' यहां गुण न हो कर वृद्धि हो जायगी, क्योंकि समास तो यहां भी है। अब यहां कर्म-धारय-समास में गुण हो कर 'परमर्तः' यह इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'परमर्तः' का अर्थ 'मुक्त' है।

[लघु०] वा०—७ प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानाम् ऋणे ॥

प्रार्णम्। वत्सतरार्णम्। इत्यादि।

अर्थः—प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण तथा दश इन छः शब्दों के अन्त्य अवर्ण से परे 'ऋण' शब्द का आदि ऋवर्ण होने पर पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानाम्। ६।३। [यहां पञ्चमी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी-विभक्ति समझनी चाहिये।] ऋणे। ७।१। पूर्वपरयोः। ६।२। एकः। १।१। वृद्धिः। १।१। ['वृद्धिरेचि' से] अर्थः—(प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानाम्) प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण तथा दश इन शब्दों से (ऋणे) ऋण शब्द परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

१ प्र + ऋण = प्र् 'आर्' ण='प्रार्णम्' [अधिक व उत्तम ऋण]

२ वत्सतर + ऋण = वत्सतर् 'आर्' ण='वत्सतरार्णम्' [बछड़े के लिये लिया हुआ ऋण]

३ कम्बल + ऋण = कम्बल् 'आर्' ण='कम्बलार्णम्' [कम्बल का ऋण]

४ वसन + ऋण = वसन् 'आर्' ण='वसनार्णम्' [कपड़े का ऋण]

५ ऋण + ऋण = ऋण् 'आर्' ण='ऋणार्णम्' [ऋण चुकाने के लिये लिया हुआ दूसरा ऋण]

६ दश + ऋण = दश् 'आर्' ण='दशार्णः' [जहां दश प्रकार के जल हों=देश-विशेष]

ध्यान रहे कि अन्तिम उदाहरण में बहुव्रीहि-समास है। इसमें 'दशन्' के नकार का 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से लोप हो जाता है। यह वार्त्तिक भी गुण एकादेश का अपवाद है।

अभ्यास (७)

(१) निम्न-लिखित रूपों में सोपपत्तिक उत्सर्गनिर्देश करते हुए सूत्रों द्वारा सन्धि सिद्ध करो—

१ विश्वौहः। २ प्रौहः। ३ भारौहः। ४ अवैति। ५ परैमि। ६ ऋणार्णम्। ७ उपैता (तृच्)। ८ अवैधते। ९ प्रौढिः। १० अक्षौहिणी। ११ प्रैति। १२ समैधते। १३ दशार्णः। १४ प्रैष्यः। १५ प्रैधे।

(२) 'एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र में 'एजादि' ग्रहण क्यों किया गया है?।

(३) 'ऋते च तृतीया-समासे' में समास-ग्रहण तथा तृतीया-ग्रहण का क्या प्रयोजन है?।

(४) 'अक्षौहिणी' सेना का परिमाण बताओ।

(५) एति और एधति में 'ति' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?।

(६) 'उपसङ्ख्यान' किसे कहते हैं?।

(७) 'एत्येधत्यूठ्सु', 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु', 'अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्' ये सूत्र + वार्त्तिक किस २ के अपवाद हैं?।

—०:※:०—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—३५ उपसर्गाः क्रिया-योगे।१।४।५८॥

प्रादयः क्रिया-योगे उपसर्ग-सञ्ज्ञाः स्युः। १ प्र। २ परा। ३ अप। ४ सम्। ५ अनु। ६ अव। ७ निस्*। ८ निर्। ९ दुस्*। १० दुर्। ११ वि। १२ आङ्। १३ नि। १४ अधि। १५ अपि। १६ अति। १७ सु। १८ उद्। १९ अभि। २० प्रति। २१ परि। २२ उप। एते प्रादयः।

---

*कई लोग यहां शङ्का किया करते हैं कि निस् और निर् में तथा दुस् और दुर् में किसी एक का ही पाठ उपसर्गों में करना चाहिये दोनों का नहीं, क्योंकि सान्त भी सर्वत्र 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से रेफान्त ही हो जाया करते हैं। इसका समाधान यह है कि निस्, दुस् में जो सकार को रु होता है, उसके असिद्ध होने से प्राप्त कार्य नहीं हो पाते; जैसे—'निरयते, दुरयते' में 'उपसर्गस्यायतौ' (८।२।१९) से लत्व नहीं होता, क्योंकि उस की दृष्टि में 'र्' असिद्ध है। 'निर्, दुर्' में लत्व हो जाता है—'निलयते, दुलयते'। इस लिये इन्हें भिन्न २ पढा गया है।

अर्थः—क्रिया-योग में प्रादि 'उपसर्ग' सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—प्रादयः ।१।३। [इसी सूत्र का अंश, जिसे योग-विभाग करके भाष्यकार ने अलग किया है।] उपसर्गाः ।१।३। क्रिया-योगे ।७।१। समासः—'प्र' शब्द आदिर्येषान्ते प्रादयः। तद्-गुण-संविज्ञान-बहुव्रीहि-समासः। क्रियया योगः = क्रिया-योगः, तस्मिन् क्रिया-योगे। तृतीया-तत्पुरुष समासः। अर्थः—(क्रिया-योगे) क्रिया के साथ अन्वित होने पर (प्रादयः) 'प्र' आदि २२ शब्द (उपसर्गाः) उपसर्ग-सञ्ज्ञक होते हैं। यह सूत्र 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१।४।५६) के अधिकार में पढ़ा गया है; अतः इन की निपात-सञ्ज्ञा भी साथ ही समझ लेनी चाहिये। निपात-सञ्ज्ञा का प्रयोजन 'अव्यय' बनाना है। [देखो—'स्वरादि-निपातमव्ययम्' (३६७)] प्रादि कौन २ से हैं? इस का ज्ञान 'गण-पाठ' से होता है। मूल में प्रादि-गण दे दिया गया है। 'गण-पाठ' महामुनि पाणिनि ने रचा है। प्रादि-गण पर विशेष विचार आगे यत्र तत्र बहुत किया जायेगा।

नोट:—प्रादि-गण में 'उद्' के स्थान पर 'उत्' पाठ प्रायः सब लघुकौमुदियों तथा सिद्धान्तकौमुदियों में देखा जाता है। पर वह अशुद्ध है; क्योंकि 'उदश्चरः सकर्मकात्' (७३१), 'उदि कूले रुजि-वहोः' (३।२।३१), 'उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य' (७०) इत्यादि पाणिनि-सूत्रों से इस के दकारान्त होने का ही निश्चय होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—३६ भूवादयो धातवः ।१।३।१॥

क्रिया-वाचिनो भ्वादयो धातु-सञ्ज्ञाः स्युः।

अर्थः—क्रिया के वाचक 'भू' आदि धातु-सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—भूवादयः ।१।३। धातवः ।१।३। समासः—भूश्च वाश्च भूवौ, इतरेतर-द्वन्द्वः। 'वा गति-गन्धनयोः' इत्यादादिको धातुः। आदिश्च आदिश्च=आदी। भूवौ आदी येषां ते भूवादयः, बहुव्रीहि-समासः। प्रथम आदि-शब्दः प्रभृति-वचनः, द्वितीय आदि-शब्दः प्रकार-वचनः। भू-प्रभृतयो व-सदृशा इत्यर्थः। 'वा' धातुना सादृश्यं क्रिया-वाचकत्वेनैव बोध्यम्। अर्थः—(भू-वादयः) क्रिया-वाची भ्वादि (धातवः) धातु-सञ्ज्ञक हों। क्रिया काम को कहते हैं। खाना, पीना, उठना, बैठना, करना आदि क्रियाएं हैं। क्रिया अर्थ वाले भ्वादि [यहां केवल भ्वादि-गण ही नहीं समझना चाहिये, अपितु समग्र धातु-पाठ का ग्रहण करना चाहिये।] धातु-सञ्ज्ञक होते हैं। यहां यदि क्रिया-वाची नहीं कहते तो 'याः पश्यति' (जिन स्त्रियों को देखता है।) यहां 'या + शस्' में 'आतो धातोः' (१६७) से आकार का अनिष्ट लोप प्राप्त होता है, क्योंकि भ्वादियों में 'या' का पाठ देखा जाता है। अब क्रिया-वाची कहने

से यह दोष नहीं आता; क्योंकि यहां 'या' का अर्थ क्रिया नहीं अपितु 'जो' है। यह टाबन्त सर्वनाम है।

अब अग्रिम-सूत्र में उपसर्ग और धातु-सञ्ज्ञा का फल बतलाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३७ उपसर्गादृति धातौ ।६।१।८९॥

अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। प्रार्च्छति।

अर्थः—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आद् गुणः' से इस की अनुवृत्ति आती है; 'उपसर्गात्' का विशेषण होने के कारण इस से तदन्त-विधि हो जाती है।] उपसर्गात् ।५।१। ऋति ।७।१। ['धातौ' का विशेषण होने के कारण 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा इस से तदादि-विधि हो जाती है।] धातौ ।७।१। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्व-परयोः' यह अधिकृत है] वृद्धिः ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] अर्थः—(आत्=अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से (ऋति=ऋकारादौ) ऋकारादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—'प्रार्च्छति' (जाता है)। 'प्र + ऋच्छति' यहां 'ऋच्छ' (भ्वा० व तुदा०) यह गमनक्रिया-वाची होने से 'भूवादयो धातवः' (३६) के अनुसार धातु-सञ्ज्ञक है; इस के साथ योग होने के कारण 'उपसर्गाः क्रिया-योगे' (३५) सूत्र द्वारा 'प्र' की उपसर्ग-सञ्ज्ञा हो जाती है। तो अब 'प्र' इस अवर्णान्त उपसर्ग से 'ऋच्छ' यह ऋकारादि धातु परे वर्त्तमान है, अतः 'उरण्रपरः' (२९) की सहायता से 'उपसर्गादृति धातौ' (३७) द्वारा पूर्व=अ और पर=ऋ के स्थान पर 'आर्' यह एक वृद्धि आदेश हो कर—प्र 'आर्' च्छति='प्रार्च्छति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यह सूत्र भी 'आद् गुणः' (२७) द्वारा प्राप्त गुण एकादेश का अपवाद समझना चाहिये।

अभ्यास (८)

(१) प्रादि-गण में कितने अजन्त और कितने हलन्त शब्द हैं?।

(२) प्रादि-गण में 'उत्' अथवा 'उद्' कौन सा पाठ युक्त है; सप्रमाण लिखो?।

(३) 'निस्—निर्' 'दुस्—दुर्' ये दो २ क्यों पढ़े गये हैं?।

(४) 'भूवादयो धातवः' सूत्र में वकार का आगमन कैसे और क्यों हो जाता है? क्या

'भ्वादयो धातवः' सूत्र बनाने से काम नहीं चल सकता था ? अथवा—'भूवादयो धातवः' सूत्र की व्याख्या करें ।

(५) अधोलिखित रूपों में सोपपत्तिक सूत्र निर्देश करते हुए सन्धि करें—

१ प्र+ऋज्जते । २ कन्या+ऋज्जते । ३ परा+ऋद्घ्नोति । ४ बाला+ऋद्घ्नोति । ५ प्र+ऋणोति । ६ स+ऋणोति । ७ उप+ऋच्छन् । ८ का+ऋच्छन् ।*

—०:※:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३८ एङि पररूपम् ।६।१।९२॥

आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात् । प्रेजते । उपोषति ।

अर्थः—अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पररूप एकादेश हो जाता है ।

व्याख्या—आत् । ५ । १ । ['आद् गुणः' से इस पद की अनुवृत्ति आती है । 'उपसर्गात्' का विशेषण होने से इस से तदन्त-विधि हो जाती है ।] उपसर्गात् ।५।१। ['उपसर्गादृति धातौ' से] एङि । ७ । १ । ['धातौ' का विशेषण होने से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादि-विधि हो जाती है ।] पूर्व-परयोः । ६ । २ । एकम् ।१।१। ['एकः पूर्व-परयोः' यह अधिकृत है । 'एकः' के स्थान पर 'एकम्', 'पररूपम्' का विशेषण होने से किया गया है । अथवा 'आदेशः' होने से 'एकः' ही रहता है ।] पर-रूपम् ।१।१। **अर्थः**—(आत्=अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से (एङि=एङादौ) एङादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकम्) एक (पररूपम्) पररूप आदेश हो जाता है । 'पररूप' से तात्पर्य 'पर' का है; 'रूप' ग्रहण स्पष्ट प्रतिपत्ति (बोध) के लिये है ।

उदाहरण यथा—'प्रेजते' (अत्यन्त चमकता† है) 'प्र + एजते' ['एजृ दीप्तौ' धातु के लट् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है] यहां 'प्र' यह अवर्णान्त उपसर्ग और 'एजते' यह एङादि धातु है । अतः पूर्व (अ) और पर (ए) के स्थान पर एक पररूप 'ए' आदेश करने से—प्र् 'ए' जते='प्रेजते' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'उपोषति' (जलाता है) । 'उप + ओषति' ['उष दाहे' धातु के लट् लकार के

---

*यहां अत्यन्त सावधानी से सन्धि करनी चाहिये; क्योंकि इस में कुछ गुण के उदाहरण भी मिश्रित कर दिये गये हैं ।

† 'एजृ कम्पने' धातु परस्मैपदी है; अतः यहां 'अत्यन्त काँपता है' ऐसा अर्थ करना नितान्त अशुद्ध है ।

प्रथम-पुरुष का एकवचन है]। यहां 'उप' यह अवर्णान्त उपसर्ग और 'ओषति' यह एङादि धातु है। अतः पूर्व (अ) और पर (ओ) के स्थान पर एक पररूप 'ओ' आदेश करने से—उप् 'ओ' षति='उपोषति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह सूत्र 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र का अपवाद है। ध्यान रहे कि एति और एधति के विषय में इस का भी अपवाद 'एत्येधत्यूठ्सु' (३४) सूत्र है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—३६ अचोऽन्त्यादि टि ।१।१।६४॥

अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः— अचों में जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिसके, उस शब्द-समुदाय की टि-सञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या— अचः ।६।३। [यहां 'यतश्च निर्धारणम्' सूत्र द्वारा निर्धारण में षष्ठी-विभक्ति होती है। यथा 'नृणां ब्राह्मणः श्रेष्ठः'। किञ्च यहां जाति में एकवचन हुआ समझना चाहिये।] अन्त्यादि ।१।१। टि ।१।१। समासः—अन्ते भवोऽन्त्यः, अन्त्य आदिर्यस्य शब्द-स्वरूपस्य तत् अन्त्यादि, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(अचः) अचों के मध्य में (अन्त्यादि) जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिसके ऐसा शब्द-स्वरूप (टि) 'टि' सञ्ज्ञक होता है। यथा—'मनस्' यहां अचों में अन्त्य अच् नकारोत्तर अकार है, वह जिसके आदि में है ऐसा शब्द-स्वरूप 'अस्' है; अतः इस की इस सूत्र से 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है। एवम्—'पतत्' यहां 'अत्' की, 'आताम्' यहां 'आम्' की, 'ध्वम्' यहां 'अम्' की तथा 'अग्निचित्' यहां 'इत्' की 'टि' सञ्ज्ञा समझनी चाहिये। जहां अन्त्य अच् से परे अन्य कोई वर्ण नहीं होता; वहां उस अन्त्य अच् की ही 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है। यथा—'कुल' यहां अचों में अन्त्य अच् लकारोत्तर अकार है, वह किसी के आदि में नहीं 'यथा देवदत्तस्यैकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः' इस न्यायानुसार अपने ही आदि और अपने ही अन्त में वर्त्तमान है अतः यहां केवल 'अ' की ही 'टि' सञ्ज्ञा होती है। [इस विषय का स्पष्टीकरण 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र की व्याख्या समझने के बाद ही हो सकता है।]

अब अग्रिम वार्त्तिक में 'टि' सञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] वा०—८ शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् ॥

तच्च टेः। शकन्धुः। कर्कन्धुः। कुलटा। मनीषा। आकृतिगणोऽयम्। मार्तण्डः।

अर्थः—शकन्धु आदि शब्दों में (उन की सिद्धि के अनुरूप) पररूप कहना चाहिये। (तत्) वह पररूप (टेः) टि (च) और अच् के स्थान पर समझना चाहिये।

व्याख्या—शकन्ध्वादिषु ।७।३। पररूपम् । १ । १ । वाच्यम् । १ । १ । अर्थः—(शकन्ध्वादिषु) शकन्धु आदि शब्दों में (पररूपम्) पररूप (वाच्यम्) कहना चाहिये ।

शकन्धु आदि बने बनाए अर्थात् पर-रूप कार्य किये हुए शब्द एक गण में मुनिवर कात्यायन ने पढ़े हैं । इस गण का प्रथम शब्द 'शकन्धु' होने से इस गण का नाम शकन्ध्वादि-गण है* । अब इस वार्त्तिक द्वारा कात्यायन जी कहते हैं इन में पर-रूप कर लेना चाहिये; इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस के स्थान पर पर-रूप करें ? इस का उत्तर सुतरां यह मिल जाता है कि योग के अनुसार इन को विभक्त कर उन २ के स्थान पर पर-रूप किया जाये, जिन के स्थान पर पर-रूप करने से गणपठित शब्द सिद्ध हो जाते हैं । जिस प्रकरण में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है उस प्रकरण में 'आत्' और 'अचि' पदों की अनुवृत्ति आ रही है; तथा वह 'एकः पूर्व-परयोः' (६।१।८२) के अधिकार के अन्तर्गत है । अतः प्रकरण-वशात् तो यही प्राप्त होता है कि—'पूर्व अवर्ण और पर अच् के स्थान पर एक पर-रूप आदेश हो' । अब यदि प्रकरणागत इन के स्थान पर पररूप एकादेश करते हैं तो और तो सब गण-पठित शब्द सिद्ध हो जाते हैं, केवल 'मनीषा' और 'पतञ्जलि' शब्द सिद्ध नहीं होते; क्योंकि यहां 'मनस् + ईषा' और 'पतत् + अञ्जलि' इस प्रकार छेद होने से अवर्ण नहीं मिलता । अब यदि प्रकरणागत 'अवर्ण' की बजाय 'टि' कर दें [टि और अच् के स्थान पर पररूप एकादेश हो ।] तो सब शब्द जैसे गण में पढ़े गये हैं वैसे के वैसे सिद्ध हो जाते हैं, कोई दोष नहीं आता । अतः इन शकन्ध्वादियों में पूर्व=टि और पर=अच् के स्थान पर पररूप एकादेश करना ही युक्त है । ग्रन्थकार ने अपने मन में यह सब विचार कर 'तच्च टेः' कहा है । शकन्ध्वादि-गण-पठित शब्द यथा—

१—'शकन्धुः' [शकानाम्=देशविशेषाणाम्, अन्धुः=कूपः, शकन्धुः । गवेषणीयोऽस्य प्रयोगः ।] । 'शक + अन्धु' यहां ककारोत्तर अकार की 'अचोऽन्त्यादि टि' (३९) सूत्र से 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है । इस टि और 'अन्धु' शब्द के आदि अकार के स्थान पर एक पररूप 'अ' हो कर विभक्ति लाने से—शक् 'अ' न्धुः='शकन्धुः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

२—'कर्कन्धुः' [कर्काणाम्=राजविशेषाणाम् अन्धुः=कूपः, कर्कन्धुः‡ । अन्वेषणीयोऽस्य

---

*इसी प्रकार अन्यत्र भी सर्वत्र समझ लेना चाहिये; यथा—प्रादि-गण, सर्वादि-गण, स्वस्रादि-गण आदि । गणों के पाठ से महान् लाघव होता है; अन्यथा सभी शब्दों को सूत्रों में पढ़ने से बहुत गौरव हो जायगा ।

‡बेर के वृक्ष का नाम 'कर्कन्धू' है । यह कर्कोपपद 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०) धातु से औणादिक 'कू' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है । इस का निपातन उणादि के 'अन्दू-दृम्भू-जम्बू-कफेलू-कर्कन्धू-दिधिषूः' (९३) इस सूत्र में किया गया है; कर्कम्=कण्टकं दधातीति कर्कन्धूः । यह शब्द पुंल्लिङ्ग

प्रयोगः ।] । 'कर्क + अन्धु' यहां भी पूर्ववत ककारोत्तर अकार=टि और 'अन्धु' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—कर्क् 'अ' न्धु='कर्कन्धुः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

३—'कुलटा' [व्यभिचारिणी स्त्री] । 'कुल + अटा' यहां लकारोत्तर अकार=टि और 'अटा' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—कुल् 'अ' टा='कुलटा'× प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

४—'मनीषा' [बुद्धि] । 'मनस्+ईषा' यहां 'अचोऽन्त्यादि टि' (३९) से 'अस्' की 'टि' सञ्ज्ञा है । इस टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पररूप आदेश करने से—मन् 'ई' षा='मनीषा'* प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

ग्रन्थकार ने यहां सम्पूर्ण शकन्ध्वादि-गण नहीं लिखा । निम्न-लिखित शब्द भी इसी गण में आते हैं—

५—'हलीषा' [हलस्य ईषा=दण्डः, हलीषा । हल का दण्ड] । 'हल+ईषा' यहां लकारोत्तर अकार=टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पर-रूप आदेश करने से—हल् 'ई' षा='हलीषा'† प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

६—'लाङ्गलीषा' [लाङ्गलस्य=हलस्य ईषा=दण्डः = लाङ्गलीषा । हल का दण्ड ।] । 'लाङ्गल+ईषा' यहां लकारोत्तर अवर्ण=टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पररूप हो कर—लाङ्गल् 'ई' षा='लाङ्गलीषा' प्रयोग सिद्ध होता है ।

—और स्त्रीलिङ्ग दोनों प्रकार का होता है । 'कर्कन्धु' ऐसा ह्रस्वोवर्णान्त शब्द भी कहीं २ बेरवाची मिलता है । वहां 'उणादयो बहुलम्' (८४८) सूत्र में 'बहुल' ग्रहण के सामर्थ्य से 'कू' प्रत्यय की बजाय 'कु' प्रत्यय हुआ समझना चाहिये । बेर-वाची इस 'कर्कन्धु' शब्द का शकन्ध्वादियों में पाठ करना व्यर्थ है; क्योंकि यहां 'डुधाञ्' धातु है 'अन्धु' शब्द नहीं । अतः वहां पर-रूप करने की कोई आवश्यकता ही नहीं । कुछ लोग बेर-वाची 'कर्कन्धु' शब्द का 'कर्क+अन्धु' ऐसा छेद कर के पर-रूप करते हैं, जैसा कि क्षीरस्वामी ने अमरकोष की टीका तथा श्रीहेमचन्द्राचार्य ने अपने 'अभिधान-चिन्तामणि' कोष में लिखा है । परन्तु उन की यह कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि इस में ऐसा कोई अर्थ नहीं निकल सकता जिस का बेर से दूर का भी सम्बन्ध हो सकता हो ।

×अट गतौ (भ्वा०) इत्यस्माद् 'नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (७८६) इति कर्त्तर्यचि 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४५) इति टापि अटेति सिध्यति । अटतीत्यटा । कुलानामटा=कुलटा । कुलान्यटतीति विग्रहे तु कर्मण्यणि 'टिड्ढ—' (१२४७) इति ङीपि कुलाटीति स्यात् ।

*ईष गतौ (भ्वा०) इत्यस्माद् भावे 'गुरोश्च हलः' (८६८) इति अ-प्रत्ययः । स्त्रियामित्यधिकाराद् ततष्टाप् , मनस ईषा=गतिः, मनीषा । बुद्धिर्मनीषेत्युच्यते ।

†कई लोग 'मनीषा' की देखादेखी 'हलीषा' का भी 'हलस्+ईषा' ऐसा छेद करते हैं; पर यह भारी भूल है ।

७—'पतञ्जलिः' [व्याकरणमहाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि]। 'पतत्+अञ्जलि' यहां 'अत्' की 'टि' सञ्ज्ञा है। इस टि और 'अञ्जलि' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप हो कर—पत 'अ' ञ्जलि='पतञ्जलिः'* प्रयोग सिद्ध होता है।

८—'सारङ्गः' [चातक व हरिण]। 'सार+अङ्ग' यहां रेफोत्तर अवर्ण=टि और 'अङ्ग' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—सार् 'अ' ङ्ग='सारङ्गः' प्रयोग सिद्ध होता है।

यहां यह ध्यान रहे कि चातक और हरिण अर्थ में ही इसका शकन्ध्वादियों में पाठ है, अन्य अर्थ में शकन्ध्वादियों में पाठ न होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा सवर्ण-दीर्घ हो कर 'साराङ्गः' बन जाता है। अतएव गणपाठ में 'सारङ्गः पशु-पक्षिणोः' ऐसा उल्लेख किया गया है।

९—'सीमन्तः' [सीम्नोऽन्तः=सीमन्तः]। 'सीम+अन्त'× यहां मकारोत्तर अवर्ण=टि और 'अन्त' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह पररूप एकादेश करने से—सीम् 'अ' न्त='सीमन्तः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। केशों की सीमा के अन्त अर्थात् मांग को 'सीमन्त' कहते हैं। स्त्रियां जब कङ्घी द्वारा बाल संवारती हैं तो बालों के मध्य जो रेखा सी हो जाती है उसे सीमन्त या मांग कहते हैं। 'मांग' से भिन्न अर्थ में इस का शकन्ध्वादि-गण में पाठ न होने के कारण 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्ण-दीर्घ हो कर 'सीमान्तः'† बनेगा।

'आकृति-गणोऽयम्'‡। समासः—आकृत्या=स्वरूपेण=कार्य-दर्शनेन गण्यते=परिचीयत इति आकृति-गणः। अर्थः—(अयम्) यह शकन्धु आदि शब्दों का समूह (आकृति-गणः) आकृति से गिना जाता है। इस का भाव यह है कि शकन्ध्वादि जितने शब्द गण में पढ़े गये हैं, ये इतने ही हैं; ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु जिस २ शब्द में पररूप-कार्य हुआ दीखे उसे शकन्ध्वादि-गण में गिन लेना चाहिये। यथा—'मार्तण्ड'

---

*पतन् अञ्जलिर्यस्मिन् नमस्कार्यत्वाद् असौ पतञ्जलिः, बहुव्रीहि-समासः। तपस्यन्त्या गोपी-नाम्न्याः स्त्रिया अञ्जलेः सर्परूपेण पतितोऽयं पतञ्जलिरिति इतिहास-संवादे तु 'अञ्जलेः पतन्' इति विग्रहः; तत्र च मयूर-व्यंसकादित्वात् समासः।

× यहां समास में विभक्ति-लोप होने से पदत्व के कारण 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो जाता है।

† इस का अर्थ है—भूमि आदि की सीमा का अन्त।

‡ इस गण के आकृति-गण होने में 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' (१।३।४२) [सम+अर्थाभ्याम्], 'व्यवहृपणोः समर्थयोः' (२।३।५७) [सम+अर्थयोः] इत्यादि पाणिनि के निर्देश प्रमाण हैं।

शब्द लोक में प्रसिद्ध है, इस में पररूप हुआ मिलता है; अतः इसे भी शकन्ध्वादिगण के अन्तर्गत समझना चाहिये। इस की साधन-प्रक्रिया यथा—'मृतञ्चासौ अण्डम्' इस कर्मधारय-समास में विभक्तियों का लुक् हो कर 'मृत + अण्ड' हो जाता है। अब तकारोत्तर अवर्ण तथा 'अण्ड' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह पररूप एकादेश करने से मृत् 'अ' ण्ड='मृतण्ड' बन जाता है। मृतण्डे भवः=मार्तण्डः, * यहां 'तत्र भवः' (१०८१) से अण्, 'तद्धितेष्वचामादेः' (९३८) से आदि-वृद्धि तथा 'यस्येति च' (२३६) से अकार का लोप हो जाता है †।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—४० **ओमाङोश्च** ।६।१।९३॥

ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायोन्नमः। 'शिव + एहि' इति स्थिते—

अर्थः—अवर्ण से ओम् अथवा आङ् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक पर-रूप आदेश हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आद् गुणः' से] ओमाङोः ।७।२। च इत्यव्ययपदम्। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्व-परयोः' यह अधिकृत है।] पर-रूपम् ।१।१।['एङि पररूपम्' से] समासः—ओम् च आङ् च=ओमाङौ, तयोः=ओमाङोः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(आत्) अवर्ण से (ओमाङोः) ओम् अथवा आङ् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश हो जाता है।

'ओम्' यह अव्यय तथा 'आङ्' यह उपसर्ग है। 'आङ्' के ङकार की प्रयोग-दशा में 'इत्' सञ्ज्ञा हो जाती है; अतः 'तस्य लोपः' (३) से लोप होने के कारण 'आ' शेष रह जाता है।

उदाहरण यथा—'शिवायोन्नमः' [ओं नमः शिवाय=शिव जी के प्रति नमस्कार हो।] 'शिवाय + ओन्नमः' ('ओम्+नमः' यहां 'मोऽनुस्वारः' [७७] से मकार को अनुस्वार हो 'वा पदान्तस्य' [८०] से उसे वैकल्पिक परसवर्ण नकार हो जाता है।) यहां यकारोत्तर अवर्ण से 'ओम्' परे है, अतः पूर्व=अवर्ण और पर=ओकार के स्थान पर 'ओ' यह एक पररूप आदेश हो कर शिवाय् 'ओ' न्नमः='शिवायोन्नमः' प्रयोग सिद्ध होता है।

---

* मार्त्तण्डः=मरे हुए अण्डे में होने वाला=सूर्य, इस की कथा मार्कण्डेय-पुराण के १०५ वें अध्याय में देखें।

† केचिदत्र—मृतोऽण्डो यस्य सः=मृतण्डः, मृतण्डस्य अपत्यम्=मार्तण्डः, 'तस्यापत्यम्' (१००१) इत्यण् इत्येवं विगृह्णन्ति।

'शिवेहि' [शिव जी आओ] । 'शिव ! आ+इहि' यहां 'आद् गुणः' (२७) सूत्र से 'आ+इ' के स्थान पर 'ए' यह गुण एकादेश हो कर—'शिव एहि' रूप बना। अब यहां 'आङ्' न होने से 'ओमाङोश्च' सूत्र प्राप्त नहीं होता; इस पर 'ए' में आङ्त्व लाने के लिये अग्रिम अतिदेश-सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—४१ अन्तादिवच्च। ६। १। ८३॥

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत् स्यात्। शिवेहि।

अर्थः—जो यह एकादेश किया जाता है वह पूर्व के अन्त के समान तथा पर के आदि के समान होता है।

व्याख्या—एकः ।१।१। पूर्व-परयोः ।६।२। ('एकः पूर्व-परयोः' से) अन्तादिवत् इत्यव्ययपदम्। च इत्यव्ययपदम्। समासः—अन्तश्च आदिश्च=अन्तादी, इतरेतर-द्वन्द्वः। अन्तादिभ्यां तुल्यम्=अन्तादिवत्, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (११४८) इति वति-प्रत्ययः। अर्थः—(एकः) यह एकादेश (पूर्व-परयोः) पूर्व और पर के (अन्तादिवत्) अन्त और आदि के समान होता है। तात्पर्य यह है कि 'एकः पूर्व-परयोः' (६।१।८२) सूत्र से जिस एकादेश का अधिकार किया गया है वह एकादेश पूर्व के अन्त के समान तथा पर के आदि के समान होता है। इस सम्पूर्ण एकादेश के अधिकार में पूर्व और पर वर्ण ही स्थानी हैं; इन वर्णों के एकादेश के अखण्ड होने से इन में अन्त और आदि नहीं बन सकते। अतः यहां पूर्व से पूर्व-वर्ण-घटित (पूर्व वर्ण वाला) शब्द तथा पर से पर-वर्ण-घटित (पर वर्ण वाला) शब्द ग्रहण किया जाता है। यथा—'क्षीरप+इन' यहां 'आद् गुणः' (२७) से पकारोत्तर अकार तथा 'इन' शब्द के आदि इकार के स्थान पर 'ए' यह एक गुणादेश हो 'एकाजुत्तर-पदे णः' (२८६) से णत्व करने पर 'क्षीरपेण' बनता है। यहां एकादेश 'ए' है। यह 'ए' पूर्व-शब्द अर्थात् 'क्षीरप' शब्द के अन्त=अ के समान तथा पर-शब्द अर्थात् 'इन' के आदि=इ के समान होगा। अर्थात् इस 'ए' को अकार मान कर अकाराश्रित कार्य तथा इकार मान कर इकाराश्रित कार्य हो जाएंगे। इस सूत्र के उदाहरण 'काशिका' आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखने चाहियें।

'शिव+एहि' यहां 'ए' यह एकादेश है। यह एकादेश पूर्व शब्द के अन्त के समान होगा। पूर्व शब्द 'आ' है। इस का अन्त भी 'आ' है (क्योंकि एक अक्षर में—वही अपना आदि और वही अपना अन्त हुआ करता है। जैसे किसी का एक पुत्र हो तो उस के लिये वही बड़ा और वही छोटा हुआ करता है)। अतः यह 'आ' 'आङ्' के सदृश होगा अर्थात् जो २ कार्य 'आङ्' के रहने पर हो सकते हैं, वे इस के रहने पर भी होंगे। 'आङ्' के होने से 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र प्रवृत्त होता है, वह अब 'ए' के होने से भी होगा। तो इस

प्रकार 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र से पूर्व+पर के स्थान पर एक पररूप 'ए' हो कर—शिव् 'ए' हि='शिवेहि' प्रयोग सिद्ध होता है ।

प्रश्न:—'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र में यदि 'आङ्' का ग्रहण न भी करें तो भी 'शिवेहि' आदि रूप यथेष्ट सिद्ध हो सकते हैं । तथाहि—'शिव+आ+इहि' यहां प्रथम 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्ण-दीर्घ हो—'शिवा + इहि' बन जायगा, पुनः 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश करने से—'शिवेहि' प्रयोग सिद्ध हो जायगा । तो 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र में 'आङ्' ग्रहण क्यों किया गया है ? ।

उत्तर—पाणिनीय-व्याकरण में **'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'** एक परिभाषा है । इस का अभिप्राय यह है कि जहां अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कार्य युगपत्=इकट्ठे उपस्थित हों वहां बहिरङ्ग को असिद्ध समझ कर प्रथम अन्तरङ्ग कार्य कर लेना चाहिये । बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कार्यों का विस्तार-पूर्वक विचार व्याकरण के उच्च-ग्रन्थों में किया गया है वहीं देखें । यहां इतना समझ लेना चाहिये कि **'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्'** अर्थात् धातु+उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है । 'शिव+आ+इहि' यहां 'आ' यह उपसर्ग तथा 'इहि' यह धातु है । अतः 'आ + इ' के स्थान पर गुण कार्य अन्तरङ्ग होने से प्रथम होगा; सवर्ण दीर्घ बहिरङ्ग होने से प्रथम न होगा । इस से जब 'शिव+एहि' बन जायगा तब यदि 'ओमाङोश्च' (४०) में 'आङ्' का ग्रहण न करेंगे तो 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर—'शिवैहि' ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जायगा । अतः इस की निवृत्ति के लिये सूत्र में 'आङ्' का ग्रहण अत्यावश्यक है ।

नोटः—ध्यान रहे कि 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र 'वृद्धिरेचि' (३३) तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) दोनों का अपवाद है ।

अभ्यास (६)

(१) आकृति-गण किसे कहते हैं ? शकन्ध्वादि-गण के आकृति-गण होने में क्या प्रमाण है ? सविस्तर प्रकाश डालें ।

(२) 'नैजते' में 'एङि पररूपम्', 'अव+एहि' में 'एत्येधत्यूठ्सु', 'लाङ्गल+ईषा' में 'आद् गुणः', 'कुल + अटा' तथा 'सा+अर्यात्'* में 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होते ? ।

(३) 'तच्च टेः' यह किस की उक्ति है ? इस का क्या अभिप्राय और क्या आधार है ? स्पष्ट सविस्तर प्रतिपादन करें ।

---

* अत्र 'आङ्' बोध्यः ।

(४) 'अन्तादिवच्च' सूत्र की आवश्यकता बताते हुए सूत्रार्थ पर विशेष प्रकाश डालें।

(५) 'कर्कन्धु' शब्द पर क्षीरस्वामी आदि की प्रक्रिया का उल्लेख कर उस का खण्डन करें।

(६) सारङ्गः, साराङ्गः; सीमन्तः, सीमान्तः; कुलटा, कुलाटी; इन पदयुगलों का परस्पर सप्रमाण भेद निरूपण करें।

(७) अधोलिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर के उसे सूत्रों द्वारा प्रमाणित करें—
१ कोमित्यवोचत्। २ प्रेषयति। ३ पतञ्जलिः। ४ कदोढा *। ५ उपेहि। ६ अद्यर्यात् *। ७ मार्तण्डः। ८ अवेजते। ९ लाङ्गलीषा। १० प्रोषति। ११ मनीषा। १२ प्रेषणीयम्। १३ कृष्णोहि। १४ अद्योढा *।

(८) निम्न-लिखित वचनों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१ यथा देवदत्तस्यैकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः। २ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। ३ धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्।

(९) 'टि' सञ्ज्ञा-विधायक सूत्र का व्याख्यान करें।

—०:❀:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—४२ अकः सवर्णे दीर्घः।६।१।९८॥

अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। होतॄकारः।

अर्थः—अक् से सवर्ण अच् परे होने पर पूर्व + पर के स्थान में दीर्घ एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—अकः।५।१। सवर्णे।७।१। अचि।७।१। ('इको यणचि' से) पूर्व-परयोः।६।२। एकः।१।१। ('एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है) दीर्घः।१।१। अर्थः—(अकः) अक् से (सवर्णे) सवर्ण (अचि) अच् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान में (एकः) एक (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है।

अक् प्रत्याहार में 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' ये पाञ्च वर्ण आते हैं; इन से परे यदि इन का कोई सवर्ण अच् हो तो इन दोनों के स्थान पर एक दीर्घ हो जाता है। यद्यपि दीर्घ अच् बहुत हैं, तथापि 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से वही दीर्घ किया जाता है जो इन स्थानियों के तुल्य होता है। उदाहरण यथा—

१—'दैत्यारिः' (दैत्यों के शत्रु=भगवान् विष्णु)। 'दैत्य+अरि' यहां यकारोत्तरवर्ती अकार 'अक्' है; इस से परे 'अरि' शब्द का आदि अकार सवर्ण अच् है। अतः इन दोनों

* एषु सर्वत्र 'आङ्' बोध्यः।

के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) द्वारा 'आ' यह दीर्घ एकादेश हो कर विभक्ति लाने से—दैत्य् 'आ' रि='दैत्यारिः' प्रयोग सिद्ध होता है। दैत्यानाम् अरिः=दैत्यारिः।

२–'श्रीशः' (लक्ष्मी के स्वामी=भगवान् विष्णु)। 'श्री+ईश' यहां रेफोत्तर ईकार 'अक्' और उससे परे 'ईश' शब्द का आदि ईकार सवर्ण अच् है। इन दोनों के स्थान पर 'ई' यह सवर्ण-दीर्घ एकादेश हो कर विभक्ति लाने से—श्र् 'ई' श='श्रीशः' प्रयोग सिद्ध होता है। श्रिय ईशः=श्रीशः।

३–'विष्णूदयः' (विष्णोः=तन्नाम-देव-विशेषस्य, सूर्यस्य वा उदयः=आविर्भाव उन्नतिर्वा विष्णूदयः)। 'विष्णु+उदय' यहां णकारोत्तर उकार 'अक्' है; इस से परे 'उदय' शब्द का आदि उकार सवर्ण अच् है अतः पूर्व+पर के स्थान पर 'ऊ' यह सवर्ण-दीर्घ एकादेश करने से—विष्ण् 'ऊ' दय='विष्णूदयः' प्रयोग सिद्ध होता है।

४–'होतॄकारः' (होतुॠकारः=होतॄकारः। होता का ऋकार)। 'होतृ+ऋकार' यहां पूर्व+पर के स्थान पर 'ॠ' यह एक सवर्ण-दीर्घ हो कर—होत् 'ॠ' कार='होतॄकारः' प्रयोग सिद्ध होता है।

लृकार का उदाहरण अप्रसिद्ध तथा कठिन होने से यहां नहीं दिया गया; 'सिद्धान्त-कौमुदी' में दिया गया है, वहीं देखें।

यह सूत्र अकार के विषय में 'आद् गुणः' (२७) सूत्र का तथा अन्यत्र 'इकोयणचि' (१५) सूत्र का अपवाद है।

अभ्यास (१०)

(१) अधो-लिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर के सूत्रों द्वारा उसे प्रमाणित करो—

१ दण्डाग्रम्। २ मधूदके। ३ दधीन्द्रः। ४ होतॄयः। ५ कुमारीहते। ६ पितॄणम्। ७ विद्यानन्दः। ८ भूमीशः। ९ परमार्थः। १० यथार्थः। ११ विधूदयः। १२ विद्यार्थी। १३ महीनः। १४ वेदाभ्यासः। १५ कमलाकरः। १६ कर्तॄणि १७ भानूदयः। १८ पक्तॄजीषम्। १९ तरूर्ध्वम्। २० गिरीशः।

(२) अधो-लिखित रूपों में सूत्रार्थसमन्वय दर्शाते हुए सन्धि करो —

१ कदा+अगात्। २ महती+इच्छा। ३ हरि+इन्द्र। ४ मधु+उत्तमम्। ५ कर्तृ+ऋद्धि। ६ सनक+आदि। ७ फलानि+इमानि। ८ कारु+उत्तम। ९ नेतृ+ऋभुणा। १० वधू+उत्सव। ११ कदा+अत्र। १२ सती+ईश। १३ श्रद्धा+अस्ति। १४ मुनि+इन्द्र। १५ अन्त+आदि। १६ यदा+आसीत्। १७ नदी+इदानीम्। १८ तरु+उपेतः। १९ भर्तृ+ऋद्धि। २० तुल्य+आस्य।

(३) 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र किस २ का अपवाद है?

—०:❀:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**४३ एङः पदान्तादति ।६।१।१०६॥**

पदान्तादेङोऽति परे पूर्व-रूपम् एकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव ।

अर्थः—पदान्त एङ् से अत परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है ।

व्याख्या—पदान्तात् ।५।१। एङः ।५।१। अति ।७।१। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्व-परयोः' यह अधिकृत है ।] पूर्वः ।१।१। ['अमि पूर्वः' से] अर्थः—(पदान्तात) पदान्त (एङः) एङ् से (अति) अत् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्वरूप आदेश हो जाता है ।

'एङ्' प्रत्याहार में 'ए, ओ' ये दो वर्ण आते हैं ; यदि ये वर्ण पद के अन्त में स्थित हों और इन से परे अत् अर्थात् ह्रस्व अकार हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है । यह सूत्र 'एचोऽयवायावः' (२२) सूत्र का अपवाद है ।

उदाहरण यथा—[१] 'हरेऽव' (हे हरे ! रक्षा करो) । 'हरे+अव' यहां 'हरे' यह सम्बोधन का एकवचनान्त होने से पद है ; इस पद के अन्त वाले एकार=एङ् से 'अव' शब्द का आदि अत परे है ; अतः इन दोनों के स्थान पर एक पूर्वरूप 'ए' हो कर—हर् 'ए' व = 'हरेऽव' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

[२] 'विष्णोऽव' (हे विष्णो ! रक्षा करो) । 'विष्णो + अव' यहां भी पूर्ववत् पूर्व= ओकार और पर=अकार के स्थान पर एक पूर्वरूप 'ओ' हो कर—विष्ण् 'ओ' व='विष्णोऽव' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

नोटः—'ऽ' यह चिह्न करें या न करें अपनी इच्छा पर निर्भर है । यह केवल इस बात को प्रकट करता है कि यहां पहले अकार था* । कई लोग इस चिह्न को अकार समझ कर वैसा उच्चारण करते हैं ; वह उन की भूल है ; क्योंकि जब एकादेश हो गया तो अन्य वर्ण कहां से आया ? ।

सूत्र में 'एङ्' को पदान्त कहने का अभिप्राय यह है कि 'जे+अ=जयः, ने+अ=नयः, भो+अ=भवः' इत्यादि प्रयोगों में अपदान्त एङ् से अत परे होने पर पूर्वरूप एकादेश न हो ।

---

* यह चिह्न अत्यन्त आधुनिक है, तभी तो 'भ्यसो भ्यम्' (२२३) सूत्र के महाभाष्य में लिखा है—"किमयं 'भ्यम्' शब्द आहोस्विद् 'अभ्यम्' शब्दः ? । कुतः सन्देहः ? समानो निर्देशः" । यहां 'समानो निर्देशः' से सिद्ध होता है कि पहले उक्त चिह्न नहीं था ; प्रत्युत भट्टोजिदीक्षित के समय में भी नहीं था । 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' इस सूत्र को लिख कर दीक्षित ने वृत्ति में ['अग्रन्थे' इतिच्छेदः] ऐसा लिखा है ; यदि तब यह चिह्न होता, तब 'यमोऽग्रन्थे' होने से छेद लिखना व्यर्थ था । चिह्नों पर विशेष टिप्पण आगे (१३१) सूत्र पर देखें ।

अभ्यास (११)

(१) निम्न-लिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर उसे सूत्रों द्वारा प्रमाणित करें—

१ अग्नेऽत्र । २ वायोऽत्र । ३ गुरवेऽद्दात् । ४ रामोऽस्ति । ५ पचतेऽसौ । ६ नमोऽस्तु । ७ संसारेऽधुना । ८ सर्पोऽहम् । ९ तेऽत्र । १० ब्राह्मणोऽब्रवीत् । ११ वटोऽयम् । १२ ब्रह्मणेऽस्तु । १३ वचनोऽनुनासिकः । १४ स्थानेऽन्तरतमः । १५ पण्डितोऽपि ।

(२) सूत्रार्थ-समन्वय पूर्वक सन्धि करें—

१ ते + अकर्मकाः । २ पुरुषो + अत्र । ३ वने + अस्मिन् । ४ ततो + अन्यत्र । ५ आधारो + अधिकरणम् । ६ सहयुते + अप्रधाने । ७ उपो + अधिके च । ८ अभ्यासो + अत्र । ९ को + अपि । १० अन्धो + असौ । ११ के + अपि । १२ लोके + अत्र । १३ इको + असवर्णे । १४ एचो + अयवायावः । १५ उपदेशे + अज् ।

(३) 'एङः पदान्तादति' में 'पदान्त' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? ।

—०:ॐ:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**४४ सर्वत्र विभाषा गोः ।६।१।११९॥**

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते । गो अग्रम् । एङन्तस्य किम् ? गोः ।

अर्थः—लोक और वेद में एङन्त 'गो' शब्द को पदान्त में विकल्प कर के प्रकृति-भाव हो जाता है ।

व्याख्या—सर्वत्र इत्यव्यय-पदम्* । पदान्तस्य ।६।१। ['एङः पदान्तादति' से 'पदान्तात्' पद आ कर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है । इसे यदि सप्तमी-विभक्ति में परिणत करें तो भी कुछ दोष नहीं होता, जैसा कि ग्रन्थकार ने वृत्ति में किया है ।] एङः ।६।१। ['एङः पदान्तादति' से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा प्राप्त होता है । यह 'गोः' पद का विशेषण है, अतः इस से 'येन विधिस्तदन्तस्य' द्वारा तदन्तविधि हो कर 'एङन्तस्य'

*पीछे से 'यजुषि=यजुर्वेद में' की अनुवृत्ति आ रही है; उस की निवृत्ति के लिये यहां 'सर्वत्र' पद का ग्रहण किया गया है । लौकिक और वैदिक के भेद से संस्कृत-भाषा दो प्रकार की होतीहै । लौकिक-भाषा लोक अर्थात् काव्यादि लौकिक-ग्रन्थों में प्रयुक्त होती है; यहां लौकिक-भाषा के लिये केवल 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है । यथा—'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' । वैदिक-भाषा वेद में ही प्रयुक्त होती है, उसके लिये यहां कुछ विशेष नियम हैं । परन्तु यह सूत्र 'सर्वत्र' अर्थात् दोनों भाषाओं में समानरूप से प्रवृत्त होता है ।

बन जाता है ।] गोः ।६।१। अति ।७।१। ['एङः पदान्तादति' से] विभाषा ।१।१। प्रकृत्या ।३।१। ['प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' से] अवस्थानं भवतीति शेषः । अर्थः—(सर्वत्र) चाहे यजुर्वेद हो या अन्य वेद अथवा लोक ही क्यों न हो सब जगह (पदान्तस्य) पदान्त (एङः= एङन्तस्य) जो एङ्—तदन्त (गोः) गो शब्द का (अति) अत् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (प्रकृत्या) स्वभाव से अवस्थान हो जाता है ।

एङन्त गो शब्द से ओदन्त गो शब्द का ग्रहण समझना चाहिये ; क्योंकि एदन्त गो शब्द तो कभी हो ही नहीं सकता ।

प्रकृति का अर्थ **स्वभाव** है । वर्णों का स्वभाव उन का स्वरूप ही हो सकता है । 'प्रकृति से रहते हैं या प्रकृति-भाव को प्राप्त होते हैं' इस का तात्पर्य प्रयोग का मूल अवस्था में रह जाना अर्थात् कोई विकार न होना है । अतएव प्रकृति-भाव-स्थल में संहिताकार्य—सन्धि नहीं होती ।

'गो+अग्र' ['गवाम् अग्रम्' ऐसा यहां षष्ठी-तत्पुरुष-समास है ।] यहां यद्यपि समास के कारण गो-शब्द से परे 'आम्' सुप् का 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' (७२१) सूत्र से लुक् हुआ २ है, तथापि 'प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्' (१९०) सूत्र की सहायता से यहां 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) द्वारा इस की पद-सञ्ज्ञा अक्षुण्ण है; अतः गो शब्द के अन्त में पदान्त एङ् वर्त्तमान है; इस के आगे 'अग्र' शब्द का आदि अत् भी मौजूद है । तो यहां गो-शब्द प्रकृति से अर्थात अपने स्वरूप में सन्धि-कार्य से रहित वैसे का वैसा विकल्प से रहेगा । जहां प्रकृतिभाव होगा वहां विभक्ति लाने से—'गो अग्रम्' प्रयोग सिद्ध होगा । ध्यान रहे कि यहां प्रथम 'एङः पदान्तादति' (४३) से पूर्व-रूप प्राप्त था । पुनः उसे बान्ध कर 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) से वैकल्पिक अवङ् प्राप्त होता था । यह सूत्र उस का अपवाद समझना चाहिये । जहां प्रकृति-भाव नहीं होगा वहां 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) सूत्र प्रवृत्त होगा* ।

यहां 'एङन्त' कहने का यह प्रयोजन है कि ओदन्त गो शब्द को ही प्रकृतिभाव हो, उकारान्त गोशब्द को न हो । यद्यपि गोशब्द स्वयम् ओदन्त है उकारान्त नहीं; तथापि समास में 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (९५२) सूत्र से ह्रस्व करने पर उकारान्त हो जाया करता है ।

---

*यहां कई लोग विकल्प-पक्ष में 'एङः पदान्तादति' (४३) से पूर्वरूप कर 'गोऽग्रम्' ऐसा मूल में पाठ लिखते हैं; यह उन की भूल है क्योंकि यह सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) सूत्र का अपवाद है, 'एङः पदान्तादति' (४३) सूत्र का नहीं; अतः इस के प्रवृत्त हो चुकने पर उसी की ही प्रवृत्ति करनी योग्य है । हां जब वह प्रवृत्त हो चुकेगा तब वैकल्पिक होने से पक्ष में 'एङः पदान्तादति' (४३) सूत्र भी प्रवृत्त हो जायगा ।

उदाहरण यथा—'चित्रगु+अग्र' [चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः, बहुव्रीहि-समासः । चित्र-गोरग्रम् इति षष्ठी-तत्पुरुष-समासे सुब्लुकि रूपमिदम् ।] यहां गोशब्द के एङन्त न होने से 'सर्वत्र विभाषा गोः' (४४) से प्रकृतिभाव नहीं होता; 'इको यणचि' (१५) से उकार को वकार हो कर विभक्ति लाने पर 'चित्रग्वग्रम्' प्रयोग बन जाता है* ।

यहां गोशब्द को पदान्त में प्रकृतिभाव इसलिये कहा गया है कि अपदान्त में प्रकृतिभाव न हो जाय । यथा—'गो+अस्' [यहां गोशब्द से ङसि व ङस् प्रत्यय किया गया है ।] यहां पदान्त न होने से यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, 'ङसि ङसोश्च' (१७३) सूत्र से पूर्वरूप हो कर 'गोः' प्रयोग बन जाता है । इस की विशेषतया सिद्धि 'अजन्त-पुंल्लिङ्ग-प्रकरण' में 'गो' शब्द पर देखें† ।

अब प्रकृतिभाव के अभाव-पक्ष में 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) सूत्र प्रवृत्त करने के लिये दो परिभाषाएं लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—४५ अनेकाल् शित् सर्वस्य ।१।१।५५॥

[अनेकाल् य आदेशः शिच्च, स सर्वस्य षष्ठी-निर्दिष्टस्य स्थाने स्यात् ।]

नोटः—यहां वृत्ति हमारी जोड़ी हुई है; ग्रन्थकार ने स्पष्ट होने से वृत्ति नहीं लिखी।

अर्थः—जिस आदेश में अनेक अल् (वर्ण) हों तथा जिस का शकार इत्सञ्ज्ञक हो वह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है । इस परिभाषा के प्राप्त होने पर [अग्रिम परिभाषा प्रवृत्त हो जाती है ।]।

व्याख्या—अनेकाल् ।१।१। शित् ।१।१। सर्वस्य ।६।१। समासः—न एकः=अनेकः, नञ्तत्पुरुषः । अनेकोऽल् यस्य सः=अनेकाल्, बहुव्रीहि-समासः । श् (शकारः) इत् यस्य स शित्, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(अनेकाल्) अनेक अलों वाला तथा (शित्) शकार इत् वाला आदेश (सर्वस्य) सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है ।

'अल्' प्रत्याहार में सम्पूर्ण वर्ण आ जाते हैं; अतः अल् या वर्ण पर्याय अर्थात् एकार्थ-वाची शब्द हैं । जिस आदेश में एक से अधिक अल् या वर्ण हों अथवा जिस आदेश के शकार की इत्सञ्ज्ञा होती हो तो वह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा ।

---

*ध्यान रहे कि यदि किसी अवयवी का एक अवयव विकृत हो जाय, तो भी वह वही रहता है अन्य नहीं हो जाता; यथा— यदि किसी कुत्ते की पूंछ कट जाए तो भी वह कुत्ता ही रहता है अन्य नहीं हो जाता । इसी प्रकार यहां यद्यपि गो शब्द का अवयव ओकार विकृत हो कर उकार बन गया है; तथापि वह गो शब्द ही रहता है ।

† 'हे चित्रगोऽग्रम्' में भी प्रकृतिभाव न होगा, क्योंकि यहां एङ् लाक्षणिक है प्रतिपदोक्त नहीं । इस की विशेष व्याख्या अन्यत्र देखें ।

'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र कहता है कि आदेश स्थानी के अन्त्य अल् को हो; परन्तु यह सूत्र अनेकाल् तथा शित् आदेशों को सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होना बतलाता है। अतः यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र का अपवाद हैं ।*

अनेकाल् आदेश का उदाहरण यथा—रामैः । यहां 'भिस्' स्थानी के सम्पूर्ण स्थान पर 'अतो भिस ऐस्' (१४२) से ऐस् आदेश होता है । यह सूत्र न होता तो 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) द्वारा भिस् के अन्त्य सकार को फिर उस के बाधक 'आदेः परस्य' (७२) से आदि को 'ऐस्' हो जाता ।

शित् आदेश का उदाहरण यथा—इतः । यहां 'इदम्' स्थानी के सम्पूर्ण स्थान पर 'इदम इश्' (११९७) से इश् आदेश होता है । यह सूत्र न होता तो 'अलोन्त्यस्य' (२१) द्वारा 'इदम्' के अन्त्य मकार को इश् हो जाता ।

प्रश्नः—जितने 'इश्' आदि शित् आदेश हैं वे सब अनेक अलों वाले हैं; अनेकाल् होने के कारण ही वे सब सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर हो सकते हैं । पुनः सूत्र में 'शित्' के लिये विशेष यत्न क्यों किया गया है ? ।

उत्तर—इस प्रकार शित् ग्रहण के बिना भी कार्य के सिद्ध हो जाने से महामुनि पाणिनि यह परिभाषा जतलाना चाहते हैं कि **'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्'** अर्थात् अनुबन्धों के कारण किसी को अनेकाल् नहीं मान लेना चाहिये जब तक कि उस के अन्य अल् अनेक न हों । जिस की इत्सञ्ज्ञा होती है उसे अनुबन्ध कहते हैं । 'इश्' आदि में शकार आदि की इत्सञ्ज्ञा होती है अतः शकार आदि अनुबन्ध हैं । अब यदि 'इश्' में अनुबन्ध शकार को छोड़ दें तो केवल 'इ' रह जाता है । तब यह अनेकाल् नहीं रहता; अतः यह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता । इस लिये 'शित्' ग्रहण आवश्यक है । इस की विशेष व्याख्या व्याकरण के उच्चग्रन्थों में देखें ।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—४६ ङिच्च ।१।१।५२॥

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात् ।

अर्थः—ङित् आदेश चाहे अनेकाल् भी क्यों न हो अन्त्य अल् के स्थान पर होगा।

व्याख्या—ङित् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । अन्त्यस्य ।६।१। अलः ।६।१। ['अलोऽन्त्यस्य' से] समासः—ङ् (ङकारः) इत् यस्य स ङित्, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(ङित्) ङकार इत् वाला आदेश (अन्त्यस्य) अन्त्य (अलः) अल् के स्थान पर होता है । यह सूत्र 'अनेकाल शित् सर्वस्य' (४५) सूत्र का अपवाद है । जिस आदेश के ङकार की इत्सञ्ज्ञा

*इसी प्रकार 'आदेः परस्य' (७२) सूत्र का भी यह अपवाद समझना चाहिये ।

होती हो फिर वह चाहे अनेक अलों वाला भी क्यों न हो सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर न होकर अन्त्य अल् के स्थान पर ही होगा। इस सूत्र का उदाहरण अग्रिम सूत्र पर देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—४७ अवङ् स्फोटायनस्य ।६।१।१२०॥

पदान्त एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि । गवाग्रम् । गोऽग्रम् । पदान्ते किम्? गवि ।

अर्थः—पदान्त में जो एङ्, तदन्त गो-शब्द को अच् परे होने पर विकल्प कर के अवङ् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१। ['एङः पदान्तादति' से विभक्ति-विपरिणाम कर के प्राप्त होता है। इसका सप्तमी विभक्ति में भी विपरिणाम हो सकता है जैसा कि ग्रन्थकार ने किया है।] एङः । ६।१। ['एङः पदान्तादति' से विभक्ति-विपरिणाम कर के प्राप्त होता है; यह 'गोः' पद का विशेषण है, अतः इस से तदन्त-विधि हो कर 'एङन्तस्य' बन जाता है।] गोः ।६।१। ['सर्वत्र विभाषा गोः' से] अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] अवङ् । १ । १ । स्फोटायनस्य ।६।१। [यहां 'स्फोटायन' ग्रहण उस के सत्कार के लिये है, क्योंकि 'विभाषा' पद तो पीछे से आ ही जाता है।] अर्थः—(पदान्तस्य) पद के अन्त वाला (एङन्तस्य) जो एङ्, तदन्त (गोः) गो-शब्द के स्थान पर (अचि) अच् परे रहते (अवङ्) अवङ् आदेश हो जाता है (स्फोटायनस्य) स्फोटायन आचार्य के मत में।

'स्फोटायन' पाणिनि से पूर्व-वर्त्ती व्याकरण के आचार्य हो चुके हैं; इस सूत्र में पाणिनि ने उन के मत का उल्लेख किया है। यह 'अवङ्' आदेश स्फोटायन आचार्य के मत में होता है; अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता। हमें सब आचार्य प्रमाण हैं; अतः अवङ् आदेश विकल्प से होगा*।

उदाहरण यथा—'गो + अग्र' यहां समास में षष्ठी के बहुवचन 'आम्' का लुक् हुआ है; अतः 'प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्' (१९०) द्वारा 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) से 'गो' की पद-सञ्ज्ञा है। इस के अन्त में पदान्त एङ्=ओ वर्त्तमान है। इस से परे 'अग्र' शब्द का आदि अकार अच् भी वर्त्तमान है। अतः इस सूत्र से 'गो' को अवङ् आदेश प्राप्त होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से इस आदेश की अन्त्य अल्=ओकार के स्थान पर प्राप्ति होती है, परन्तु अनेक अलों वाला होने के कारण 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' (४५) द्वारा सम्पूर्ण 'गो' के स्थान पर प्राप्त होता है। पुनः 'ङिच्च' (४६) सूत्र की सहायता से अन्त्य

---

*परन्तु यह व्यवस्थित-विभाषा होने से 'गवाक्षः' में नित्य ही अवङ् होगा; वहां पर 'गो अक्षः' तथा 'गोऽक्षः' रूप नहीं बनेंगे। कहीं पर यह अवङ् होगा ही नहीं।

अल् 'ओ' को अवङ् आदेश हो कर—'ग् अवङ् + अग्र' हो जाता है। अब ङकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्ण-दीर्घ एकादेश होने पर—'गवाग्र' बना। अब विभक्ति लाने से—'गवाग्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। जिस पक्ष में अवङ् आदेश नहीं होता वहां 'एङः पदान्तादति' (४३) से पूर्व-रूप हो कर 'गोऽग्रम्' प्रयोग बन जाता है। इस प्रकार प्रकृतिभाव वाले रूप सहित तीन रूप हो जाते हैं।

प्रकृतिभाव पक्ष में —	१ गो अग्रम्।	['सर्वत्र विभाषा गोः']।
प्रकृतिभाव के अभाव में—	२ गवाग्रम्।	['अवङ् स्फोटायनस्य']।
	३ गोऽग्रम्।	['एङः पदान्तादति']।

यहां पदान्त-ग्रहण इस लिये किया है कि अपदान्त एङन्त 'गो' को अवङ् न हो। यथा—गो+इ=गवि। यहां गो-शब्द से परे सप्तमी का एकवचन 'ङि' प्रत्यय किया गया है; अतः यहां गो-शब्द पदान्त नहीं। इस लिये अवङ् आदेश न हो कर 'एचोऽयवायावः' (२२) से अव् आदेश हो जाता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ गवेशः, गवीशः। २ गवेश्वरः, गवीश्वरः। ३ गो अधिपः, गवाधिपः, गोऽधिपः। ४ गवालयः। ५ गवेच्छा, गवीच्छा। ६ गवोदयः, गवुदयः। ७ गवर्द्धिः, गवृद्धिः। ८ गवोढः, गवुढः। ९ गवाक्षः।

ध्यान रहे कि अवङ् आदेश में केवल ङकार की ही इत्सञ्ज्ञा होती है। वकारोत्तर अकार अनुनासिक नहीं, अतः 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से उस की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। यदि इस की भी इत्सञ्ज्ञा हो जाती तो लोप हो जाने से 'गवाग्रम्, गवाधिपः' आदि में सवर्ण दीर्घ तथा 'गवेश्वरः, गवर्द्धिः' आदि में गुण न हो सकता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—४८ इन्द्रे च।६।१।१२१॥

गोरवङ् स्याद् इन्द्रे। गवेन्द्रः।

अर्थः—(एङन्त) गो शब्द को इन्द्र शब्द परे होने पर अवङ् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—एङः।६।१। ['एङः पदान्तादति' से विभक्ति-विपरिणाम कर के। यह 'गोः' पद का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'एङन्तस्य' बन जाता है।] गोः।६।१। ['सर्वत्र विभाषा गोः' से] इन्द्रे।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अवङ्।१।१। ['अवङ् स्फोटायनस्य' से] अर्थः—(एङः) एङन्त (गोः) गो शब्द के स्थान पर (अवङ्) अवङ् आदेश हो जाता है (इन्द्रे) इन्द्र शब्द परे होने पर। यह सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७)

सूत्र का अपवाद है। उस से यहां विकल्प कर के अवङ् प्राप्त होता था; इस सूत्र से नित्य हो जाता है।

उदाहरण यथा—'गवेन्द्रः' (श्रेष्ठ व बड़ा बैल)। 'गो+इन्द्र' [गवां गोषु वा इन्द्रः =श्रेष्ठः।]=ग् अवङ्+इन्द्र=गव+इन्द्र=गवेन्द्रः ['आद् गुणः']।

'एङन्त' इस लिये कहा है कि 'चित्रगु+इन्द्र' [चित्रगूनामिन्द्रः=स्वामी, षष्ठी-तत्पुरुषः।]='चित्रग्विन्द्रः'। यहां एङन्त न होने से अवङ् आदेश न हो कर 'इको यणचि' (१५) से यण्=वकार हो जाता है। ध्यान रहे कि सूत्र की वृत्ति में 'एङन्त' कहना ग्रन्थकार से छूट गया है।

यहां 'पदान्त' की अनुवृत्ति लाने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि अपदान्त में एङन्त गो से परे इन्द्र शब्द आ ही नहीं सकता।

नोटः—काशिका-कार श्रीजयादित्य ने इस सूत्र से अगले 'प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२२) सूत्र में 'नित्यम्' पद का ग्रहण नहीं किया, किन्तु इसी 'इन्द्रे च' (६।१।१२१) सूत्र में ही 'नित्यम्' पद का ग्रहण किया है। पर ऐसा मानना ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि यहां 'नित्यम्' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। यदि यह कहा जाय कि—"यहां 'नित्यम्' पद ग्रहण न करने से 'इन्द्रे च' (४८) सूत्र विकल्प से अवङ् करता, क्योंकि 'सर्वत्र विभाषा गोः' (४४) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति आ रही है" तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि 'इन्द्रे च' (४८) सूत्र तो आरम्भ-सामर्थ्य से ही नित्य हो जायगा, उस के लिये 'नित्यम्' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता ही नहीं। महाभाष्य पढ़ने से भी यही विदित होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—४९ दूराद्धूते च।८।२।८४॥

दूरात् सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा स्यात्।

अर्थः—दूर से सम्यग्बोध कराने में प्रयुक्त जो वाक्य उस की टि को विकल्प कर के प्लुत हो जाता है।

व्याख्या—दूरात्।५।१। हूते।७।१। च इत्यव्ययपदम्। वाक्यस्य।६।१। टेः।६।१। प्लुतः।१।१। ['वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' यह अधिकार आ रहा है।] वा इत्यव्ययपदम्। [भाष्यकार ने सम्पूर्ण प्लुत के प्रकरण को विकल्प कर दिया है; अतः यहां पर 'वा' प्राप्त हो जाता है।] 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' (भ्वा० उ०) इस धातु से भाव में 'क्त' प्रत्यय करने करने पर 'हूत' शब्द सिद्ध होता है। इस का अर्थ 'बुलाना' है। परन्तु यहां इस से 'सम्बोधन=अच्छी तरह से जनाना' अर्थ अभिप्रेत है। अर्थः—(दूरात्) दूर से (हूते)

सम्यग्बोध कराने में प्रयुक्त (वाक्यस्य) जो वाक्य उस की (टेः) टि को (वा) विकल्प कर के (प्लुतः) प्लुत हो जाता है।

जिस देश में ठहरे हुए का वाक्य सम्बोध्यमान [सम्यक् जनाया जाता हुआ] साधारण प्रयत्न से न सुन सके किन्तु विशेष प्रयत्न से सुन सकता हो उस देश को 'दूर' कहते हैं। उस दूर देश में किसी को कुछ जनाने या बुलाने के लिये जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है उसकी टि को विकल्प कर के प्लुत होता है। उदाहरण यथा—हम से देवदत्त ऐसे स्थान पर ठहरा हुआ है जहां हम उसे साधारण प्रयत्न से बोल कर कुछ बोध नहीं करा सकते; तो अब हमारा स्थान 'दूर' हुआ। इस दूर स्थान से हम ने जो 'एहि देवदत्त !' 'सक्तून् पिब देवदत्त !' इत्यादि वाक्य प्रयुक्त किये इन वाक्यों की टि को विकल्प कर के प्लुत होगा।

[प्लुत-पक्ष में]	[प्लुताभाव-पक्ष में]
१ एहि देवदत्त ३ !।	१ एहि देवदत्त !।
२ सक्तून् पिब देवदत्त ३ !।	२ सक्तून् पिब देवदत्त !।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस वाक्य में हूयमान [सम्यग् जनाया जाता हुआ] अन्त में होगा उसी वाक्य की टि को प्लुत होगा; जहां हूयमान अन्त में न होगा उस वाक्य की टि को प्लुत न होगा। यथा—'देवदत्त ! एहि', 'देवदत्त ! सक्तून् पिब' यहां हूयमान=देवदत्त अन्त में नहीं है; अतः टि को प्लुत न होगा।

इस प्रकार प्लुत का विधान कर अब उस का यहां उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—५० प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम् ।६।१।१२२॥

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः। आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति।

अर्थः—प्लुत और प्रगृह्य-सञ्ज्ञक अच् परे होने पर प्रकृति से रहते हैं।

व्याख्या—प्लुत-प्रगृह्याः ।१।३। अचि ।७।१। नित्यम् ।२।१। [क्रिया-विशेषणमेतत्] प्रकृत्या ।३।१। ['प्रकृत्यान्तः पादम्' से] समासः—प्लुताश्च प्रगृह्याश्च=प्लुत-प्रगृह्याः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(प्लुत-प्रगृह्याः) प्लुत और प्रगृह्य-सञ्ज्ञक (अचि) अच् परे होने पर (नित्यम्) नित्य (प्रकृत्या) प्रकृति से=स्वभाव से=वैसे के वैसे अर्थात् सन्धि-कार्य से रहित रहते हैं। उदाहरण यथा—'आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति' (आओ कृष्ण ! यहां गौ चर रही है।) यहां 'आगच्छ कृष्ण' यह एक वाक्य है। इस की टि=णकारोत्तर अकार को 'दूराद्धूते च' (४९) से वैकल्पिक प्लुत होता है। जिस पक्ष में प्लुत होता है वहां प्रकृतिभाव हो जाने से णकारोत्तर प्लुत अकार तथा 'अत्र' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ नहीं होता; वैसे का वैसा अर्थात्

'आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति' ही रहता है। जिस पक्ष में प्लुत नहीं होता वहां प्रकृतिभाव न होने से सवर्णदीर्घ हो जाता है—'आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति'।

इस के अन्य उदाहरण यथा—

१ 'सक्तून् पिब देवदत्त ३ ! अहं गच्छामि', 'सक्तून् पिब देवदत्ताहं गच्छामि'।

२ 'कार्यं कुरु राम ३ ! एष आगतः', 'कार्यं कुरु रामैष आगतः'।

३ 'आगच्छ हरे ३ ! अत्र क्रीडेम', 'आगच्छ हरेऽत्र क्रीडेम'।

४ 'आगच्छ राम ३ ! अत्रास्ति लक्ष्मणः', 'आगच्छ रामात्रास्ति लक्ष्मणः'।

इस सूत्र में 'नित्यम्' पद के ग्रहण का प्रयोजन 'सिद्धान्त-कौमुदी' में स्पष्ट किया गया है, वहीं देखें।

अब प्रगृह्य-सञ्ज्ञकों के उदाहरणों के लिये प्रगृह्य-सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५१ ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ।१।१।११॥

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात् । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू ।

अर्थः—ईदन्त ऊदन्त तथा एदन्त द्विवचन प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—ईदूदेत् ।१।१। द्विवचनम् ।१।१। प्रगृह्यम् ।१।१। समासः—ईच्च ऊच्च एच्च=ईदूदेत्, समाहारद्वन्द्वः। तपरकरणमसन्देहार्थम्। 'ईदूदेत्' यह पद 'द्विवचनम्' पद का विशेषण है; अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' द्वारा इस से तदन्त-विधि हो जाती है। अर्थः—(ईदूदेत्) ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त (द्विवचनम्) द्विवचन (प्रगृह्यम्) प्रगृह्यसञ्ज्ञक हों। उदाहरण यथा—'हरी एतौ' (ये दो हरि अर्थात् घोड़े व बन्दर हैं) यहां रेफोत्तर ईकार ईदन्त द्विवचन है*; इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होती है। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से 'प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्' (५०) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव हो जाता है; अतः एकार=अच् परे होने पर भी 'इको यणचि' (१५) से ईकार को यण् नहीं होता।

'विष्णू इमौ' (ये दो विष्णु हैं) यहां णकारोत्तर ऊकार ऊदन्त द्विवचन है†; इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होती है। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से 'प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्'

---

* हरि शब्द से प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से रेफोत्तर इकार तथा औ के स्थान पर पूर्व-सवर्ण-दीर्घ ईकार हो कर 'हरी' शब्द सिद्ध होता है। यहां 'ई' यह एकादेश परादिवद्भाव ('अन्तादिवच्च' से द्विवचन तथा व्यपदेशिवद्भाव से ईदन्त है।

† यहां भी पूर्ववत् विष्णु शब्द से प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर 'ऊ' यह एक पूर्वसवर्णदीर्घ आदेश हो जाता है। यह एकादेश परादिवद्भाव से द्विवचन तथा व्यपदेशिवद्भाव (इसका वर्णन 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र पर देखें) से ऊदन्त है।

(५०) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव हो जाता है। अतः अच् परे होने पर भी 'इको यणचि' (१५) से ऊकार को यण् नहीं होता।

'गङ्गे अमू' (ये दो गङ्गाएं हैं)। यहां गकारोत्तर एकार एदन्त द्विवचन है*। इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से 'प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्' (५०) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव हो जाता है। अतः यहां 'एङः पदान्तादति' (४३) सूत्र से पूर्वरूप एकादेश नहीं होता।

नोट—यहां कई विद्यार्थी 'हरी', 'विष्णू', 'गङ्गे' आदि पदों को ही ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त द्विवचन माना करते हैं; यह उन की भूल हुआ करती है। इस भूल से सावधान रहना चाहिये। यहां ईकार, ऊकार तथा एकार ही ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त द्विवचन हैं। प्रक्रिया ऊपर लिख दी है, आगे सुबन्तों में स्पष्ट हो जायगी।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५२ अदसो मात् ।१।१।१२॥

अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। मात् किम्? अमुकेऽत्र।

अर्थः—अदस् शब्द के मकार से परे ईत् और ऊत् प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—अदसः ।६।१। [अवयव-षष्ठी] मात् ।५।१। [दिग्योगे पञ्चमी] ईदूत् ।१।१। प्रगृह्यम् ।१।१। ['ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' से] अर्थः—(अदसः) अदस् शब्द के अवयव (मात्) मकार से परे (ईदूत्) ईत् और ऊत् (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होते हैं।

'अदस्' शब्द सर्वनाम है। इस का प्रयोग दूरस्थ पदार्थ के निर्देश में होता है। यथा—असौ बालः (वह बालक है)। इस का प्रयोग तीनों लिङ्गों में होता है। यथा—

पुँल्लिङ्ग			स्त्रीलिङ्ग			नपुंसकलिङ्ग		
	×	×		×			×	
असौ	अमू	अमी	असौ	अमू	अमूः	अदः	अमू	अमूनि
	×			×			×	
अमुम्	,,	अमून्	अमूम्	,,	,,	,,	,,	,,
अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः	अमुया	अमूभ्याम्	अमूभिः	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः

---

* गङ्गा शब्द से प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर 'औङ आपः' (२१६) से उसे शी आदेश हो कर 'आद् गुणः' (२७) से गुण हो जाता है। यहां 'ए' यह एकादेश परादिवद्भाव से द्विवचन तथा व्यपदेशिवद्भाव से एदन्त है।

अमुष्मै अमूभ्याम् अमीभ्यः	अमुष्यै अमूभ्याम् अमूभ्यः	अमुष्मै अमूभ्याम् अमीभ्यः
अमुष्मात् ,, ,,	अमुष्याः ,, ,,	अमुष्मात् ,, ,,
अमुष्य अमुयोः अमीषाम्	,, अमुयोः अमूषाम्	अमुष्य अमुयोः अमीषाम्
अमुष्मिन् ,, अमीषु	अमुष्याम् ,, अमूषु	अमुष्मिन् ,, अमीषु

अदस् शब्द के मकार से परे ईत् और ऊत × इस चिह्न वाले स्थानों के सिवाय और कहीं नहीं मिल सकते; अर्थात् पुल्ँलिङ्ग में प्रथमा के बहुवचन तथा प्रथमा द्वितीया के द्विवचन में और स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा द्वितीया के द्विवचन में मकार से परे ईत् ऊत् उपलब्ध होते हैं† । इन में से स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग वाले इस सूत्र के उदाहरण नहीं होते, क्योंकि वहां पूर्वले 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' (५१) सूत्र से ही प्रगृह्यसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है । केवल पुल्ँलिङ्ग के 'अमू, अमी' इन दो रूपों के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है ।

उदाहरण यथा—'अमी ईशाः' (ये स्वामी हैं) । यहां पुल्ँलिङ्ग में 'अदस्' शब्द से प्रथमा का बहुवचन 'जस्' करने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, जस् को शी आदेश तथा गुण हो कर 'अदे' बन जाता है । अब 'एत ईद् बहुवचने' (८।२।८१) सूत्र से 'ए' को 'ई' तथा दकार को मकार करने से 'अमी' प्रयोग सिद्ध होता है । इस के आगे 'ईशाः' पद लाने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा सवर्ण-दीर्घ प्राप्त होता है जो अब इस सूत्र से प्रगृह्यसञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण नहीं होता ।

नोट—यहां पूर्वसूत्र (१।१।११) की दृष्टि में 'अमी' के स्थान पर 'अदे' था; क्योंकि 'एत ईद् बहुवचने' (८।२।८१) सूत्र त्रिपादीस्थ होने से उस की दृष्टि में असिद्ध है । 'अदे' एदन्त तो था परन्तु द्विवचन न था, बहुवचन था; अतः पूर्व-सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता था, इसलिये यह सूत्र बनाना पड़ा है। यदि इस (१।१।१२) की दृष्टि में भी 'एत ईद् बहुवचने' (८।२।८१) सूत्र असिद्ध होने से 'अमी' के स्थान पर 'अदे' माना जावे तो यह सूत्र व्यर्थ हो जायगा; क्योंकि तब इसे अदस् के मकार से परे ईत् ऊत् कहीं नहीं मिल सकेगा। [अदस् शब्द में मकार का आना तथा उस से आगे ईत, ऊत् का होना 'एत ईद् बहुवचने' (३४७) तथा 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३४६) की ही कृपा का फल है ।] अतः इस की दृष्टि में 'अमी' असिद्ध नहीं होता; मकार से परे ईकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है ।

---

† यद्यपि अदस् शब्द के मकार से परे 'अमीभ्य, अमूभ्य, अमीषाम्, अमूषाम' इत्यादियों में भी ईत्, ऊत् पाये जाते हैं; तथापि यहां इन का ग्रहण नहीं होता । क्योंकि प्रगृह्यसञ्ज्ञा करने का प्रयोजन प्रकृतिभाव करना होता है । वह अच् परे होने पर 'इको यणचि' (१५) आदि सूत्रों द्वारा स्वरसन्धि प्राप्त होने पर ही सार्थक हो सकता है; अन्यत्र 'भ्यः, भि', षाम्' आदियों का व्यवधान होने से स्वरसन्धि के प्राप्त न होने के कारण सार्थक नहीं हो सकता। अतः इस सूत्र के उपयोगी 'अमू' और 'अमी' ये दो ही शब्द हैं ।

द्वितीय उदाहरण यथा—'राम-कृष्णावमू आसाते' (वे दो राम और कृष्ण बैठे हैं)। यहां 'रामकृष्णौ + अमू' में 'एचोऽयवायावः' (२२) से अव् आदेश हो जाता है। 'राम-कृष्णौ' पद इस बात को जतलाने के लिये लिखा गया है कि 'अमू' पुलँलिङ्ग का है, स्त्रीलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग का नहीं। स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का 'अमू' इस सूत्र का उदाहरण नहीं होता*। 'अमू + आसाते' यहां 'अमू' की प्रगृह्यसञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण 'इको यणचि' (१५) से यण् नहीं होता।

नोट—'अदस्' शब्द से 'औ' विभक्ति लाने पर सकार को अकारादेश, पररूप तथा वृद्धि एकादेश हो कर—'अदौ' हुआ। अब 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (८।२।८०) से दकार को मकार तथा औकार को ऊकार करने से 'अमू' सिद्ध होता है। यद्यपि 'अमू' में ऊदन्त द्विवचन होने के कारण पूर्व-सूत्र से प्रगृह्यसञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती थी; तथापि 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (८।२।८०) से किये मत्व और ऊत्व के असिद्ध होने से उस की दृष्टि में 'अदौ' रहता था; अतः यह सूत्र बनाया गया है। इस की दृष्टि में तो आरम्भ-सामर्थ्य से ही असिद्ध नहीं होता; यह पहले कह चुके हैं।

मात् किम्? । अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सूत्र में 'मात्' अर्थात् 'म् से परे' ऐसा क्यों कहा गया है? क्योंकि मकार के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण से परे ईत् व ऊत् अदस्

---

* स्त्रीलिङ्ग में 'अदस्' शब्द से परे प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर अत्व, पररूप, टाप्, 'औङ आपः' (२१६) से शी तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण हो कर 'अदे' हुआ। पुनः 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) से मत्व और ऊत्व करने पर 'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पूर्व-सूत्र की दृष्टि में 'अदे' होने से एदन्त द्विवचन है, अतः इस को उस सूत्र (१।१।११) से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो सकती है। इस के लिये इस सूत्र (१।१।१२) के बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार—नपुंसकलिङ्ग में 'औ' आने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, 'नपुंसकाच्च' (२३५) से शी आदेश तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण हो कर 'अदे' हुआ। पुनः 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) से मत्व और ऊत्व करने पर 'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पर भी पूर्व-सूत्र की दृष्टि में 'अदे' होने से एदन्त द्विवचन है; अतः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा सिद्ध है। इस के लिये भी इस सूत्र के रचने की कोई आवश्यकता नहीं। इस से सिद्ध होता है कि—केवल पुलँलिङ्ग के 'अमू, अमी' शब्दों के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है।

'बाले अमू आसाते' इत्यादि स्त्रीलिङ्गप्रयोगे 'कुले अमू उत्कृष्टे' इत्यादि क्लीबप्रयोगे च 'ईदूदेद्—' (५१) इत्यनेनैव प्रगृह्यता। न च 'राम-कृष्णावमू आसाते' इत्यादि पुलँलिङ्गप्रयोगवद् अत्राप्यारम्भसामर्थ्याद 'अदसो मात्' (५२) इत्यनेनैव प्रगृह्यता किन्न स्यात्? इति वाच्यम्; यतः पुंसि 'अमू आसाते' इत्यत्र तु पूर्वेण प्रगृह्यता न सम्भवतीति युक्तम् 'अदसो मात्' (५२) इतिसूत्रे आरम्भसामर्थ्यम्, परन्त्वत्र स्त्रियां क्लीबे तु पूर्वेण सिद्धायां प्रगृह्यसञ्ज्ञायां नास्त्यारम्भसामर्थ्यम्; अत स्त्रियां क्लीबे च (५१) इत्यनेनैव प्रगृह्यता, पुंसि 'अदसो मात्' (५२) इत्यनेनैवेति शम्।

के तीनों लिङ्गों के रूपों में कहीं नहीं पाए जाते; अतः 'मात्' ग्रहण न करने से भी 'अमू, अमी' शब्दों की ही प्रगृह्यसञ्ज्ञा होगी। इस का उत्तर है—'**अमुकेऽत्र**'। अर्थात् 'मात्' का ग्रहण न करने से 'अमुकेऽत्र' प्रयोग में दोष आयेगा। तथाहि—'अदस्' शब्द से परे 'अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' (१२२१) सूत्र द्वारा 'अकच्' प्रत्यय हो कर 'अदकस्' बनने पर 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) से मुत्व हो—'अमुकस्' शब्द निष्पन्न होता है। अब इस के आगे प्रथमा का बहुवचन 'जस्' प्रत्यय लाने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, 'जसः शी' (१५२) से शी आदेश तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश हो कर 'अमुके' प्रयोग सिद्ध होता है। अब इस के आगे 'अत्र' पद लाने से 'एङः पदान्तादति' (४३) द्वारा पूर्वरूप करने पर 'अमुकेऽत्र' (वे यहां हैं) बन जाता है। यदि सूत्र में 'मात्' ग्रहण न करते तो यहां ककार से परे भी *प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता; इस से 'एङः पदान्तादति' (४३) सूत्र प्रवृत्त न हो सकता, अतः 'मात्' ग्रहण किया गया है।

प्रश्नः—यह आप का प्रत्युदाहरण ठीक नहीं; क्योंकि यहां 'ईत्' अथवा 'ऊत्' नहीं। आप को तो अपने प्रत्युदाहरण में मकार से भिन्न किसी अन्य वर्ण से परे 'ईत्' या 'ऊत्' ही दिखाने चाहियें थे। आप के प्रत्युदाहरण में तो ककार से परे 'एत्' दिखाया गया है।

उत्तर—'ईदूदेद्—' (५१) इस पूर्व-सूत्र से यहां 'ईत्, ऊत्, एत्' इन तीनों की अनुवृत्ति आ रही थी; परन्तु इस सूत्र में 'मात्' ग्रहण के सामर्थ्य से 'एत्' का अनुवर्त्तन नहीं किया जाता, क्योंकि म् से परे अदस् शब्द में कहीं 'एत्' नहीं पाया जाता। अब यदि यहां 'मात्' का ग्रहण नहीं करेंगे तो 'एत्' की भी अनुवृत्ति आ जाने से 'अमुकेऽत्र' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण सन्धि न हो सकेगी; अतः 'एत्' की अनुवृत्ति रोकने के लिये 'मात्' पद का ग्रहण करना अत्यावश्यक है।

अभ्यास (१२)

(१) क्या वर्ण उच्छृङ्खल हो जाया करते हैं जो उन के लिये प्रकृतिभाव का उपदेश किया जाता है? अन्यथा प्रकृतिभाव का क्या प्रयोजन?।

(२) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) 'इन्द्रे च' सूत्र की वृत्ति में किस बात की कमी रह गई है? और उस से क्या दोष उत्पन्न होता है?।

(ख) 'सर्वत्र विभाषा गोः' में 'सर्वत्र' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है?।

---

* क्योंकि 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इस से 'अदकस्' भी 'अदस्' शब्द माना जाता।

(ग) 'दूराद्धूते च' सूत्र के अर्थ में 'विकल्प' कहां से आ जाता है ?।

(घ) 'देवदत्त एहि' इस वाक्य की टि को प्लुत क्यों नहीं होता ?।

(ङ) 'आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति' क्या यह शुद्ध है ?।

(च) 'इन्द्रे च' सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता थी ? क्या पूर्व-सूत्र से 'गवेन्द्रः' सिद्ध नहीं हो सकता था ?

(छ) 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' सूत्र में 'शित' ग्रहण पर प्रकाश डालें।

(ज) 'अदसो मात्' सूत्र स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग के 'अमू' में क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?।

(३) निम्नलिखित रूपों में या तो सन्धि करो अथवा सन्धि न करने का कारण बताओ—
१ कवी अत्र। २ योगी अत्र। ३ वायू अत्र। ४ रामे अत्र। ५ माले अत्र। ६ कुले इमे उत्कृष्टे एधेते अधुना। ७ धनुषी एते अस्य। ८ धने अस्मिन्। ९ वर्धेते अस्मिन्। १० अतू अनीतौ। ११ पाणी उत्क्षिपति। १२ हस्ती उत्क्षिपति। १३ बालिके अधीयाते। १४ नेत्रे आमृशति। १५ वटू उत्कूर्दते अत्र। १६ अमी अश्नन्ति। १७ बालावमू अश्नीतः। १८ कुमार्यावमू अश्नीतः। १९ ते अत्र। २० कन्ये आसाते। २१ अमू इन्द्र-प्रस्थे दृष्टौ। २२ कवी आगच्छतः।

(४) 'इन्द्रे च नित्यम्' ऐसा पाठ मानने वालों का क्या अभिप्राय है ? क्या 'नित्यम्' पद हटा देने से कोई दोष उत्पन्न हो जाता है ?।

(५) 'मात् किम् ? अमुकेऽत्र' इस अंश की व्याख्या करते हुए प्रत्युदाहरण में दोष की उद्भावना कर के उस का समाधान करें।

(६) 'हरी एतौ' में कौन ईदन्त द्विवचन है ; सप्रमाण स्पष्ट करें।

(७) 'गवाश्वः' प्रयोग के अन्य विकल्प 'गो अश्वः, गोऽश्वः' क्यों नहीं बनते ?।

(८) 'अलोऽन्त्यस्य, अनेकाल् शित् सर्वस्य, ङिच्च' इन तीन परिभाषाओं में कौन उत्सर्ग और कौन अपवाद हैं ? प्रत्येक का उदाहरण-प्रदर्शन-पूर्वक स्पष्टीकरण करें।

—०:❀:०—

अब निपातों की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा करने के लिये प्रथम निपात-विधायक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५३ चादयोऽसत्त्वे ।१।४।५७॥

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः।

अर्थः—यदि चादियों का द्रव्य अर्थ न हो तो उन की निपात-सञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या—चादयः ।१।३। असत्त्वे ।७।१। निपाताः ।१।३। ['प्राग्रीश्वरान्निपाताः'

यह अधिकृत है ।] समासः—चः = च-शब्द आदिर्येषान्ते चादयः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहि-समासः । न सत्त्वम् = असत्त्वम्, तस्मिन् = असत्त्वे, नञ्-तत्पुरुषः । यहां प्रसज्य-प्रतिषेध है; यदि पर्युदास-प्रतिषेध मानें तो अनर्थक चादियों की निपात-सञ्ज्ञा न हो सकेगी । अर्थः—(असत्त्वे) द्रव्य अर्थ न होने पर (चादयः) चादि शब्द (निपाताः) निपात-सञ्ज्ञक होते हैं ।

जिस में सङ्ख्या पाई जावे या जिस के लिये सर्वनाम का प्रयोग हो सके, उसे 'द्रव्य' कहते हैं । चादि-गण आगे 'अव्यय-प्रकरण' में आ जायगा । उदाहरण यथा—'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः' यहां 'पशु' शब्द का अर्थ 'सम्यक् = ठीक प्रकार से' ऐसा है । अतः यह अद्रव्यवाची होने से निपात सञ्ज्ञक होता है । यदि 'पशु' का अर्थ 'जानवर' होगा, तो वह द्रव्यवाची होने से निपात-सञ्ज्ञक न होगा । यथा—पशुं नयन्ति । निपात सञ्ज्ञा होने से (३६७) सूत्र द्वारा 'अव्यय' सञ्ज्ञा हो जाती है, इस से विभक्ति का लुक् हो जाता है; यह सब आगे 'अव्यय-प्रकरण' में सविस्तर लिखेंगे ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५४ प्रादयः । १ । ४ । ५८ ॥

एतेऽपि तथा ।

अर्थः—अद्रव्यार्थक प्रादि भी निपात-सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—असत्त्वे ।७।१। ['चादयोऽसत्त्वे' से] प्रादयः ।१।३। निपाताः ।१।३। ['प्राग्रीश्वरान्निपाताः' यह अधिकृत है ।] अर्थः—(असत्त्वे) द्रव्य अर्थ न होने पर (प्रादयः) प्र आदि शब्द (निपाताः) निपात-सञ्ज्ञक होते हैं । प्रादि-गण पीछे (३२) सूत्र पर मूल में ही आ चुका है ।

'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१।४।५६।) सूत्र से अष्टाध्यायी में निपातों का अधिकार आरम्भ किया जाता है; अर्थात् इस सूत्र से ले कर 'अधिरीश्वरे' (१।४।६६।) सूत्रपर्यन्त निपात-सञ्ज्ञक कहे गये हैं । इसी अधिकार में पाणिनि ने 'प्रादय उपसर्गाः क्रिया-योगे' ऐसा एक सूत्र पढ़ा है । इस का अर्थ यह है—'प्र' आदि बाईस शब्द क्रियायोग में निपात-सञ्ज्ञक होते हुए उपसर्ग-सञ्ज्ञक होते हैं । अब इस अर्थ से यह दोष उत्पन्न होता है कि जहां क्रिया-योग नहीं, वहां निपात-सञ्ज्ञा नहीं हो सकती । परन्तु हमें तो क्रियायोग में उपसर्ग-सञ्ज्ञा के साथ साथ तथा क्रियायोगाभाव में भी निपात-सञ्ज्ञा करनी इष्ट है । भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने इस एक सूत्र से ये दोनों कार्य न होते देख कर इस के दो विभाग कर दिये हैं । १—प्रादयः । २—उपसर्गाः क्रिया-योगे । तो अब प्रथम सूत्र से क्रियायोगाभाव में तथा दूसरे सूत्र से क्रियायोग में निपात-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है । क्रियायोगाभाव में

निपात-सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन—'यज्ञदत्तो ऽपि मूर्खः' इत्यादि में सुब्लुक् आदि कार्य करना है। क्रियायोग में निपात-सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन—'प्राच्छैति' आदि में अव्ययसञ्ज्ञा कर के विभक्ति का लुक् करना है।

द्रव्य अर्थ में प्रादियों की निपात-सञ्ज्ञा नहीं होती। यथा प्रादियों में 'वि' शब्द पढ़ा गया है; यदि इस का अर्थ पक्षी होगा तो द्रव्यार्थक होने से इस की निपात-सञ्ज्ञा न होगी। 'विः=पक्षी, विं पश्य' इत्यादि।

अब अग्रिम सूत्र द्वारा निपातों की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५५ निपात एकाजनाङ् ।१।१।१४॥

एकोऽच् निपात आङ्वर्जः* प्रगृह्यः स्यात्। इ इन्द्रः। उ उमेशः। वाक्य-स्मरणयोरङित्। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्—ईषदुष्णम्=ओष्णम्।

अर्थः—आङ् को छोड़ कर एक अच् मात्र निपात प्रगृह्यसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—निपातः ।१।१। एकाज् ।१।१। अनाङ् ।१।१। प्रगृह्यः ।१।१। ['ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' से] समासः—एकश्चासावच्=एकाच्, कर्मधारय-समासो न तु बहुव्रीहिः। न आङ्=अनाङ्, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अनाङ्) आङ् से भिन्न (एकाज्) एक अच् रूप (निपातः) निपात (प्रगृह्यः) प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होता है।

उदाहरण यथा—इ इन्द्रः [ओह ! यह इन्द्र है।], उ उमेशः [जान पड़ता है कि यह महादेव है।]। यहां 'इ' और 'उ' एक अच् रूप तथा अद्रव्यार्थक होने से 'चादयोऽसत्त्वे' (५३) द्वारा निपात सञ्ज्ञक हैं; अतः इस सूत्र से इन की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो कर (५०) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से प्राप्त सवर्ण-दीर्घ नहीं होता। यहां 'इ' निपात आश्चर्य करने में तथा 'उ' निपात वितर्क करने में प्रयुक्त हुआ है।

'एकाच्' यहां 'एकश्चासावच्=एकाच्' [एक भी हो और वह अच् भी हो] इस प्रकार कर्मधारय-समास करना ही उचित है। यदि 'एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्' [एक अच् जिस में हो वह] इस प्रकार बहुव्रीहि-समास करेंगे तो—'च+अस्ति=चास्ति' में सवर्ण-दीर्घ न हो सकेगा, क्योंकि तब 'च' की भी प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जायगी।

चादिगण में 'आ' तथा प्रादिगण में 'आङ्' इस प्रकार दो निपात पढ़े गये हैं। इन में से प्रथम 'आ' की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है पर दूसरे 'आङ्' की इस सूत्र में

---

* वर्ज्यते=त्यज्यत इति=वर्जः, कर्मणि घञ्-प्रत्ययः। आङा वर्जः=आङ्वर्जः, तृतीया-तत्पुरुषः। आङ्भिन्न इत्यर्थः।

'अनाङ्' कहने के कारण प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं होती। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आ और आङ् प्रयोग में 'आ' के रूप में ही मिलते हैं, ऐसी दशा में यह कैसे विदित हो कि यह आ है और यह आङ्। इस के लिये भाष्यकार ने यह व्यवस्था की है—

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

अर्थात्—अल्प (थोड़ा) अर्थ मे, क्रिया के योग में, मर्यादा और अभिविधि अर्थ में जो आकार हो उसे ङित्—आङ् समझना चाहिये। पूर्व कही बात को अन्यथा करने के लिये प्रयुक्त वाक्य में तथा स्मरण अर्थ में अङित्—'आ' समझना चाहिये।

१ ईषदर्थे यथा—आ + उष्ण = ओष्णम्। [यहां 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' वार्त्तिक से नित्य-समास होता है। नित्य-समासों का स्वपद-विग्रह नहीं हुआ करता; मूल में इसी लिये 'ईषदुष्णम्' ऐसा अस्वपद-विग्रह दिखाया गया है। 'ओष्णम्' का अर्थ 'थोड़ा गरम' है।] यहां 'आङ्' होने से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं होती; अतः प्रकृतिभाव न होने के कारण 'आद् गुणः' (२७) सूत्र से गुण एकादेश हो जाता है।

२ क्रिया-योगे यथा—आ + इहि = एहि (आओ), आ+इतः=एतः (वे दो आते हैं)। यहां 'इण् गतौ'-इस अदादि-गणीय क्रिया का योग है; अतः 'आङ्' होने से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं होती। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न होने से प्रकृतिभाव भी नहीं होता, 'आद् गुणः' (२७) से गुण हो जाता है।

३ मर्यादायां* यथा—आ+अलवरात्=आलवराद् मेघो वृष्टः। (अलवर देश तक परन्तु अलवर देश को छोड़ कर मेघ बरसा) यहां मर्यादा अर्थ होने से 'आ' ङित् अर्थात् 'आङ्' है अतः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता, 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ हो जाता है।

४ अभिविधौ* यथा—आ+अलवराद्=आलवराद् मेघो वृष्टः। (अलवर देश तक

---

* तेन विनेति मर्यादा, तेन सहेत्यभिविधिः। मर्यादा और अभिविधि में यह भेद होता है कि मर्यादा में अवधि का ग्रहण नहीं होता और अभिविधि में ग्रहण होता है। यथा—'अलवर तक मेघ बरसा' यहां मेघ बरसने की अवधि 'अलवर' है। मर्यादा में इस अवधि का ग्रहण न होने से यह तात्पर्य होगा कि अलवर देश को छोड़ कर उस तक मेघ बरसा। अभिविधि में इस अवधि का ग्रहण होने से यह तात्पर्य होगा कि अलवर देश सहित उस तक मेघ बरसा। अन्य उदाहरण यथा—'आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः, आ कुमारं यशः पाणिनेः' इत्यादि।

अर्थात् अलवण देश में भी मेघ बरसा) यहां अभिविधि अर्थ होने से 'आ' ङित् अर्थात् 'आङ्' है अतः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता; सवर्णदीर्घ हो जाता है।

अब 'आ' के उदाहरण—

१ वाक्ये यथा—'आ एवं नु मन्यसे' (अब तू ऐसा मानता है, अर्थात् पहले तू ऐसा नहीं मानता था अब मानने लगा है।) यहां 'आ' के अङित् होने से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है। 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र से वृद्धि एकादेश नहीं होता।

२ स्मरणे यथा—'आ एवं किल तत्' (हां वह ऐसा ही है) यहां 'आ' के अङित् होने से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है। 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५६ ओत्। १। १। १५॥

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात्। अहो ईशाः।

अर्थः—ओकार अन्त वाला निपात प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—ओत् ।१।१। निपातः ।१।१। ['निपात एकाजनाङ्' से] प्रगृह्यः ।१।१। ['ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' से] 'ओत्' यह 'निपातः' पद का विशेषण है, अतः इस से तदन्त-विधि होती है। अर्थः—(ओत्=ओदन्तः) ओदन्त (निपातः) निपात (प्रगृह्यः) प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होता है। यथा—'अहो ईशाः' (अहो ! ये स्वामी हैं।) यहां अद्रव्यवाची होने से 'चादयोऽसत्त्वे' (४३) द्वारा 'अहो' निपात-सञ्ज्ञक है; इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण 'एचोऽयवायावः' (२२) द्वारा अवादेश नहीं होता। ध्यान रहे कि यहां एक अच् रूप निपात न होने से पूर्वसूत्र द्वारा प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं हो सकती थी।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५७ सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे।१।१।१६॥

सम्बुद्धि-निमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिक इतौ परे। विष्णो इति। विष्ण इति। विष्णविति।

अर्थः—सम्बुद्धि-निमित्तक ओकार—अवैदिक अर्थात् वेद में न पाए जाने वाले 'इति' शब्द के परे होने पर विकल्प कर के प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। [निमित्त-सप्तम्येषा] ओत् ।१।१। ['ओत्' से] अनार्षे ।७।१। इतौ ।७।१। प्रगृह्यः ।१।१। ['ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' से] शाकल्यस्य ।६।१। समासः—ऋषिर्वेदः, उक्तञ्च मेदिनीकोषे—'ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम्' ऋषौ (वेदे)

भवः=आर्षः, 'तत्र भवः' (१०८१) इत्यण्, न आर्षः=अनार्षस्तस्मिन्=अनार्षे, नञ्तत्पुरुषः। 'अवैदिके' इत्यर्थः। अर्थः—(अनार्षे) वेद में न पाए जाने वाले (इतौ) इति शब्द के परे होने पर (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि को निमित्त मान कर पैदा हुआ (ओत्) ओकार (प्रगृह्यः) प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होता है (शाकल्यस्य) शाकल्य के मत में। अन्य आचार्यों के मत में प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं होती; परन्तु हमें सब आचार्य्य प्रमाण हैं, अतः विकल्प से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होगी।

उदाहरण यथा—'विष्णो इति'। विष्णु शब्द से परे सम्बुद्धि [सम्बोधन के एकवचन को सम्बुद्धि कहते हैं। देखो—'एकवचनं सम्बुद्धिः' (१३२)] करने पर 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६१) सूत्र से सम्बुद्धि को निमित्त मान कर गुण हो कर—विष्णो+स् हुआ। अब 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (१३४) सूत्र से सकार का लोप करने पर 'विष्णो' पद सिद्ध हो जाता है। इस के आगे 'इति' पद लाने से 'एचोऽयवायावः' (२२) द्वारा ओकार को अव् आदेश प्राप्त होता था जो अब इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण नहीं होता। अन्य आचार्यों के मत में प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न होने से अव् आदेश हो कर 'विष्णव् इति' बना। अब इस दशा में पदान्त वकार का 'लोपः शाकल्यस्य' (३०) सूत्र से वैकल्पिक लोप हो जाता है। लोप पक्ष में 'विष्ण इति' और लोपाभाव पक्ष में 'विष्णविति' इस प्रकार कुल मिला कर तीन रूप सिद्ध होते हैं।

यह उदाहरण वेद का नहीं; वेद में तो 'इति' शब्द परे होने पर प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु अव् आदेश हो जाता है। यथा—'एता गा ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्' [यह काठक-संहिता का वचन है]।*

नोट—वस्तुतः अन्य आचार्यों के मत में 'विष्णविति' ही रूप होता है; 'विष्ण इति' नहीं। क्योंकि जब शाकल्य आचार्य के मत में ओ को अव् ही नहीं होता तो पुनः उस के मत में वकार का लोप कैसे सम्भव हो सकता है। काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र इस सूत्र पर दो ही उदाहरण लिखे मिलते हैं; लोप वाला रूप कहीं नहीं देखा जाता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—५८ मय उञो वो वा।८।३।३३॥

मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि। किम्वुक्तम्। किमु उक्तम्।

अर्थः—मय् प्रत्याहार से परे उञ् निपात को विकल्प कर के 'व्' आदेश हो जाता है अच् परे हो तो।

व्याख्या—मयः।५।१। उञः।६।१। वः।१।१। वकारादकार उच्चारणार्थः। वा इत्यव्ययपदम्। अचि।७।१। ['ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' से] अर्थः—(मयः) मय् प्रत्या-

---

* इस सूत्र पर प्रायः सब ग्रन्थकार पद-पाठ का ही उदाहरण देते हैं। लौकिक उदाहरण भी दे सकते हैं, कोई निषेध नहीं करता; जैसा कि पुरुषोत्तमदेव ने 'भाषा-वृत्ति' में दिया है।

हार से परे (उञः) उञ् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (वः) व् आदेश होता है (अचि) अच् परे हो तो। मय् प्रत्याहार में ञकार को छोड़ कर अन्य सब वर्गस्थ वर्ण आ जाते हैं।

उदाहरण यथा—'किम् उ उक्तम्' (क्या कहा?) यहां उञ् के एक अच् रूप निपात होने से 'निपात एकाजनाङ्' (५५) सूत्र प्राप्त होता है। इसे बान्ध कर इस सूत्र से वैकल्पिक वकार हो जाता है। जहां वकार आदेश होता है वहां—'किम्वुक्तम्' प्रयोग सिद्ध होता है। वकारादेश के अभाव में यथाप्राप्त प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव के कारण सवर्ण-दीर्घ नहीं होता—'किम् उ उक्तम्'। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—यह सूत्र 'मोऽनुस्वारः' (८।३।२३) सूत्र की दृष्टि में पर त्रिपादी होने से असिद्ध है; अतः 'किम्वुक्तम्' यहां हल्=वकार परे होने पर भी 'मोऽनुस्वारः' (७७) से मकार को अनुस्वार नहीं होता। तथा हि—

'त्रिपादीये वकारे तु नानुस्वारः प्रवर्त्तते।'

नोट—ध्यान रहे कि उञ् का ञकार 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञक हो कर 'तस्य लोपः' (३) से लुप्त हो जाता है।

अभ्यास (१३)

(१) अधोलिखित प्रयोगों में सूत्र-निर्देश-पूर्वक सन्धि करो या सन्ध्यभाव का कारण बताओ—
१ भानविति। २ शम्वस्तु वेदिः। ३ वाय इति। ४ अहो आश्चर्यम्। ५ तद्वस्य परेतः। ६ शम्भो इति। ७ अथो इति। ८ उ उत्तिष्ठ। ९ नो इदानीम्। १० एन्द्राद् हरिभक्तिः। ११ अहो अद्य महोष्णता। १२ इ इन्द्रं पश्य।

(२) कहां २ 'आ' ङित् और कहां २ अङित् होता है? सोदाहरण स्पष्ट करो।

(३) 'प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे' इस एक योग के विभाग करने की क्या आवश्यकता है? उदाहरण दे कर स्पष्ट करो।

(४) 'किम्वुक्तम्' यहां 'मोऽनुस्वारः' (७७) सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता?

(५) 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'एकाच्' पद का विशेष स्पष्टीकरण करो तथा इस में बहुव्रीहि-समास मान लेने से क्या दोष उत्पन्न हो जाता है? इस का भी निर्देश करो।

(६) 'वस्तुतः 'विष्ण इति' रूप नहीं बनता' इस कथन की सप्रमाण व्याख्या करें।

(७) उदाहरण-प्रदर्शन-पूर्वक मर्यादा और अभिविधि का परस्पर भेद बताएं।

—०:❀:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—५६ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥६।१।१२४॥

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः। चक्रि अत्र। चक्र्यत्र। पदान्ता इति किम्? गौर्यौ।

अर्थः—असवर्ण अच् परे होने पर पदान्त इक् को विकल्प कर के ह्रस्व हो जाता है। **ह्रस्वविधीनि**—ह्रस्वविधान करने के सामर्थ्य से स्वर-सन्धि नहीं होती।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१। ['एङः पदान्तादति' मे विभक्तिविपरिणाम करके] इकः ।६।१। असवर्णे ।७।१। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] ह्रस्वः ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(असवर्णे) असवर्ण (अचि) अच् परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (इकः) इक् के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व हो जाता है (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में। अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता; हमें सब आचार्य प्रमाण हैं अतः ह्रस्व विकल्प से होगा।

उदाहरण यथा—'चक्री + अत्र' (विष्णु यहां है।) यहां पदान्त इक् ईकार है, इस से परे 'अ' यह असवर्ण अच् वर्त्तमान है अतः इक् को विकल्प करके ह्रस्व होगया। जहां ह्रस्व हुआ वहां—'चक्रि अत्र'। जहां ह्रस्व न हुआ वहां 'इको यणचि' (१५) से यण् होकर 'चक्र्यत्र' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

एवम् अन्य उदाहरण यथा—१. मधु* अस्ति, मध्वस्ति। २. दधि अस्ति, दध्यस्ति। ३. वस्तु आनय, वस्त्वानय।४. वारि अत्र, वार्यत्र। योगि आगच्छति, योग्यागच्छति।६. धनि अवोचत्, धन्यवोचत्। ७. नदि एधते, नद्येधते।८ जाह्नवि अवतरति, जाह्नव्यवतरति। ६. बलि ऋतः, बल्यृतः। १० भवति एव, भवत्येव।११ धातृ अत्र, धात्रत्र।

अब जहां ह्रस्व करते हैं वहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यहां 'इको यणचि' (१५) सूत्र से यण् क्यों न किया जावे? इसका उत्तर यह है कि यदि वहां भी यण् हो जावे तो पुनः इस सूत्र से ह्रस्व करना व्यर्थ होजायगा; क्योंकि तब दोनों पक्षों में 'चक्र्यत्र' रूप समान हो जायगा जो इस सूत्र के बिना भी 'इको यणचि' (१५) सूत्र से सिद्ध हो सकता है। अतः इस सूत्र द्वारा ह्रस्व करने के सामर्थ्य से यहां सन्धि न होगी। [ध्यान रहे कि मूल में 'स्वरसन्धि' कथन इस लिये किया गया है कि वहां स्वर-सन्धि के अतिरिक्त अन्य-कोई सन्धि प्राप्त नहीं हो सकती।]

---

* ध्यान रहे कि ह्रस्वों को भी 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' न्याय से ह्रस्व हो जाया करता है। इस का फल सन्ध्यभाव स्पष्ट ही है। यह विषय इस सूत्र के भाष्य में अत्यन्त स्पष्ट है।

इस सूत्र में 'असवर्ण' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'योगी + इच्छति=योगीच्छति, कुमारी + ईहते=कुमारीहते' इत्यादियों में सवर्ण अच् परे होने पर ह्रस्व न हो।

'पदान्त' ग्रहण इस लिये किया गया है कि–'गौरी+औ' यहां अपदान्त इक् को ह्रस्व न हो जाय। 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर 'गौर्यौ' बन जाय।

अब प्रसङ्गवश 'गौर्यौ' में द्वित्व करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—६० **अचो रहाभ्यां द्वे** ।८।४।४६॥

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। गौर्य्यौ।

अर्थः—अच् से परे जो रेफ या हकार उस से परे यर् को विकल्प करके द्वित्व हो जाता है।

व्याख्या—अचः ।५।१। रहाभ्याम् ।५।२। यरः ।६।१। [यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] द्वे ।१।२। वा इत्यव्ययपदम् । [यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] **अर्थः**—(अचः) अच् से परे (रहाभ्याम्) जो रेफ या हकार उस से परे (यरः) यर् के (द्वे) दो शब्दस्वरूप (वा) विकल्प कर के हो जाते हैं।

उदाहरण यथा—'गौर् यौ' यहां अच् 'औ' से पर रेफ है उस से परे यर् यकार को विकल्प करके द्वित्व होकर द्वित्वपक्ष में 'गौर्य्यौ' तथा द्वित्वाभावपक्ष में 'गौर्यौ' इस प्रकार दो रूप बन जाते हैं। इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ आर्य्यः, आर्यः। २. अर्क्कः, अर्कः। ३ कार्य्यम्, कार्यम्। ४ हर्य्यनुभवः, हर्यनुभवः। ५. उर्व्वी, उर्वी। ६. आह्ल्लादः, आह्लादः। ७ अर्ज्जुनः, अर्जुनः। ८ आर्त्तः, आर्तः। ९. आह्व्वयः, आह्वयः। १०. आर्द्द्रकम्, आर्द्रकम्। ११. ब्रह्म्मा, ब्रह्मा। १२ अर्त्थः, अर्थः। १३. न ह्य्यस्ति, न ह्यस्ति। १४. गर्ब्भः, गर्भः। १५. ऊर्द्ध्वम्, ऊर्ध्वम्। १६. दुर्ग्गः, दुर्गः। १७. अर्ग्घः, अर्घः। १८. मूर्च्छ्ना, मूर्छना। १९. अपह्न्नुते, अपह्नुते। २०. मूर्क्खः, मूर्खः। २१ शर्म्मा, शर्मा। २२. विसर्ग्गः, विसर्गः। २३. प्राणर्णम्, प्रार्णम्। २४. कर्म्म, कर्म। २५. निर्झ्झरः, निर्झरः।

अब प्रसङ्गतः प्राप्त हुए द्वित्व को कह कर पुनः 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (५९) सूत्र पर निषेधक वार्त्तिक लिखते हैं—

[लघु०] वा०—९ **न समासे** ॥

वाप्यश्वः ।

अर्थः—समास में अच् परे होने पर पदान्त इक् को ह्रस्व नहीं होता।

व्याख्या—वापी + अश्व [बावड़ी में घोड़ा। वाप्यामश्वः= वाप्यश्वः, 'सहसुपा' इति समासः।] यहां समास में विभक्तियों का लुक् होने पर 'प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्' (१९०) सूत्र द्वारा ईकार पदान्त हो जाता है; इसे असवर्ण अच् (अ) परे होने पर ह्रस्व प्राप्त था जो अब इस वार्त्तिक के निषेध के कारण नहीं होता। 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर विभक्ति लाने से—'वाप्यश्वः' सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार—'सुध्युपास्यः, मध्वरिः, गौर्यात्मजः, नद्युदयः, चार्वङ्गी, मात्राज्ञा, वध्वागमनम्, लाकृतिः' प्रभृति रूपों में भी समझ लेना चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—६१ **ऋत्यकः**।६।१।१२५॥

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद् वा। ब्रह्म ऋषिः। ब्रह्मर्षिः। पदान्ताः किम्? आर्च्छत्।

अर्थः—ऋत अर्थात् ह्रस्व ऋकार परे होने पर पदान्त अक् को विकल्प से ह्रस्व हो जाता है।

व्याख्या—ऋति।७।१। पदान्तस्य।६।१। ['एङः पदान्तादति' से] अकः।६।१। ह्रस्वः।१।१। शाकल्यस्य।६।१। ['इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' से] अर्थः—(ऋति) ह्रस्व ऋवर्ण परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (अकः) अक् के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व हो जाता है (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में। अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प हो जायगा।

उदाहरण यथा—'ब्रह्मा + ऋषि' यहां 'ऋषि' शब्द का आदि ऋत परे है; अतः मकारोत्तर पदान्त आकार को विकल्प करके ह्रस्व होकर—'ब्रह्म ऋषिः' तथा ह्रस्वाभावपक्ष में 'आद् गुणः' (२७) से गुण, रपर होकर 'ब्रह्मर्षिः' बना। [अथवा 'ब्रह्म + ऋषि' ऐसे छेद में ह्रस्व को ह्रस्व होगा। ब्रह्मणः=वेदस्य ऋषिः—ब्रह्मर्षिरित्यादि विग्रहः।]

पूर्व (५९) सूत्र सवर्ण परे होने पर प्रवृत्त नहीं होता था तथा अकार को ह्रस्व भी नहीं करता था; इन दोनों आवश्यकताओं के लिये यह सूत्र बनाया गया है। जैसा कि महाभाष्य में कहा है—'सवर्णार्थम् अनिगन्तार्थञ्च'। सवर्ण परे होने पर यथा—होतृ ऋश्यः, होतृश्यः। यहां पूर्व-सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता था। अकार का उदाहरण- ब्रह्म ऋषिः, ब्रह्मर्षिः।

ध्यान रहे कि जहां २ ह्रस्व करेंगे वहां २ पूर्ववत् ह्रस्वविधान के सामर्थ्य से स्वर-सन्धि नहीं होगी।

इस सूत्र में भी पूर्ववत् 'पदान्त' का ग्रहण होता है; अतः अपदान्त अक् को ह्रस्व नहीं होता। उदाहरण यथा—'आ + ऋच्छत्' [यह तौदादिक 'ऋच्छ्' अथवा भौवादिक 'ऋ'

धातु के लङ् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है। 'आ' यह यहां 'आट्' आगम समझना चाहिये।] यहां 'आ' (ट्) पदान्त नहीं अतः ऋत् परे होने पर भी इसे ह्रस्व नहीं होता। 'आटश्च' (१९७) से पूर्व+पर के स्थान पर 'आर्' वृद्धि होकर—'आर्च्छत्' बन जाता है।

'इकोऽसवर्णे—' (५९) सूत्र समास में प्रवृत्त नहीं होता है; परन्तु यह सूत्र समास में भी प्रवृत्त हो जाता है। यथा—सप्त ऋषीणाम्, सप्तर्षीणाम्।*

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१. कन्य ऋज्वी, कन्यर्ज्वी। २. कुमारि ऋतुमती, कुमार्यृतुमती। ३. प्रज्ञ ऋतम्भरा, प्रज्ञर्त्तम्भरा। ४. पुरुष ऋषभः, पुरुषर्षभः। ५. मह ऋषिः, महर्षिः। ६. शङ्ख्ध्म ऋणी, शङ्ख्ध्मर्णी। ७. कर्तृ ऋणि, कर्तॄणि।

[लघु०] इत्यच्सन्धि-प्रकरणम्।

अर्थः—यह अचों की सन्धि का प्रकरण समाप्त होता है।

प्रश्नः—'अच्सन्धि' शब्द में 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से श्चुत्व क्यों न हो?।

उत्तर—'अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ' इस भाष्य के निर्देश से नहीं होता।

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां
लघुसिद्धान्तकौमुद्यामच्सन्धि-
प्रकरणं समाप्तम्॥



* 'प्रार्च्छति' में यह प्रकृतिभाव नहीं होता; इस की स्पष्टता 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखें।

❀ अथ हल्-सन्धि-प्रकरणम् ❀

अब हलों अर्थात् व्यञ्जनों का व्यञ्जनों के साथ मेल दिखाया जायगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—६२ स्तोः श्चुना श्चुः ।८।४।४०॥

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः।
रामश्शेते। रामश्चिनोति। सच्चित्। शार्ङ्गिञ्जय।

अर्थः—सकार तवर्ग के स्थान पर, शकार चवर्ग के साथ योग होने पर शकार चवर्ग हो जाते हैं।

व्याख्या—स्तोः ।६।१। श्चुना ।३।१। श्चुः ।१।१। समासः—स् च तुश्च=स्तुः, तस्य = स्तोः, समाहार-द्वन्द्वः। [यद्यपि समाहार-द्वन्द्व में नपुंसकलिङ्ग होता है, तथापि यहां सौत्र पुंस्त्व जानना चाहिये।] श् च चुश्च=श्चुः, तेन=श्चुना, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—[स्तोः] सकार तवर्ग के स्थान पर [श्चुना] शकार चवर्ग के साथ [श्चुः] शकार चवर्ग हो जाता है। भावः—'स्, त्, थ्, द्, ध्, न्' इन वर्णों के स्थान पर 'श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्' ये वर्ण हो जाते हैं, यदि 'स्, त्, थ्, द्, ध्, न्' से 'श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्' इन वर्णों का योग [मेल] हो तो।

यहां स्थानी—'स्, त, थ्, द्, ध्, न्' ये छः वर्ण हैं।

और आदेश—'श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्' ये छः वर्ण हैं।

अतः स्थानी के स्थान पर आदेश 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) द्वारा बारी २ से होंगे; अर्थात स् को श्, त् को च्, थ् को छ्, द् को ज्, ध् को झ् तथा न् को ञ् होगा।

ध्यान रहे कि यहां स्थानी और आदेश के विषय में यथासङ्ख्य होता है परन्तु योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं होता; अर्थात् यहां यह नहीं समझना चाहिये कि सकार को शकार—शकार के योग में, तकार को चकार—चकार के योग में, थकार को छकार—छकार के योग में, दकार को जकार—जकार के योग में, धकार को झकार—झकार के योग में तथा नकार को ञकार—ञकार के योग में ही होता है। किन्तु योग चाहे किसी 'श्चु' का हो—सकार को शकार, तकार को चकार, थकार को छकार, दकार को जकार, धकार को झकार तथा नकार को ञकार ही होगा। यदि योग के विषय में भी यथासङ्ख्य होता तो 'शात्' (६३) सूत्र से निषेध करने की कुछ आवश्यकता न होती; क्योंकि शकार से परे तो तब तवर्ग को चवर्ग प्राप्त ही नहीं हो सकता था। अतः निषेध करने से ज्ञात होता है कि आचार्य योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं चाहते।

उदाहरण यथा—१ 'रामश्शेते' [राम सोता है]। 'रामस्+शेते' [राम शब्द से सुँ प्रत्यय करने पर 'ससजुषो रुः' (१०५) से रुँ तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (९३) से विसर्ग हो पुनः 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसर्ग होने पर और तदभाव पक्ष में सकार करने पर—'रामस् शेते, रामः शेते' ये दो प्रयोग बनते हैं। यहां विसर्गाभाव पक्ष में सत्व वाले रूप का ग्रहण किया गया है।] यहां सकार का शकार के साथ योग होने से उस के स्थान पर क्रमानुसार शकार हो 'रामश्शेते' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब ग्रन्थकार यह जतलाने के लिये कि योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं होता; सकार का अन्य उदाहरण देते है—२ 'रामश्चिनोति' [राम चुनता है]। 'रामस्+चिनोति' [राम शब्द से सुँ प्रत्यय करने पर 'ससजुषो रुः' (१०५) से उसे रुँ तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (९३) से विसर्ग हो पुनः 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकार हो जाता है।] यहां सकार का चकार के साथ योग होने से उस के स्थान पर क्रमानुसार शकार हो 'रामश्चिनोति' प्रयोग सिद्ध होता है।

३. 'सच्चित्' [सत् और ज्ञान] 'सत्+चित्' यहां तकार का चकार के साथ योग है अतः उस के स्थान पर क्रमानुसार चकार हो 'सच्चित्' प्रयोग सिद्ध होता है। [वस्तुतः यहां 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) के असिद्ध होने से प्रथम 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से तकार को दकार हो पुनः 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) से दकार को जकार हो कर 'खरि च' (७४) से चकार हो जाता है।]

४. 'शार्ङ्गिञ्जय' [हे विष्णो ! तुम्हारी जय हो]। 'शार्ङ्गिन्+जय' यहां नकार का जकार के साथ योग है अतः नकार के स्थान पर ञकार हो कर 'शार्ङ्गिञ्जय' प्रयोग सिद्ध होता है।

योग वर्ण के आगे या पीछे दोनों अवस्थाओं में हो सकता है; किसी को यह न समझ लेना चाहिये कि यदि श्चु आगे आएंगे तो स्तु को श्चु होगा। चाहे श्चु—स्तु से आगे आए या पीछे, 'स्तु को श्चु हो जायगा। यथा—'राज्+न्+अस्' यहां नकार का पूर्व जकार के साथ योग होने पर उसके स्थान पर ञकार हो 'राज्ञः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न—यदि योग में आगे पीछे का नियम नहीं; तो 'अच्सन्धि' में स् को श् हो जावे, 'शात्' (६३) सूत्र निषेध नहीं कर सकता। 'अच् तकारे' में तकार को चकार होजावे।

उत्तर—'अल्पाच्तरम्' (९८६) इस सूत्र के निर्देश से, 'सिद्धमनच्त्वात्' इस वार्त्तिक के प्रयोग से तथा 'अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ' इस भाष्य के प्रमाणय से यह प्रमाणित होता है कि चकार के सामने भी सकार तवर्ग को श्चुत्व नहीं होता।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—६३ शात् ।८।४।४४॥

शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः ।

अर्थः—शकार से परे तवर्ग के स्थान पर चवर्ग नहीं होता ।

व्याख्या—शात् ।५।१। तोः ।६।१। ['तोः षि' से] । 'न' इत्यव्ययपदम् । ['न पदान्ताट्टोरनाम्' से] क्या नहीं होता ? इस जिज्ञासा के उत्पन्न होने पर सुतरां यही आएगा कि जो प्राप्त होता है वह नहीं होता । शकार से परे तवर्ग के स्थान पर 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से चवर्ग ही प्राप्त हो सकता है, अन्य कोई प्राप्त नहीं हो सकता * अतः यहां भी उसी का निषेध समझना चाहिये । अर्थः—[शात्] शकार से परे [तोः] तवर्ग के स्थान पर चवर्ग [न] नहीं होता । उदाहरण यथा—

१ 'विश् नः' [यहां 'विच्छँ गतौ' (तुदा०) धातु से † 'यजँयाचँयतँविच्छँप्रच्छँरक्षो नङ्' (८६०) द्वारा नङ् प्रत्यय तथा 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (८४३) द्वारा छकार को शकार हो गया है ।] यहां 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) द्वारा नकार को ञकार प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं होता । विश्नः ।

२ 'प्रश् नः' [यहां 'प्रच्छँ ज्ञीप्सायाम्' (तुदा०) धातु से पूर्ववत् नङ् प्रत्यय तथा छकार को शकार आदेश हुआ २ है ।] यहां 'स्तोः श्चुना श्चुः' द्वारा नकार को ञकार प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं होता । प्रश्नः ‡ । इसी तरह 'क्लिश्नाति' ।

स्मरण रहे कि यह सूत्र (८।४।४४) 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) से परे होने के 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) द्वारा असिद्ध होने पर भी वचनसामर्थ्य से उस की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता, उस का अपवाद हो जाता है । ['अपवादो वचनप्रामाण्यात्' इति भाष्यम् ।]

इस सूत्र से विधान किया निषेध नकार के सिवाय तवर्गस्थ अन्य वर्णों से प्रायः सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि 'श्' से परे 'त्, थ्, द्, ध्' होने पर 'व्रश्चभ्रस्ज—' (३०७) द्वारा षत्व हो जाया करता है ।

---

* यहां 'अन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इस परिभाषा को भी ध्यान में रखना चाहिये ।

† 'विच्छँ' यहां पर अनुनासिक, अच् की इत्संज्ञार्थ है । अच् स्वरार्थ है । स्वर का कोई चिह्न न दीखने से उदात्त स्वर समझना चाहिये । उदात्तेत् धातु परस्मैपदी होती है । 'यतँ' यहां पर अच् में अधोरेखा अनुदात्त की है । अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है । 'यजँ॑' यहां पर अच् में ऊर्ध्वरेखा स्वरित की है । स्वरितेत् होने से उभयपदी होगी ।

‡ यहां 'ग्रहिज्या............' (६३४) सूत्र द्वारा सम्प्रसारण नहीं होता, क्योंकि 'प्रश्ने चासन्नकाले' (३।२।११७) सूत्र में महामुनि ने स्वयं सम्प्रसारण नहीं किया ।

अभ्यास (१४)

(१) १ ग्रामाद् + चलितः। २ हरिस् + छत्रधरः। ३ ईश्वराद् + जगद् + जायते। ४ सोम-सुन् + झकारः। ५ हश् + नाथति। ६ याच् + ना। ७ शश् + नाथ। ८ अश् + मित्यम्। ९ शश्+नथतुः। १० जश् + त्वम्। ११ श्+तिप्*।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्रसमन्वय-पूर्वक सन्धिच्छेद करो ?।

१ कृष्णश्चपलः। २ यज्ञः। ३ अग्निचिच्छिनत्ति। ४ नारदश्शशाप। ५ भृज्जौ। ६ सच्छात्रः।

(३) श्चुत्व-विधि में कहां यथासङ्ख्य होता है और कहां नहीं होता ? सप्रमाण लिखो ?।

(४) 'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र की दृष्टि में 'शात्' सूत्र असिद्ध है। तो भला असिद्ध कैसे सिद्ध का निषेध कर सकता है ?।

—०:❀:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—६४ ष्टुना ष्टुः। ८।४।४१॥

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे।

अर्थः—सकार तवर्ग के स्थान पर, षकार टवर्ग के साथ योग होने पर षकार टवर्ग हो जाता है।

व्याख्या—स्तोः।६।१। ['स्तोः श्चुना श्चुः' से]। ष्टुना।३।१। ष्टुः।१।१। समासः—ष् च टुश्च=ष्टुः, तेन=ष्टुना, समाहारद्वन्द्वः। सौत्रम् पुंस्त्वम्। अर्थः—[स्तोः] सकार तवर्ग के स्थान पर [ष्टुना] षकार टवर्ग के साथ [ष्टुः] षकार टवर्ग हो जाता है। भाव—'स्, त्, थ्, द्, ध्, न्' इन छः वर्णों के स्थान पर 'ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्' ये छः वर्ण हो जाते हैं, यदि 'ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्' इन छः वर्णों का योग अर्थात् मेल हो तो। यहां भी पूर्ववत् स्थानी और आदेश के विषय में यथासङ्ख्य होता है योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं होता। यदि योग के विषय में भी यथासङ्ख्य होता तो षकार से परे तवर्ग को टवर्ग प्राप्त ही न हो सकता, पुनः उस के निषेध के लिये 'तोः षि' (६६) सूत्र क्यों

---

* वस्तुतः यह 'शात्' (६३) का उदाहरण नहीं। यहां तकार झल् परे होने से 'व्रश्चभ्रस्ज···' (३०७) द्वारा शकार को षकार प्राप्त था, जो असन्देहार्थ नहीं किया गया। अथवा यदि 'शात्' (६३) का उदाहरण मान लिया जावे, तब भी कोई हानि नहीं; क्योंकि सार्वधातुक सञ्ज्ञा करने के लिये 'श्तिप्' को शित् अवश्य करना चाहिये; तब उस के सामर्थ्य से षत्व नहीं होगा; तब फिर चुत्व प्राप्ति में 'शात्' (६३) निषेधक बनेगा।

बनाते ? अतः इस से यह जाना जाता है कि ष्टुत्वविधि में योगविषयक यथासङ्ख्य नहीं होता। उदाहरण यथा—

१ रामष्षष्ठः । [राम छठा है ।] 'रामस्+षष्ठः' ['राम' प्रातिपदिक से सु प्रत्यय लाने पर रुत्व विसर्ग हो 'वा शरि' (१०४) द्वारा विकल्प कर के विसर्ग होने पर तदभावपक्ष में सकार आदेश हो जाता है । जिस विसर्गाभाव पक्ष में सकार आदेश होता है उसी का यहां ग्रहण किया गया है ।] यहां षकार के साथ योग होने से सकार को षकार हो 'रामष्षष्ठः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

२ 'रामष्टीकते' । [राम जाता है ।] 'रामस् + टीकते' [यहां राम शब्द से 'सु' प्रत्यय ला कर रुत्व, विसर्ग हो, 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से पुनः सकारादेश हो जाता है] यहां टकार के साथ सकार का योग है । अतः सकार को षकार आदेश हो 'रामष्टीकते' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—सकार का यह दूसरा उदाहरण यह जतलाने के लिये ही दिया गया है कि योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं हुआ करता ।

३ 'पेष्टा' [पीसने वाला, पीसेगा] 'पेष् + ता' ['पिष्लृँ सञ्चूर्णने' (रु०७।१०) धातु से तृच् प्रत्यय या लुट् के प्रथम पुरुष का एकवचन करने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) सूत्र से इकार को एकार गुण हो जाता है ।] यहां षकार के साथ योग होने से तकार को टकार हो कर—'पेष्टा' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—'ष्टु परे होने पर' ऐसा न कह कर 'ष्टु के साथ योग होने पर' ऐसा इस लिये कहा गया है कि 'पेष्टा' आदियों में 'ष्टु' का पूर्वयोग होने पर भी 'स्तु' को 'ष्टु' हो जाए ।

४ 'तट्टीका' । [उस की टीका, अथवा वह टीका] 'तद् + टीका' [यहां 'तस्य टीका' ऐसा षष्ठी-तत्पुरुष अथवा कर्मधारयसमास हो 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' वार्त्तिक से पुंवद्भाव समझना चाहिये ।] यहां टकार के योग में दकार को डकार हो कर 'खरि च' (७४) सूत्र से डकार को टकार करने से 'तट्टीका' प्रयोग सिद्ध होता है । ग्रन्थकार को यहां पर बल्कि 'सच्चित्' प्रयोग पर ही 'खरि च' (७४) सूत्र लिखना उचित था ।

नोट—यहां पर कुछ लोग 'तत्+टीका' ऐसा छेद करके सीधा ष्टुत्व कर दिया करते हैं, यह नितान्त अशुद्ध होता है, क्योंकि 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) सूत्र की दृष्टि में 'खरि च' (८।४।५५) सूत्र असिद्ध है अतः ष्टुत्व से पूर्व चर्त्व नहीं हो सकता; और यदि 'तद्' शब्द को दकारान्त न मान कर तकारान्त मानते हैं तो यहां तो कोई दोष नहीं आता परन्तु 'अतितद्, अतितदौ, अतितदः' इत्यादि प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकते । अतः उपर्युक्त छेद ही युक्त है ।

४ 'चक्रिणढौकसे'। [हे चक्रधारिन्! तुम जाते हो।] 'चक्रिन्+ढौकसे' यहां ढकार का योग होने से नकार को णकार होकर 'चक्रिणढौकसे' प्रयोग सिद्ध होता है।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—६५ न पदान्ताट्टोरनाम् ।८।४।४२॥

पदान्तात् टवर्गात् परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात् किम्? ईट्टे। टोः किम्? सर्पिष्टमम्।

अर्थः—पदान्त टवर्ग से परे 'नाम्' के नकार को छोड़ कर अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग नहीं होता।

व्याख्या—पदान्तात् ।५।१। टोः ।५।१। अनाम् ।६।१। [यहां षष्ठी के एकवचन 'ङस्' का लुक् हो गया है।]। स्तोः ।६।१। ['स्तोः श्चुना श्चुः' से]। ष्टुः ।१।१। [ष्टुना ष्टुः' से]। न इत्यव्ययपदम्। अर्थः—[पदान्तात्] पदान्त [टोः] टवर्ग से परे [अनाम्] नाम्शब्द के अवयव से भिन्न [स्तोः] सकार तवर्ग को [ष्टुः] षकार टवर्ग [न] नहीं होता। यह सूत्र 'ष्टुना ष्टुः' (६४) का अपवाद है। इसके उदाहरण यथा—

१ 'षट् सन्तः'। [छः सज्जन] 'षड्+सन्तः' [यहां 'षड्' सुबन्त होने से पदसञ्ज्ञक है। इस रूप में प्रथम 'ङः सि धुट्' (८६) द्वारा वैकल्पिक 'धुट्' होता है। जहां 'धुट्' नहीं होता, उस पक्ष का यहां ग्रहण समझना चाहिये।] यहां 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) द्वारा सकार को षकार प्राप्त होता है। पुनः इस सूत्र से उस का निषेध हो जाता है क्योंकि यहां पदान्त टवर्ग [डकार] से परे स्तु [सकार] को ष्टुत्व [षकार] करना है। अब 'खरि च' (७४) से डकार को टकार हो कर—'षट् सन्तः' प्रयोग सिद्ध होता है।

२. 'षट् ते'। [वे छः] 'षड्+ते' यहां 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) द्वारा ष्टुत्व अर्थात् तकार को टकार प्राप्त होता है; इस पर इस सूत्र से निषेध होकर पुनः 'खरि च' (७४) से चर्त्व टकार करने से 'षट् ते' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—लिण्निमित्तः, इयन, लिट्सु आदि प्रयोगों में भी ष्टुत्व का निषेध समझ लेना चाहिये।

पदान्तात् किम्? ईट्टे।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पदान्त टवर्ग क्यों कहा? केवल टवर्ग ही कह देते तो क्या हानि थी? इस का उत्तर यह है कि यदि 'पदान्त' न कहते तो 'ईट्टे' [मैं स्तुति करता हूं] यह प्रयोग अशुद्ध हो जाता। तथाहि—

'ईड्+ते' [ईडँ स्तुतौ (अदा०) धातु से लट्, उसे 'त' आदेश, शप्, उस का लुक् तथा 'त' की टि=अकार को एकार हो यह रूप निष्पन्न होता है।] यहां 'खरि च'

(८।४।५५) के असिद्ध होने से प्रथम 'ष्टुना ष्टुः' (८।४। ४१) से तकार को टकार तदनन्तर 'खरि च' (८।४।५५) से डकार को टकार हो कर 'ईट्टे' प्रयोग सिद्ध होता है। अब यदि 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) सूत्र में 'टोः' पद का विशेषण 'पदान्तात्' नहीं बनाते तो यहां अपदान्त डकार से परे भी तवर्ग को टवर्ग करने का निषेध हो जाता; जो अनिष्ट था। अब 'पदान्तात्' कहने से कुछ भी दोष नहीं आता।

टोः किम् ? सर्पिष्टमम्।

प्रश्नः—इस सूत्र में 'टवर्ग' का ग्रहण क्यों किया गया है ? केवल 'न पदान्तादनाम्' इतना ही कह देते; अर्थात् 'पदान्त वर्ण से परे नाम् के नकार को छोड़ अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग नहीं होता' इतने मात्र के कथन से क्या हानि हो सकती थी ?।

उत्तर—यदि 'टवर्ग' का ग्रहण न करते तो पदान्त षकार से परे भी 'स्तु' को 'ष्टु' होने का निषेध हो जाता; इस से 'सर्पिष्टमम्' आदि प्रयोगों में ष्टुत्व न हो सकने से अनिष्ट हो जाता। तथाहि—'सर्पिस्' शब्द से 'तमप्' प्रत्यय करने पर 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' (८। ३।१०१) सूत्र से सकार को षकार हो 'सर्पिष् + तम'। अब 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व अर्थात् तकार को टकार करने से 'सर्पिष्टम' प्रयोग निष्पन्न होता है। यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) सूत्र से 'सर्पिष्' की पद सञ्ज्ञा होने के कारण षकार पदान्त हो जाता है*। अब यदि 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) सूत्र में 'टोः' का ग्रहण न करते तो यहां पदान्त षकार से परे तकार को टकार होने का निषेध हो अनिष्ट रूप हो जाता; अतः सूत्र में 'टोः' का ग्रहण परमावश्यक है।

[लघु०] वा०—१० अनाम्नवति-नगरीणामिति वाच्यम् ॥

षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

अर्थः—"पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति तथा नगरी शब्दों के नकार को छोड़ अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग न हो" ऐसा कहना चाहिये।

व्याख्या—सूत्रकार [भगवान् पाणिनि] ने 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) में केवल नाम् के नकार को ही ष्टुत्वनिषेध से मुक्त किया था; अतः नवति तथा नगरी शब्दों में ष्टुत्व-निषेध प्राप्त होने से दोष उत्पन्न होता था। यह देख कर वार्तिककार कात्यायन ने वार्तिक

---

* यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि 'झलाञ्जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार हो टवर्ग हो जाने से 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) द्वारा ष्टुत्व का निषेध क्यों न हो जाए ?। स्मरण रहे कि 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' (८।३।१०१) द्वारा किया गया षत्व 'झलाञ्जशोऽन्ते' (८।२।३९) की दृष्टि में असिद्ध है। अतः डकारादेश नहीं होता।

बनाया कि केवल 'नाम्' के नकार को ही ष्टुत्वनिषेध से मुक्त नहीं करना चाहिये, अपितु 'नवति' और 'नगरी' शब्दों को भी ष्टुत्वनिषेध से मुक्त कर देना चाहिये। वार्तिक में पुनः 'नाम्' का ग्रहण अनुवादार्थ है। उस के ग्रहण न करने से उस का बाध हो जाता; क्योंकि वार्तिक सूत्र का बाधक होता है।

इन के उदाहरण यथा—१ 'षण्णाम्'। [छः का] 'षड्+नाम्' ['षष्' शब्द से षष्ठी का बहुवचन 'आम्' प्रत्यय करने पर 'षष्+ आम्'। 'ष्णान्ता षट्' (२६७) से 'षष्' की षट् सञ्ज्ञा होकर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) से 'आम्' को नुडागम कर 'षष्+ नाम्'। अब 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) से पद सञ्ज्ञा हो 'झलाञ्जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार करने से 'षड्+नाम्' रूप बनता है।] यहां 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) सूत्र में ष्टुत्व निषेध से 'नाम्' को मुक्त कर देने के कारण पदान्त टवर्ग = डकार से परे नकार को 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व = णकार हो, 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (११) वार्तिक द्वारा डकार को भी णकार करने से 'षण्णाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

२ 'षण्णवतिः'। [छियानवे] 'षड्+ नवति' ['षडधिका नवतिः' या 'षट् च नवतिश्च' इस विग्रह में क्रमशः तत्पुरुष और द्वन्द्व करके पर विभक्तियों का लुक् हो 'षड्+ नवति' होता है। यहां उसी का ग्रहण है।] 'अनाम्नवति—'(१०) इस वार्तिक में ष्टुत्व-निषेध से 'नवति' के मुक्त हो जाने के कारण यहां पदान्त टवर्ग = डकार से परे नकार को 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व= णकार हो कर 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (६८) सूत्र द्वारा डकार को भी विकल्प करके णकार करने पर विभक्ति लाने से 'षण्णवतिः' तथा 'षड्णवतिः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

३ 'षण्णगर्यः'। [छः नगरियां हैं] 'षड्+नगर्यः' 'अनाम्नवति–' (१०) इस वार्तिक में ष्टुत्व-निषेध से 'नगरी' के भी मुक्त हो जाने के कारण यहां पदान्त टवर्ग=डकार से परे नकार को 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व=णकार हो, 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (६८) सूत्र द्वारा डकार को भी विकल्प करके णकार करने से 'षण्णगर्यः' तथा 'षड्णगर्यः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—६६ तोः षि ।८।४।४३॥

तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः।

अर्थः—षकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर षकार टवर्ग नहीं होता।

व्याख्या—तोः ।६।१। षि ।७।१। न इत्यव्ययपदम्। ['न पदान्ताट्टोरनाम्' से]

ष्टुः ।१।१। ['ष्टुना ष्टुः' से] । अर्थः—[षि] षकार परे होने पर [तोः] तवर्ग के स्थान पर [ष्टुः] षकार टवर्ग [न] नहीं होता । यह सूत्र 'ष्टुना ष्टुः' (६४) का अपवाद है ।

उदाहरण यथा—'सन् + षष्ठः' यहां षकार के योग में 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से नकार को णकार प्राप्त होता है, जो अब इस सूत्र से निषेध कर देने के कारण नहीं होता । 'सन्षष्ठः' ।

(१) **नोट**—स्मरण रहे कि यद्यपि यहां 'ष्टु' की अनुवृत्ति आती है तथापि तवर्ग के स्थान पर प्राप्त टवर्ग का ही इस सूत्र से निषेध होता है, क्योंकि षकार तो टवर्ग के स्थान पर प्राप्त ही नहीं होता । जो प्राप्त नहीं उस का पुनः निषेध कैसे सम्भव हो सकता है ? ।

(२) **नोट**—यद्यपि यह सूत्र भी 'शात्' (६३) सूत्र के समान 'ष्टुना ष्टुः' की दृष्टि में असिद्ध है, तथापि वचनसामर्थ्य से उस का यह अपवाद है । ['अपवादो वचनप्रामाण्यात्' इति भाष्यम् ।] ।

अभ्यास (१५)

(१) इन अधोलिखितरूपों में सन्धिविच्छेद कर सन्धि-विधायक सूत्र लिखो ?

१. न पदान्ताट्टोरनाम् । २. कृषीष्ट । ३. गरुत्माण्डयते । ४. टिड्ढाणञ्— । ५. पेष्टुम् । ६ सोमसुड्ढौकसे । ७ दृष्टः । ८. अजुर्नष्टंकरोति ।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्र-निर्देश-पूर्वक सन्धि करो—

१ भवान् + षण्ढः । २ हरिस् + षडङ्गमधीते । ३ परिव्राट्+साधुः । ४ सोमसुत्+ षडङ्गमधीते । ५ अग्निचित्+ठकार । ६ राट्+नगरी ।

(३) 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) की दृष्टि में 'तोः षि' (८।४।४३) सूत्र असिद्ध है ; तो किस प्रकार यह उस का अपवाद हो सकता है ? ।

—०:❀:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—६७ झलां जशोऽन्ते । ८ । २ । ३९ ॥

पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः ।

अर्थः—पद के अन्त में वर्तमान झलों के स्थान पर जश् हों ।

व्याख्या—पदस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अन्ते । ७ । १ । झलाम् । ६ । ३ । जशः । १ । ३ । अर्थः—[पदस्य] पद के [अन्ते] अन्त में [झलाम्] झलों के स्थान पर [जशः] जश् हो जाते हैं । भाव—झल् प्रत्याहार में वर्गों के चौथे, तीसरे, दूसरे, पहले तथा ऊष्म वर्ण आते हैं । ये वर्ण यदि पद के अन्त में स्थित होंगे तो इनके स्थान पर 'जश्' अर्थात् वर्गों के तीसरे वर्ण हो जाएंगे । 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से जिस २ का जिस

र के साथ स्थान तुल्य होगा; उस र के स्थान पर वह र आदेश होगा। यहां हम सम्पूर्ण वर्णों की तालिका नीचे दे देते हैं—

झल् वर्ण (जिन के स्थान पर 'जश्' होता है)					स्थान	जश् वर्ण (जो आदेश होते हैं।)
झ्	ज्	छ्	च्	श्	तालु	ज्
भ्	ब्	फ्	प्		ओष्ठ	ब्
घ्	ग्	ख्	क्	ह्*	कण्ठ	ग्
ढ्	ड्	ठ्	ट्	ष्	मूर्धा	ड्
ध्	द्	थ	त्	स्†	दन्त	द्

उदाहरण यथा—१ 'वागीशः'। [बृहस्पति] 'वाक्+ईश'। वाचामीशः=वागीशः। षष्ठीतत्पुरुषः। यहां समास में विभक्तियों का लुक् होने पर 'चोः कुः' (३०६) से पदान्त चकार को ककार हो जाता है। यहां इस सूत्र से पदान्त ककार के स्थान पर जश्=गकार हो कर विभक्ति आने से 'वागीशः' सिद्ध होता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

२. सुप्+अन्त=सुबन्तः। [सुप् अन्ते यस्य स सुबन्तः।] ३. तिप्+अन्त=तिबन्तः। [तिप् अन्ते यस्य स तिबन्तः।] ४. समिध्+अत्र=समिदत्र। ५. समिध्+आधानम्=समिदाधानम्। ६. सम्राट्+इच्छति=सम्राडिच्छति। ७. विद्युत्+गच्छति=विद्युद् गच्छति। ८. त्रिष्टुभ्+आदि=त्रिष्टुबादिः। ९. अनुष्टुभ्+एव=अनुष्टुबेव। १०. वाक्+अत्र=वागत्र। ११. जगत्+ईश=जगदीशः। [जगत ईशः=जगदीशः] १२. अग्निमथ्+भ्याम्=अग्निमद्भ्याम्। १३. षष्+आगच्छन्ति=षडागच्छन्ति। १४. अप्+ज=अब्जम्। [अद्भ्यो जायत इत्यब्जम्]।

इस सूत्र का फल प्रायः तभी दिखाई देता है जब झलों से परे 'खर्' न हों। खर् परे होने पर इस के किये कार्य को 'खरि च' (७४) नष्ट कर देता है। यथा—'जगत्+तिष्ठति' यहां 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से त् को द् हो 'खरि च' (७४) से पुनः 'त्' हो गया है। इस लिये यह अश् प्रत्याहार परे होने पर लगेगा।

ध्यान रहे कि इस सूत्र की दृष्टि में 'खरि च' (८।४।५५) तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) आदि सूत्र असिद्ध हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में यह असिद्ध नहीं।

---

* 'हो ढः' (२५१) आदि 'ह्' के जश्त्व को बांध लेते हैं।

† 'ससजुषो रुः' (१०५) पदान्त में 'स्' के जश्त्व को बांध लेता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—६८ यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा । ८।४।४५॥

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः, एतद् मुरारिः ।

अर्थः—अनुनासिक परे होने पर पदान्त यर् के स्थान पर विकल्प करके अनुनासिक हो जाता है ।

व्याख्या—पदान्तस्य । ६।१। ['न पदान्ताट्टोरनाम्' से विभक्तिविपरिणाम कर के ।] यरः ।६।१। अनुनासिके ।७।१। अनुनासिकः ।१।१। 'वा' इत्यव्ययपदम् । अर्थः—[अनुनासिके] अनुनासिक परे होने पर [पदान्तस्य] पदान्त [यरः] यर् के स्थान पर [वा] विकल्प कर के [अनुनासिकः] अनुनासिक हो जाता है । जो वर्ण मुख और नासिका दोनों से बोला जाय उसे 'अनुनासिक' कहते हैं । [देखो सञ्ज्ञाप्रकरण में 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' (६)] अनुनासिक अच् और हल् दोनों प्रकार के होते हैं । पदान्त यर् से परे अनुनासिक अच् कहीं नहीं देखा जाता; अतः यहां हल् अनुनासिकों का ग्रहण होगा । हल् अनुनासिक पाञ्च हैं—१ ङ् । २ ञ् । ३ ण् । ४ न् । ५ म् । इन पाञ्च वर्णों में से किसी वर्ण के परे होने पर पदान्त यर् को विकल्प कर के अनुनासिक होगा । 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से वही अनुनासिक होगा; जिसका यर् के साथ स्थान तुल्य होगा । यथा—तवर्ग को न्, कवर्ग को ङ्, चवर्ग को ञ्, टवर्ग को ण्, पवर्ग को म् ।

उदाहरण यथा—'एतद्+मुरारि' [एतस्य मुरारिः=एतद्मुरारिः, षष्ठीतत्पुरुषः । अथवा—एष मुरारिः= एतद्मुरारि, कर्मधारयसमासः ।] यहां समास में विभक्तियों का लुक् हो चुकने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) की सहायता से 'सुप्तिङन्तम्पदम्' (१४) द्वारा एतद् की पद-सञ्ज्ञा हो जाती है; इस प्रकार दकार पद का अन्त ठहरता है । इस से परे मकार 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' (६) के अनुसार अनुनासिक है । इस के परे होने पर अब दकार=यर् को अनुनासिक करना है । 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से दकार को नकार ही अनुनासिक होगा ['लृतुलसानां दन्ताः'] । तो इस प्रकार दकार को विकल्प कर के अनुनासिक नकार हो कर विभक्ति लाने से "एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः" ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ अग्निचित् + नयति=अग्निचिद् + नयति [झलां जशोऽन्ते] = अग्निचिन्नयति । २ तद् + न=तन्न । ३ दिग्+नाग=दिङ्नागः । इसी प्रकार—'क्त्रेर्मम् नित्यम्', 'नद्याम्नीभ्यः' 'आण् नद्याः' इत्यादि ।

यर् प्रत्याहार में अन्तःस्थ वर्ण, सब वर्गों के वर्ण तथा श्, ष्, स्, वर्ण आते हैं। यद्यपि वर्गों के वर्णों के अतिरिक्त इन सब वर्णों के उदाहरण इस सूत्र पर नहीं मिल सकते; [क्यों कि 'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति' और य् व् पदान्त नहीं मिलते] तथापि यहां 'यर्' ग्रहण अग्रिम 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) 'अनचि च' (१८) आदि सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये है और यहां कोई दोष भी नहीं आता।

पदान्त ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—'शङ्कुध्मः' आदि में अपदान्त यरों को अनुनासिक न हो।

[लघु०] वा—११ प्रत्यये भाषायां नित्यम् ॥

तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

अर्थः—लोक में अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर पदान्त यर् को नित्य अनुनासिक हो जाता है।

व्याख्या—प्रत्यये। ७। १। भाषायाम्। ७। १। नित्यम्। १। १। यह वार्त्तिक 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (६८) सूत्र पर भाष्य में पढ़ा गया है; अतः तद्विषयक ही समझना चाहिये। इस लिये इस का ऐसा अर्थ होगा—(भाषायाम्) लोक में (अनुनासिके) अनुनासिकादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (यरः) यर् के स्थान पर (नित्यम्) नित्य (अनुनासिकः) अनुनासिक हो जाता है।

उदाहरण यथा—'तन्मात्रम्' [उतना ही]। 'तद् + मात्र' [तत् प्रमाणं यस्येति तन्मात्रम्, 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (११६४) इति मात्रच्-प्रत्ययः।] यहां 'मात्रच्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होने से 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' (७२१) द्वारा तद् शब्द से परे सु प्रत्यय का लुक् हो जाता है; अतः 'एतद्मुरारिः' प्रयोग-गत 'एतद्' शब्द की तरह यहां दकार पदान्त है। इस पदान्त दकार=यर् से परे 'मात्रच्' यह अनुनासिकादि प्रत्यय किया गया है; अतः दकार को तत्सदृश नकार नित्य अनुनासिक हो कर विभक्ति लाने से 'तन्मात्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'चिन्मयम्' [चेतनस्वरूप]। 'चित्+मय' [चिदेव चिन्मयम्, 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' (१११०) इत्यत्र 'नित्यम्' इति योग-विभागात् स्वार्थे मयट्।] यहां 'मयट्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होने से 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' (७२१) द्वारा सु प्रत्यय का लुक् हो जाता है; अतः तकार पदान्त है। इस पदान्त तकार को प्रथम 'झलां जशोऽन्ते' (६७) सूत्र से दकार हो कर पुनः इस वार्त्तिक से नित्य अनुनासिक नकार हो जाता है; तब विभक्ति लाने से 'चिन्मयम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि इस वार्त्तिक से भी सूत्रवत् पदान्त यर् को ही अनुनासिक विधान किया जाता है, अपदान्त यर् को नहीं। अत एव—'स्वप्नः, यत्नः, क्षुभ्नाति, बध्नाति, मृद्नाति' आदि प्रयोगों में अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर भी अपदान्त यर् को अनुनासिक नहीं होता।

नोट—यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) सूत्र की दृष्टि में यह सूत्र (८।४।४५) असिद्ध है; अतः जहां २ 'झलां जशोऽन्ते' (६७) सूत्र का विषय होगा वहां २ प्रथम जश्त्व हो कर पश्चात् अनुनासिक होगा।

अभ्यास (१६)

(१) निम्न-लिखित रूपों में सूत्र-समन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करो—

१ षण्मास्याः। २ एतन्मनोहरः। ३ इग्निषेधः। ४ तण्णकारः*। ५ त्रिष्टुम्नाम। ६ तन्न। ७ सन्मार्गः। ८ मृण्मयम्। ९ क्षुद्भिः। १० सोमसुन्नयति। ११ त्वङ्मनसी। १२ ककुबीशः। १३ ककुम्नायकः। १४ वाङ्मयम्। १५ अम्मयम्।

(२) निम्न-लिखित प्रयोगों में सूत्रोपन्यासपूर्वक सन्धि करो—

१ विपद्+मय। २ यद्+नैति। ३ तद्+ञकारः†। ४ मनाक्+हसति। ५ अप्+मात्र। ६ अग्निचित्+ङकारः। ७ कतिचित्+दिनानि। ८ मद्+नीतिः। ९ धिक्+मूर्खम्।

(३) निम्न-लिखित रूपों में सूत्र-समन्वय करते हुए सन्धि करो; अथवा सन्धि न करने का कारण बताओ।

१ वेद्+मि। २ गरुत्+मत्‡। ३ गृभ्+णाति। ४ प्रश्+न।

(४) (क) खर् परे होने पर 'झलां जशोऽन्ते' का फल क्यों नहीं प्रतीत होता?।

(ख) 'शङ्खध्मः' में अनुनासिक क्यों नहीं होता?।

(ग) सुप् न होने पर भी 'एतन्मुरारिः' में दकार कैसे पदान्त है?।

—०:※:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—६९ **तोर्लि** ।८।४।६०॥

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति। नस्यानुनासिको लः।

---

* यहां अनुनासिक-विधायक सूत्र के असिद्ध होने से प्रथम ष्टुत्व कर लेना चाहिये।

† यहां पर प्रथम श्चुत्व कर लेना चाहिये।

‡ यहां पर 'तसौ मत्वर्थे' (११८२) सूत्र से भ सञ्ज्ञा होती है। पदान्त न होने से अनुनासिक नहीं होता।

अर्थः—लकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर पर-सवर्ण आदेश होता है।

व्याख्या— तोः ।६।१। लि ।७।१। पर-सवर्णः ।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से] समासः—परस्य सवर्णः=परसवर्णः, षष्ठी-तत्पुरुषः। अर्थः—(लि) लकार परे होने पर (तोः) तवर्ग के स्थान पर (पर-सवर्णः) पर-सवर्ण आदेश होता है। भाव यह है कि तवर्ग से जब लकार परे होगा तो उसके स्थान पर—पर अर्थात् लकार का सवर्ण आदेश किया जायगा। लकार का लकार के सिवाय अन्य कोई सवर्ण नहीं, अतः तवर्ग के स्थान पर लकार ही आदेश होगा।

लकार दो प्रकार का होता है; एक अनुनासिक (लँ) और दूसरा अननुनासिक (ल्)। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) के अनुसार तवर्गस्थ अनुनासिक वर्ण के स्थान पर अनुनासिक लकार तथा अननुनासिक वर्ण के स्थान पर अननुनासिक लकार होगा। तवर्ग में नकार के सिवाय अन्य कोई अनुनासिक नहीं; अतः केवल नकार के स्थान पर ही अनुनासिक लकार तथा शेष तवर्गीय वर्णों के स्थान पर अननुनासिक लकार होगा। उदाहरण यथा—

'तल्लयः'। [उस में नाश व उस का नाश] 'तद् + लय' [तस्मिँस्तस्य वा लयः= तल्लयः, सप्तमीतत्पुरुषः षष्ठी-तत्पुरुषो वा।] यहां तवर्ग=दकार से परे लकार विद्यमान है, अतः दकार के स्थान पर पर-सवर्ण=लकार कर के विभक्ति लाने से 'तल्लयः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'विद्वाल्ँ लिखति'। [विद्वान् लिखता है।] 'विद्वान् + लिखति' इस दशा में 'तोर्लि' (६६) सूत्र से नकार को पर-सवर्ण लकार आदेश होता है, परन्तु नकार के अनुनासिक होने से लकार भी अनुनासिक आदेश हो कर 'विद्वाल्ँ लिखति' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसके कुछ अन्य उदाहरण यथा—

३. विपद् + लीन=विपल्लीनः। ४. कश्चिद् + लभते=कश्चिल्लभते। ५. कुशान्+ लुनाति = कुशाल्ँ लुनाति। ६. महान् + लाभः=महाल्ँ लाभः। ७. उद्+लेख=उल्लेखः। ८. धनवान् + लुनीते=धनवाल्ँ लुनीते। ९. हनुमान्+ लङ्कां दहति=हनुमाल्ँ लङ्कां दहति। १०. हसन्+लेढि = हसल्ँ लेढि। ११. जगद्+लीयते=जगल्लीयते। १२. तद् + लीला= तल्लीला। १३. तद्+लीन=तल्लीनः। १४. यद्+लक्षणम्=यल्लक्षणम्। १५. चिद्+ लयः=चिल्लयः। इत्यादि*।

ध्यान रहे कि यह सूत्र 'झलां जशोऽन्ते' (६७) की दृष्टि में असिद्ध है; अतः जहां २

* 'तस्मात्+लृकारात्' इत्यादि में 'तोर्लि' (६६) प्रवृत्त नहीं होगा, क्योंकि इस में 'ल'-सदृश है, 'ल' नहीं। केवल जश्त्व ही होगा 'तस्माद् लृकारात्'।

उस का विषय होगा वहां २ प्रथम जश्त्व हो कर पश्चात् 'तोर्लि' (६६) सूत्र प्रवृत्त होगा। यथा—जगत् + लीयते=जगद् + लीयते=जगल्लीयते ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७० उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य ।८।४।६१॥

उदः परयोः स्था-स्तम्भोः पूर्व-सवर्णः ।

अर्थः—'उद्' से (परे) स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण हो ।

व्याख्या—उदः ।५।१। स्था-स्तम्भोः ।६।२। पूर्वस्य ।६।१। सवर्णः ।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से*] अर्थः—(उदः) 'उद्' उपसर्ग से (स्था-स्तम्भोः) स्था और स्तम्भ् के स्थान पर (पूर्वस्य) पूर्व का (सवर्णः) सवर्ण आदेश होता है ।

'उदः' यहां दिग्योग में पञ्चमी है; अर्थात् 'उद्' से किसी दिशा में स्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण होगा। वर्णों में दो ही दिशा सम्भव हो सकती हैं, एक पर और दूसरी पूर्व। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या 'उद्' से पूर्वस्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण हो या परस्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण हो? किञ्च—यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या व्यवधान से रहित पूर्व या पर स्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण हो या व्यवहित पूर्व या पर स्थित स्था और स्तम्भ् को भी पूर्वसवर्ण हो ?। इन शङ्काओं की निवृत्ति के लिये अग्रिम परिभाषा-सूत्र लिखते हैं ।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—७१ तस्मादित्युत्तरस्य ।१।१।६६॥

पञ्चमी-निर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् ।

अर्थः—पञ्चम्यन्त के निर्देश से क्रियमाण कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पर के स्थान पर जानना चाहिये ।

व्याख्या—तस्माद् इति पञ्चम्यन्तानुकरणं लुप्तपञ्चम्येकवचनान्तम् । ['उदः स्था-स्तम्भोः' आदि सूत्रों में स्थित 'उदः' आदि पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण यहां 'तस्मात्' शब्द से किया गया है, इस के आगे पञ्चमी के एकवचन का 'सुपां सुलुक्——'(७।१।३९)

---

* यद्यपि 'अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः' सूत्र में 'पर-सवर्णः' है, तथापि अनुवृत्ति केवल 'सवर्णः' की ही आती है। इस का कारण यह है कि अनुवृत्ति अधिकृत पदों की ही आया करती है और अधिकृति 'स्वरितेनाधिकारः' (१।३।११) इस सूत्र से स्वरित-स्वर के बल से होती है। पूर्व समय में उक्त सूत्र में स्वरित-स्वर केवल 'सवर्ण.' पर था, 'पर' पर नहीं। यद्यपि अब स्वरितादि-स्वर-चिह्न नहीं रहे; तथापि 'प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः' की तरह 'प्रतिज्ञास्वरिता· पाणिनीयाः' भी जानना चाहिये। अथवा 'पर' में षष्ठी का लोप समझना चाहिये ।

सूत्र से लुक् हुआ समझना चाहिये ।] इति इत्यव्ययपदम् । निर्दिष्टात् ।५।१। ['तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' सूत्र से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा] उत्तरस्य ।६।१। अर्थः—(तस्माद् इति निर्दिष्टात्) 'उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य' आदि सूत्रों में स्थित 'उदः' आदि पञ्चम्यन्त पदों के निरन्तर उच्चारण किये गये अर्थों से (उत्तरस्य) परले के स्थान पर कार्य होता है ।

पञ्चम्यन्त पदों के अर्थों का निरन्तर उच्चारण तभी हो सकता है जब उन से अव्यवहित [व्यवधान-रहित] उत्तर को कार्य्य हो; अतः यह सुतराम् आ जाता है कि सूत्रों में स्थित पञ्चम्यन्त पदों के अर्थों से अव्यवहित पर को कार्य हो । इस सूत्र की विशेष व्याख्या 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१६) सूत्र के समान समझ लेनी चाहिये । हम यहां पिष्ट-पेषण करना नहीं चाहते ।

इस सूत्र से अन्ततो गत्वा यह ज्ञात होता है कि उदाहरणों में पञ्चम्यन्त पद के अर्थ से अव्यवहित पर को ही कार्य हो, पूर्व को अथवा व्यवहित पर को कार्य न हो। यथा—'उद् + प्रस्थानम्' यहां यद्यपि 'उद्' से 'स्था' परे है, तथापि 'प्र' शब्द का मध्य में व्यवधान होने से 'उदः स्थास्तम्भोः०' (७०) सूत्र द्वारा पूर्व-सवर्ण नहीं होता । इसी प्रकार 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) [अतिङन्त से तिङन्त को निघात अर्थात् सर्वानुदात्तस्वर हो ।] सूत्र 'ईडे अग्निम्' में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि 'अग्निम्' इस अतिङन्त पद से 'ईडे' यह तिङन्त पद परे नहीं; पूर्व में वर्त्तमान है ।

यह परिभाषा-सूत्र है । परिभाषाएं प्रयोगसिद्धि में स्वतन्त्रतया कुछ कार्य नहीं किया करतीं, अपितु सूत्रों के अर्थों में मिश्रित हो कर प्रयोगसिद्धि किया करती हैं; यह हम पीछे लिख चुके हैं । इस के अनुसार यह परिभाषा भी 'उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य' (७०) आदि सूत्रों के साथ मिल कर एकार्थ उत्पन्न करेगी । तो अब 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (७०) सूत्र का यह अर्थ हो जायगा—'उद्' से अव्यवहित पर स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण आदेश हो । इसी प्रकार 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) सूत्र का यह अर्थ होगा—अतिङन्त पद से अव्यवहित पर तिङन्त के स्थान पर निघात अर्थात् सर्वानुदात्त-स्वर हो ।

'उद्+स्थान' 'उद्+स्तम्भन' इन दोनों स्थानों पर 'उद्' से परे अव्यवहित स्था और स्तम्भ् विद्यमान हैं; अतः इन के स्थान पर पूर्व-सवर्ण करना है । अब 'स्था-स्तम्भोः' के षष्ठ्यन्त होने से 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र से इन के अन्त्य अल् के स्थान पर पूर्व-सवर्ण प्राप्त होता है; इस पर 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) के अपवाद अग्रिम सूत्र को लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—७२ आदेः परस्य ।१।१।५३॥

परस्य यद् विहितं तत् तस्यादेर्बोध्यम् । इति सस्य थः ।

अर्थः—पर के स्थान पर जो कार्य विधान किया जाता है, वह कार्य उस (पर) के के आदि वर्ण के स्थान पर समझना चाहिये ।

व्याख्या—आदेः ।६।१। अलः ।६।१। ['अलोऽन्त्यस्य' सूत्र से] परस्य ।६।१। अर्थः—(परस्य) पर के स्थान पर विधान किया कार्य (आदेः) उसके आदि (अलः) अल् के स्थान पर होता है । यहां सूत्रार्थ अनुकूल पदों का अध्याहार कर के ही किया जाता है ।

'उद् + स्थानम्' 'उद् + स्तम्भनम्' यहां 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) परिभाषा की सहायता से, 'उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य' (७०) सूत्र द्वारा परले स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण होना था; अब वह इस परिभाषा द्वारा परले के आदि अर्थात् सकार को होगा ।

अब यहां यह विचार प्रस्तुत होता है कि स् को पूर्व (द्कार) का कौन सवर्ण हो ? क्योंकि पूर्व (द्कार) का एक सवर्ण नहीं किन्तु पाञ्च सवर्ण हैं—'त्, थ्, द्, ध्, न्' । इस सन्देह की निवृत्ति के लिये 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र उपस्थित हो कर कहता है कि 'प्राप्त हुए आदेशों में अत्यन्त सदृश आदेश हो' । इसके अनुसार अब हमें 'त्, थ्, द्, ध्, न्' इन पाञ्च वर्णों में से सकार के अत्यन्त सदृश वर्ण ढूंढना है । यदि यहां स्थानकृत आन्तर्य (सादृश्य) देखते हैं तो वह 'लृतुलसानां दन्ताः' के अनुसार सब में समान है; अतः इस आन्तर्य से काम नहीं निकल सकता । अर्थकृत और प्रमाणकृत सादृश्य तो इन में हो नहीं सकते । अतः अब शेष बचे गुणकृत आन्तर्य अर्थात् यत्नों द्वारा सादृश्य से ही परीक्षा करेंगे । यत्न—आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के होते हैं । इन में प्रथम आभ्यन्तर-यत्न तो सकार के साथ उन पाञ्चों में से किसी का नहीं मिलता; क्योंकि 'ईषद्विवृतमूष्मणाम्' के अनुसार सकार का 'ईषद्विवृत' और उन पाञ्चों का 'तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्' के अनुसार 'स्पृष्ट' है । अतः बाह्य-यत्नों की ही परीक्षा करते हैं । सकार का 'विवार, श्वास, अघोष और महा-प्राण' बाह्य-यत्न है ।

इन पाञ्चों के निम्नप्रकार से बाह्य-होते हैं—

त्............	विवार ,	श्वास ,	अघोष ,	अल्प-प्राण ।
थ्............	,,	,,	,,	महाप्राण ।
द्............	संवार ,	नाद ,	घोष ,	अल्प-प्राण ।
ध्............	,,	,,	,,	महाप्राण ।
न्............	,,	,,	,,	अल्प-प्राण ।

इन पाञ्चों में थकार के सिवाय अन्य कोई सकार के तुल्य बाह्य-यत्नों वाला नहीं; अतः सकार के स्थान पर पूर्व-सवर्ण थकार ही होता है—'उद् थ्थान, उद् थ्तम्भन' । अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७३ झरो झरि सवर्णे ।८।४।६५॥

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि ।

अर्थः—सवर्ण झर् परे हो तो हल् से परे झर् का विकल्प कर के लोप हो जाता है।

व्याख्या—हलः ।५।१। ['हलो यमां यमि लोपः' से] झरः ।६।१। लोपः ।१।१। ['हलो यमां यमि लोपः' से] अन्यतरस्याम् ।७।१। ['झयो होऽन्यतरस्याम्' से] सवर्णे ।७।१। झरि ।७।१। अर्थः—(हलः) हल् से* (झरः) अव्यवहित पर झर् का (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (लोपः) लोप हो जाता है यदि (सवर्णे) सवर्ण (झरि) झर् परे हो तो।

यहां निमित्त† और स्थानियों‡ का यथासङ्ख्य नहीं होता; अर्थात् यहां 'झ् का झ् परे होने पर, भ् का भ् परे होने पर, घ् का घ् परे होने पर, ढ् का ढ् परे होने पर' इत्यादि क्रम से लोप नहीं होता; क्योंकि यदि ऐसा अभीष्ट होता तो पाणिनि जी 'झरो झरि' इतना ही सूत्र बनाते 'सवर्णे' पद का ग्रहण न करते, अतः विदित होता है कि वे सवर्ण झर् मात्र परे होने पर झर् का लोप चाहते हैं। इसका प्रयोजन 'उद् थ् तम्भन' आदि प्रयोगों में थकार आदि का लोप करना है।

'उद् थ् थान' 'उद् थ् तम्भन' यहां इस सूत्र से झर् = प्रथम थकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है, क्योंकि इस से परे थकार और तकार क्रमशः सवर्ण झर् विद्यमान हैं।

लोप-पक्षे		लोपाभाव-पक्षे	
१. उद्	थान।	१ उद्	थ् थान।
२. उद्	तम्भन।	२ उद्	थ् तम्भन।

अब इन सब स्थानों पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७४ खरि च ।८।४।५५॥

खरि झलां चरः स्युः । इत्युदो दस्य तः । उत्थानम् । उत्तम्भनम् ।

---

*हल् से परे झर् का लोप विहित होने से 'पत्त्रम्, दत्त्वा, तत्त्वम्, सत्त्वम्, कित्त्वम्, ङित्त्वम्, मित्त्रम्, क्षत्त्रियः, छत्त्रम्, छात्त्रः, पुत्त्रः' इत्यादि में 'त्' का और 'वाग्ग्मी' में 'ग' का लोप नहीं होगा। जो लोग-पत्र, तत्व, कित्व, वाग्मी आदि रूप लिखते हैं, वे अपाणिनीय हैं।

† जिस के होने पर कोई कार्य हो उसे 'निमित्त' कहते हैं। यथा 'इको यणचि' (१५) में अच् परे होने पर इक् को यण् होता है तो यहां 'अच्' निमित्त है। 'झरो झरि सवर्णे' (७३) सूत्र में झर् परे होने पर झर् का लोप कहा गया है तो यहां परला 'झर्' निमित्त है।

‡ जिस के स्थान पर कुछ किया जाता है उसे 'स्थानी' कहते हैं। यथा—'झरो झरि सवर्णे' (७३) में झर् के स्थान पर लोप विहित होने से 'झर्' स्थानी है; इसी प्रकार 'इको यणचि' (१५) आदि में इक् आदि स्थानी हैं।

अर्थः— खर् प्रत्याहार परे होने पर झलों के स्थान पर चर् हो जाता है। इस सूत्र से 'उद्' के दकार को तकार हो गया।

व्याख्या— खरि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । झलाम् ।६।३। ['झलां जश् झशि' से] चरः ।१।३। ['अभ्यासे चर् च' से वचन-विपरिणाम कर के] अर्थः—(खरि) खर् प्रत्याहार परे होने पर (झलाम्) झलों के स्थान पर (चरः) चर् हो जाते हैं।

वर्गों के प्रथम, द्वितीय तथा श, ष, स वर्ण—'खर्' कहाते हैं। वर्गों के प्रथम तथा श्, ष्, स् वर्ण—'चर्' कहाते हैं। वर्गों के पञ्चम वर्णों को छोड़ कर शेष सब वर्गस्थ वर्ण तथा ऊष्म-वर्ण—'झल्' प्रत्याहार के अन्तर्गत हो जाते हैं।

'श्, ष्, स्' इन झलों के स्थान पर 'श्, ष्, स्' ही चर् होते हैं। यथा—'निश्चयः, रामश्चिनोति' यहां चकार खर् परे होने पर शकार झल् को शकार चर् ही हुआ है। 'वृष्टिः, वृष्टः, दृष्टिः, दृष्टः' यहां टकार खर् परे होने पर षकार झल् को षकार चर् ही हुआ है। 'अस्ति, अस्तु, स्तः, परास्तः, रामस्स्य' यहां खर् परे होने पर सकार झल् को सकार चर् ही हुआ है।

झल् प्रत्याहारान्तर्गत हकार से परे कभी खर् नहीं आता; क्योंकि खर् से पूर्व हकार को सदैव 'हो ढः' (२५१) द्वारा ढकार हो जाता है।

प्रश्नः—यदि 'श्, ष्, स्' के स्थान पर 'श्, ष्, स्' ही होते हैं और हकार की जरूरत ही नहीं; तो झल् की बजाय झय् और चर् की बजाय चय् ही क्यों नहीं कह देते?।

उत्तर—'खरि च' (७४) सूत्र में झल् और चर् की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है, उसी से यहां काम चल जाता है; अब यदि झय् और चय् कहेंगे तो पिछले किसी सूत्र से अनुवर्त्तन न होने के कारण यहां ही उनका ग्रहण करना पड़ेगा, इस से लाघव की बजाय गौरव-दोष ही उत्पन्न होगा; अतः इन अनुवर्तित झल् और चर् पदों से ही काम चलाने में लाघव है, किञ्च इन के ग्रहण से कोई दोष तो उत्पन्न होता ही नहीं।

'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र द्वारा जिस झल् का जिस चर् के साथ साम्य होगा, वही उसी के स्थान पर आदेश होगा। इस सब की तालिका निम्न प्रकार से समझनी चाहिये—

झल् (वे वर्ण जिन के स्थान पर आदेश होते हैं।)	साम्य स्थान	चर् (आदेश होने वाले वर्ण)
घ , ग् , ख् , क्	कण्ठ	क्
झ् , ज् , छ् , च	तालु	च्
ढ् , ड् , ठ् , ट्	मूर्धा	ट्
ध् , द् , थ , त	दन्त	त्
भ् , ब् , फ् , प्	ओष्ठ	प्
श्		
ष्		
स्		

भावः—वर्गों के दूसरे, तीसरे तथा चौथे वर्णों को वर्गों के प्रथम वर्ण हो जाते हैं, यदि उन से परे वर्गों के पहले, दूसरे तथा श् , ष् , स् , वर्ण हों तो।

अब इस सूत्र से—

१. उद् थ् थान	१. उद् थान
२. उद् थ् तम्भन	२. उद् तम्भन

इन चारों स्थानों पर 'उद्' के दकार को तकार हो जाता है। तो इस प्रकार—

लोपाभावे	लोप-पक्षे
१. उत्थ्थानम्	१. उत्थानम्
२. उत्थ्तम्भनम्	२. उत्तम्भनम्

ये दो २ रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—ध्यान रहे कि 'उत्थ्थानम्, उत्थ्तम्भनम्' इन लोपाभाव वाले रूपों में 'उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य' (८।४।६१) सूत्र द्वारा किये गये पूर्व-सवर्ण के असिद्ध होने से 'खरि च' (८।४।५५) द्वारा थकार को तकार नहीं होता। [विशेष 'सिद्धान्त-कौमुदी' तथा उस की टीकाओं में देखें।]

अभ्यास (१७)

(१) सूत्र-समन्वय करते हुए सन्धि करो—

१. भेद् + तुम्। २. शिण्ड् + हि। ३. उद् + स्थापयति। ४. भगवान्+लक्ष्ते। ५. छेद् + तव्यम्। ६. रुन्द् + धः। ७. प्रत् + त्तम्। ८. लिभ् + सा। ९. उद् + स्तम्भते। १०. उद् + स्थितः। ११. बनूद्+धुम्। १२. उद् + स्तम्भितुम्।

(२) सूत्रोपपत्तिपूर्वक सन्धिच्छेद करो—

१. पिण्ढि । २. भिन्तः । ३. युद्ध । ४. उत्थाय । ५. उत्तम्भिता । ६. युयुत्सवः । ७. अग्निमत्सु । ८. अत्तः । ९. रुन्धः । १०. ऊर्गीयते* । ११. अवत्तम् । १२. उत्थातव्यम् । १३. आरिप्सते । १४. निबन्धा [तृच्] ।

(३) 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र में 'सवर्ण' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? उदाहरण दे कर स्पष्ट करें ।

(४) 'तोर्लि' सूत्र द्वारा नकार को अनुनासिक लकार क्यों होता है ? अननुनासिक ही हो जाय ।

(५) खर् परे होने पर श्, ष् , स् के स्थान पर कौन २ से चर् होंगे ? ।

(६) निमित्त, स्थानी और आदेश किसे कहते हैं ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(७) 'आदेः परस्य' और 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषाओं का क्या अर्थ है ? और यह अर्थ कैसे निष्पन्न होता है ? ।

(८) निम्न लिखित प्रश्नों का उत्तर दें—

(क) खर् परे होने पर हकार के स्थान पर क्या होगा ? ।

(ख) 'उत्थ्थानम्' यहां 'खरि च' द्वारा थकार को तकार क्यों नहीं होता ? ।

(ग) 'उद् + प्रस्थानम्' में सन्धि करो ।

—०:❀:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७५ झयो होऽन्यतरस्याम् ।८।४।६२॥

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः । नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थः । वाग्घरिः । वाग्हरिः ।

अर्थः—झय् से परे हकार को विकल्प करके पूर्व-सवर्ण हो ।

नादस्येति—नाद, घोष, संवार और महाप्राण यत्न वाले हकार के स्थान पर वैसा वर्गों का चतुर्थ होगा ।

व्याख्या—झयः ।५।१। हः ।६।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। ['उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' से] सवर्णः ।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से] अर्थः—(झयः) झय् से अव्यवहित पर (हः) 'ह्' के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (पूर्वस्य) पूर्व का (सवर्णः) सवर्ण आदेश होता है । भावः—झय् प्रत्याहार में पञ्चम वर्णों को छोड़ कर शेष सब वर्गस्थ वर्ण आ जाते हैं । इन से परे हकार हो तो उस के स्थान पर पूर्व (झय्) का सवर्ण (चतुर्थ) आदेश हो जाता है ।

---

* ऊर्ज् + गीयते = ऊर्ग् + गीयते = ऊर्गीयते ।

उदाहरण यथा—'वाग्घरिः' (वाणी का शेर अर्थात् बोलने में चतुर)। 'वाक्+हरि' यहां प्रथम 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ककार को गकार आदेश हो—'वाग् + हरि'। अब यहां झय् गकार है, इस से परे हकार के स्थान पर पूर्व अर्थात् गकार का सवर्ण आदेश करना है। गकार के—क् , ख् , ग् , घ् , ङ् ये पाञ्च सवर्ण हैं। इन में से यहां कौन हो? ऐसी शङ्का उत्पन्न होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र उपस्थित हो कर कहता है कि जो हकार के साथ अत्यन्त सदृश हो वही हकार के स्थान पर आदेश किया जाय। अब यदि स्थानकृत आन्तर्य देखते हैं तो हकार के सब सदृश ठहरते हैं, क्योंकि, 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार हकार और कवर्ग दोनों का कण्ठ स्थान है। अर्थकृत तथा प्रमाणकृत आन्तर्य तो यहां हो ही नहीं सकते। अतः अब शेष बचे गुणकृत आन्तर्य (अर्थात् यत्नों द्वारा सादृश्य) से ही सदृशता जांचेंगे। आभ्यन्तर यत्न तो इन का हकार के साथ तुल्य हो नहीं सकता। 'ईषद्विवृतमूष्मणाम्' के अनुसार हकार ईषद्विवृत तथा 'तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्' के अनुसार कवर्ग स्पृष्ट है। अतः अब बाह्य यत्न देखेंगे। हकार का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष और महाप्राण है। कवर्ग में इस प्रकार के बाह्ययत्न वाला केवल घकार ही है; इस से हकार के स्थान पर विकल्प कर के घकार हो विभक्ति लाने से पूर्वसवर्णपक्ष में 'वाग्घरिः' और तदभावपक्ष में 'वाग्हरिः' इस प्रकार दो रूप बन जाते हैं। वाचि वाचो वा हरि. (सिंहः)=वाग्घरिः।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ तद् + हानि = तद्धानिः। २ अच् + हीन = अज् + हीन = अज्झीनम्। ३ मधुलिड् + हसति=मधुलिड्ढसति। ४ अब् + हस्ती=अब्भस्ती। ५ अज् + ह्रस्वदीर्घप्लुतः=अज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। ६ स्याड्+ह्रस्वश्च=स्याड्ढ्रस्वश्च। ७ दिग्+हस्ती=दिग्घस्ती। ८ सम्पद्+हर्षः= सम्पद्धर्षः। ९ रत्नमुड् + हरति = रत्नमुड्ढरति। १० वणिग्+हस्ती=वणिग्घस्ती।

इन सब स्थानों पर पूर्वसवर्णाभाव-पक्ष में भी प्रयोग जान लेना चाहिये। यहां सर्वत्र हकार के स्थान पर पूर्वले अक्षर के वर्ग का चतुर्थ वर्ण ही होता है; क्योंकि आन्तर्य-परीक्षा में वह ही हकार के अत्यन्त सदृश हो सकता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७९ शश्छोऽटि। ८। ४। ६३॥

झयः परस्य शस्य छो वाऽटि। 'तद्+शिव' इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते 'खरि चे'ति जकारस्य चकारः। तच्छिवः, तच्शिवः।

अर्थः—झय् से परे शकार को विकल्प कर के छकार हो जाता है, अट् परे हो तो।

व्याख्या—झयः।५।१। ['झयो होऽन्यतरस्याम्' से] शः।६।१। छः।१।१।

अन्यतरस्याम् ।७।१। ['झयो होऽन्यतरस्याम्' से] अटि ।७।१। अर्थः—(झयः) झय् से परे (शः) 'श्' के स्थान पर (छः) छ् हो जाता है (अटि) अट् परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से ।

यह सूत्र 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) और 'खरि च' (८।४.५५) दोनों की दृष्टि में असिद्ध है । इन दोनों में भी 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) की दृष्टि में 'खरि च' (८।४।५५) असिद्ध है; अतः सब से प्रथम 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) फिर 'खरि च' (७४) तदनन्तर 'शश्छोऽटि' (७६) सूत्र प्रवृत्त होगा। उदाहरण यथा—

तद् + शिव=तज्+शिव ('स्तोः श्चुना श्चुः')='तच् शिव' ('खरि च') अब यहां झय् चकार है इस से परे शकार वर्तमान है और उस शकार से भी इकार=अट् परे है; अतः इस सूत्र से शकार को वकल्पिक छत्व हो कर विभक्ति लाने से छत्वपक्ष में 'तच्छिवः' और छत्वाभाव-पक्ष में 'तच्शिवः' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं ।

इसके अन्य उदाहरण यथा—

१. मधुलिट्+शेते=मधुलिट् छेते । २. वाक्+शेते=वाक् छेते । ३ मत्+श्वशुरः=मच्+श्वशुरः +मच्छ्वशुरः । ४ यावत+शक्यम्=यावच् + शक्यम्=यावच्छक्यम् । ५ जगत्+शान्ति=जगच्+ शान्ति=जगच्छान्तिः । ६ तद्+श्रुत्वा=तज्+श्रुत्वा=तच्+श्रुत्वा=तच्छ्रुत्वा । ७ कश्चित्+शेते= कश्चिच्+शेते=कश्चिच्छेते । ८ प्राक्+शेते=प्राक्छेते ।

नोट—यहां 'वा पदान्तस्य' (८।४।५९) सूत्र से 'पदान्तस्य' पद का भी अनुवर्तन होता है । विभक्तिविपरिणाम से वह पञ्चम्यन्त हो कर 'झयः' का विशेषण बन जाता है । इस से यह अर्थ हो जाता है—पदान्त झय् से परे शकार को छकार हो विकल्प कर के अट् परे हो तो । 'पदान्त' पद लाने का यह प्रयोजन है कि—'विश्पशम्, चक्शौ' आदियों में अपदान्त पकार-ककार दियों से परे शकार को छकार न हो जाय ।

[लघु०] वा—१२ छत्वममीति वाच्यम् ॥

तच्छ्लोकेन ।

अर्थः—पदान्त झय् से परे शकार को वैकल्पिक छकारादेश—अट् परे की बजाय अम् परे होने पर कहना चाहिये ।

व्याख्या—मुनिवर पाणिनि के 'शश्छोऽटि' (७६) सूत्र से 'तच्छ्लोकेन, तच्छ्मश्रुणा' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकते थे; क्योंकि इन में शकार से परे लकार है, लकार अट् प्रत्याहार में नहीं आता । अतः इनकी सिद्धि के लिये महामुनि कात्यायन वार्तिक रचते हुए लिखते हैं कि—(छत्वम् ।१।१।) छत्व (अमि) अम् प्रत्याहार परे होने पर हो (इति वाच्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

कात्यायन का पाणिनि के 'शश्छोऽटि' (७६) सूत्र के अन्य किसी अंश से मतभेद नहीं, केवल 'अटि' अंश से ही मतभेद है। वे चाहते हैं कि 'अटि' को हटा कर इसके स्थान पर 'अमि' कर देना चाहिये। ऐसा करने से 'तच्छ्लोकेन' आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। तथाहि—

तद्+श्लोक=तज्+श्लोक ['स्तोः श्चुना श्चुः' (६२)]=तच्+श्लोक ['खरि च' (७४)] यहां झय्=चकार से शकार परे विद्यमान है। इस से 'ल्' यह अम् परे है। अतः विकल्प कर के शकार को छकार हो कर विभक्ति लाने से छत्वपक्ष में 'तच्छ्लोकेन' और छत्वाभावपक्ष में 'तच्श्लोकेन' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। [स श्लोकः=तच्छ्लोकः, यद्वा तस्य श्लोकः=तच्छ्लोकः, तेन=तच्छ्लोकेन। उस श्लोक से]।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण यथा—

१ तच्छ्मशानम्, तच्श्मशानम्। [तच्चादश्श्मशानञ्च, अथवा तस्य श्मशानमिति विग्रहः। यद्वा व्यस्तमेवास्तु।]

२ एतच्छ्मश्रु, एतच्श्मश्रु। [एतच्चादश्श्मश्रु च, अथवा एतस्य श्मश्रु, इति विग्रहः। यद्वा व्यस्तमेवास्तु।]

३ यच्छ्नाप्रत्ययः। [यः श्नाप्रत्यय इति अथवा यस्य श्नाप्रत्यय इति विग्रहः।]

४ सोमसुच्छ्लाघा। [सोमसुतः श्लाघा इति विग्रहः।]

५ भूभृच्छ्लक्ष्णः। [भूभृच्चासौ श्लक्ष्णश्चेति विग्रहः।]

६ अग्निचिच्छ्लेष्मा। [अग्निचितः श्लेष्मेति विग्रहः।]

७ तच्छ्लिष्टः। [स चासौ श्लिष्टश्चेति विग्रहः।]

अभ्यास (१८)

(१) झय् से परे हकार को पूर्वसवर्ण वर्ग-चतुर्थ ही क्यों होता है? अन्य कोई क्यों नहीं हो जाता? सप्रमाण विवेचन करें।

(२) 'शश्छोऽटि' सूत्र में 'अटि' पद पढ़ने से क्या दोष उत्पन्न होता था? श्रीकात्यायन ने उसका क्या उपाय किया है?।

(३) "विश्नप्रश्नम्, तच्श्चुत्वम्, चक्शौ, सकृच्श्चोतति" इत्यादियों में छत्व क्यों नहीं होता?।

(४) "भवान्+हसति, प्राङ्+हसति, भगवान्+हृषीकेशः, धनवान्+हृष्टः" इत्यादि प्रयोगों में हकार को पूर्व-सवर्ण क्यों न कर दिया जाए?।

(५) श्चुत्व, चर्त्व और छत्व में कौन प्रथम और कौन पश्चात् होता है? इसका क्या कारण है?।

—०:※:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७७ मोऽनुस्वारः ।८।३।२३॥

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि । हरिं वन्दे ।

अर्थः—हल् परे हो तो मकारान्त पद के स्थान पर अनुस्वार हो जाता है ।

व्याख्या—मः ।६।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकार पीछे से आ रहा है] अनुस्वारः ।१।१। हलि ।७।१। ['हलि सर्वेषाम्' से] 'मः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः इस से 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७२) द्वारा तदन्तविधि हो कर 'मान्तस्य पदस्य' ऐसा बन जाता है । अर्थः—(हलि) हल् परे होने पर (मः=मान्तस्य) मकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (अनुस्वारः) अनुस्वार होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) द्वारा मकारान्त पद के अन्त्य अल्=मकार को ही अनुस्वार होगा ।

उदाहरण यथा—'हरिं वन्दे' (मैं हरि को नमस्कार करता हूं ।) 'हरिम् + वन्दे' यहां मकारान्त पद 'हरिम्' है; इसकी सुबन्त होने 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) द्वारा पद सञ्ज्ञा है । इस से परे 'व्' यह हल् विद्यमान है अतः मकारान्त पद के अन्त्य अल्=मकार को अनुस्वार आदेश हो कर 'हरिं वन्दे' प्रयोग सिद्ध होता है । *

इसके अन्य उदाहरण यथा—मातरम् + वन्दे=मातरं वन्दे, पुस्तकम्+पठति=पुस्तकं पठति, गुरुम्+नमति=गुरुं नमति, शत्रुम् + जयति=शत्रुं जयति । इत्यादि ।

'हल् परे होने पर' इस लिये कहा गया है कि "तम्+आगच्छति=तमागच्छति, यम्+ऋषिम्=यमृषिम्, तम् + लृकारम्=तम्लृकारम्" इत्यादि स्थानों पर अच् परे रहते अथवा अवसान में अनुस्वार न हो जाय ।

पद ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—'गम्यते, नम्यते' इत्यादि स्थानों पर हल् परे रहते हुए भी अपदान्त मकार को अनुस्वार न हो जाय ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७८ नश्चापदान्तस्य झलि ।८।३।२४॥

नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः । यशांसि । आक्रंस्यते । झलि किम् ? मन्यसे ।

अर्थः— झल् परे होने पर अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो जाता है ।

व्याख्या—नः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अपदान्तस्य ।६।१। झलि ।७।१। मः ।६।१। अनुस्वारः ।१।१। ['मोऽनुस्वारः' से] अन्वयः—अपदान्तस्य नः मः च झलि

---

* कई लोग 'हरिम्वन्दे, सम्वृत्त' इत्यादि लिखते हैं, सो ठीक नहीं; अनुस्वार आवश्यक है । हां परसवर्ण वैकल्पिक है—हरिव्ँ वन्दे, हरिं वन्दे ।

अनुस्वारः। अर्थः— (झलि) झल् परे होने पर (अपदान्तस्य) अपदान्त (नः) नकार (च) और (मः) मकार के स्थान पर (अनुस्वारः) अनुस्वार हो जाता है। उदाहरण यथा—

'यशांसि' (बहुत यश)। 'यशान्+सि' ['यशस्' शब्दाज्जसि 'जश्शसोः शिः' (२३७) इति शावादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) इति तस्य सर्वनामस्थानतायां 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) इति नुमागमे 'सान्तमहतः संयोगस्य' (३४२) इति सान्तसंयोगान्तस्योपधाया दीर्घे च कृते—'यशान्सि' इति निष्पद्यते।] यहां सकार झल् परे होने से अपदान्त नकार को अनुस्वार करने से 'यशांसि' प्रयोग सिद्ध होता है।

'आक्रंस्यते' (आक्रमण होगा)। 'आक्रम्+स्यते' [आङ्पूर्वात् 'क्रमु पादविक्षेपे' (भ्वा०) इति धातोः कर्तरि लृट्, 'आङ उद्गमने' (१।३।४०) इत्यात्मनेपदम्।] यहां अपदान्त मकार को पूर्वसूत्र से अनुस्वार प्राप्त नहीं हो सकता है; अब इस सूत्र से सकार झल् परे होने से उसे अनुस्वार हो कर 'आक्रंस्यते' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र में 'झलि' का ग्रहण इस लिये किया गया है कि—"गम्+यसे=गम्यसे, मन्+यसे=मन्यसे, हन्+यसे=हन्यसे" इत्यादि स्थानों में झल् परे न होने के कारण अनुस्वार न हो जाय।

'अपदान्तस्य' ग्रहण करने से 'राजन्पाहि, ब्रह्मन्पाहि' इत्यादियों में पदान्त नकार को अनुस्वार नहीं होता।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. पयान्+सि=पयांसि। २ आयम्+स्यते=आयंस्यते। ३. अनम्+सीत्=अनंसीत्। ४. नम्+स्यति=नंस्यति। इत्यादि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७९ अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः।८।४।५८॥

स्पष्टम्। शान्तः।

अर्थः—यय् परे होने पर अनुस्वार को पर-सवर्ण होता है।

व्याख्या—अनुस्वारस्य।६।१। ययि।७।१। पर-सवर्णः।१।१। समासः—परस्य सवर्णः=परसवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अथवा पर इति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदम्, सवर्ण इति तु स्वरितत्वादधिकृतम्। अर्थः—(ययि) यय् परे होने पर (अनुस्वारस्य) अनुस्वार के स्थान पर (पर-सवर्णः) पर-सवर्ण आदेश होता है।

भाव—सब वर्गस्थ वर्ण तथा अन्तःस्थ वर्ण यय् प्रत्याहार के अन्दर आ जाते हैं; इन के परे होने पर अनुस्वार को पर अर्थात् यय् का सवर्ण आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

'शान्तः' (शान्त व नष्ट)। 'शाम्+त' [शमु उपशमे (दिवा०), क्तः, वा दान्त-शान्तेत्यादिनिपातनान्नेट्, अनुनासिकस्य क्वीति दीर्घः।] यहां 'नश्चापदान्तस्य झलि'

(७८) सूत्र से अपदान्त मकार को अनुस्वार हो 'शांत' ऐसा बना; अब इस सूत्र से तकार यय् परे होने पर अनुस्वार को पर-सवर्ण करना है। तकार के सवर्ण—'त् , थ् , द्, ध् , न्' ये पाञ्च वर्ण हैं। इन में नासिकास्थान के सादृश्य के कारण अनुस्वार के सदृश नकार है, अतः अनुस्वार को नकार हो कर विभक्ति लाने से 'शान्तः' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—१. अन्+कित=अंकित=अङ्कितः। २. अन्+चित=अंचित=अञ्चितः। ३. कुन्+ठित=कुंठित=कुण्ठितः। ४. दाम्+त=दांत=दान्तः। ५. गुम्+फित=गुंफित=गुम्फितः। इत्यादि।

यहां 'यय्' ग्रहण स्पष्टार्थ है। यय् ग्रहण न करने से भी कोई दोष नहीं आ सकता। तथाहि—"आक्रंस्यते, दंशनम्, अंह्रिपः" इत्यादि प्रयोगों में "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति" [रेफ तथा ऊष्म अर्थात् श, ष, स, ह वर्णों के सवर्ण नहीं होते।] इस वचन के कारण परसवर्ण नहीं होगा तथा अचों के परे होने पर तो अनुस्वार ही नहीं मिल सकेगा।

इस सूत्र का 'य् , व् , र् , ल् ' के परे होने पर यद्यपि कोई उदाहरण नहीं तथापि अग्रिम 'वा पदान्तस्य' (८०) सूत्र में इनका उपयोग दिखाया जायगा।

नोट—ग्रन्थकार ने इस सूत्र की वृत्ति [जो सूत्र पर संस्कृत में उस का अर्थ लिखा होता है उसे 'वृत्ति' कहते हैं] नहीं लिखी; केवल 'स्पष्टम्' लिखा है। इस का आशय यह है कि इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है अर्थात् इस सूत्र में अन्य किसी सूत्र के पद की अनुवृत्ति नहीं आती। यह सूत्र ही अपनी आप वृत्ति है। एवमन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—८० वा पदान्तस्य ।८।४।५९॥

पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात्। त्वङ्करोषि, त्वं करोषि।

अर्थः—यय् परे हो तो पदान्त अनुस्वार को विकल्प कर के परसवर्ण हो जाता है।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। पदान्तस्य ।६।१। अनुस्वारस्य ।६।१। ययि ।७।१। परसवर्णः ।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से] अर्थः—(ययि) यय् परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (अनुस्वारस्य) अनुस्वार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (पर-सवर्णः) परसवर्ण आदेश होता है। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है; अतः पूर्व-सूत्र अपदान्त अनुस्वार को और यह पदान्त अनुस्वार को यय् परे होने पर परसवर्ण करेगा।

उदाहरण यथा—'त्वङ्करोषि, त्वं करोषि' (तू करता है)। 'त्वम्+करोषि' यहां 'त्वम्' इस पद के अन्त्य मकार को 'मोऽनुस्वारः' (७७) सूत्र से अनुस्वार हो कर 'त्वं+

करोषि' बना। अब इस सूत्र से पदान्त अनुस्वार को पर=ककार का सवर्ण ङकार करने से—'त्वङ् करोषि'। परसवर्णाभावपक्ष में—'त्वं करोषि'। [पर=ककार के "क् , ख् , ग् , घ् , ङ्" ये पाञ्च सवर्ण हैं, स्थानकृत आन्तर्य से ककार को ङकार ही होगा।]

इसी प्रकार—तङ् कथञ् चित्रपक्षण् डयमानम् पुरुषोऽवधीत् । [परसवर्णपक्षे]
तं कथं चित्रपक्षं डयमानं पुरुषोऽवधीत् । [परसवर्णाभावे]

'य्, व्, ल्' वर्ण सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से दो प्रकार के होते हैं; यह हम पीछे सञ्ज्ञा-प्रकरण में बता चुके हैं। 'य्, व्, ल्' के परे होने पर अनुस्वार के स्थान पर स्थानी अनुस्वार के अनुनासिक होने से 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) द्वारा सानुनासिक 'य्, व्, ल्' ही होंगे। यथा—१. सम् + वत्सरः=सं + वत्सरः=सवँ्वत्सरः। २. दानम् + यच्छति= दानं + यच्छति = दानयँ् यच्छति । ३. अहम् + लिखामि = अहं + लिखामि = अहलँ् लिखामि। इत्यादि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—८१ मो राजि समः क्वौ ।८।३।२५॥

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

अर्थः—क्विबन्त राज् धातु परे हो तो सम् के मकार को मकार ही हो [अर्थात् अनुस्वार न हो]।

व्याख्या—समः ।६।१। मः ।६।१। ['मोऽनुस्वारः' से] मः ।१।१। क्वौ ।७।१। राजि ।७।१। क्वि (प्) यह प्रत्यय है। इस व्याकरण में जहां २ प्रत्यय का ग्रहण होता है वहां २ तदन्त अर्थात् वह प्रत्यय जिस के अन्त में होता है ऐसे समूह [प्रकृति + प्रत्यय] का ग्रहण किया जाता है। इस नियम के अनुसार क्विप् से तदन्त-विधि हो कर 'क्विबन्त' बन जायगा। अर्थः—(क्वौ) क्विबन्त (राजि) राज धातु परे हो तो (समः) सम् के (मः) मकार के स्थान पर (मः) मकार आदेश होता है।

'सम्' यह अव्यय होने के कारण सुबन्त होने से पद-सञ्ज्ञक है। इस के मकार को क्विबन्त 'राज्' धातु परे होने पर 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार प्राप्त था। इस सूत्र से सम् के मकार को मकार किया गया है; इसका अभिप्राय यह है कि मकार, मकार ही बना रहे अनुस्वार न हो जाय।

उदाहरण यथा—सम्+राट् [चक्रवर्ती राजा। 'राजृ दीप्तौ' (भ्वा०) इत्यस्मात् 'सत्सूद्विष—' इति क्विपि, क्विब्लोपे, सावागते 'हल्ङ्याब्भ्यः'—इति सोर्लोपे, पदान्ते 'व्रश्च भ्रस्ज—' इति षत्वे, डत्वे, अवसाने चर्त्वे च कृते 'राट्' इति सिध्यति।] यहां मकार को 'मोऽनुस्वारः' (७७) सूत्र से अनुस्वार नहीं होता, इस प्रकार 'सम्राट्' पद सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—सम्राजौ, सम्राजः, सम्राजम्, सम्राजा । इत्यादि ।

नोट—'सम्राज्ञी' शब्द वेद में देखा जाता है, परन्तु लोक में यह शब्द चिन्तनीय है, 'राज्ञी' की सिद्धि कर के 'सम्' से योग होने पर क्विबन्त न होने से 'म्' नहीं हो सकता । अथवा 'सम्राज्' शब्द से भी ङीप् नहीं हो सकता । तब स्त्रीलिङ्ग में भी 'सम्राट्' ही रहेगा ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**८२ हे मपरे वा ।८।३।२६ ॥**

मपरे हकारे मस्य मो वा । किम्ह्मलयति, किं ह्मलयति ।

अर्थः—जिस हकार से परे मकार हो, उस हकार के परे होने पर मकार के स्थान पर विकल्प कर मकार होता है ।

व्याख्या—मपरे ।७।१। हे ।७।१। मः ।६।१। ['मोऽनुस्वारः' से] मः ।१।१। ['मो राजि समः क्वौ' से] वा इत्यव्ययपदम् । समासः—मः परो यस्मादसौ मपरस्तस्मिन्=मपरे । बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(मपरे) मकार परे वाले (हे) हकार के परे होने पर (मः) मकार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (मः) मकार आदेश हो जाता है । यह सूत्र 'मोऽनुस्वारः' (७७) का वैकल्पिक अपवाद है ।

उदाहरण यथा—'किम्+ह्मलयति' [क्या चलता वा हिलता है ? ।] यहां मकार परे वाला हकार परे है अतः मकार को मकार अर्थात् अनुस्वाराभाव हो—'किम्ह्मलयति' । पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार हो—'किं ह्मलयति' । इस प्रकार के दो रूप सिद्ध होते हैं ।

इसी प्रकार—"कथम्ह्मलयति; कथं ह्मलयति" इत्यादि रूप होते हैं ।

[लघु०] वा०—**१३ यवलपरे यवला वा ॥**

कियँ ह्यः, किं ह्यः । किवँ ह्वलयति, किं ह्वलयति । किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति ।

अर्थः—यकार, वकार अथवा लकार परे वाला हकार परे हो तो मकार के स्थान पर क्रमशः विकल्प कर के यकार, वकार तथा लकार हो जाते हैं ।

व्याख्या—यवलपरे ।७।१। हे ।७।१। ['हे मपरे वा' से] मः ।६।१। ['मोऽनुस्वारः' से] यवलाः ।१।३। वा इत्यव्ययपदम् । समासः—यश्च वश्च लश्च=य-व-लाः, इतरेतरद्वन्द्वः । एत्वकार उच्चारणार्थः । यवलाः परा यस्मादसौ यवलपरतस्मिन्=यवलपरे । बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(यवलपरे) य्, व्, ल्, परे वाले (हे) हकार के परे होने पर (मः)

म् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (यवलाः) यकार, वकार, लकार हो जाते हैं। यह वार्त्तिक 'मोऽनुस्वारः' (७७) का वैकल्पिक अपवाद है। जिस पक्ष में 'य्, व्, ल्' नहीं होंगे उस पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार हो जाएगा। यहां 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) से आदेश और निमित्तों को क्रमशः समझ लेना चाहिये। अर्थात् यकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार को यकार, वकार, परे वाला हकार परे होगा तो मकार को वकार तथा लकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार का लकार आदेश होगा।

उदाहरण यथा—'किम् + ह्यः' (कल क्या था ?) यहां यकार परे वाला हकार परे है अतः मकार को विकल्प कर के यकार होगा। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से यकार दो प्रकार का होता है। यहां 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से अनुनासिक मकार को अनुनासिक यकार हो कर—'कियँ ह्यः'। पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार हो कर 'किं ह्यः' इस प्रकार दो रूप हुए।

'किम् + ह्वलयति' (क्या जाता है ?) यहां वकार परे वाला हकार परे है, अतः मकार को विकल्प कर के अनुनासिक वकार हो कर—'किवँ ह्वलयति'। पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार हो कर—'किं ह्वलयति' इस प्रकार ये दो रूप सिद्ध हुए।

'किम् + ह्लादयति' (कौन वस्तु प्रसन्न करती है ?) यहां लकार परे वाला हकार परे है। अतः मकार को विकल्प कर के अनुनासिक लकार हो कर—'किलँ ह्लादयति'। पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार हो कर—'किं ह्लादयति' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार—१ मित्रलँ ह्लादते, मित्रं ह्लादते। २ इदयँ ह्यस्तनम्, इदं ह्यस्तनम्। ३ किवँ ह्वयतु, किं ह्वयतु। इत्यादि।

नोट—सर्वत्र कौमुदीग्रन्थों में मकार के स्थान पर अनुनासिक 'यँ, वँ, लँ' ही हुए २ प्राप्त होते हैं। टीकाकारों का कथन है कि 'य्, व्, ल्' अनुनासिक और निरनुनासिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। यहां अनुनासिक मकार के स्थान पर दोनों के प्राप्त होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से अनुनासिक यकार वकार लकार होते हैं। शेखरकार श्री नागेशभट्ट ने इस मत का खण्डन किया है। उन का कथन है कि 'य्, व्, ल्' विधान किए गए हैं। विधीयमान अण् अपने सवर्णियों के ग्राहक नहीं होते। [देखो—'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (११)] अतः यहां अनुनासिक 'य्, व्, ल्' नहीं हो सकेंगे किन्तु जैसे विधान किए गए हैं वैसे निरनुनासिक ही होंगे। यथा—'मतुप्' के अनुनासिक मकार के स्थान पर 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (१०६२) से अनुनासिक वकार नहीं होता किन्तु निरनुनासिक वकार ही होता है। इस में प्रमाण—

१ 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'। (११६)

२ 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः'। (८१७)

३ 'तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टिकासु०। (४।४।१२४)

इत्यादि सूत्रों में महामुनि पाणिनि ने 'मतुप्' के अनुनासिक मकार के स्थान पर अनुनासिक वकार नहीं किया। कौमुदीपक्ष के समर्थकों में कई एक यह कहते हैं कि सूत्रगत विधीयमान अण् ही अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं कराते। वार्त्तिकगत अण् विधीयमान होते हुए भी सवर्णियों का ग्रहण कराते हैं। [देखो शेखर पर 'चिद्स्थिमाला' में किसी का मत] परन्तु ऐसा होने पर 'सँव्वत्सरः, विद्वाल्ँ लिखति' इत्यादि सूत्रोदाहरणों में अनुनासिक न होना चाहिये। तथा अन्यों का कथन है कि 'ऋत उत्' (२०८) में 'उ' विधीयमान है वह अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं करा सकता, तो पुनः इसे क्यों मुनि ने तपर किया है? अतः इस से यह प्रतीत होता है कि 'विधीयमान भी अण् कहीं २ अपने सवर्णियों का ग्रहण कराते हैं'। इस से यहां विधीयमान भी अण्='य्, व्, ल्' अपने सवर्णियों के ग्राहक होंगे। और जो 'मतुप्' के मकार को अननुनासिक वकार होता है यह 'अर्थवदधातुः——' (११६) आदि सूत्रों के ज्ञापक से होता है।

हम ने दोनों पक्षों को सयुक्तिक दिखा दिया है आगे विद्वज्जन ही स्वयं सत्य असत्य का निर्णय कर लें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—८३ नपरे नः ।८।३।२७॥

नपरे हकारे परे मस्य नो वा। किन्ह्नुते। किं ह्नुते।

अर्थः—नकार परे वाला हकार परे हो तो मकार के स्थान पर विकल्प कर के नकार हो जाता है।

व्याख्या—नपरे ।७।१। हे ।७।१। ['हे मपरे वा' से] मः ।६।१। ['मोऽनुस्वारः' से] नः ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् ['हे मपरे वा' से]। समासः—नः परो यस्मात् स नपरस्तस्मिन्=नपरे। बहुव्रीहिसमासः। अर्थ—(नपरे) नकार परे वाला (हे) हकार परे हो तो (मः) म् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (नः) नकारादेश हो जाता है। यह सूत्र भी 'मोऽनुस्वारः' (७७) का वैकल्पिक अपवाद है। पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार आदेश होगा।

उदाहरण यथा—'किम्+ह्नुते' (क्या छिपाता है?) यहां नकार परे वाला हकार परे है, अतः मकार को वैकल्पिक नकार होकर—'किन्ह्नुते'। पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार हो कर 'किं ह्नुते' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए।

इसी प्रकार—१. कथन्ह्नुते, कथं ह्नुते । २. यन्ह्नुते, यं ह्नुते । ३. नन् ह्वोतुम्, नं ह्वोतुम् । इत्यादि ।

अभ्यास (१६)

(१) निम्नलिखित रूपों में सूत्रसमन्वयपूर्वक सन्धिच्छेद करो ।

१. तपांसि । २. भूमिङ् खनति । ३. आम्रम् चूषति । ४. फलन् ह्नुते । ५. पुल्ँ-लिङ्गम् । ६ ऊर्ध्वरुद्धयते । ७. विद्वांसः । ८. नल्ँलिखामि । ९. निष्फलव्ँ ह्वानम् । १०. नदीन्तरति ११.कथयँ ह्यः । १२. सत्यं शिवं सुन्दरम् । १३. धनयँ यच्छति । १४. कान्तः । १५. सम्राजः । १६. त्वल्ँ लोमशः । १७. रामं रमेशम् भजे । १८. सर्वम्बलवताम्पथ्यम् । १९. त्वव्ँ वक्ता । २०. पण्डितः । २१. अहङ्कारः २२. अहव्ँ वसामि ।

(२) (क) 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' यहां अन्त्य मकार को 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार क्यों नहीं होता ? यदि कहो कि अपदान्त (?) है तो 'नश्चापदान्तस्य झलि' से हो जाय ।

(ख) "एवं लृकारोऽपि, ओ, पुस्तकं' इत्यादि प्रयोग क्या शुद्ध हैं ? सप्रमाण लिखो ।

(ग) 'राजन्+पाहि' यहां अनुस्वार क्यों न हो ? ।

(घ) 'तन्वते' यहां 'नश्चापदान्तस्य झलि' सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ? ।

(ङ) 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' यहां 'पर' पद को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है ? ।

(३) 'सम्राजी' शब्द क्या अशुद्ध है ? ।

(४) 'कियँ ह्यः' आदि में अनुनासिक यकारादि करना कहां तक शुद्ध है ? शेखरकार का क्या मन्तव्य है ? सप्रमाण यथाधीत विस्तृत टिप्पण करें ।

(५) 'नपरे, मपरे, यवलपरे' पदों में समास बता कर उस का विग्रह लिखो ।

—०:॥:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—८४ डः सि धुँट् ।८।३।२९॥

डात् परस्य सस्य धुँट् वा ।

अर्थः—डकार परे विकल्प कर के सकार का अवयव धुँट् हो जाता है ।

व्याख्या—डः ।५।१। सि ।७।१। धुँट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । ['हे मपरे वा' से] 'डः' यह पञ्चम्यन्त है । 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) के अनुसार डकार से अव्यवहित पर का अवयव 'धुँट्' होना चाहिये । 'सि' यह सप्तम्यन्त पद है । 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे

पूर्वस्य' (१६) के अनुसार सकार से अव्यवहित पूर्व का अवयव 'धुँट्' होना चाहिये। अब 'धुँट्' किस का अवयव हो ? यह शङ्का उत्पन्न होती है। इस का समाधान यह है—

"उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" अर्थात् जहां पञ्चमी और सप्तमी दोनों से निर्देश किया गया हो वहां पञ्चमी का निर्देश ही बलवान् होता है। इस नियम के अनुसार 'डः' यहां पञ्चमी का निर्देश ही बलवान् हुआ। अतः डकार से अव्यवहित पर=सकार को ही धुँट् का आगम होगा। अर्थः—(डः) डकार से परे (वा) विकल्प कर के (सि) सकार का अवयव (धुँट्) धुँट् हो जाता है।

उदाहरण यथा—'षड्+सन्तः' [छः सज्जन] यहां 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यहां डकार से परे 'सन्तः' पद का आदि सकार विद्यमान है, अतः उस सकार का अवयव 'धुँट्' यह शब्द-समुदाय विकल्प से होगा। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या 'धुँट्' सकार का आद्यवयव हो या अन्त्यावयव ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम परिभाषा-सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—८५ आद्यन्तौ टकितौ ।१।१।४५॥

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः। षट्त्सन्तः, षट् सन्तः।

अर्थः—टित् और कित् जिस के अवयव कहे गये हों वे उस के क्रमशः आद्यवयव तथा अन्तावयव होते हैं।

व्याख्या—आद्यन्तौ ।१।२। टकितौ ।१।२। समासः— आदिश्च अन्तश्च=आद्यन्तौ। इतरेतरद्वन्द्वः। टश्च क् च=टकौ। टकारादकार उच्चारणार्थः। इतरेतरद्वन्द्वः। टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(टकितौ) टकार इत् वाला तथा ककार इत् वाला क्रमशः(आद्यन्तौ) आद्यवयव तथा अन्तावयव होता है। किस का अवयव होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सुतरां यह आ जाता है कि जिस का अवयव विधान किया गया हो। 'क्रमशः' शब्द 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) परिभाषा द्वारा प्राप्त होता है।

'षड् + सन्तः' यहां 'डः सि धुँट्' (८४) सूत्र से सकार का अवयव धुँट् विधान किया गया है। धुँट् के टकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत् सञ्ज्ञा होती है अतः धुँट् टित् है। इस लिये यह सकार का आद्यवयव होगा। 'षड् + धुँट् सन्तः' ऐसा हो टकार (हलन्त्यम्) और उकार (उपदेशेऽजनुनासिक इत्) इत्सञ्ज्ञकों का 'तस्य लोपः' (३) से लोप करने पर—'षड् + ध् सन्तः'। अब 'खरि च' (७४) सूत्र से सकार खर् परे होने पर

धकार को तकार पुनः उस तकार खर् को मान डकार को भी टकार हो कर 'षट्त्सन्तः'* प्रयोग निष्पन्न हुआ। जिस पक्ष में 'धुँट्' आगम न हुआ उस पक्ष में 'खरि च' (७४) से डकार को टकार हो कर 'षट् सन्तः' प्रयोग सिद्ध हुआ। इस प्रकार इस के दो रूप बन गये।

इसके अन्य उदाहरण यथा—१ लिट्त्सु, लिट्सु। २ षट्त्सुखानि, षट् सुखानि। ३ तुराषाट्त्संसरति, तुराषाट् संसरति। ४ षट्त्सन्ततयः, षट् सन्ततयः। ५ षट्त्समस्याः, षट् समस्याः। ६ षट्त्सन्निकर्षाः, षट् सन्निकर्षाः। इत्यादि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—८६ ङ्णोः कुक्टुक् शरि ।८।३।२८॥

वा स्तः।

अर्थः—शर् परे होने पर ङकार णकार को क्रमशः विकल्प करके कुक् और टुक का आगम हो जाता है।

व्याख्या:—ङ्णोः।६।२। कुक्टुक्।१।१। शरि।७।१। वा इत्यव्ययपदम् [हे मपरे वा।' से]। समासः—ङ् च ण् च=ङ्णौ, तयोः=ङ्णोः। इतरेतरद्वन्द्वः। कुक् च टुक् च=कुक्टुक्, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(शरि) शर् परे होने पर (ङ्णोः) ङकार और णकार के अवयव (कुक्टुक्) कुक् और टुक् (वा) विकल्प कर के होते हैं।

कुक् और टुक् कित् हैं अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) परिभाषा से ये ङकार णकार के अन्तावयव होंगे।

उदाहरण यथा—'प्राङ्+षष्ठः, सुगण्+षष्ठः' यहां ङकार णकार से परे षकार शर् विद्यमान है अतः ङकार को कुक् तथा णकार को टुक् का आगम हो कर ककार† का लोप हो गया तो—

प्राङ्+क् षष्ठः।	सुगण्+ट् षष्ठः।	[कुक्टुक्पक्षे]
प्राङ्+षष्ठः।	सुगण्+षष्ठः।	[कुक्टुकोरभावे]

अब कुक् टुक् पक्ष में अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है।

[लघु०] वा०—१४ चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्॥

प्राङ्ख्षष्ठः, प्राङ्क्षष्ठः; प्राङ् षष्ठः। सुगण्ठ्षष्ठः, सुगण्ट्षष्ठः; सुगण् षष्ठः।

अर्थः—शर् परे होने पर चय् प्रत्याहार के स्थान पर वर्गों के द्वितीय वर्ण विकल्प कर के हो जाते हैं।

---

* यहां 'धुँट्' आगम असिद्ध है अतः 'चयो द्वितीयाः—' (वा०-१४) से तकार को थकार नहीं होता। इसी प्रकार 'षट् सन्तः' में भी समझ लेना चाहिये।

† उकार उच्चारणार्थ है। प्रयोजनाऽभाव से इत् सञ्ज्ञा नहीं होती।

व्याख्या—चयः ।६।१। द्वितीयाः ।१।३। शरि ।७।१। पौष्करसादेः ।६।१। इति इत्यव्ययपदम् । वाच्यम् ।१।१। अर्थः—(चयः) चय् अर्थात् वर्गों के प्रथम वर्णों के स्थान पर (द्वितीयाः) वर्गों के द्वितीय वर्ण हों (शरि) शर् प्रत्याहार परे होने पर (इति) यह (पौष्करसादेः) पौष्करसादि आचार्य के मत में (वाच्यम्) कहना चाहिये । अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प सिद्ध हो जायगा ।

उदाहरण यथा—१ संवथ्सरः, संवत्सरः । २ अभीफ्सा, अभीप्सा । ३ अख्षरम्, अक्षरम् । ४ ख्षीरम्, क्षीरम् । ५ ख्षमा, क्षमा । ६ ख्षितिः, क्षितिः । ७ थ्सरुः, त्सरुः । ८ अफ्सरसः, अप्सरसः । ९ विरफ्शिन्, विरप्शिन् । १० अख्षि, अक्षि । इत्यादि ।

'प्राङ् + क् षष्ठः, सुगण् + ट् षष्ठः' इन दोनों स्थानों पर षकार शर् परे रहने के कारण ककार और टकार को क्रमशः खकार और ठकार हो कर निम्नलिखित रूप बने—

कुक् पक्ष में { १ प्राङ् ख्षष्ठः । [पौष्करसादि के मत में]
{ २ प्राङ् क्षष्ठः

कुक् अभाव में—३ प्राङ् षष्ठः ।

टुक् पक्ष में { १ सुगण् ठ्षष्ठः [पौष्करसादि के मत में]
{ २ सुगण् ट्षष्ठः

टुक् अभाव में—३ सुगण् षष्ठः

इस के अन्य उदाहरण यथा—१ प्राङ्-ख्षु, प्राङ्-क्षु, प्राङ्-षु । २ गवाङ्-ख्षु, गवाङ्-क्षु, गवाङ्-षु । ३ तिर्यङ्ख्स्वपिति, तिर्यङ्क्स्वपिति, तिर्यङ्स्वपिति । ४ क्रुङ्ख्श्वसिति, क्रुङ्क्श्वसिति, क्रुङ् श्वसिति । ५ उदङ् ख्शृणोति, उदङ् क्शृणोति, उदङ् शृणोति । ६ सुगण् ख्सहते, सुगण् क्सहते, सुगण् सहते । इत्यादि ।

सूचना—ककार और षकार मिल कर 'क्ष' हो जाता है । क्+ष् = क्ष ।

नोट—'चयो द्वितीयाः शरि०' वार्तिक 'अनचि च' (८।४।४७) सूत्र पर पढ़ा गया है । यद्यपि 'खरि च' (८।४।५५) सूत्र इस वार्तिक से परे होने के कारण इसे असिद्ध नहीं समझ सकता, तथापि वार्तिक आरम्भसामर्थ्य से उस की यहां प्रवृत्ति नहीं होती ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—८७ नश्च ।८।३।३० ॥

नान्तात् परस्य सस्य धुँट् वा । सन्त्सः, सन्सः ।

अर्थः—नान्त से परे सकार को विकल्प कर के धुँट् का आगम होता है ।

व्याख्या—नः ।५।१। सि ।७।१। ['डः सि धुँट्' से] धुँट् । १।१। च इत्यव्ययपदम् । वा इत्यव्ययपदम् । ['हे मपरे वा' से] अर्थः—(नः) न् से परे (सि) सकार

का अवयव* (धुँट्) धुँट् (वा) विकल्प कर के हो जाता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा धुँट् सकार का आद्यवयव होगा।

उदाहरण यथा—'सन्+सः' [वह सज्जन है] यहां न् से सकार परे है अतः इसको धुँट् का वैकल्पिक आगम हो कर उँट् अनुबन्धों† का लोप हो जाता है। अब 'खरि च' (७४) सूत्र से चर्त्व अर्थात् धकार को तकार करने से—'सन्त्सः'। धुँट्-अभाव पक्ष में—'सन्सः'। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१. अस्मिन्त्समये, अस्मिन्समये। २. भवान्त्सखा, भवान्सखा। ३. सन्त्साधुः, सन्साधुः। ४. तान्त्सपत्नान्, तान्सपत्नान्। ५. धनवान्त्सहोदरः, धनवान्सहोदरः। ६. पठन्त्साङ्ख्यम्, पठन्साङ्ख्यम्। ७. विद्वान्त्सहते, विद्वान्सहते। ८. पुमान्त्स्त्रिया, पुमान्स्त्रिया। ९. नेन्त्सिद्धबध्नातिषु च, नेन्सिद्धबध्नातिषु च। १०. तान्त्साध्यान्त्साधय, तान्साध्यान्साधय। इत्यादि।

नोट—वृत्ति में 'नान्तात्' यह पद 'नः' को 'पदात्' का विशेषण कर देने से 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) द्वारा प्राप्त होता है। इस से हानि लाभ कुछ नहीं।

प्रश्नः—'डः सि धुँट्' (८४), 'नश्च' (८७) इन दो ही सूत्रों में 'सि' का ग्रहण होता है। इन्हीं दोनों स्थानों पर "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" इस परिभाषा का आश्रय कर 'सस्य' ऐसा मानना पड़ता है। इस से तो यही अच्छा होता कि यहां 'सि' पद की बजाय 'सः' पद ग्रहण कर लेते।

उत्तर—'सः' ऐसा स्पष्ट षष्ठ्यन्त पद न कह कर 'सि' इस प्रकार सप्तम्यन्त पद के ग्रहण का प्रयोजन लाघव करना ही है। 'सि' में १½ मात्रा है परन्तु 'सः' में २ मात्रा होती थीं। [स् की आधी, इ की एक, कुल डेढ। स् की आधी, अ की एक, विसर्गों की आधी, कुल दो। अर्धमात्रा का लाघवगौरव है। **"अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"** यह उक्ति यहां चरितार्थ होती है।]

[लघु०] विधि-सूत्रम्—८८ शि तुक् ।८।३।३१॥

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा। सञ्छम्भुः, सञ्च्छम्भुः, सञ्चशम्भुः, सञ्शम्भुः।

---

* "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" इस परिभाषा से सकार का अवयव धुँट् होगा।

† हल्सञ्ज्ञायोग्यत्वम् अनुबन्धत्वम्।

अर्थः—शकार परे होने पर पदान्त नकार को विकल्प कर के तुक् का आगम* होता है ।

व्याख्या—शि ।७।१। नः ।६।१। ['नश्च' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] वा इत्यव्ययपदम् । ['हे मपरे वा' से] तुक् । १।१। 'नः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होती है । अर्थः—(शे) शकार परे होने पर (नः) नान्त (पदस्य) पद का अवयव (वा) विकल्प करके (तुक्) तुक् हो जाता है । 'तुक्' कित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार नान्त पद का अन्तावयव होगा ।

उदाहरण यथा—'सन् + शम्भुः' [शम्भु भगवान् सत्स्वरूप है ।] यहां शकार परे है, अतः 'सन्' इस नान्त पद को तुक् का आगम हो ककार की इत्सञ्ज्ञा लोप [उकार उच्चारणार्थ है ।] तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से त् को च् और न् को ञ् हो कर 'सञ् च शम्भुः' हुआ । अब 'शश्छोऽटि' (७६) से विकल्प कर के शकार को छकार हो—'सञ् च् छम्भुः' हुआ । पुनः 'झरो झरि सवर्णे' (७३) से चकार का विकल्प करके लोप किया तो—१. सञ्छम्भुः । जहां चकार का लोप न हुआ वहां—२. सञ्च्छम्भुः । जहां छत्व न हुआ वहां—३. सञ्च्शम्भुः । जहां तुक् ही न हुआ वहां श्चुत्व हो—४. सञ्शम्भुः । इस प्रकार चार रूप सिद्ध हुए । इन रूपों के विषय में निम्नलिखित एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"अछौ अचछा अचशा अशाविति चतुष्टयम् ।
रूपाणामिह तुक् छत्व-चलोपानां विकल्पनात् ॥"

नोट—विद्यार्थी प्रायः इस रूप की सिद्धि में भूलें कर जाया करते हैं । अतः इस रूप पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये— सब से प्रथम एक ही रूप को पकड़ें; जितने विकल्प होते हैं उन सब को छोड दें । अर्थात् प्रथम एक ही रूप में तुक्, छत्व तथा चकारलोप कर के उसे सम्पूर्ण सिद्ध कर देना चाहिये इस के बाद अन्तिम विकल्प से वैकल्पिक रूपों को पकड़ना आरम्भ करना चाहिये अन्तिम विकल्प चकार-लोप है, अतः जहां चकारलोप नहीं हुआ उस रूप को सिद्ध करना चाहिये । इस के बाद छत्व के विकल्प को पकड़ उसे सिद्ध करना चाहिये । तदनन्तर तुक् का विकल्प सिद्ध करना चाहिये । इस प्रकार करने से आप के रूपों में कोई अशुद्धि नहीं आएगी । याद रखें कि शुद्ध-सिद्धि के रूपों का वही क्रम होता है जो ऊपर श्लोक में दिया गया है ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

---

* जो किसी के अवयव होते हैं वे 'आगम' और जो किसी के स्थान पर होते हैं वे आदेश कहाते हैं । आगम मित्रवत् और आदेश शत्रुवत् होते हैं ।

१. बालाञ्छास्ति । २. विद्वाञ्छोभते । ३. पुत्रांञ्छाययति । ४.नमञ् शार्ङ्गी । ५. श्वसञ्छेते । ६. भजञ्छित्त्वम् । ७.बुद्धिमाञ्शृणोति । ८. धनवाञ् शूद्रः । ९. पठञ्छोचति । १०. आगच्छञ्छौनकादयः । ११.पुमाञ्छ्रूयते । १२. मतिमाञ् श्लाघते । इत्यादि । प्रत्येक के चार २ रूप जानने चाहियें ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**८६ ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ।८।३।३२॥**

ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुट् ।
प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीशः सन्नच्युतः ।

अर्थः—ह्रस्व से परे जो ङम्, वह है अन्त में जिस के ऐसा जो पद उस से परे अच् को नित्य ङमुट् का आगम होता है ।

व्याख्या—ङमः ।५।१। ह्रस्वात् ।५।१। अचि ।७।१। ङमुट् ।१।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम् । यहां पीछे से अधिकृत 'पदात्' पद आ रहा है ।' ङमः' यह पद 'पदात्' का विशेषण है, अतः 'ङमः' से तदन्त-विधि होगी । "**उभयनिर्देशे पञ्चमी-निर्देशो बलीयान्**" इस परिभाषा के द्वारा ङमुट् 'अचि' का ही अवयव समझा जायगा * । अर्थः—(ह्रस्वात्) ह्रस्व से परे (ङमः) जो ङम् तदन्त (पदात्) पद से परे (अचः) अच् का अवयव (नित्यम्) नित्य (ङमुट्) ङमुट् हो जाता है ।

'ङमुट्' में ङम् प्रत्याहार है । उकार उच्चारणार्थ तथा ट् 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञक है । ङम् प्रत्याहार को टित् करने का कोई प्रयोजन नहीं अतः सञ्ज्ञियों अर्थात ङ्, ण्, न्, के साथ टित्व का सम्बन्ध हो कर—'ङुट्, णुट्, नुट्' ये तीन आगम होंगे । 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) के अनुसार ङान्त पद से परे अच् को ङुट्, णान्त पद से परे अच् को णुट् तथा नान्त पद से परे अच् को नुट् का आगम होगा । उदाहरण यथा—

'प्रत्यङ् + आत्मा' (जीवात्मा) । यहां यकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे ङ्=ङम् है; अतः 'प्रत्यङ्' ङान्त पद हुआ । इस से परे आकार को ङुट् आगम हो, उट् के चले जाने पर 'प्रत्यङ्ङात्मा' सिद्ध हो जाता है ।

'सुगण्+ईश' (सुगणाम्=सुयोग्य-गणितज्ञानाम् ईशः=स्वामी, षष्ठी तत्पुरुष-समासः) यहां गकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे ण्=ङम् है; अतः 'सुगण्' णान्त पद हुआ । इस से परे ईकार को णुट् आगम हो, उट् के चले जाने पर विभक्ति आने से 'सुगण्णीशः' सिद्ध हो जाता है ।

---

* इस की स्पष्टता 'डः सि धुट्' (८४) में देखें ।

'सन्+अच्युतः' (अच्युत भगवान् सत्स्वरूप है) यहां मकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे ङम् है; अतः 'सन्' यह नान्त पद हुआ। इस से परे अकार को ङुट् आगम हो, उट् के चले जाने से 'सन्नच्युतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट—इस सूत्र में स्थित 'नित्यम्' पद का अर्थ 'प्रायः' है; अर्थात् यथा "देवदत्त नित्य हंसता ही रहता है, विष्णुमित्र नित्य खाता ही रहता है" इत्यादि वाक्यों में 'नित्य' शब्द का 'प्रायः' (बहुधा) अर्थ है इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। अतः "इको यण् अचि, सुप्तिङ्-अन्तं पदम्, सन्-आद्यन्ता धातवः" इत्यादि सूत्रों में ङमुट् न होने पर भी कोई दोष नहीं आता। "सन्नन्तान्न सनिष्यते" यहां पर दोनों प्रकार के उदाहरण हैं।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१. कुर्वन्नास्ते। २. तिङ्ङतिङः। ३. तस्मिन्निति। ४. एकस्मिन्नहनि। ५. गच्छन्नवोचत्। ६. जानन्नपि। ७. भगवन्नत्र। ८. तस्मिन्नणि। ९. हसन्नागच्छति। १०. पठन्नपतत्।

'ह्रस्व' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—भवान् + अत्र='भवानत्र' इत्यादि प्रयोगों में ङमुट् न हो।

अभ्यास (२०)

(१) जहां सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियों द्वारा निर्देश हो वहां 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' तथा 'तस्मादित्युत्तरस्य' इन दोनों परिभाषाओं में किस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें।

(२) 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र की व्याख्या करते हुए उस की आवश्यकता पर सोदाहरण प्रकाश डालें।

(३) "षट्त्सन्तः, षट्सन्तः" आदि प्रयोगों में 'चयोद्वितीयाः—' वार्त्तिक द्वारा वर्गद्वितीय आदेश क्यों नहीं होता ?।

(४) 'प्राङ् ख् षष्ठः' इत्यादि वर्गद्वितीयघटित प्रयोगों में 'खरि च' सूत्र द्वारा चर्त्व क्यों नहीं होता ?।

(५) 'ङः सि धुँट्' सूत्र की स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये 'ङः सः धुँट्' क्यों नहीं कर दिया ?।

(६) क्या उपाय किया जाय जिस से सिद्धि करते समय 'सन्छम्भुः' आदि रूपों का ग्रन्थोक्तप्रकार से शुद्ध क्रम सिद्ध हो जाय ?।

(७) 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' सूत्र द्वारा ङमुट् आगम की नित्यता दर्शाने वाले श्रीपाणिनि जी किस कारण स्वयं "सन्-आद्यन्ता धातवः, इको यण् अचि" आदि सूत्रों में ङमुट् आगम नहीं करते ? यथाधीत स्पष्ट करें।

—०:ॐ:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ६० समः सुटि ।८।३।५॥

समो रुँः स्यात् सुटि ।

अर्थः—सुट् परे होने पर सम् के मकार को 'रुँ' आदेश हो ।

व्याख्या—समः ।६।१। सुटि ।७।१। रुँः ।१।१। ['मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' से] अर्थः—(सुटि) सुट् परे हो तो (समः) सम् के स्थान पर (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा के अनुसार सम् के अन्त्य अल्=मकार को ही रुँ आदेश होगा ।

'सम्+स्कर्ता' [यहां 'सम्' पूर्वक 'डुकृञ् करणे' (तना०) धातु से तृच् प्रत्यय हो 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' सूत्र से कृ को सुँट् का आगम हो कर उँट् का लोप हो जाता है ।] यहां सुँट् परे रहने से मकार को रुँ आदेश हो, अनुनासिक उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्संज्ञा कर 'तस्य लोपः' (३) से लोप किया तो 'सर् स्कर्ता' हुआ । अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—६१ अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ।८।३।२॥

अत्र रुँ-प्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात् ।

अर्थः—इस रुँ प्रकरण में रुँ से पूर्व वर्ण को विकल्प कर के अनुनासिक हो जाता है ।

व्याख्या—अत्र इत्यव्ययपदम् । अनुनासिकः ।१।१। पूर्वस्य ।६।१। तु इत्यव्ययपदम् । वा इत्यव्ययपदम् । 'मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' (८।३।१) सूत्र के बाद यह पढ़ा गया है । यहां 'अत्र' इसी रुँ प्रकरण के लिये है ; अतः 'ससजुषो रुँः' (१०५) सूत्र से किये गये रुँ वाले स्थानों पर यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा । अर्थः—(अत्र) 'मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' सूत्र से आरम्भ किये गये रुँ प्रकरण में (रोः) रुँ से (पूर्वस्य) पूर्व वर्ण को (वा) विकल्प कर के (अनुनासिकः) अनुनासिक हो जाता है ।

'सर् + स्कर्ता' यहां रुँ से पूर्व सकारोत्तर अकार को अनुनासिक हो—'सँर् + स्कर्ता' हुआ । जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं होता वहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—६२ अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः ।८।३।४॥

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात् परोऽनुस्वारागमः स्यात् ।

अर्थः—जहां अनुनासिक होता है उस रूप को छोड़ अन्य पक्ष वाले रूप में रुँ से पूर्व जो वर्ण उस से परे अनुस्वार का आगम होता है ।

व्याख्या—अनुनासिकात् ।५।१। रोः ।५।१। ['मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा] पूर्वात् ।५।१। ['अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा] परः ।१।१। अनुस्वारः ।१।१। 'अनुनासिकात्' यहां ल्यब्लोप में पञ्चमी विभक्ति हुई है यथा—प्रासादात् प्रेक्षते । अतः यहां 'विहाय' इस ल्यबन्त का लोप समझना चाहिये । 'अनुनासिकं विहाय' ऐसा इस का तात्पर्य होगा । 'अनुनासिक' शब्द में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय हुआ है । अनुनासिकोऽस्त्यस्मिन्नित्यनुनासिकम् । अनुनासिकवद् रूपम् इत्यर्थः । अर्थः—(अनुनासिकात्) अनुनासिक वाले रूप को छोड़ कर (रोः) रुँ से पूर्व जो वर्ण, उस से (परः) परे (अनुस्वारः) अनुस्वार का आगम होता है । तात्पर्य यह है कि जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं होता उस पक्ष में इस सूत्र से रुँ से पूर्व अनुस्वार का आगम होता है ।

'सर् + स्कर्ता' यहां अनुनासिकाभाव-पक्ष में रुँ से पूर्व वर्ण=अकार से परे अनुस्वार का आगम हो—'संर् + स्कर्ता' हुआ । तो अब इस प्रकार—

१ सँर् + स्कर्ता । [अनुनासिक-पक्षे]
२ संर् + स्कर्ता । [अनुस्वारागम-पक्षे]

ये दो रूप हुए । अब दोनों पक्षों में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**९३ खरवसानयोर्विसर्जनीयः ।८।३।१५।।**

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात् ।

अर्थः—खर् और अवसान परे होने पर पदान्त रेफ के स्थान पर विसर्ग हों ।

व्याख्या—खरवसानयोः ।७।२। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] रः ।६।१। 'रो रि' से] विसर्जनीयः ।१।१। 'रः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) द्वारा तदन्तविधि हो कर 'रेफान्तस्य पदस्य' ऐसा बन जायगा । समासः—खर् च अवसानञ्च=खरवसाने, तयोः=खरवसानयोः । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(खरवसानयोः) खर् और अवसान परे होने पर (रः) रेफान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (विसर्जनीयः) विसर्ग आदेश होते हैं । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा द्वारा पदान्त रेफ को ही विसर्ग होंगे ।

"सँर् + स्कर्ता, संर् + स्कर्ता" यहां सकार खर् परे है अतः पदान्त रेफ को विसर्ग आदेश हो कर—"सँः + स्कर्ता, संः + स्कर्ता" हुआ । अब यहां 'विसर्जनीयस्य सः' (९३) के अपवाद 'वा शरि' (१०४) सूत्र की प्राप्ति होती है; इस पर नित्यसकार-विधानार्थ अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—१५ सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः ॥

सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता ।

अर्थः—सम्, पुम् तथा कान् शब्दों के विसर्गों को सकार आदेश होता है ।

व्याख्या—सम्पुङ्कानाम् ।६।३। विसर्गस्य* ।६।१। सः ।१।१। वक्तव्यः ।१।१। समासः-सम् च पुम् च कान् च=सम्पुङ्कानः, तेषाम्=सम्पुङ्कानाम् । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः-(सम्पुङ्कानाम्) सम्, पुम् और कान् शब्दों के (विसर्गस्य) विसर्ग के स्थान पर (सः) स आदेश (वक्तव्यः) कहना चाहिये ।

"सँः+स्कर्ता, सं: + स्कर्ता" यहां सम् के विसर्ग हैं अतः विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हो कर—"१. सँस्स्कर्ता २. संस्स्कर्ता" ये दो रूप सिद्ध होते हैं । 'सिद्धान्त-कौमुदी' में इस के १०८ रूप बनाये गये हैं; विशेष जिज्ञासु वहीं देखें ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—६४ पुमः खय्यम्परे ।८।३।६॥

अम्परे खयि पुमो रुँः स्यात् । पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः ।

अर्थः—अम् प्रत्याहार जिस से परे है ऐसा खय् यदि परे हो तो पुम् ‡ शब्द के मकार को रुँ आदेश होता है ।

व्याख्या—पुमः ।६।१। रुँः ।१।१। ['मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' सूत्र से] खयि ।७।१। अम्परे ।७।१। समासः—अम् परो यस्माद् असौ=अम्परस्तस्मिन्=अम्परे । बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(अम्परे) अम् है परे जिस से ऐसे (खयि) खय् प्रत्याहार के परे होने पर (पुमः) पुम् शब्द के स्थान पर (रुँः) रुँ आदेश हो जाता है । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से पुम् के मकार को ही रुँ आदेश होगा । उदाहरण यथा—

'पुम् + कोकिल' (पुमांश्चासौ कोकिलश्चेति विग्रहः, कर्मधारयसमासे विभक्त्योलुकि, 'संयोगान्तस्य लोपः' इति पुंसः सकारलोपः ।) यहां पुम् से परे ककार खय् विद्यमान है, इस से परे ओकार अम् मौजूद है अतः पुम् के मकार को रुँ आदेश हो कर पूर्ववत् अनुस्वा-

---

* महाभाष्य में 'सम्पुङ्कानां सत्वम्' इस प्रकार वार्तिक कह कर फिर कहा गया है कि 'रुँविधौ हि सत्यनिष्टं प्रसज्येत' अर्थात् जब रुँविधि हो चुकने पर अनिष्ट प्रसक्त हो तब सम्, पुम्, तथा कान् को सकार करना चाहिये । तो इस प्रकार विसर्ग के स्थान पर प्राप्त वैकल्पिक सकार रूप अनिष्ट का यहां निवारण किया गया है; अतः 'विसर्गस्य' पद प्राप्त हो जाता है ।

‡ समासावस्था में जब 'पुंस्' शब्द के सकार का 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से लोप हो जाता है तो "निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः" के अनुसार अनुस्वार को मकार होकर 'पुम्' हो जाता है । उसी का यहां ग्रहण है; 'पुम्' कोई नया शब्द नहीं ।

मिकादेश, अनुस्वारागम, विसर्ग तथा 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' (वा० १४) से सकार करने पर विभक्ति लाने से "पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः" ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

अम्परक खय् इस लिये कहा है कि 'पुंक्षीरम्' आदि में रुँ आदेश न हो। [यहां मकार का संयोगान्त-लोप हो कर 'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार हो जाता है।]

नोट—"पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः" यहां 'खरवसानयोः—'(९३) सूत्र से रेफ को विसर्ग करने पर 'कुप्वोः ≍क ≍पौ च' (९८) सूत्र द्वारा जिह्वामूलीय प्राप्त होते थे; पुनः उस के अपवाद 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' (वा० १४) वार्त्तिक से सकार आदेश हो जाता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—९५ नश्छव्यप्रशान् ।८।३।७॥

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुँः स्यात्, न तु प्रशान्शब्दस्य ।

अर्थः—जिस से परे अम् प्रत्याहार है ऐसे छव् प्रत्याहार के परे होने पर नकारान्त पद को रुँ आदेश हो; परन्तु प्रशान् शब्द को न हो।

व्याख्या—नः ।६।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] रुँः ।१।१। ['मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' से] अम्परे ।७।१। ['पुमः खय्यम्परे' से] छवि ।७।१। अप्रशान् ।१।१। [षष्ठ्यर्थे प्रथमा] समासः—अम् परो यस्माद् असौ=अम्परः, तस्मिन्=अम्परे । बहुव्रीहि-समासः । न प्रशान्=अप्रशान्, नञ्तत्पुरुषः । 'नः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) द्वारा इस से तदन्त-विधि हो कर 'नान्तस्य पदस्य' बन जाता है । अर्थः—(अम्परे) अम् परे वाला (छवि) छव् परे होने पर (नः) नकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (रुँः) रुँ आदेश होता है; परन्तु (अप्रशान्) प्रशान् शब्द को नहीं होता । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा द्वारा अन्त्य नकार को ही रुँ आदेश होगा । उदाहरण यथा—

'चक्रिन् + त्रायस्व' [हे चक्रिन् ! त्वं त्रायस्व] यहां 'चक्रिन्' यह नान्त पद है । इस से परे तकार छव् है; तथा इस छव् से परे रेफ अम् विद्यमान है; अतः नकार को रुँ-आदेश हो पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (९३) से विसर्ग करने पर—"चक्रिँः + त्रायस्व, चक्रिंः + त्रायस्व" ये दो रूप हुए । अब विसर्ग को सकारादेश करने वाला अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—९६ विसर्जनीयस्य सः ।८।३।३४॥

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात् । चक्रिँस्त्रायस्व । चक्रिंस्त्रायस्व । अप्रशान् किम् ? प्रशान् तनोति । पदान्तस्येति किम् ? हन्ति ।

अर्थः—खर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हो ।

व्याख्या—खरि ।७।१। ['खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खरि' अंश] विसर्जनीयस्य ।६।१। सः ।१।१। अर्थः—(खरि) खर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्गों के स्थान पर (सः) स् आदेश होता है । उदाहरण यथा—

"चक्रिँः + त्रायस्व, चक्रिंः+त्रायस्व" यहां तकार=खर् परे है, अतः विसर्गों को स् आदेश हो— "चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व" ये दो रूप सिद्ध हुए ।

'अप्रशान् किम् ? प्रशान् तनोति"

'नश्छव्यप्रशान्' (९४) सूत्र में 'प्रशान्' शब्द को रुँ करने का निषेध इस लिये किया है कि 'प्रशान्+तनोति' यहां अम्परक (अकार-परक) छव् (तकार) के परे होने पर भी पदान्त नकार को रुँ आदेश न हो ।

"पदान्तस्येति किम् ? हन्ति"

'पदस्य' का अधिकार होने से 'हन्ति' आदि स्थानों में अपदान्त नकार को अम्परक छव् परे होने पर भी रुँ आदेश नहीं होता ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—९७ नॄन् पे ।८।३।१०॥

'नॄन्' इत्यस्य रुँर्वा पे ।

अर्थः—पकार परे होने पर 'नॄन्' शब्द के नकार को विकल्प कर के 'रुँ' आदेश हो ।

व्याख्या—नॄन् ।६।१। ['नॄन्' यह द्वितीया-विभक्ति के बहुवचन का अनुकरण है । इस के आगे षष्ठी-विभक्ति के एकवचन का लुक् हुआ २ है ।] रुँः ।१।१। ['मतुवसो रुँ—' सूत्र से] पे ।७।१। [यहां पकारोत्तर अकार उच्चारण के लिये है अतः 'पुनाति' आदि परे होने पर भी यह सूत्र प्रवृत्त हो जाता है ।] उभयथा इत्यव्ययपदम् । ['उभयथर्क्षु' सूत्र से] अर्थः—(पे) पकार परे होने पर (नॄन्) नॄन् शब्द के स्थान पर (उभयथा) विकल्प कर के (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है ।

'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा द्वारा 'नॄन्' के अन्त्य नकार को ही 'रुँ' आदेश होगा । उदाहरण यथा—

'नॄन्+पाहि' [हे राजन् ! त्वं नॄन्=नरान् पाहि=पालय] यहां पकार परे होने से 'नॄन्' के अन्त्य नकार को रुँ आदेश हो पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम तथा रेफ को विसर्ग करने पर "नॄँः+पाहि, नॄंः + पाहि" ये दो रूप हुए । अब 'विसर्जनीयस्य सः' (९६) के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—९८ कुप्वोः ≍क≍पौ च ।८।३।३७॥

कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍क≍पौ स्तः । चाद् विसर्गः ।

नृँ≍पाहि, नृँः पाहि; नॄं≍पाहि, नॄंः पाहि; नॄन्पाहि ।

अर्थः—कवर्ग पवर्ग परे होने पर विसर्गों को क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय होते हैं । सूत्र में चकार-ग्रहण से पक्ष में विसर्ग भी रहते हैं । [ध्यान रहे कि यदि सूत्र में 'वा' कहते तो पक्ष में (९६) सूत्र से विसर्गों को स् हो जाता जो अत्यन्त अनिष्ट था ।]

व्याख्या—कुप्वोः ।७।२। विसर्जनीयस्य ।६।१। ['विसर्जनीयस्य सः' से] ≍क≍पौ ।१।२। च इत्यव्ययपदम् । समासः—≍कश्च ≍पश्च=≍क≍पौ, इतरेतरद्वन्द्वः । यहां ककार पकार ग्रहण इस लिये किया गया है कि जिह्वामूलीय और उपध्मानीय सदा क्रमशः कवर्ग पवर्ग के ही आश्रित रहते हैं । कुश्च पुश्च=कुपू, तयोः=कुप्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(कुप्वोः) कवर्ग पवर्ग परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्गों के स्थान पर क्रमशः(≍क≍पौ) जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय हो जाते हैं । (च) किञ्च पक्ष में विसर्ग भी बने रहते हैं * ।

सम्पूर्ण कवर्ग पवर्ग में विसर्ग प्राप्त नहीं हो सकते । विसर्ग केवल 'क, ख, प, फ' इन चार वर्णों के परे होने पर ही मिल सकते हैं । क्योंकि विसर्ग विधान करने वाला 'खरवसानयोः—' (९३) यही एक सूत्र है । यह सूत्र खर् परे होने पर ही विसर्ग आदेश करता है । खर् प्रत्याहार में कवर्ग पवर्ग का इन चार वर्णों के सिवाय अन्य कोई वर्ण नहीं आता; अतः यह सूत्र 'क, ख, प, फ' परे होने पर विसर्गों को जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय करता है ।

"नॄँः+पाहि, नॄंः + पाहि" यहां पकार परे होने से विसर्गों को उपध्मानीय हो—नॄँ≍पाहि, नॄं≍पाहि। विसर्गपक्ष में—नॄँः पाहि, नॄंः पाहि । जहां 'नॄन्पे' (९७) सूत्र से रुँ आदेश नहीं होता उस पक्ष में—नॄन्पाहि । इस प्रकार कुल पाञ्च रूप सिद्ध होते हैं । एवम्—नॄँ≍पश्य' इत्यादि ।

नोट—विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदि का पाठ अट् तथा शल् प्रत्याहार में स्वीकार किया जाता है । अतः इन के यर् प्रत्याहारान्तर्गत होने के कारण 'अनचि च' (१८) सूत्र की भी प्रवृत्ति हो जाया करती है । इस से—"नॄँ≍≍पाहि, नॄँः ः पाहि" इत्यादि प्रकारेण द्वित्व वाले रूप भी बना करते हैं ।

---

* चकार-ग्रहण से 'शर्परे विसर्जनीयः' (८।३।३५) सूत्र से 'विसर्जनीयः' पद की अनुवृत्ति आ जाती है । "अतः कन्तव्यः" यहां पर 'शर्परे विसर्जनीयः' (८।३।३५) से जिह्वामूलीय सर्वथा निषिद्ध होगा ।

टिप्पणी—अत्र 'कुप्वोः ≍क ≍पौ च' त्येवमुपलभ्यमानो विसर्जनीयविकल्पः क्वाचित्कः पाठस्तु 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' इति वार्त्तिकेन समाधेयः।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—**९९ तस्य परमाम्रेडितम्** ।८।१।२॥

द्विरुक्तस्य परम् आम्रेडितं स्यात्।

अर्थः—दो बार कहे गये का परला रूप 'आम्रेडित' सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—तस्य ।६।१। परम् ।१।१। आम्रेडितम् ।१।१। इस सूत्र से पूर्व 'सर्वस्य द्वे' इस प्रकार द्वित्व का अधिकार किया गया है; अतः यहां 'तस्य' पद से 'द्विरुक्तस्य' का ग्रहण हो जाता है। अर्थः—(तस्य) उस दो बार पढ़े गए का (परम्) परला रूप (आम्रेडितम्) आम्रेडित सञ्ज्ञक होता है। यथा 'किम्' शब्द के द्वितीयाविभक्ति के बहुवचन 'कान्' पद को 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) सूत्र से द्वित्व किया तो 'कान् कान्' बना। यहां दूसरा 'कान्' शब्द आम्रेडित-सञ्ज्ञक है।

अब आम्रेडित-सञ्ज्ञा का इस रुँ-प्रकरण में उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**१०० कानाम्रेडिते** ।८।३।१२॥

कान्नकारस्य रुँः स्यादाम्रेडिते। काँस्कान्। कांस्कान्।

अर्थः—आम्रेडित परे होने पर कान् शब्द के नकार को रुँ आदेश हो।

व्याख्या—कान् ।६।१। [यहां 'किम्' शब्द के द्वितीया के बहुवचन 'कान्' शब्द का अनुकरण किया गया है। इस से परे षष्ठ्येकवचन का लुक् हुआ २ है।] आम्रेडिते ।७।१। रुँः ।१।१। ['मतुवसो रुँ—'से] अर्थः—(आम्रेडिते) आम्रेडित परे होने पर (कान्) कान् शब्द को रुँ आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा से कान् के अन्त्य अल् नकार को ही रुँ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'कान्+कान्' यहां दूसरा कान् शब्द आम्रेडित परे है; अतः प्रथम कान् शब्द के नकार को रुँ आदेश हो कर पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम, विसर्ग तथा 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' (वा०—१५) से विसर्ग को सकार आदेश करने पर 'काँस्कान्, कांस्कान्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—ध्यान रहे कि 'ताँस्तान्' में 'नश्छव्यप्रशान्' (९५) सूत्र प्रवृत्त होता है।

अभ्यास (२१)

(१) रुँ से पूर्व होने वाले अनुस्वार और अनुनासिक में से कौन सा आगम है? और दूसरा क्यों नहीं?

(२) 'पुमाँश्छली' यहां 'पुमः खय्यम्परे' सूत्र से रुत्व (?) हो कर कैसे सिद्धि होगी।

(३) 'कुप्वोः ≍क≍पौ च' तथा 'कुप्वो ≍क≍पौ च' इन दो प्रकार के सूत्रपाठों में कौन सा पाठ शुद्ध और कौन सा अशुद्ध है ? कहीं दोनों ही तो अशुद्ध नहीं ? ।

(४) 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' वार्त्तिक का क्या अर्थ है ? और यह अर्थ कैसे निष्पन्न होता है ? ।

(५) सूत्र-समन्वय-पूर्वक निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद करो—

१ विद्वांश्च्यवनः २ नॄँ≍ पाठयति । ३ पुँस्खञ्जः । ४ कस्मिँश्चित् । ५ पुंश्छद्माणि । ६ पुँस्प्रवृत्तिः । ७ सँस्स्कृतम् । ८ महांस्तुन्दिलः । ९ पुंस्पुत्रः । १० पुँष्टिट्टिभः । ११ सूर्य≍≍ खेचर-चक्रवर्त्ती । १२ भवाँश्छिनत्ति । १३ पुंस्क्रोधः । १४ नॄँ≍≍ पालयस्व । १५ संस्स्करोति । १६ काँस्कान् । १७ पुंश्चली । १८ भास्वांश्चरति । १९ पुंस्त्वम् । २० बुद्धिमांश्छागः । ।

(६) सूत्र-समन्वय करते हुए अधोलिखित प्रयोगों में सन्धि करो—

१ पुम्+प्लीहा । २ पुम्+चर्चा । ३ सम्+स्करोति । ४ रूपवान्+ठक्कुरः* । ५ पुम्+फेरु । ६ नॄन्+पिपर्ति । ७ महान्+तिरस्कारः । ८ कान्+कान् । ९ तान्+तान् । १० पुम्+चरित्र । ११ रामः+प्रजाः+पालयामास । १२ तस्मिन्+चित् । १३ बालः+थूत्करोति । १४ पुम्+चेष्टा । १५ चक्षुष्मान्+टिट्टिभः । १६ प्रशान्+चरति । १७ नॄन्+प्रति । १८ पुम्+टिप्पणी । १९ पुम्+खर । २० यः+सस्त्रियः ।

(७) "गच्छन्+ति, हन्+ति, भवन्+ति" इत्यादि स्थानों पर किस से रुँत्व की सम्भावना होती है ? और वह क्यों नहीं होता ?

यह रुँ-प्रकरण यहीं समाप्त होता है ।

—०:ॐ:०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१०१ छे च ।६।१।७१॥

ह्रस्वस्य छे तुक् । शिवच्छाया ।

अर्थः—छकार परे हो तो ह्रस्व का अवयव तुक् हो जाता है ।

व्याख्या—ह्रस्वस्य ।६।१। ['ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से] तुक् ।१।१। छे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । संहितायाम् ।७।१। [यह अधिकृत है] अर्थः—(संहितायाम्) संहिता के विषय में (ह्रस्वस्य) ह्रस्व का अवयव (तुक्) तुक् हो जाता है (छे) यदि छकार परे हो तो। उदाहरण यथा—

* ध्यान रहे कि रुँत्वविधि (८।३।७) की दृष्टि में ष्टुत्वविधि (८।४।४१) असिद्ध है ।

'शिव + छाया' [शिवस्य छायेति विग्रहः, षष्ठी-तत्पुरुषसमासः] यहां वकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से छकार परे है और समास होने से संहिता का विषय भी है; अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार वकारोत्तर अकार का अन्तावयव तुक् हो कर उक् के चले जाने पर—'शिवत् + छाया'। अब 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) के असिद्ध होने से 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) द्वारा तकार को दकार हो—'शिवद्+छाया'। पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) के प्रति 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से प्रथम श्चुत्व अर्थात् दकार को जकार पश्चात् चर्त्व अर्थात् जकार को चकार किया तो—'शिवच्छाया'। अब 'सु' विभक्ति ला कर 'हल्ङ्याब्भ्यः—'(१७९) से उस का लोप हो—'शिवच्छाया' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि यहां 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कवर्ग आदेश नहीं होगा, क्योंकि चर्त्व और श्चुत्व दोनों उसकी दृष्टि में असिद्ध हैं।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण अभ्यास में देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१०२ पदान्ताद्वा ।६।१।७४॥

दीर्घात् पदान्ताच्छे तुग्वा । लक्ष्मीच्छाया । लक्ष्मीछाया ।

अर्थः—पदान्त दीर्घ से छकार परे हो तो विकल्प कर के तुक् का आगम होता है।

व्याख्या—दीर्घात् ।५।१। ['दीर्घात्' सूत्र से] पदान्तात् ।५।१। छे ।७।१। ['छे च' सूत्र से] तुक् ।१।१। ['ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से] वा इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(दीर्घात्) दीर्घ (पदान्तात्) पदान्त से (छे) छकार परे होने पर (वा) विकल्प करके (तुक्) तुक् का आगम होता है।

तुक् किस का अवयव हो ? पदान्त दीर्घ का हो या छकार का हो ? यह यहां प्रश्न है। "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" के अनुसार तो छकार का अवयव होना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता; यह दीर्घ का ही अवयव होता है। इस का कारण यह है कि यदि यह छकार का अवयव होता तो कित होने से छकार के अन्त में होना चाहिये था, परन्तु 'विभाषा सेना-सुराच्छाया-शाला-निशानाम्' (२।४।२५) सूत्र में तो छकार के आदि अर्थात् दीर्घ से परे देखा जाता है अतः यह दीर्घ का ही अन्तावयव है यह सिद्ध होता है।

उदाहरण यथा—'लक्ष्मी + छाया' [लक्ष्म्याश्छायेति विग्रहः, षष्ठी-तत्पुरुषः।] यहां पदान्त दीर्घ ईकार से छकार परे विद्यमान है अतः दीर्घ ईकार को विकल्प कर के तुक् का आगम हो कर पूर्ववत् उक् के चले जाने पर जश्त्व=दकार, श्चुत्व=जकार तथा चर्त्व=चकार हो कर विभक्ति लाने से—"लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया" ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

स्मरण रहे कि पहला सूत्र पदान्त अपदान्त कुछ नहीं कहता था इस लिये वह दोनों में प्रवृत्त होता था। परन्तु यह सूत्र पदान्त में ही प्रवृत्त होता है; वह भी तब जब पदान्त दीर्घ होगा। पदान्त—समस्त, व्यस्त, दोनों अवस्थाओं में हो सकता है। ग्रन्थकार ने समस्तावस्था (समास अवस्था) का उदाहरण दिया है। व्यस्तावस्था (समासरहित अवस्था) के उदाहरण—'कुलटाच्छिन्ननासिका' आदि अभ्यास में दिये गये हैं जान लें।

नोट—यदि आङ् और माङ् अव्ययों से परे छकार होगा तो दीर्घ पदान्त होते हुए भी तुक् का आगम नित्य होगा; तब 'पदान्ताद्वा' (१०२) सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। इन के लिये नित्य तुक् विधानार्थ 'आङ्माङोश्च' (६।१।७२) यह नया सूत्र बनाया गया है, इसे 'सिद्धान्त-कौमुदी' में देखें।

सूचना—"मूर्च्छना, मूर्च्छा" आदि में तुक् नहीं समझना चाहिये, किन्तु 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) से वैकल्पिक द्वित्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व होगा। किञ्च 'वाञ्छति' आदि में चकार जोड़ना अशुद्ध है, क्योंकि तुक् प्राप्त नहीं।

अभ्यास (२२)

(१) निम्नलिखित प्रयोगों को सूत्रसमन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करें—

१. इच्छति। २. धूतच्छलेन। ३. कुटीच्छन्ना। ४. दन्तच्छदः। ५. असिच्छिन्नः। ६. मङ्गलच्छायः। ७. रुद्राच्छिक्का। ८. स्वच्छास्त्रः। ९. वैदिकच्छन्दांसि। १०. नवच्छिद्राणि। ११. गच्छति। १२. नूतनच्छात्रः। १३. चिच्छेद। १४. गूढाच्छेकोक्तिः। १५. माच्छिदत। १६. तीक्ष्णाच्छुरिका। १७. स्वच्छन्दः। १८. यज्ञच्छागः। १९. गुच्छच्छेदः। २०. कुलटाच्छिन्ननासिका।

(२) "गच्छति, इच्छति" आदि में भी तुक् करने के अनन्तर जश्त्व, चर्त्व होंगे या नहीं ?।

(३) 'पदान्ताद्वा' सूत्र द्वारा विधान किया गया तुक् किस का अवयव होगा ? सप्रमाण लिखें।

यहां तुक्-प्रकरण समाप्त होता है।

—०:❀:०—

[लघु०] इति हल्सन्धिः॥

अर्थः—यह हल्-सन्धि समाप्त हुई।

व्याख्या—सन्धि एक प्रकार का वर्णविकार ही है। यदि वह विकार अच् के स्थान पर हो तो 'अच्सन्धि', हल् के स्थान पर हो तो 'हल्सन्धि' कहाता है। इसी प्रकार विसर्ग-सन्धि आदि के विषय में भी जान लेना चाहिये। लोक में प्रायः यह प्रचलित

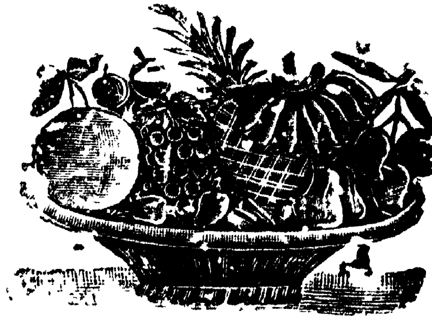
है और हम भी लोकवाद का अनुसरण करते हुए पीछे यही लिख आए हैं कि "अच् का अच् के साथ मेल=विकृति 'अच्सन्धि' और हल् का हल् के साथ मेल'हल्सन्धि'कहाता है"। पर ध्यान देने से यह ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ऐसा मानने से 'वान्तो यि प्रत्यये' (२४) आदि अच्सन्धि के सूत्रों तथा 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' (८६) आदि हल्सन्धि के सूत्रों में व्यवस्था न बन सकेगी। अतः यही उचित प्रतीत होता है कि जहां अच् के स्थान पर सन्धि अर्थात् संयोगजन्य वर्णविकार करें चाहे उस का निमित्त अच् या हल् भी हो वहां 'अच्सन्धि' और जहां हल् के स्थान पर सन्धि अर्थात् संयोगजन्य वर्णविकार करें चाहे उस का निमित्त अच् या हल् जो भी हो वहां 'हल्-सन्धि' होती है। [अचां स्थाने सन्धिः= अच्सन्धिः; हलां स्थाने सन्धिः= हल्सन्धिः] अच्सन्धि में 'झलां जश् झशि' (१६) आदि सूत्र प्रकरण-वश लिखे गये हैं। इसी प्रकार हल्सन्धि में 'विसर्जनीयस्य सः' (६६), 'कुप्वोः ≍क ≍पौ च' (६८) प्रभृति विसर्गसन्धि के सूत्र भी प्रकरण-वश लिखे गये समझने चाहियें।

इति भैमी-व्याख्ययोपबृंहितायां

लघु-सिद्धान्त-कौमुद्यां

हल्सन्धिप्रकरणं

समाप्तम् ॥



❀ अथ विसर्ग-सन्धि-प्रकरणम् ❀

अब विसर्ग-सन्धि का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। इस विषय पर सन्धि-प्रकरण के अन्त में प्रकाश डालेंगे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१०३ विसर्जनीयस्य सः ।८।३।३४॥

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात् । विष्णुस्त्राता ।

अर्थः—खर् परे होने पर विसर्जनीय के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—खरि ।७।१। ['खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खरि' अंश] विसर्जनीयस्य ।६।१। सः ।१।१। सकारादकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(खरि) खर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्जनीय के स्थान पर (सः) सकार आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—विष्णुः+त्राता = विष्णुस्त्राता। [भगवान् विष्णु रक्षक है]।

यह सूत्र हल्सन्धि में प्रसङ्गवश लिखा गया था; वस्तुतः यह विसर्ग-सन्धि का ही है।

ध्यान रहे कि 'स्' (सुँ) प्रत्यय के विसर्ग बनते हैं और विसर्ग को खर् परे होने पर पुनः 'स्' आदेश हो जाता है; यह सब 'ससजुषो रुः' (१०५) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे।

१ **प्रश्नः**—'विष्णुस्त्राता' यहां विसर्ग को सकार आदेश कर देने पर 'ससजुषो रुः' (१०५) से पुनः 'रुँ' आदेश क्यों नहीं हो जाता?।

उत्तर—रुँत्व-विधि (८।२।६६) के प्रति सकारादेश (८।३।३४) असिद्ध है; अतः पुनः रुँत्व आदेश नहीं होता।

२ **प्रश्नः**—यदि विसर्जनीय और विसर्ग पर्याय अर्थात् एकार्थ-वाची शब्द हैं तो 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र की बजाय 'विसर्गस्य सः' सूत्र ही क्यों न करदें? इस से कई मात्राओं का लाघव भी हो जाता है। जैसा कहा भी है—"अर्धमात्रा-लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"।

उत्तर—"पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते" [प०] अर्थात् एकार्थवाची शब्दों में गौरव लाघव नहीं माना जाता; जैसे कि—'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' (९१७) यहां 'शरदादिभ्यः' कहा जा सकता था इसी प्रकार "अन्यतरस्याम्, विभाषा" आदि में 'वा' कहा जा सकता था। एवं यहां 'विसर्गस्य सः' कर देने से भी कुछ लाघव नहीं हो सकता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१०४ वा शरि ।८।३।३६॥

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात् । हरिः शेते, हरिश्शेते ।

अर्थः—शर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर विकल्प करके विसर्ग होते हैं।

व्याख्या—शरि ।७।१। विसर्जनीयस्य ।६।१। ['विसर्जनीयस्य सः' से] विसर्जनीयः।१।१। ['शर्परे विसर्जनीयः' से] वा इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(शरि) शर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (वा) विकल्प से (विसर्जनीयः) विसर्ग आदेश होते हैं ।

शर् प्रत्याहार, खर् प्रत्याहार के अन्दर आ जाता है; अतः 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) के प्राप्त होने पर यह उसका अपवाद आरम्भ किया जाता है । शर् परे होने पर विसर्ग—विसर्गरूप में विकल्प से अवस्थित रहते हैं; अर्थात् विसर्ग और स् दोनों बने रहते हैं। उदाहरण यथा—

१ हरिः शेते, २ हरिस्+शेते=हरिश्शेते [स्तोः श्चुना श्चुः (६२)] । १ रामः षष्ठः, २ रामस्+षष्ठ=रामष्षष्ठः [ष्टुना ष्टुः (६४)] । १ सर्पः सरति । २ सर्पस्सरति ।

खर् प्रत्याहार में "क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ, श, ष, स" इतने वर्ण आते हैं। इन में 'श, ष, स' परे होने पर 'वा शरि' (१०४) तथा 'क, ख, प, फ' परे होने पर 'कुप्वोः ≍क ≍पौ च' (९८) प्रवृत्त हो जाता है। शेष बचे "च, छ, ट, ठ, त, थ" वर्णों के परे होने पर ही 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) सूत्र प्रवृत्त होता है। 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से स् होने पर भी केवल 'त, थ' परे होने पर ही वह अविकृत=विकाररहित=वैसे का वैसा रहता है, क्योंकि 'च, छ' में उसे 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से 'श्' और 'ट, ठ' में उसे 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से 'ष्' हो जाता है । ग्रन्थकार ने 'विष्णुस्त्राता' यह उदाहरण 'त्' का दिया । संस्कृत साहित्य में प्रायः थकारादि शब्द के न मिलने के कारण उन्हों ने थकार परे का उदाहरण नहीं दिया । थकार परे के 'बालस्थूत्करोति' आदि उदाहरण हैं । इन सब की तालिका निम्नलिखित प्रकार से जाननी चाहिये—

ख्	नर ≍खादति, नरः खादति ।	कुप्वोः ≍क≍पौ च (९८) ।
फ्	वृक्ष ≍फलति, वृक्षः फलति ।	,,
छ्	वृक्षश्छादयति ।	विसर्जनीयस्य सः (७३), स्तोः श्चुना श्चुः (६२)।
ठ्	देवष्ठक्कुरः ।	,, ष्टुना ष्टुः (६४)।
थ्	बालस्थूत्करोति ।	,,
च्	पुरुषश्चिनोति ।	,, स्तोः श्चुना श्चुः (६२)।
ट्	कुधष्टीकते ।	,, ष्टुना ष्टुः (६४)।
त्	रामस्त्राता ।	,,

क् बाल ᳵकरोति, बालः करोति । कुप्वोः ᳵक ᳶपौ च (९८) ।
प् नृप ᳶपाति, नृपः पाति । ,,
श् पुरुषः शेते, पुरुषश्शेते । वा शरि (१०४), विसर्जनीयस्य सः (१०३), स्तोः श्चुना श्चुः (६२) ।
ष् नृपः षष्ठः, नृपष्षष्ठः । ,, ,, ष्टुना ष्टुः (६४) ।
स् सर्पः सरति, सर्पस्सरति । ,, ,,

नोट—'कुप्वोः ᳵक ᳶपौ च' (९८) सूत्र भी विसर्गसन्धि के प्रकरण का है, हल्सन्धि में प्रसङ्गवश लिखा गया था ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१०५ स-सजुषो रुँः ।८।२।६६॥

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुँः स्यात् ।

अर्थः—पद के अन्त वाले सकार तथा सजुष् शब्द के षकार के स्थान पर 'रुँ' आदेश होता है ।

व्याख्या—ससजुषोः ।६।२। [सूत्र में 'रो रि' द्वारा रेफ का लोप हुआ २ है ।] पदस्य ।६।१। [यह अधिकार पीछे से आ रहा है ।] रुँः ।१।१। समासः—सश्च सजूश्च=ससजुषौ, तयोः=ससजुषोः । इतरेतरद्वन्द्वः । 'पदस्य' इस विशेष्य का 'ससजुषोः' यह विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(ससजुषोः) सकारान्त और सजुषशब्दान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (रुँः) 'रुँ' आदेश हो जाता है । यहां सम्पूर्ण पद के स्थान पर विहित 'रुँ' आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र से अन्त्य अल् अर्थात् सकारान्त पद के सकार को तथा सजुषशब्दान्त पद के षकार को होगा ।

यह सूत्र विसर्ग की उत्पत्ति में कारण है । पदान्त सकार को जब यह रुँ आदेश कर देता है तो उकार की इत्सञ्ज्ञा हो कर 'र्' शेष रह जाता है । उस रेफ के स्थान पर अवसान में तथा खर् परे होने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (९३) से विसर्ग आदेश हो जाते हैं । तदनन्तर विसर्ग के स्थान पर यथायोग्य जिह्वामूलीय आदि आदेश हुआ करते हैं । इन सब का ब्योरा हम पीछे लिख चुके हैं ।

अब 'खर्' से भिन्न अक्षर यदि 'र्' से परे हो तो रेफ के स्थान पर क्या २ आदेश होता है ? इस को बतलाने के लिये यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है ।

'रुँ' में उकार अनुनासिक होने से 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र द्वारा इत्-सञ्ज्ञक होता है । उकार के इत् करने का फल आगे कहा जाएगा ।

'शिवस्+अर्च्यः' (शिव जी पूजनीय है) यहां इस सूत्र से पदान्त सकार को रुँ,

पुनः रुँ के उकार की इत्सञ्ज्ञा तथा लोप हो कर 'शिवर् + अर्च्यः' हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१०६ अतो रोरप्लुतादप्लुते ।६।१।११०॥

अप्लुतादतः परस्य रो रुः स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽर्च्यः।

अर्थः—अप्लुत अत् से परे रुँ को उ आदेश हो जाता है अप्लुत अत् परे हो तो।

व्याख्या—अतः ।५।१। अप्लुतात् ।५।१। रोः ।६।१। उत् ।१।१। ['ऋत उत्' सूत्र से] अप्लुते ।७।१। अति ।७।१। ['एङः पदान्तादति' से] अर्थः—(अप्लुतात्) अप्लुत (अतः) अत् से परे (रोः) रुँ के स्थान पर (उत्) उत् हो (अप्लुते) अप्लुत (अति) अत् परे हो तो। यहां अत् उत् में तपर करने से ह्रस्व अकार उकार लिये जाते हैं।

'शिवर्+अर्च्यः' यहां अप्लुत अत् से परे रुँ के स्थान पर 'उ' हो—'शिव उ + अर्च्यः' हुआ। पुनः 'आद् गुणः' (२७) से अ + उ मिल कर 'ओ' गुण हुआ तो 'शिवो+ अर्च्यः'। अब 'एङः पदान्तादति' (४३) से पूर्वरूप करने पर—'शिवोऽर्च्यः' प्रयोग सिद्ध होता है।

यद्यपि 'ससजुषो रुँः' (१०५) सूत्र के असिद्ध होने से उत्वविधि (६।१।११०) के प्रति रुत्वविधि (८।२।६६) असिद्ध होनी चाहिये थी तथापि वचनसामर्थ्य से असिद्ध नहीं होती; क्योंकि यदि रुत्वविधि को असिद्ध मानें तो सारे व्याकरण में रुँ कहीं नहीं मिल सकेगा, यतः इस व्याकरण में उत्वोपयोगी रुत्व करने वाला यही एक सूत्र है।

ध्यान रहे कि रुँ के स्थान पर उत् नहीं होता; किन्तु उकार की इत् सञ्ज्ञा हो लोप हो जाने पर शेष बचे र् के स्थान पर ही उत् होता है। सूत्र में रुँ के कथन का यह तात्पर्य है कि रुँ के र् को ही उत्व हो अन्य र् को न हो। यथा—प्रातर्+अत्र = प्रातरत्र, धातर्+अत्र= धातरत्र, लङि—अजागर्+इह=अजागरिह। इत्यादियों में रुँ के रेफ के न होने से उत्व नहीं होता।

यहां 'अप्लुत' ग्रहण का प्रयोजन बालकों के लिये अनुपयोगी जान नहीं लिखते। इस का 'सिद्धान्त-कौमुदी' में सविस्तार विचार किया गया है वहीं देखें।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ बालोऽत्र। २ सोऽपि। ३ पुरुषोऽधुना। ४ मानुषोऽद्य। ५ शुद्धोऽहम्। ६ छात्रोऽहम्। ७ हस्तोऽस्य। ८ रामोऽस्मि। ९ नूतनोऽभ्यागतः। १० ग्रामोऽभ्यर्णः। ११ गजोऽभिषेकः। १२ सोऽपवादः। १३ ततोऽन्यथा। १४ समाचारोऽन्तिमः। १५ मोऽनुस्वारः। १६ ज्येष्ठोऽनुजः। १७ शान्तोऽनलः। १८ वचनोऽनुनासिकः १९ सुबोधोऽसि न्यूनोऽसि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१०७ हशि च ।६।१।१११॥

तथा। शिवो वन्द्यः।

अर्थः—हश् परे होने पर अप्लुत अत् से परे रु के स्थान पर उत् आदेश होता है।

व्याख्या—अप्लुतात् ।५।१। अतः ।५।१। रोः ।६।१। ['अतो रोरप्लुतादप्लुते' से] उत् ।१।१। ['ऋत उत्' से] हशि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(अप्लुतात्) अप्लुत (अतः) अत् से परे (रोः) रु के स्थान पर (उत्) उत् आदेश होता है। (हशि) हश् परे होने पर। उदाहरण यथा—

'शिवस् + वन्द्यः' (शिव जी वन्दनीय है) यहां 'ससजुषो रुः' (१०५) सूत्र से सकार को रु हो, उकार की इत्सञ्ज्ञा तथा लोप करने से-'शिवर् + वन्द्यः' बना। अब वकार=हश् परे रहते अप्लुत अत् से परे रेफ को उकार आदेश हो—'शिव उ+वन्द्यः' हुआ। पुनः 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश किया तो 'शिवो वन्द्यः' सिद्ध हुआ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

ह रामो हसति।
य बालो याति।
व शिवो वन्द्यः।
र बालो रौति।
ल बुधो लिखति।
ञ बालो ञकारं पश्यति।
म मूर्खो मुह्यति।
ङ जनो ङादिशब्दं न विन्दति।
ण को णोपदेशो धातुः।
न स भक्तो नमतीश्वरम्।
झ वृक्षो झञ्झया पतितः।
भ सूर्यो भाति।
घ घोरो घोषिणो नादः।
ढ शिवो ढक्कां ननाद। [अन्तर्भावितण्यर्थः]
ध पर्वतो धौतः।
ज अगदो ज्वरघ्नः।
ब को बालः।
ग नरो गच्छति।
ड काको डिड्ये।
द नृपो दास्यति।

'ससजुषो रुः' (१०५) सूत्र से किया रुत्व यहां भी पूर्ववत् वचनसामर्थ्य से असिद्ध नहीं होता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१०८ भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि। ८।३।१७॥

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि। देवा इह। देवायिह। भोस्, भगोस्, अघोस् इति सान्ता निपाताः। तेषां रोर्यत्वे कृते—

अर्थः—अश् प्रत्याहार परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले रुँ के स्थान पर यकार आदेश होता है।

व्याख्या—भोभगोअघोअपूर्वस्य ।६।१। रोः ।६।१। ['रोः सुपि' से] यः ।१।१। अशि ।७।१। समासः—भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्च = भो-भगो-अघो-आः, इतरेतरद्वन्द्वः। सन्ध्यभावः सौत्रः, अथवा एतदीयानुकृतसकाराणां रुत्वे यत्वे च तल्लोपः। भो-भगो-अघो-आः पूर्वे यस्मात् स भो-भगो-अघो-अपूर्वस्तस्य, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य) भोपूर्वक, भगोपूर्वक, अघोपूर्वक तथा अवर्णपूर्वक (रोः) रुँ के स्थान पर (यः) य आदेश हो जाता है (अशि) अश् परे हो तो। उदाहरण यथा—

देवास् + इह = देवारुँ + इह (ससजुषो रुँः) = 'देवार् + इह' यहां 'इह' शब्द का आदि इकार=अश् परे है अतः अवर्ण पूर्वक रु को य् हो—'देवाय्+इह' बना। अब 'लोपः शाकल्यस्य' (३०) सूत्र से यकार का वैकल्पिक लोप करने से—'देवा इह' तथा 'देवायिह' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि लोप वाले पक्ष में लोप (८।३।१९) के असिद्ध होने से 'आद् गुणः' (६।१।८४) सूत्र द्वारा गुण नहीं होता।

भोस्, भगोस् तथा अघोस् ये सकारान्त निपात हैं; अर्थात् चादिगण में पाठ होने से इन की 'चादयोऽसत्त्वे' (५३) सूत्र द्वारा निपातसञ्ज्ञा है। निपातसञ्ज्ञा होने से 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) सूत्र से इन की अव्ययसञ्ज्ञा भी हो जाती है। यहां सूत्र में इन के एकदेश [भो, भगो, अघो] का ग्रहण किया गया है। ये सब सम्बोधन [सर्वसाधारण के सम्बोधन में भोस्, भगवान् के सम्बोधन में भगोस् तथा पापी के सम्बोधन में अघोस् का प्रायः प्रयोग देखा जाता है।] में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण यथा—

भोस् + देवाः [हे देवताओ !], भगोस्+नमस्ते [हे भगवन् ! आप को नमस्कार हो], अघोस् + याहि [हे पापिन् ! दूर हो]। इन सब स्थानों पर 'ससजुषो रुँः' (१०५) सूत्र से सकार को रुँ आदेश हो, उकार की इत् सञ्ज्ञा और उस का लोप करने पर—"भोर्+देवाः, भगोर्+नमस्ते, अघोर्+याहि" रूप बने। अब इस सूत्र से रुँ को य् आदेश करने से—"भोय्+देवाः, भगोय्+नमस्ते, अघोय्+याहि" इस प्रकार स्थिति हुई। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१०६ हलि सर्वेषाम् ।८।३।२२॥

भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि। भो देवाः। भगो नमस्ते। अघो याहि।

अर्थः—हल् परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले यकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—भो-भगो अघो अ-पूर्वस्य ।६।१। ['भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' से] यस्य ।६।१। ['व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' से वचनविपरिणाम कर के] लोपः ।१।१। ['लोपः शाकल्यस्य' से] हलि ।७।१। सर्वेषाम् ।६।३। अर्थः—[भोभगोअघोअ-पूर्वस्य] भोपूर्वक, भगोपूर्वक, अघोपूर्वक तथा अवर्णपूर्वक (यस्य) यकार का (हलि) हल् परे होने पर (लोपः) लोप हो जाता है (सर्वेषाम्) सब आचार्यों के मत में ।

इस सूत्र से यकार का नित्यलोप हो कर "भो देवाः, भगो नमस्ते, अघो याहि" ये रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

ग्रन्थकार ने इस सूत्र के अवर्णपूर्वक यकार के लोप का उदाहरण नहीं दिया । 'देवा हसन्ति' आदि स्वयम् उदाहरण ढूंढ लेने चाहियें ।

अभ्यास (२३)

(१) सूत्रसमन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करो—

१. बाला आगच्छन्ति । २. नरो हन्ति । ३. चाण्डालोऽभिजायते । ४. भो देवदत्त ! सर्वेऽत्र मूर्खास्सन्ति । ५. अघो याहि । ६. भो (?) परमात्मन् । ७. कदागुरोकसो भवन्तः (भवन्तः ओकसः कदा अगुः । आप घर से कब गये ? ।) । ८. कोऽदात् । ९. दुष्टो जिह्म इहासीत । १०. त्रैगुण्यविषया वेदाः । ११. धीरो न शोचति । १२. मृग एति । १३. छात्रयिच्छति । १४. पण्डिता भाग्यवन्तः । १५. नृपा ददति ।

(२) सूत्र निर्देश-पूर्वक सन्धि करो—

१. कविस् + करोति । २. हरिस् + तिष्ठति । ३. रविस्+उदेति । ४. लक्ष्मीस् + इच्छति । ५. तन्मस्+आसुव । . कुतस्+अत्र । ७. गौस् + गच्छति । ८. अश्वा-स्+धावन्ति । ९. अपिपर्+अयम्* । १०. कृष्णमेघः+तिरस् + दधे । ११. नार्थस्+लृकारोपदेशेन‡ । १२. रामस् + अब्रवीत । १३. भगोस् + परमात्मन् । १४. पुनर्+हसति । १५. हयास् + धावन्ति ।

(३) उत्वविधि के प्रति रुत्वविधि सिद्ध है या असिद्ध ? यदि असिद्ध है तो क्यों ? ।

(४) "अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः" इस परिभाषा तथा "पर्याय-शब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते" इस वचन का सोदाहरण स्पष्ट विवेचन करें ।

—०:❀:०—

* 'पृ पालनपूरणयोः' (जुहो०) इति धातोर्लङि प्रथमपुरुषैकवचनमिदम् ।

‡ यहां ऍ को य् हो कर उस का वैकल्पिक लोप होगा ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—११० रोऽसुपि ।८।२।६९ ॥

अह्नो रेफादेशो न तु सुपि । अहरहः । अहर्गणः ।

अर्थः—अहन् शब्द के अन्त्य नकार के स्थान पर रेफ आदेश होता है । सुप् परे होने पर नहीं होता ।

व्याख्या—अहन् ।६।१। ['अहन्' सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । यहां षष्ठी-विभक्ति का लुक् समझना चाहिये ।] रः ।१।१। रेफादकार उच्चारणार्थः । असुपि ।७।१। अर्थः—(अहन्) अहन् शब्द के स्थान पर (रः) र् आदेश होता है (असुपि) परन्तु सुप् परे होने पर नहीं होता । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य नकार को ही रेफ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

अहन् + अहन्=अहर् + अहर=अहरहः । ['अहन् सु' इस पद को 'नित्यवीप्सयोः' (८८६) से द्वित्व हो—'अहन् सु अहन् सु' बना । पुनः 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से दोनों सुप्प्रत्ययों का लुक् करने से—'अहन् अहन्' । अब यहां 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) से प्रत्यय-लक्षण के निषेध हो जाने से सु=सुप् के परे होने के कारण नकार को रेफ आदेश हो—अहरहन् दूसरे में भी लुक् होने से असुप् होने के कारण 'रोऽसुपि' सूत्र से नकार को रेफ तथा अव-सान में रपे विसर्ग आदेश करने पर—'अहरहः' प्रयोग सिद्ध होता है ।]

दूसरा उदाहरण—अहन् + गण = अहर् + गण=अहर्गणः । [अह्नां गणः=अहर्गणः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः । 'अहन् आम् + गण सु' इस अलौकिकविग्रह में विभक्तियों का लुक् हो—अहन् + गण । अब यहां 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) से प्रत्ययलक्षण के निषेध होने से आम् = सुप् के परे न होने के कारण नकार को रेफ आदेश हो—'अहर्गण' । विभक्ति लाने से—'अहर्गणः' प्रयोग सिद्ध होता है ।]

यह सूत्र 'अहन्' (३६३) [पदान्त में अहन् के नकार को रुँ आदेश हो ।] सूत्र का अपवाद है; अर्थात् उस सूत्र से रुँ प्राप्त होने पर इस सूत्र से रेफ आदेश विधान किया जाता है । यदि रुँ आदेश होता तो 'अहरहः' में 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (१०६) सूत्र द्वारा तथा 'अहर्गणः' में 'हशि च' (१०७) सूत्र द्वारा उत्व हो कर अनिष्ट रूप बन जाता । अब रेफ आदेश करने से उत्व न होगा । इस कारण "अहरहरत्र, अहरहर्दीप्तिः, अहरहर्गच्छति" इत्यादि प्रयोग बनेंगे, 'अहोऽहोत्र' आदि नहीं । यही रुत्व न कह कर रेफ आदेश कहने का प्रयोजन है ।

प्रश्नः—आप ने 'रोऽसुपि' सूत्र को 'अहन्' (३६२) सूत्र का अपवाद माना है, परन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्राप्ति अवश्य हुआ करती है । परन्तु यहां 'रोऽसुपि' के उदाहरणों में 'अहन्' (३६३) सूत्र प्राप्त नहीं हो

सकता । तथाहि—'रोऽसुपि' सूत्र के "अहन् + अहन्, अहन्+गण" इत्यादि उदाहरण हैं । इन में सुप् का लुक् होने से 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) द्वारा प्रत्ययलक्षण न हो सकने के कारण पदसञ्ज्ञा न हो सकेगी । पदसञ्ज्ञा न हो सकने से 'अहन्' (३६३) सूत्र प्राप्त नहीं हो सकेगा । अतः प्रतीत होता है कि यह सूत्र 'अहन्' (३६३) का अपवाद नहीं किन्तु स्वतन्त्रतया रेफ आदेश विधान करने वाला है ।

उत्तर—आप को 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) सूत्र के अर्थ में भ्रान्ति हो गई है । उसका अर्थ यह है—"लुक्, श्लु, लुप् शब्दों से प्रत्यय का अदर्शन करने पर उसको मान कर अङ्ग के स्थान पर कार्य नहीं होते" यहां स्पष्ट अङ्ग को कार्य करने का निषेध है । पदसञ्ज्ञा अङ्गकार्य नहीं; क्योंकि वह अङ्ग और प्रत्यय दोनों को मिला कर की जाती है । अतः लुक् आदि शब्दों द्वारा सुप् प्रत्यय का लुक् हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है और उसके हो जाने से तदाश्रित कार्य भी बेरोकटोक प्राप्त होते हैं । यथा—'राजपुरुषः' यहां ङस् का लुक् होने पर पदसञ्ज्ञा हो जाने के कारण 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से पद के अन्त वाले नकार का लोप सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार 'अहरहः, अहर्गणः' आदियों में सुप् का लुक् हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा होती थी और उस के होने से 'अहन्' (३६३) सूत्र द्वारा रुत्व प्राप्त था । उस के प्राप्त होने पर यह 'रोऽसुपि' सूत्र बनाया गया है, अतः यह उसका अपवाद है । इसके प्रवृत्त होने में 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) सूत्र से सुप् का अभाव हो जाता है क्योंकि यह अङ्ग के स्थान पर रेफ आदेश करता है ।

'असुपि' यहां प्रसज्यप्रतिषेध है । अतः सुप् परे न हो और चाहे जो हो यह सूत्र प्रवृत्त होगा । यदि यहां पर्युदास-प्रतिषेध मानें तो सुप् से भिन्न तत्सदृश अर्थात् प्रत्यय परे होने पर ही यह सूत्र प्रवृत्त हो सकेगा; 'अहर्भाति, अहरहः, अहर्गणः' इत्यादि स्थानों पर जहां प्रत्यय परे नहीं प्रवृत्त न हो सकेगा, केवल 'अहर्वान्' इत्यादि स्थानों पर ही प्रवृत्त होगा । अतः यहां पर्युदास प्रतिषेध मानना उचित नहीं, प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही युक्त है । सुप् का निषेध इस लिये किया गया है कि 'अहोभ्याम्, अहोभिः' इत्यादि स्थानों पर रेफ न हो कर 'अहन्' (३६३) से रुत्व हो जाय । यदि यहां रेफ आदेश होता तो 'अहो रम्यम्' की तरह 'हशि च' (१०७) से उत्व न हो सकता और उसके न होने से गुण भी न हो पाता ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—"अहरिदम्, अहरिदानीम्, अहर्भाति, अहर्गच्छति" प्रभृति जान लेने चाहियें ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१११ रो रि ।८।३।१४॥

रेफस्य रेफे परे लोपः ।

अर्थः—रेफ का रेफ परे होने पर लोप होता है ।

व्याख्या—रः ।६।१। रि ।७।१। लोपः ।१।१। ['ढो ढे लोपः' से] अर्थः—(रः) रेफ का (रि) रेफ परे होने पर (लोपः) लोप हो जाता है। इसी प्रकार का एक सूत्र—'ढो ढे लोपः' (५५०) है । इस का अर्थ—(ढः ।६।१) ढ् का (ढे ।७।१) ढ् परे होने पर (लोपः ।१।१) लोप हो जाता है ।

इन दोनों सूत्रों का उपयोग अग्रिम सूत्र के उदाहरणों में किया जायगा ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्-११२ ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ।६।३।११०॥

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । अणः किम् ? तृढः । वृढः ।

अर्थः—ढकार और रेफ के लोप में निमित्तभूत जो ढकार और रेफ उन के परे होने पर पूर्व अण् के स्थान पर दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—ढ्रलोपे ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। अणः ।६।१। दीर्घः ।१।१। समासः—ढ् च रश्च=ढ्रौ, इतरेतरद्वन्द्वः । रेफादकार उच्चारणार्थः । ढ्रौ लोपयतीति ढ्रलोपः, ण्यन्तात् कर्मण्युपपदेऽण्प्रत्ययः । ढकार और रेफ का लोप करने वाले इस व्याकरण में 'ढो ढे लोपः' (५५०) तथा 'रो रि' (१११) में ढकार और रेफ ही हैं । अर्थः—(ढ्रलोपे) ढकार और रेफ का लोप करने वाले अर्थात् ढ् वा र् के परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (अणः) अ, इ, उ वर्णों के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है । उदाहरण यथा—

'पुनर्+रमते' [फिर खेलता है] यहां 'रमते' के आदि रेफ को मान कर 'पुनर्' के रेफ का 'रो रि' (१११) सूत्र से लोप हो जाता है । पुनः इस रेफलोप में निमित्त 'रमते' वाले रेफ के परे होने पर नकारोत्तर अकार=अण् को दीर्घ हो कर—'पुना रमते' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'हरिस्+रम्यः' [भगवान् विष्णु रमणीय हैं] = हरिरुँ+रम्यः = हरिर्+रम्यः=हरि+रम्यः= 'हरी रम्यः' ।

शम्भुस्+राजते=शम्भुरुँ+राजते=शम्भुर् + राजते शम्भु+राजते= 'शम्भू राजते' ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ अहा रम्यम् । २ ना रम्य ! [नर् + रम्य ! नृशब्दस्य सम्बोधने] । ३ अन्ता राष्ट्रियः ।

। सवितू रश्मयः । ५ नीरुक् । ६ लीढाम् [लिढ् + ढाम्, वह चाटे] । ७ भूपती रक्षति । फेरू रौति । ९ लीढे । १० नीरसः । ११ दाशरथी रामः । इत्यादि ।

इस सूत्र में अण् प्रत्याहार पीछे कहे अनुसार पूर्व णकार (अ इ उ ण्) से ही लिया जायगा; इस से 'तृढः' (मारा), 'वृढः' (तैयार, उद्यत) यहां पूर्व ऋकार को दीर्घ होगा । तथाहि—"तृढ् + ढ, वृढ् + ढ" यहां 'ढो ढे लोपः' (५५०) सूत्र से ढकार का लोप हो कर—"तृढः; वृढः" प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

ढलोप का उदाहरण मूल में नहीं दिया गया; इन के—लिढ्+ढ=लि+ढ='लीढः' प्रभृति उदाहरण हैं ।

यहां 'पूर्वस्य' ग्रहण का प्रयोजन 'सिद्धान्त-कौमुदी' में देखना चाहिये ।

नोट—'पुना रमते' में कई लोगों के द्वारा किया जाता हुआ 'पुनस् + रमते' यह छेद अशुद्ध है, क्योंकि—यह रेफान्त अव्यय है, सकारान्त नहीं । वैसा होने पर 'मनोरथः' की तरह 'पुनो रमते' बन जाता । "हरिस् + रम्यः शम्भुस् + राजते' ये छेद तो शुद्ध हैं, अकार-पूर्व न होने से इन में 'हशि च' (१०७) प्राप्त नहीं ।

[लघु०] 'मनस्+रथ' इत्यत्र रुँत्वे कृते 'हशि चे' त्युत्वे 'रो री' ति लोपे च प्राप्ते—

अर्थः—'मनस् + रथ' यहां ('ससजुषो रुँः' से) सकार को रुँ किया तो 'हशि च' से उत्व तथा 'रो रि' से रेफ का लोप प्राप्त हुआ । [इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है]

व्याख्या—यहां उत्व और रेफ-लोप युगपत् (इकट्ठे) प्राप्त होते हैं । इन दोनों में कौन हो ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम-सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—११३ विप्रतिषेधे परं कार्यम् ।१।४।२॥

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात् । इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रा-सिद्धम्' इति 'रो री' त्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव । मनोरथः ।

अर्थः—तुल्यबल वालों का विरोध होने पर परकार्य होता है ।

व्याख्या—विप्रतिषेधे ।७।१। परम् । १।१। कार्यम् ।१।१। अर्थः—(विप्रतिषेधे) विप्रतिषेध होने पर (परम्) पर (कार्यम्) कार्य होता है । "अन्यत्रान्यत्रलब्धावकाशयोरेकत्र प्राप्तिस्तुल्यबलविरोधः" । तुल्यबल वाले दो कार्यों के विरोध को विप्रतिषेध कहते हैं । पृथक् स्थानों (जहां वे परस्पर प्राप्त नहीं हो सकते) पर चरितार्थ होने वाले सूत्र तुल्यबल वाले होते हैं । इन तुल्यबल वालों का यदि विरोध हो जाए तो इन में जो अष्टाध्यायी में परे

पढ़ा गया है वही प्रवृत्त होगा। यथा—'हशि च' सूत्र 'शिवो वन्द्यः' आदि स्थानों पर चरितार्थ हो चुका है इन स्थानों पर 'रो रि' सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता और 'रो रि' सूत्र 'हरी रम्यः' आदि स्थानों पर चरितार्थ हो चुका है इन स्थानों पर 'हशि च' सूत्र प्राप्त नहीं हो सकता; तो इस प्रकार 'हशि च' और 'रो रि' तुल्यबल वाले हैं। अब इन तुल्यबल वालों का 'मनर्+रथ' यहां विरोध उत्पन्न हो गया है। तो यहां वही कार्य होगा जो अष्टाध्यायी में परे पढ़ा गया होगा। 'हशि च' (६।१।१११) सूत्र से 'रो रि' (८।३।१४) सूत्र परे पढ़ा गया है अतः 'रो रि' द्वारा रेफलोप की प्राप्ति हुई। परन्तु 'रो रि' सूत्र त्रिपादी होने के कारण 'हशि च' की दृष्टि में असिद्ध है [देखो—'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१)] अतः 'हशि च' की दृष्टि में 'रो रि' का अस्तित्व ही नहीं रहता, इस से 'हशि च' से उत्व हो कर—'मन उ + रथ'। अब 'आद् गुणः' (२७) सूत्र से गुण एकादेश कर विभक्ति लाने से—'मनोरथः' प्रयोग सिद्ध होता है। मनसो रथः=मनोरथः (अभिलाषा)।

इसी प्रकार—१ बालो रोदिति। २ राघवो रामः। ३ काको रौति। ४ भूयो रमते। ५ ईश्वरो रचयति। इत्यादि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—११४ एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ।६।१।१२६॥

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपः स्याद्धलि, न तु नञ्समासे। एष विष्णुः। स शम्भुः। अकोः किम्? एषको रुद्रः। अनञ्समासे किम्? असः शिवः। हलि किम्? एषोऽत्र।

अर्थः—ककार रहित एतद् और तद् शब्द के सु का हल् परे होने पर लोप हो जाता है, परन्तु नञ्समास में नहीं होता।

व्याख्या—एतत्तदोः ।६।२। सुलोपः ।१।१। अकोः ।६।२। अनञ्समासे ।७।१। हलि ।७।१। समासः—एतच्च तच्च=एतत्तदौ, इतरेतरद्वन्द्वः। तयोः=एतत्तदोः। सोर्लोपः=सुलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। न नञ्समासः=अनञ्समासः, तस्मिन्=अनञ्समासे, नञ्तत्पुरुषः। अविद्यमानः ककारो ययोस्तौ=अकौ, तयोः=अकोः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(अकोः) ककाररहित (एतत्तदोः) एतद् और तद् शब्द के (सुलोपः) सु का लोप होता है (हलि) हल् परे हो तो। परन्तु (अनञ्समासे) नञ्समास में नहीं होता।

उदाहरण यथा—'एषस्+विष्णुः'=एष विष्णुः [यह विष्णु है]। यहां वकार=हल् परे होने से एतद् शब्द से परे 'सु' प्रत्यय का लोप हो जाता है।

'सस् + शम्भुः'= स शम्भुः। यहां शकार=हल् परे होने से तद् शब्द से परे 'सु' प्रत्यय का लोप हो जाता है।

एतद् और तद् शब्द की टि से पूर्व जब 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' (१२२६) सूत्र से अकच् प्रत्यय हो जाता है तब इन में ककार आ जाता है। तब हल् परे होने पर भी इन से परे 'सु' प्रत्यय का लोप नहीं हुआ करता। यथा—'एषकस्+रुद्रः' यहां सु का लोप न हो कर 'ससजुषो रुँः' (१०५) से रुत्व, 'हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश करने से 'एषको रुद्रः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—"सकस् +रुद्रः=सको रुद्रः, सकस्+शिवः=सकः शिवः" इत्यादि में हल् परे होने पर भी सु का लोप नहीं होता, क्योंकि तद् शब्द ककार से रहित नहीं है।

'अनञ्समासे' यहां प्रसज्यप्रतिषेध है अर्थात् नञ्समास न हो और चाहे समास हो या न हो सु का लोप हो जायगा। यदि यहां पर्युदासप्रतिषेध मानें तो नञ्समास से भिन्न तत्सदृश अर्थात् समास का ग्रहण होने से 'एष रुद्रः, स शिवः' आदि में सु का लोप न हो सकेगा; अतः प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही युक्त है।

नञ्समास में सुलोप नहीं होता। यथा—"असः शिवः, अनेषः शिवः" [न सः= असः, न एषः=अनेषः।] यहां सुँ को रुँ और रुँ को विसर्ग हो 'वा शरि' (१०२) से विकल्प कर के विसर्ग आदेश होगा। पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकार आदेश हो जायगा।

हल् परे होने पर सु का लोप कहा गया है इस से अच् परे होने पर सुलोप न होगा। यथा—एषस् + अत्र=एषरुँ + अत्र = एषर् + अत्र=एषउ + अत्र=एषो+अत्र = एषोऽत्र। इसी प्रकार—'सोऽत्र' यहां भी सुलोप न होगा।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

ह	स हसति। एष हसति।	भ	स भाति। एष भाति।
य	स याति। एष याति।	घ	स घोषः। एष घोषः।
व	स वमति। एष वमति।	ढ	स ढकारः। एष ढकारः।
र	स रमते। एष रमते।	ध	स धावति। एष धावति।
ल	स लुनाति। एष लुनाति।	ज	स जयति। एष जयति।
ञ	स ञकारः। एष ञकारः।	ब	स बध्नाति। एष बध्नाति।
म	स मुह्यति। एष मुह्यति।	ग	स गच्छति। एष गच्छति।
ङ	स ङकारः। एष ङकारः।	ड	स डिड्ये। एष डिड्ये।
ण	स णकारः। एष णकारः।	द	स ददाति। एष ददाति।
न	स नमति। एष नमति।	ख	स खनति। एष खनति।
झ	स झणत्कारः। एष झणत्कारः।	फ	स फलति। एष फलति।

छ स छादयति । एष छादयति ।
ठ स ठक्कुरः । एष ठक्कुरः ।
थ स थूत्करोति । एष थूत्करोति ।
च स चलति । एष चलति ।
ट स टिट्टिभः । एष टिट्टिभः ।
त स तरति । एष तरति ।
क स करोति । एष करोति ।
प स पठति । एष पठति ।
श स शेते । एष शेते ।
ष स षण्ढः । एष षण्ढः ।
स स सर्पति । एष सर्पति ।

—:*:—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—११५ सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ।६।१।१३२॥

स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत । सेमामविड्ढि प्रभृतिम् । सैष दाशरथी रामः ।

अर्थः—यदि केवल लोप होने से ही पाद पूरा होता हो तो अच् परे होने पर तद् शब्द के 'सु' का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—सः ।६।१। [तद् शब्द का प्रथमा के एकवचन में 'सस्' रूप बनता है । उस का यहां अनुकरण किया गया है । इस के आगे षष्ठी के एकवचन का "छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति" इस कथन से छन्दोवत् होने के कारण 'सुपां सुलुक्—' सूत्र से लुक् हो जाता है ।] सुलोपः ।१।१। ['एतत्तदोः सुलोपः—' से] अचि ।७।१। लोपे ।७।१। चेत् इत्यव्ययपदम् । एव इत्यप्यव्ययपदम् ['स्यश्छन्दसि बहुलम्' सूत्र से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति आती है । उस से यहां 'एव' पद का ही ग्रहण किया जाता है] । अर्थः—(सः) 'सस्' के (सुलोपः) सु का लोप हो जाता है (अचि) अच् परे होने पर (चेत्) यदि (लोपे) लोप होने पर (एव) ही (पाद-पूरणम्) पादपूर्त्ति होती हो तो ।

श्लोक आदि के एक विशेष भाग को छन्दःशास्त्र में 'पाद' कहते हैं; उसी का यहां ग्रहण समझना चाहिये । उदाहरण यथा—

"सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे ऽया विधेम नवया महा गिरा ।
यथा नो मीढ्वान्त्स्तवते सखा तव बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम् ॥"

यह ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के चौबीसवें सूक्त का प्रथम मन्त्र है । यहां 'निचृद्-जगती' छन्द है । जगतीछन्द के प्रत्येक पाद में बारह २ अक्षर होते हैं । "सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे" यह जगतीछन्द का एक पाद है । इस में 'सस् + इमाम्' इस अवस्था में सकार का लोप हो कर गुण हो जाने से बारह अक्षरों का पाद पूरा हो जाता है । यदि यहां इस सूत्र से सकार का लोप न करते तो सकार को रुँ, रुँ को य् और य् का वैकल्पिक लोप हो—

"स इमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे" इस प्रकार तेरह अक्षरों वाला पाद हो जाता; क्योंकि यकारलोप के असिद्ध होने से गुण प्राप्त नहीं हो सकता था। अब यहां इस सूत्र के सकार-लोप के त्रैपादिक न होने के कारण सिद्ध होने से बारह अक्षर पूरे हो जाते हैं कोई दोष नहीं आता। द्वितीय उदाहरण यथा—

"सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबलः॥"

[ये वे भगवान् दशरथनन्दन श्रीराम हैं। ये वे राजा युधिष्ठिर हैं। ये वे महादानी कर्ण हैं। ये वे महाबली भीम हैं।] यह 'अनुष्टुभ्' छन्द है। अनुष्टुभ् छन्द के चार पाद और प्रत्येक पाद में आठ २ अक्षर होते हैं। इन सब पादों में 'सस्+एषः' यहां इस सूत्र से स् का लोप हो 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि करने पर 'सैषः' प्रयोग सिद्ध होता है। इस से आठ २ अक्षरों वाले सब पाद पूरे हो जाते हैं। यदि यहां इस सूत्र से स् का लोप न करते तो सकार को रुँ, रुँ को य् और य् का वैकल्पिक लोप हो कर त्रैपादिकतामूलक असन्धि होने से— 'स एषः' या 'सयेषः' इस प्रकार रूप हो जाते। इस से प्रत्येक पाद में नौ २ अक्षर हो कर छन्दोभङ्ग हो जाता। अतः यहां पादपूर्त्ति का—सिवाय इस के कि स् का सिद्ध लोप किया जाए, अन्य कोई उपाय नहीं; इसलिये स् का लोप किया गया है।

'बहुलम्' की अनुवृत्ति से 'एव' इसलिये ग्रहण किया गया है कि यदि किसी अन्य उपाय से पाद पूरा हो सकता हो तो स् का लोप न हो। किन्तु जब पादपूर्त्ति का अन्य कोई उपाय न सूझता हो तब लोप करना चाहिये। यथा—

"सोऽहमाजन्मसिद्धानाम्, आफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानाम्, आनाकरथवर्त्मनाम्॥"
(रघुवंश, सर्ग १, श्लोक ५)

यहां 'सस्+अहम्' में सकार का लोप करने पर 'साहम्' बन जाने से पाद की पूर्त्ति हो जाती है। परन्तु यह पादपूर्त्ति 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (१०६) द्वारा उत्व करने पर भी हो सकती है। अतः यहां स् का लोप न कर उत्व ही करेंगे।

आचार्य वामन इस सूत्र के 'पाद' शब्द से ऋग्वेद के पाद का ही ग्रहण करते हैं। उन का कथन है कि यदि ऋग्वेद के पाद की पूर्त्ति होती होगी तो सकार का लोप हो जायगा। परन्तु सूत्र में किसी विशेष स्थान के पाद का उल्लेख न होने से सर्वत्र लोक अथवा वेद में इस की प्रवृत्ति होती है—ऐसा अन्य लोग मानते हैं। ग्रन्थकार ने दोनों मत दिखाने के लिये दोनों उदाहरण दे दिये हैं।

[लघु०] इति विसर्ग-सन्धि-प्रकरणम् ।

अर्थः—यह विसर्ग-सन्धि का प्रकरण समाप्त हुआ ।

व्याख्या—तनिक ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्पूर्ण प्रकरण विसर्गसन्धि का नहीं है । "अतो रोरप्लुतादप्लुते (१०६), हशि च (१०७), रोऽसुपि (११०), एतत्तदोः—(११४)" आदि सूत्रों का—अवसान अथवा खर् परक न होने से विसर्गों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । किञ्च यदि इस सम्पूर्ण प्रकरण को विसर्गसन्धिप्रकरण मानें तो 'पञ्चसन्धिप्रकरणम्' यह कथन असङ्गत हो जाता है क्योंकि तब चार प्रकरण ही होते हैं—१ अच्सन्धि-प्रकरण । २ प्रकृतिभाव-प्रकरण । ३ हल्सन्धि-प्रकरण । ४ विसर्गसन्धि-प्रकरण । अतः हमारे विचार में यहां दो प्रकरण ही होने चाहियें । 'वा शरि' (१०४) तक विसर्गसन्धि-प्रकरण और इससे आगे स्वादिसन्धि-प्रकरण । 'वा शरि' (१०४) सूत्र से आगे जितने सूत्र कहे गये हैं उन सब का सु आदि प्रत्ययों के साथ सम्बन्ध है अत. आगे 'स्वादिसन्धि-प्रकरण' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । 'सिद्धान्त-कौमुदी' में भी ऐसा किया गया है । इस प्रकार पाञ्च सन्धि-प्रकरण भी ठीक हो जाते हैं । प्रतीत होता है कि लिपिकारों की भूल से यहां दो प्रकरणों का एक प्रकरण कर दिया गया है ।

[लघु०] समाप्तञ्चेदं पञ्चसन्धि-प्रकरणम् ।

अर्थः—यह पञ्चसन्धिप्रकरण समाप्त हो चुका ।

व्याख्या—"१ अच्सन्धि-प्रकरण, २ प्रकृतिभाव-प्रकरण, ३ हल्सन्धि-प्रकरण, ४ विसर्गसन्धि-प्रकरण, ५ स्वादिसन्धि-प्रकरण" ये पाञ्च सन्धिप्रकरण हैं । यहां कई लोग प्रकृतिभावप्रकरण को सन्धिप्रकरण नहीं मानते । उन का कथन है कि 'हरी एतौ' आदि में प्रकृतिभाव अर्थात् सन्धि का अभाव ही विधान किया गया है किसी सन्धि का विधान नहीं; अतः प्रकृतिभावप्रकरण को सन्धिप्रकरण में गिनना भूल है । 'पञ्च-सन्धि-प्रकरणम्' इस की सङ्गति लगाने के लिये वे "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (७९), वा पदान्तस्य (८०)" द्वारा विधान की गई एक अनुस्वार-सन्धि की कल्पना करते हैं । परन्तु हमारी सम्मति में 'प्रकृतिभावप्रकरण' के अन्दर "मय उञो वो वा (५८), इकोऽसवर्णे—(५९), ऋत्यकः (६१)" आदि सन्धि करने वाले सूत्र पाए जाते हैं; अतः प्रकृतिभावप्रकरण भी एक प्रकार का सन्धिप्रकरण ही है । नवीन अनुस्वारसन्धि की कल्पना करना ग्रन्थकार के आशय से विपरीत जान पड़ता है । आगे विद्वज्जन स्वयं युक्तायुक्त का विचार कर लें ।

अभ्यास (२४)

(१) तुल्यबलविरोध किसे कहते हैं ? उदाहरण दे कर समन्वय करें ।

(२) 'रोऽसुपि' सूत्र किस का और कैसे अपवाद है ? ।

(३) 'सोऽचि—' सूत्र में 'एव' पद लाने की क्या आवश्यकता है ? ।

(४) पाञ्च सन्धिप्रकरण कौन २ से हैं ? क्या प्रकृतिभावप्रकरण को भी सन्धिप्रकरण में गिनोगे ? ।

(५) 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' सूत्र में 'अनञ्समासे' यहां कौन प्रतिषेध है और क्यों ? ।

(६) (क) 'एषकस् + शिवः' यहां सुलोप क्यों न हो ?

(ख) 'तृढः' यहां पूर्व अण् को दीर्घ क्यों न हो ? ।

(ग) 'मनोरथः' यहां रेफ का लोप क्यों न हो ? ।

(घ) 'अजर्घाः' यहां सन्धिच्छेद करो ।

—०:❀:०—

इति भैमी-व्याख्ययोपबृंहितायां
लघु-सिद्धान्तकौमुद्याम्
पञ्चसन्धि-प्रकरणम्
पूर्त्तिमगात् ॥



❀ अथ षड्लिङ्ग्यामजन्त-पुँल्लिङ्ग-प्रकरणम् ❀

व्याकरण-शास्त्र में शब्द तीन प्रकार के होते हैं। १. सुँबन्त, २. तिङन्त, ३. अव्यय *। अब सुँबन्त शब्दों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। जिन शब्दों के अन्त में सुँप् प्रत्यय हों उन्हें सुँबन्तशब्द कहते हैं। वे शब्द प्रथम दो प्रकार के होते हैं। १. अजन्त, २. हलन्त। जिन शब्दों के अन्त में अच् अर्थात् स्वर हों वे शब्द अजन्त तथा जिन शब्दों के अन्त में हल् अर्थात् व्यञ्जन हों वे शब्द हलन्त कहाते हैं। यथा—इस 'राम' शब्द के अन्त में अकार=अच् है अतः यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी अकारान्त अजन्त है। 'हरि' इस शब्द के अन्त में इकार=अच् है अतः यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी इकारान्त अजन्त है। 'पितृ' इस शब्द के अन्त में ऋकार=अच् है अतः यह अजन्त शब्द है और अजन्तों में भी ऋकारान्त अजन्त है। 'गो' इस शब्द के अन्त में ओकार=अच् है अतः यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी ओकारान्त अजन्त है। 'लिह्' इस शब्द के अन्त में हकार=हल् है अतः यह हलन्तशब्द है और हलन्तों में भी हकारान्त हलन्त है। 'राजन्' इस शब्द के अन्त में नकार=हल् है अतः यह हलन्तशब्द है और हलन्तों में भी नकारान्त हलन्त है। इस प्रकार अजन्त और हलन्त भेद से शब्द दो प्रकार के होते हैं। दो प्रकार के भी पुनः तीन लिङ्गों के भेद से छः प्रकार के हो जाते हैं। तथाहि—१. अजन्त-पुँल्लिङ्ग, २. अजन्त-स्त्रीलिङ्ग, ३. अजन्त-नपुंसकलिङ्ग, ४. हलन्त-पुँल्लिङ्ग, ५. हलन्त-स्त्रीलिङ्ग, ६. हलन्त-नपुंसकलिङ्ग,। इन छः भेदों के कारण ही इस प्रकरण को 'षड्लिङ्ग-प्रकरण' कहते हैं। अब क्रमप्राप्त प्रथम अजन्त-पुँल्लिङ्ग, शब्दों का ही विवेचन किया जाता है। सर्वप्रथम प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा की जाती है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—११६ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्
॥१।२।४५॥

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तञ्च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिक-सञ्ज्ञं स्यात्।

अर्थः—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़ कर अर्थ वाला शब्दस्वरूप प्रातिपदिक-सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—अर्थवत् ।१।१। अधातुः ।१।१। अप्रत्ययः ।१।१। प्रातिपदिकम् ।१।१।

---

* यद्यपि अव्ययशब्द भी सुँबन्त ही हैं तथापि इन से परे सम्पूर्ण सुँप् का लुक् हो जाने के कारण इन की उन से विशेषता है अतः ब्राह्मणवसिष्ठन्याय से इन का पृथक् उल्लेख किया गया है।

समासादि:—अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थवत्, 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (११८१) इस सूत्र से मतुप् प्रत्यय हो कर 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (१०६२) सूत्र से वकार हो जाता है। न धातुः=अधातुः, नञ्तत्पुरुषः। न प्रत्ययः=अप्रत्ययः, नञ्तत्पुरुषः। यहां प्रत्ययशब्द से प्रत्यय और प्रत्ययान्त दोनों का ग्रहण होता है। 'अर्थवत्' इस नपुंसक विशेषण के कारण 'शब्दस्वरूपम्' इस विशेष्य का अध्याहार किया जाता है, क्योंकि 'शब्दानुशासन' (शब्द-शास्त्र) प्रस्तुत है। अर्थः—(अधातुः) धातुरहित (अप्रत्ययः) प्रत्यय और प्रत्ययान्त रहित (अर्थवत्) अर्थ वाला शब्दस्वरूप (प्रातिपदिकम्) प्रातिपदिक सञ्ज्ञक होता है। अब इस सूत्र की खण्डशः व्याख्या करते हैं—

(१) जिस शब्द का कुछ न कुछ अर्थ हो वह 'प्रातिपदिक' होता है।

जैसे 'राम' इस शब्द का अर्थ दशरथ-पुत्र आदि है अतः इस की 'प्रातिपदिक' सञ्ज्ञा हुई।

(२) परन्तु वह धातु न होना चाहिये।

यथा 'अहन्' यह 'हन्' (अदा०) धातु के लङ् लकार के प्रथमपुरुष वा मध्यमपुरुष का एकवचन है। यहां धातुमात्र ही अवशिष्ट रह गया है, प्रत्यय का लोप हो चुका है; अतः इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न होगी। यदि यहां प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कर दी जाती तो 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो कर अनिष्ट रूप बन जाता। अतः सूत्रकार ने 'अधातुः' कह कर धातु की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का निषेध कर दिया है अब कोई दोष नहीं आता।

(३) वह अर्थवाला शब्द प्रत्यय न होना चाहिये।

यथा—'हरिषु, करोषि' यहां क्रमशः सुप् और सिप् प्रत्यय हुए २ हैं। यद्यपि ये अर्थवाले भी हैं तथापि इन की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा नहीं होगी। यदि इन की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाय तो इन के आगे 'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते' इस नियमानुसार 'सु' प्रत्यय की उत्पत्ति हो कर अनिष्ट हो जाय। अब 'अप्रत्ययः' के कथन से प्रत्यय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न न होने के कारण कोई दोष नहीं आता।

(४) वह अर्थवाला शब्द प्रत्ययान्त भी न होना चाहिये।

यथा—'हरिषु, करोषि' यहां समुदाय अर्थवाला है पर प्रत्ययान्त होने से इसकी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न होगी। यदि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाती तो औत्सर्गिक 'सु' की उत्पत्ति हो अनिष्ट हो जाता।

यद्यपि यहां 'घु, 'टि, घि' की भान्ति कोई छोटी सञ्ज्ञा भी हो सकती थी तथापि पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के अनुरोध से इतनी बड़ी सञ्ज्ञा की है। पाणिनि से पूर्ववर्ती

आचार्य चूंकि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करते चले आये हैं अतः पाणिनि ने भी उन का अनुसरण किया है।

शब्दों के विषय में विद्वानों में दो मत प्रचलित हैं। १ व्युत्पत्तिपक्ष, २ अव्युत्पत्तिपक्ष। अव्युत्पत्तिपक्षीय विद्वानों का कथन है कि किसी वस्तु की सञ्ज्ञा अपने सञ्ज्ञी को समुदाय-शक्ति से ही जनाती है उस में अवयवार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये। अर्थात् 'राम' यह सञ्ज्ञा समुदायशक्ति से ही दशरथ-पुत्र रूप सञ्ज्ञी को प्रकट करती है इस में अवयवार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये—यही अव्युत्पत्तिपक्ष है। व्युत्पत्तिपक्षीय विद्वानों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु की सञ्ज्ञा का कोई न कोई अर्थ—जो उस के अवयवों से निष्पन्न होता है—जरूर हुआ करता है। यथा—'राम' शब्द में 'रम्' (भ्वा० आ०) धातु से 'घञ्' प्रत्यय हुआ २ है। 'रम्' का अर्थ 'खेलना' और 'घञ्' प्रत्यय अधिकार को प्रकट करता है। अर्थात् जिस में (योगी जन) खेलते हैं वह 'राम' है। यही व्युत्पत्तिपक्ष है।

अवयवों द्वारा शब्दों के अर्थ करने की रीति बहुत प्राचीन है। वेद में इस पक्ष का बहुत आदर किया जाता है। परन्तु लोक में व्युत्पत्ति अव्युत्पत्ति दोनों पक्ष चलते हैं। अव्युत्पत्तिपक्ष में—जिस में न कोई धातु और न कोई प्रत्यय माना जाता है—'अर्थवदधातुः—'(११६) सूत्र प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करता है और व्युत्पत्तिपक्ष—जहां धातु आदि से परे कृत् या तद्धित प्रत्यय की कल्पना होती है—के लिये दूसरा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—११७ कृत्तद्धितसमासाश्च।१।२।४६॥

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा [प्रातिपदिक-सञ्ज्ञकाः] स्युः।

अर्थः—कृदन्त, तद्धितान्त तथा समास भी पूर्ववत् प्रातिपदिकसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—कृत्तद्धितसमासाः।१।३। च इत्यव्ययपदम्। प्रातिपदिकाः।१।३। [यहां पूर्व-सूत्र से आ रहे 'प्रातिपदिकम्' पद के वचन और लिङ्ग का विपरिणाम हो जाता है।] समासः—कृच्च तद्धितश्च समासाश्च=कृत्तद्धितसमासाः। इतरेतरद्वन्द्वः। इस सूत्र में पूर्वसूत्र से 'अर्थवत्' पद की अनुवृत्ति होती है। कृत और तद्धित अकेले अर्थवाले नहीं होते किन्तु जब प्रकृति [जिस से प्रत्यय किया जाता है उसे 'प्रकृति' कहते हैं। प्रत्ययात् पूर्वं क्रियत इति प्रकृतिः।] से युक्त होते हैं तभी अर्थवाले होते हैं। तो इसलिये यहां कृत से कृदन्त तथा तद्धित से तद्धितान्त लिया जाएगा। अर्थः—(कृत्तद्धितसमासाः) कृदन्त तद्धितान्त तथा समास (च) भी (प्रातिपदिकाः) प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होते हैं।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय में 'कृदतिङ्' (३०२) के अधिकार में कृत्-प्रत्यय तथा चतुर्थाध्याय के 'तद्धिताः' (९१६) के अधिकार में तद्धित-प्रत्यय पढ़े गये हैं। जिज्ञासुओं को वे अष्टाध्यायी में देखने चाहियें। ये प्रत्यय जिस के अन्त में होंगे उस समुदाय अर्थात् इन के सहित प्रकृति की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होगी। पूर्वसूत्र से प्रत्ययान्तों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का निषेध किया गया था; अब इसके द्वारा कृदन्तों तथा तद्धितप्रत्ययान्तों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की जाती है। व्युत्पत्तिपक्ष में—राम, कर्तृ, पितृ, कारक आदि कृदन्त तथा औपगव, पाणिनीय, शालीय, मालीय आदि तद्धितान्त शब्द इस के उदाहरण हैं।

"समास भी प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होते हैं"।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि समास की तो पूर्वसूत्र से ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा सिद्ध है *। क्योंकि न तो वह धातु है न प्रत्यय है और न प्रत्ययान्त है किन्तु अर्थवाला अवश्य होता है। अतः इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने के लिये पुनः प्रयास किस लिये किया गया है? 'न हि पिष्टस्य पेषणम्' अर्थात् पिसे का पुनः पिसना सम्भव नहीं होता।

इस का उत्तर वैयाकरण यह देते हैं कि यहां समासग्रहण नियम के लिये है—"यदि अनेक पदों का समूह जो कि सार्थक हो, प्रातिपदिकसञ्ज्ञक किया जाय तो समास ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञक हो अन्य समूह प्रातिपदिकसञ्ज्ञक न हों"। इस नियम से यह लाभ हुआ कि 'देवदत्तो भुङ्क्ते' इत्यादि सार्थक वाक्य जो पहले 'अर्थवदधातुः—' (११६) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होते थे अब न होंगे। इस विषय का विस्तार 'सिद्धान्त-कौमुदी' की व्याख्याओं में देखना चाहिये।

राजपुरुष, चित्रग्रीव, रामकृष्ण आदि समास के उदाहरण हैं, इनकी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होती है।

तो अब हम इन दो सूत्रों से प्रत्येक शब्द की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा कर सकते हैं।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—११८ स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिँभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ।४।१।२॥

सुँ, औ, जस् इति प्रथमा। अम्, औट्, शस् इति द्वितीया। टा, भ्याम्, भिस् इति तृतीया। ङे, भ्याम्, भ्यस् इति चतुर्थी। ङसिँ, भ्याम्, भ्यस् इति पञ्चमी। ङस्, ओस्, आम् इति षष्ठी। ङि, ओस्, सुप् इति सप्तमी।

* जहां २ समास में समासान्त 'टच्' आदि प्रत्यय होते हैं, वहां २ उन समासान्त प्रत्ययों के तद्धित होने से तद्धितान्तत्वेन ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।

अर्थः—"सुँ, औ, जस्" यह प्रथमा विभक्ति; "अम्, औट्, शस्" यह द्वितीया विभक्ति; "टा, भ्याम्, भिस्" यह तृतीया विभक्ति; "ङे, भ्याम्, भ्यस्" यह चतुर्थी विभक्ति; "ङसिँ, भ्याम्, भ्यस्" यह पञ्चमी विभक्ति; "ङस्, ओस्, आम्" यह षष्ठी विभक्ति; "ङि, ओस्, सुप्" यह सप्तमी विभक्ति [ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से परे हो]।

व्याख्या—स्वौजसमौट्—सुप् ।१।१। समासः—सुँश्च औश्च जश्च, अम् च औट् च शश्च, टाश्च भ्याञ्च भिश्च, ङेश्च भ्याञ्च भ्यश्च, ङसिँश्च भ्याञ्च भ्यश्च, ङश्च ओश्च आम् च, ङिश्च ओश्च सुप् च, एषां समाहारः=स्वौजसमौट्-सुप्। इस सूत्र में "सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसिँ, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस्, सुप्" इन इक्कीस प्रत्ययों का उल्लेख है। इन को सुँप् कहा जाता है। सुँ से लेकर सुप् के प् तक सुँप् प्रत्याहार बनता है। इस सूत्र का सम्पूर्ण अर्थ तभी हो सकता है जब हमें यह ज्ञात हो कि यह सूत्र किस २ अधिकार में पढ़ा गया है। अब उन अधिकारों को बताते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—११९ ङ्याप्प्रातिपदिकात् ।४।१।१॥

अधिकार-सूत्रम्—१२० प्रत्ययः ।३।१।१॥

अधिकार-सूत्रम्—१२१ परश्च ।३।१।२॥

इत्यधिकृत्य । ङ्यन्तादाबन्तात् प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः ।

अर्थः—"१. ङ्याप्प्रातिपदिकात्, २. प्रत्ययः, ३. परश्च" इन तीन सूत्रों का अधिकार कर के [उपर्युक्त 'स्वौजसमौट्—' सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न हुआ।] ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से परे 'सु' आदि इक्कीस प्रत्यय हों।

व्याख्या—हम ग्रन्थकार के इस सूत्रविन्यासक्रम से सहमत नहीं। हमारी सम्मति में एक तो 'स्वौजसमौट्—' सूत्र से पूर्व इन अधिकारसूत्रों को रखना उचित था, दूसरा इन अधिकार-सूत्रों का क्रम 'प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ऐसा होना चाहिये था 'स्वौजसमौट्—' सूत्र इन तीन अधिकारों के अन्तर्गत है अतः पहले तीनों अधिकार दर्शाने योग्य थे। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' यह अधिकार 'प्रत्ययः, परश्च' इन दोनों अधिकारों के अन्दर आ जाता है। अतः 'प्रत्ययः' 'परश्च' सूत्र लिखने के पश्चात् 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र लिखना उचित था। हम इन सूत्रों की अपने क्रम से ही व्याख्या करेंगे।

प्रत्ययः ।१।१। यह अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपाद का प्रथम तथा अधिकार-सूत्र

है। अष्टाध्यायी में सब से बड़ा यही अधिकार है। इस का अधिकार पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। "तीसरे, चौथे तथा पाञ्चवें अध्याय मे जो प्रकृति से विधान किये जाएं उन की प्रत्यय सञ्ज्ञा हो" यह इस सूत्र का अर्थ है।

जहां २ प्रकृति से प्रत्यय विधान किया जाता है वहां २ सर्वत्र प्रकृति पञ्चम्यन्त होती है। यथा—"अचः ।५।१। यत् ।१।१।" "स्वपः ।५।१। नन् ।१।१।" इन स्थानों पर पञ्चमी दिग्योग में होती है। अब इस दिग्योगपञ्चमी में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि क्या प्रत्यय प्रकृति से आगे=परे किया जाय या प्रकृति से पूर्व किया जाय ?। यथा 'अचो यत्' अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो। यहां 'अजन्त धातु से' यह दिग्योग में पञ्चमी है। इस से सन्देह होता है कि अजन्त धातु से पूर्व यत् हो या उस से परे यत् हो ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये महामुनि पाणिनि अन्य अधिकार चलाते हैं—

परश्च । परः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । 'प्रत्ययः' पद की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति आती है। अर्थः—प्रत्यय परे होता है। अर्थात् जिस से प्रत्यय विधान किया जाता है उस से प्रत्यय परे समझना चाहिये। यथा—'अचो यत्' (७७३) यहां अजन्त धातु से यत् प्रत्यय विधान किया गया है सो यत् प्रत्यय अजन्त धातु से परे होगा। 'स्वपो नन्' (८६१) यहां स्वप् धातु से नन् प्रत्यय विधान किया गया है सो नन् प्रत्यय स्वप् धातु से परे होगा *। अब इस प्रकार प्रत्यय का अधिकार और उस के स्थान का नियम कर अवान्तर अधिकार लिखते हैं—

ङ्याप्प्रातिपदिकात् ।५।१। समासः—ङी च आप् च प्रातिपदिकञ्च एषां समाहारः=ङ्याप्प्रातिपदिकम् , तस्मात्=ङ्याप्प्रातिपदिकात् । 'ङी' यह भेदक अनुबन्धों से रहित ग्रहण किया गया है, अतः 'ङीप् , ङीष् , ङीन्' सब का सामान्यतः ग्रहण होगा। इसी प्रकार 'आप्' यह भी भेदक अनुबन्धों से रहित होने के कारण 'टाप् , डाप् , चाप्' सब का ग्राहक होगा। यह अधिकारसूत्र है। इस का अधिकार पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। इस सूत्र में प्रकृति बतलाई गई है। अर्थः—यहां से ले कर पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जितने प्रत्यय कहे गये हैं वे ङ्यन्त आबन्त तथा प्रातिपदिक से परे हों। इसी सूत्र के अधिकार में 'स्वौजसमौट्—' (११८) सूत्र पढ़ा गया है। अतः उस सूत्र का यह अर्थ हुआ—"ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से परे सुँ, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय हों"।

इन इक्कीस प्रत्ययों के सात त्रिक बनते हैं। यथा—१. सुँ, औ, जस्। २. अम्,

* तब 'राम+टा' यहां पर टा प्रत्यय टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' से राम के आदि में न हो कर राम के परे होगा। इसी प्रकार 'चरेष्टः' (७९२) आदि।

औट्, शस् । ३. टा, भ्याम्, भिस् । ४. ङे, भ्याम्, भ्यस् । ५. ङसि, भ्याम्, भ्यस् । ६. ङस्, ओस्, आम् । ७. ङि, ओस्, सुप् । इन त्रिकों की क्रमशः "प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी" ये सञ्ज्ञाएं पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने की हुई हैं । महामुनि पाणिनि ने भी इन सञ्ज्ञाओं का उपयोग किया है । [देखो कारकप्रकरण] ।

अब इन विधान किये हुए इक्कीस प्रत्ययों की व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१२२ सुँपः ।१।४।१०२॥

सुँपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसञ्ज्ञानि स्युः ।

अर्थः—सुँप् का प्रत्येक त्रिक 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' सञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—सुँपः ।६।१। त्रीणि ।१।३। ['तिङस्त्रीणि त्रीणि—' से] एकशः इत्यव्ययपदम् । एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि ।१।३। ['तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' से] अर्थः—(सुँपः) सुँप् के जो (त्रीणि त्रीणि) तीन २ वचन, वे (एकशः) प्रत्येक (एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि) 'एकवचन-द्विवचन-बहुवचन' सञ्ज्ञक हों ।

सुँप् प्रत्याहार के सात त्रिक अर्थात् तीन २ वचन होते हैं । ये सातों 'एकवचन-द्विवचन-बहुवचन' सञ्ज्ञक होते हैं । 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) के अनुसार प्रत्येक त्रिक के अन्तर्गत तीन वचन क्रमशः एकवचन, द्विवचन, बहुवचन सञ्ज्ञक हो जाते हैं । यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	त्रिक-सङ्ख्या
प्रथमा	सुँ	औ	जस्	पहला त्रिक
द्वितीया	अम्	औट्	शस्	दूसरा "
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्	तीसरा "
चतुर्थी	ङे	"	भ्यस्	चौथा "
पञ्चमी	ङसिँ	"	"	पाञ्चवां "
षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्	छठा "
सप्तमी	ङि	"	सुप्	सातवां "

ध्यान रहे कि प्रत्येक त्रिक को "एकवचन + द्विवचन + बहुवचन" ये तीन सञ्ज्ञाएं

मिलती हैं। इन्हें वह अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययों को बांट देता है। यथा—'सुँ, औ, जस्' यह एक त्रिक है, इसे 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' ये तीन सञ्ज्ञाएं प्राप्त होती हैं। यह त्रिक इन तीन सञ्ज्ञाओं को अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययों क्रमशः दे देता है; इस से 'सुँ' यह एकवचन, 'औ' यह द्विवचन, 'जस्' यह बहुवचन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य छः त्रिकों में भी जान लेना चाहिये।

अब यह बतलाते हैं कि कहां एकवचन और कहां द्विवचन होता है? [बहुवचन के विषय में भी थोड़ी दूर आगे चल कर कहेंगे]।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१२३ द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ।१।४।२२।

द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः ।

अर्थः—द्वित्व और एकत्व की विवक्षा (कहने की इच्छा) में क्रमशः द्विवचनप्रत्यय और एकवचनप्रत्यय होते हैं।

व्याख्या—द्व्येकयोः ।७।२। द्विवचनैकवचने ।१।२। 'द्व्येकयोः' यहां "द्वौ च एकश्च, तेषु=द्व्येकेषु" ऐसा बहुवचन होना चाहिये था; परन्तु मुनि ने ऐसा न कर 'द्व्येकयोः' में द्विवचन ही किया है। उन के ऐसा करने का अभिप्राय यह है कि 'द्वि' शब्द से दो पदार्थ और 'एक' शब्द से एक पदार्थ ऐसा अर्थ ग्रहण न किया जाय किन्तु 'द्वि' शब्द से दो की सङ्ख्या अर्थात् द्वित्व और 'एक' शब्द से एक की सङ्ख्या अर्थात् एकत्व का ग्रहण हो। भाव यह है कि लोक में द्वि और एक शब्द सङ्ख्येयवाची ही प्रसिद्ध हैं सङ्ख्यावाची नहीं *। अर्थात् 'द्वि' शब्द से लोक में दो पदार्थ और 'एक' शब्द से एक पदार्थ ही लिया जाता है न कि दो और एक की सङ्ख्या। "दो पदार्थों में द्विवचन और एक पदार्थ में एकवचन हो" यह अर्थ सुसङ्गत नहीं होता। अतः मुनि ने 'द्व्येकयोः' कह कर द्वि और एक शब्द को सङ्ख्यावाची कर दिया है। इस से अब यह सुसङ्गत अर्थ हो जाता है—(द्व्येकयोः) दो सङ्ख्या अर्थात् द्वित्व और एक सङ्ख्या अर्थात् एकत्व होने पर (द्विवचनैकवचने) द्विवचन और एकवचन प्रत्यय हों।

किस २ अर्थ में कौन २ सा त्रिक हो? यह कारक प्रकरण का विषय है। अतः प्रथम कारकप्रकरणानुसार त्रिक का निर्णय कर चुकने के बाद पुनः इस सूत्र से वचननिर्णय करना

* एक, द्वि से ले कर नवदशन् शब्द तक सब शब्द सङ्ख्येयवाची होते हैं अतः पदार्थों के साथ इन का समानाधिकरण होता है। यथा—एको बालः, द्वौ पुरुषौ इत्यादि। विंशति आदि शब्द सङ्ख्या और सङ्ख्येय दोनों प्रकार के वाचक होते हैं। यथा—"गवां विंशतिः, ब्राह्मणानामेकोनविंशतिः" इत्यादियों में सङ्ख्यावाची हैं। "गावो विंशतिः, ब्राह्मणा एकोनविंशतिः" इत्यादियों में सङ्ख्येयवाची हैं।

चाहिये । यदि हमें एकत्व की विवक्षा होगी तो हम एकवचन और यदि द्वित्व की विवक्षा होगी तो द्विवचन करेंगे । यह इस सूत्र का सार है ।

अब रूपसिद्धि के लिये अवसानसञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१२४ विरामोऽवसानम् ।१।४।१०९॥

वर्णानामभावोऽवसानसञ्ज्ञः स्यात् । रुत्व-विसर्गौ । रामः ।

अर्थः—वर्णों का अभाव अवसान-सञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—विरामः ।१।१। अवसानम् ।१।१। 'विराम' शब्द का दो प्रकार का अर्थ होता है; पहला अधिकरण में 'घञ्' प्रत्यय मानने से और दूसरा भाव में 'घञ्' प्रत्यय स्वीकार करने से । प्रथम यथा—विरम्यतेऽस्मिन्निति=विरामः [यहां सामीपिक अधिकरण विवक्षित है] । उच्चारण का ठहराव जिस के पास किया जाता है उसे 'विराम' कहते हैं । उच्चारण का ठहराव अन्तिमवर्ण के पास किया जाता है अतः इस पक्ष में अन्तिमवर्ण 'विराम' होता है । द्वितीय यथा—विरमणं विरामः, भावे घञ् । उच्चारण का न होना 'विराम' होता है । अर्थात् किसी वर्ण से परे उच्चारण का न होना 'विराम' कहाता है । इस पक्ष में अन्तिम वर्ण से आगे अभाव की अवसानसञ्ज्ञा होती है । यही पक्ष ग्रन्थकार ने वृत्ति में स्वीकार किया है । पर हैं दोनों ही शुद्ध । अर्थः—(विरामः) वर्णों के उच्चारण का अभाव (अवसानम्) अवसान-सञ्ज्ञक होता है । यथा—'रामर्' यहां रेफ से आगे उच्चारणाभाव है उसी की यहां अवसान-सञ्ज्ञा है । ध्यान रहे कि पहले पक्ष में रेफ की ही अवसानसञ्ज्ञा होगी ।

'रामः' । 'राम' इस शब्द की अव्युत्पत्तिपक्ष में 'अर्थवदधातुः—'(११६) से तथा व्युत्पत्तिपक्ष में कृदन्त होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो "प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (१२०, १२१, ११४) इन के अधिकार में 'स्वौज-समौट्—' (११८) सूत्र द्वारा इक्कीस प्रत्यय प्राप्त हुए । तदनन्तर 'सुँपः' (१२२) से सात त्रिकों के अन्तर्गत तीन २ वचनों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन, बहुवचनसञ्ज्ञा हो गई । अब प्रथमा के एकत्व की विवक्षा में 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१२३) द्वारा राम शब्द से परे 'सुँ' प्रत्यय आ कर 'राम + सुँ' बना । उपदेश में अनुनासिक होने के कारण सकारोत्तर उकार 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) द्वारा इत्सञ्ज्ञक है अतः 'तस्य लोपः' (३) से उस का लोप हो—'रामस्' । 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) से 'रामस्' इस समुदाय की पदसञ्ज्ञा हो 'ससजुषो रुँः' (१०५) से सकार को आदेश किया तो 'राम + रुँ' । पुनः उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) से इत्सञ्ज्ञा तथा 'तस्य लोपः' (३) से लोप

हो—'रामर्'। 'विरामोऽवसानम्' (१२४) से रेफोत्तरवर्ती अभाव की अवसानसञ्ज्ञा हो, उस के परे होने से 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (६३) द्वारा रेफ को विसर्गादेश करने पर—'रामः' प्रयोग सिद्ध होता है। [विसर्गों के अयोगवाह होने से, अयोगवाहों का पाठ यरों में मानने से 'अनचि च' (१८) से विसर्गों को वैकल्पिक द्वित्व भी हो जायगा। रामः:।]

नोट—जिस पक्ष में रेफ की अवसानसञ्ज्ञा होती है उस पक्ष में 'खरवसानयोः—' (६३) सूत्र का "खर् परे होने पर रेफ को या अवसान में वर्त्तमान रेफ को विसर्गादेश हो" ऐसा अर्थ हो जाने से कोई दोष नहीं आता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१२५ सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ।१।२।६४॥

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते।

अर्थः—एकविभक्ति अर्थात् समानविभक्ति के परे होने पर जितने शब्द सरूप=समानरूप वाले ही देखे जाएं, उन में से एक ही रूप शेष रहता है (अन्य रूप लुप्त हो जाते हैं)।

व्याख्या—सरूपाणाम् ।६।३। [निर्धारणे षष्ठी] एकशेषः ।१।१। एकविभक्तौ ।७।१। एव इत्यव्ययपदम्। ['वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' से] अन्वयः—एकविभक्तौ सरूपाणाम् एव (दृष्टानाम्) मध्ये एकशेषः स्यादिति। समासः—एका चासौ विभक्तिश्च=एकविभक्तिः, तस्याम्=एकविभक्तौ, कर्मधारयसमासः, समानविभक्ताविल्यर्थः। समानं रूपं येषान्ते सरूपाः, तेषाम्=सरूपाणाम्, बहुव्रीहिसमासः, ज्योतिर्जनपदेत्यादिना समानस्य सभावः। शिष्यत इति शेषः, कर्मणि घञ्। एकश्चासौ शेषश्च=एकशेषः, कर्मधारयसमासः। अर्थः—(एकविभक्तौ) समानविभक्ति में (सरूपाणामेव) जितने समानरूप वाले ही शब्द देखे जाएं, उन में से (एकशेषः) एक शेष रहता है [अन्य लुप्त हो जाते हैं]।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि यह एकशेष कार्य अन्तरङ्ग* होने से 'औ' आदि विभक्तियों की उत्पत्ति से पूर्व ही होता है।

---

* 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (प०) अर्थात् अन्तरङ्ग कार्य करने में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है। बहुत निमित्तों की अपेक्षा करने वाला कार्य बहिरङ्ग और थोड़े निमित्तों की अपेक्षा करने वाला कार्य अन्तरङ्ग होता है। अथवा—घरेलू-निज से सम्बन्ध रखने वाला=समीप का=निकट का या अपने भीतर का कार्य अन्तरङ्ग और दूर का अथवा अपने से बाहिर का कार्य बहिरङ्ग होता है। यद्वा—बहुत झञ्झटों वाला कार्य बहिरङ्ग और थोड़े झञ्झटों वाला कार्य अन्तरङ्ग होता है। 'राम राम' यहां एकशेष विभक्त्युत्पत्ति से थोड़ी अपेक्षा वाला [विभक्त्युत्पत्ति में प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, द्वित्वादि की विवक्षा इत्यादि बहुत बातों

एकविभक्ति अर्थात समानविभक्ति के परे होने पर जो शब्द एक जैसे ही देखे जाते हैं विरूप नहीं दिखाई देते, उन शब्दों में एक ही शेष रहता है अन्य लुप्त हो जाते हैं। यथा—'मातृ' शब्द दो प्रकार से सिद्ध होता है। एक—'नप्तृनेष्टृ—'(उणा० २२४) इस उणादिसूत्र द्वारा 'मान्' (नलोप हो कर) अथवा 'मा' धातु से तृजन्त निपातित होता है। इस का अर्थ 'माता'=जननी' और इस के रूप "माता, मातरौ, मातरः। मातरम्, मातरौ, मातॄः" इत्यादि होते हैं। दूसरा—'माङ् माने' (जुहो०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (७८४) द्वारा तृच् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इसका अर्थ 'मापने वाला' और इस के रूप "माता, मातारौ, मातारः। मातारम्, मातारौ, मातॄन्" इत्यादि होते हैं। अब इन दो प्रकार के 'मातृ' शब्दों का द्वन्द्व करने पर एकशेष नहीं होगा। क्योंकि ये एकविभक्ति=समान-विभक्ति में केवल सरूप ही नहीं देखे जाते। इस में सन्देह नहीं कि सुँ, टा, ङे आदि विभक्तियों में इन दोनों प्रकार के 'मातृ' शब्दों के 'माता, मात्रा, मात्रे' आदि सरूप ही होते हैं, परन्तु समानविभक्ति में सरूप ही हों ऐसा नहीं देखा जाता। 'अम्' में औणादिक 'मातृ' शब्द का 'मातरम्' और दूसरे 'मातृ' शब्द का 'मातारम्' विरूप होता है सरूप नहीं। हमारी शर्त्त तो यह है कि "एक अर्थात् एक जैसी=समान विभक्ति परे होने पर जो शब्द सरूप ही रहें, विरूप न हों; उन में से एक ही शेष रहता है" इस शर्त्त को इन दो प्रकार के 'मातृ' शब्दों ने पूरा नहीं किया। समानविभक्ति 'अम्' आदि में इन की विरूपता हो गई है अतः इन का एकशेष नहीं होगा।

'प्रत्यर्थं शब्दः' अर्थात प्रत्येक अर्थ के लिये शब्द के उच्चारण की आवश्यकता होती है। इस लिये जब दो, तीन या अधिक अर्थों का बोध कराना अभीष्ट होता है तो उस के लिये तद्वाचक शब्दों का उच्चारण भी उतने बार प्राप्त होता है। इस पर यह सूत्र नियम करता है कि उनका उच्चारण एक ही बार हो अनेक बार नहीं। जैसे—जब दो, तीन या अधिक राम कहने हों तो तब रामशब्द का दो, तीन या अधिक बार उच्चारण प्राप्त होता है। इस नियम से एक 'राम' शब्द रह जाता है, शेषों का लोप हो जाता है। उन सब के अर्थ का वही शेष रहा हुआ बोध कराता है। जैसा कि कहा गया है—"यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी" अर्थात जो शेष रहता है वह लोप हुओं के अर्थ का भी बोध कराता है।

—की अपेक्षा होती है, थोड़े सम्बन्ध वाला परन्तु भीतरी कार्य सा है अतः यह अन्तरङ्ग और विभक्त्यु-त्पत्ति उस से बहिर्भूत होने से बहिरङ्ग है। अन्तरङ्ग कार्य पहले और बहिरङ्ग कार्य पीछे होगा। यह परिभाषा लोकसिद्ध है। यथा लोक में सवेरे उठ कर मनुष्य अन्तरङ्गकार्य शौच, दन्तधावन, स्नानादि या बाबू लोग चाय, केक आदि निजीकार्यों को कर बाद में बहिरङ्ग=बाहिर के या पराये कार्यों को करते हैं, वैसे यहां भी समझना चाहिये। इस परिभाषा की विशेष व्याख्या व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

'राम राम' इन दो सरूप शब्दों में इस सूत्र द्वारा एक 'राम' शब्द रह जाता है। अब प्रथमाविभक्ति के द्वित्व की विवक्षा में 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (११३) सूत्र द्वारा 'औ' प्रत्यय आ कर 'राम + औ' हो जाता है। अब इस स्थिति में 'वृद्धिरेचि' (३३) के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र उपस्थित होता है—

[लघु०] विधि-सूत्र—१२६ प्रथमयोः पूर्व-सवर्णः ।६।१।६६॥

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात्।

इति प्राप्ते—

अर्थः—अक् प्रत्याहार से प्रथमा या द्वितीया का अच् परे हो तो पूर्व (अक्) पर (अच्) के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है। इस सूत्र के प्राप्त होने पर [अग्रिम निषेध-सूत्र प्रवृत्त होता है।]

व्याख्या—अकः ।५।१। ['अकः सवर्णे दीर्घः' से] प्रथमयोः ।६।२। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है।] पूर्व-सवर्णः ।१।१। दीर्घः ।१।१। ['अकः सवर्णे दीर्घः' से] समासः—प्रथमा च प्रथमा च=प्रथमे, तयोः=प्रथमयोः, एकशेषः। विभक्तियां सात हैं, पहले 'प्रथमा' शब्द से उन में से पहली 'सुँ, औ, जस्' विभक्ति का ग्रहण हो जाता है; दूसरे 'प्रथमा' शब्द से अवशिष्ट छः विभक्तियों में प्रथमा अर्थात् 'अम्, औट्, शस्' का बोध होता है। इस प्रकार 'प्रथमयोः' शब्द से प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति का ग्रहण हो जाता है। पूर्वस्य सवर्णः= पूर्व-सवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अर्थः—(अकः) अक् प्रत्याहार से (प्रथमयोः) प्रथमा द्वितीया विभक्ति का (अचि) अच् परे हो तो (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्व-सवर्णः) पूर्वसवर्ण (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है। तात्पर्य यह है कि अक् और प्रथमा द्वितीया के अच् के स्थान पर एक ऐसा आदेश होता है जो पूर्व वर्ण का सवर्ण होते हुए साथ ही दीर्घ भी होता है। यथा— 'इ + औ' के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ 'ई' होगा; यह पूर्व का सवर्ण है और दीर्घ भी है। इसी प्रकार—'उ+अ' के स्थान पर 'ऊ', 'ऋ + अ' के स्थान पर 'ॠ' पूर्वसवर्ण-दीर्घ होगा। इन सब के उदाहरण आगे यत्र तत्र बहुत आएंगे।

'राम+औ' यहां मकारोत्तर अकार अक् से परे 'औ' यह प्रथमा का अच् विद्यमान है; अतः पूर्व + पर के स्थान पर 'आ' यह पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—१२७ नाऽऽदिचि ।६।१।१०१॥

आद् इचि न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिरेचि——रामौ ।

अर्थः—अवर्ण से इच् प्रत्याहार परे होने पर पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश नहीं होता । 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि हो गई तो 'रामौ' सिद्ध हो गया ।

व्याख्या—आत् ।५।१। इचि ।७।१। पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] पूर्व-सवर्णः ।१।१। ['प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से] दीर्घः ।१।१। ['अकः सवर्णे दीर्घः' से] न इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(आत्) अवर्ण से (इचि) इच् प्रत्याहार परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (पूर्वसवर्णः, दीर्घः) पूर्व-सवर्णदीर्घ (एकः) एकादेश (न) नहीं होता । अवर्ण को छोड़ सब स्वर इच् प्रत्याहार के अन्दर आ जाते हैं ।

'राम + औ' यहां मकारोत्तर अवर्ण से 'औ' यह इच् प्रत्याहार परे वर्त्तमान है अतः इस सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर पुनः 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने से—राम् औ='रामौ' प्रयोग सिद्ध होता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१२८ बहुषु बहुवचनम् ।१।४।२१॥

बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात् ।

अर्थः—बहुत्व अर्थात् दो सङ्ख्या से अधिक सङ्ख्या की विवक्षा हो तो बहुवचन प्रत्यय होता है ।

व्याख्या—बहुषु ।७।३। बहुवचनम् ।१।१। यहां 'बहु' शब्द व्याख्यान से बहुत्व वाची है । अर्थः—(बहुषु) बहुत्व की विवक्षा होने पर (बहुवचनम्) बहुवचन प्रत्यय होता है । यदि दो से अधिक सङ्ख्या की विवक्षा होगी तो प्रकृति से बहुवचन प्रत्यय प्रयुक्त किया जायगा ।

'राम राम राम' इन तीन रामशब्दों का या इन से अधिक यथेष्ट रामशब्दों का [दो से अधिक की हमें विवक्षा है चाहे तीन हों या सौ इस से कुछ प्रयोजन नहीं] 'सरूपाणाम्—' (१२५) से एकशेष हो 'राम' हुआ । अब प्रथमा विभक्ति के बहुत्व की विवक्षा में 'बहुषु बहुवचनम्' (१२८) द्वारा 'जस्' यह बहुवचन प्रत्यय आकर 'राम + जस्' हुआ । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१२९ चुटू ।१।३।७॥

प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ * स्तः ।

---

* 'चुटू+इतौ' अत्र 'ईदूदेद्—' (५१) इति प्रगृह्यत्वेन प्रकृतिभावोऽवसेयः ।

अर्थः—प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग टवर्ग इत्सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—प्रत्ययस्य ।६।१। ['षः प्रत्ययस्य' से] आदी ।१।२। ['आदिर्ञिटुडवः' में वचनविपरिणाम कर के] चुटू ।१।२। इतौ ।१।२। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से वचन-विपरिणाम द्वारा] समासः—चुश्च टुश्च=चुटू, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (आदी) आदि में स्थित (चुटू) चवर्ग और टवर्ग (इतौ) इत् सञ्ज्ञक होते हैं।

'राम+जस्' यहां 'जस्' यह प्रत्यय है, इस के आदि में 'ज्' यह चवर्ग स्थित है अतः इस सूत्र से इस की इत् सञ्ज्ञा हो 'तस्य लोपः' (३) से उस का लोप करने पर 'राम+अस्' हुआ। अब यहां 'हलन्त्यम्' (१) से सकार की इत्सञ्ज्ञा प्राप्त होती है, इस पर उस की निवृत्ति के लिये यत्न करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१३० **विभक्तिश्च ।१।४।१०३॥**

सुँप्तिङौ विभक्ति-सञ्ज्ञौ स्तः।

अर्थः—सुँप् और तिङ् विभक्तिसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—सुँप् ।१।१। ['सुँपः' से विभक्तिविपरिणाम कर के] तिङ् ।१।१। ['तिङस्त्रीणि—' से विभक्तिविपरिणाम कर के] विभक्तिः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(सुप्) सुप् और (तिङ्) तिङ् (विभक्तिः) विभक्तिसञ्ज्ञक होते हैं। "सञ्ज्ञाविधौ प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" [जहां प्रत्यय की सञ्ज्ञा की जाय वहां प्रत्यय के ग्रहण होने पर प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं किया जाता] इस नियम से यहां सुबन्त और तिङन्त की विभक्ति सञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु सुँप् और तिङ् की ही विभक्ति सञ्ज्ञा होती है। सुप् प्रत्याहार 'स्वौजसमौट्—' (११८) सूत्र के 'सुँ' से लेकर सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' के पकार तक बनता है। अर्थात् सुँ, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय 'सुँप्' सञ्ज्ञक होते हैं। तिङ् प्रत्याहार 'तिप्तस्झि—' (३७४) सूत्र के 'ति' से लेकर 'महिङ्' के ङकार तक बनता है। अर्थात् तिप्, तस्, झि आदि अठारह प्रत्यय 'तिङ्' सञ्ज्ञक होते हैं। इन दोनों सुँप् और तिङ् प्रत्ययों की विभक्ति सञ्ज्ञा है।

अब विभक्तिसञ्ज्ञा का उपयोग बताते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—१३१ **न विभक्तौ तुस्माः ।१।३।४॥**

विभक्तिस्थास्तवर्गसकारमकारा नेतः। इति सस्य नेत्त्वम्। रामाः।

अर्थः—विभक्ति में स्थित तवर्ग, सकार, मकार इत्सञ्ज्ञक नहीं होते। इस सूत्र से सकार की इत् सञ्ज्ञा का निषेध हो जाता है।

व्याख्या——न इत्यव्ययपदम् । विभक्तौ ।७।१। तुस्माः ।१।३। इतः ।१।३। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से वचनविपरिणाम द्वारा] समासः—तुश्च स् च मश्च = तुस्माः, इतरेतर-द्वन्द्वः । अर्थः—(विभक्तौ) विभक्ति में (तुस्माः) तवर्ग, सकार, मकार (इतः) इत्-सञ्ज्ञक (न) नहीं होते ।

इस सूत्र से जस्, शस्, भिस्, भ्यस्, ङस्, ओस्, अम्, भ्याम्, आम् आदि के अन्त्य हल् की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती । तवर्ग के उदाहरण—रामात्, सर्वस्मात्, सर्वस्मिन्, एधेरन् प्रभृति जानने चाहियें ।

'राम + अस्' यहां 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उसे बाध कर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप प्राप्त होता है । पुनः उस को भी बाध कर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ आकार करने से 'रामास्' बना । अब पूर्ववत् सकार को रुँ, उकारलोप तथा अवसानसञ्ज्ञक रेफ को विसर्ग करने पर 'रामाः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

किसी का अपनी ओर ध्यान खींचना सम्बोधन कहाता है । यथा—हे राम ! भो देवदत्त ! * इत्यादि । सम्बोधन में भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है [देखो कारकप्रकरण (८८१)] । सम्बोधन के द्योतनार्थ पद के आदि में प्रायः 'हे, रे, भोस्' आदि अव्ययों का प्रयोग किया जाता है । कहीं २ इन का प्रयोग नहीं भी होता ।

अब सम्बोधन के एकत्व की विवक्षा में 'राम+सुँ' हुआ । इस अवस्था में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१३२ एकवचनं सम्बुद्धिः ।२।३।४६॥

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का एकवचन सम्बुद्धि सञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—सम्बोधने ।७।१। ['सम्बोधने च' सूत्र से] प्रथमायाः ।६।१। ['प्रातिपदिकार्थलिङ्ग·········प्रथमा' से विभक्तिविपरिणाम कर के] एकवचनम् ।१।१। सम्बुद्धिः ।१।१। अर्थः—(सम्बोधने) सम्बोधन में (प्रथमायाः) प्रथमा का (एकवचनम्) एकवचन (सम्बुद्धिः) सम्बुद्धि-सञ्ज्ञक होता है ।

---

* सम्बोधनवाची पद के आगे आजकल ' ! ' ऐसा चिह्न किया जाता है; परन्तु प्राचीनकाल में ऐसा कोई चिह्न न था । इस प्रकार के चिह्नों की परिपाटी प्रायः पश्चिम से आई है । इन से वाक्य सुन्दर, असन्दिग्ध और झटिति अर्थप्रत्यायक हो जाते हैं । इन के ग्रहण में कोई लज्जा की बात नहीं 'विषादप्यमृतं ग्राह्यम्' ।

इस सूत्र से सम्बोधन के 'सुँ' की सम्बुद्धिसञ्ज्ञा हो जाती है। अब सुँलोप के लिये उपयोगी अङ्गसञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१३३ यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ।१।४।१३॥

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात् ।

अर्थः—जो प्रत्यय जिस शब्द से विधान किया जाता है वह है आदि में जिस के ऐसा शब्द-स्वरूप उस प्रत्यय के परे होने पर अङ्गसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—यस्मात् ।५।१। प्रत्ययविधिः ।१।१। तदादि ।१।१। प्रत्यये ।७।१। अङ्गम् ।१।१। समासः—विधानं विधिः, भावे किप्रत्ययः। प्रत्ययस्य विधिः=प्रत्ययविधिः, षष्ठीतत्पुरुषः। तत्=प्रकृति-भूतम् आदिर्यस्य शब्दस्वरूपस्य तत्=तदादि। तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(यस्मात्) जिस प्रकृति से (प्रत्ययविधिः) प्रत्यय का विधान हो (तदादि) वह प्रकृति जिस शब्दस्वरूप के आदि में हो ऐसा प्रकृतिसहित शब्दस्वरूप (प्रत्यये) उस प्रत्यय के परे होने पर (अङ्गम्) अङ्ग-सञ्ज्ञक होता है। उदाहरण यथा—

भू धातु से परे विहित लट् के स्थान पर 'तिप्' प्रत्यय किया तो बना—'भू+तिप्' पुनः भूधातु से परे 'शप्' किया तो 'भू+शप्+तिप्' हुआ। शकार तथा दो पकारों का लोप करने पर 'भू+अ+ति'। अब यहां अङ्गसञ्ज्ञा करते हैं—

"जिस प्रकृति से प्रत्यय का विधान हो"

यहां 'भू' इस प्रकृति से 'तिप्' इस प्रत्यय का विधान किया गया है।

"वह प्रकृति जिस शब्दस्वरूप के आदि में हो, ऐसा प्रकृतिसहित शब्दस्वरूप—"

वह 'भू' प्रकृति 'अ' इस शब्दस्वरूप के आदि में है और प्रकृतिसहित वह शब्द-स्वरूप 'भू+अ' है।

"—उस प्रत्यय के परे होने पर अङ्गसञ्ज्ञक होता है।"

वह प्रत्यय 'तिप्' परे है अतः 'भू+अ' इस समुदाय की अङ्गसञ्ज्ञा हुई।

नोट—यदि सूत्र में 'तदादि' यहां 'आदि' ग्रहण न करते तो केवल उस प्रकृति की ही अङ्गसञ्ज्ञा होती, प्रकृति से आगे तथा प्रत्यय से पूर्वस्थित शब्दस्वरूप की न होती। तब उपर्युक्त उदाहरण में केवल 'भू' ही अङ्गसञ्ज्ञक होता 'अ' साथ न होता। 'आदि' ग्रहण से तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास के कारण दोनों का ग्रहण हो जाता है; कोई दोष नहीं आता।

ज्ञातव्य—बहुव्रीहिसमास में जिन पदों का समास किया जाता है, समास हो चुकने पर प्रायः उन पदों से भिन्न किसी अन्य पद के अर्थ की ही प्रधानता हो जाया करती है। यथा— 'पीत' शब्द का अर्थ है 'पीला' और 'अम्बर' शब्द का अर्थ है 'कपड़ा'। अब 'पीत' और 'अम्बर' शब्द का बहुव्रीहिसमास किया तो बना— 'पीताम्बरः'। इस का अर्थ है— 'पीले कपड़ों वाला'। इस अर्थ में किसी अन्यपदार्थ (पुरुष) की प्रधानता है, जिस के पीले कपड़े हैं। इसी प्रकार 'दृष्टा' का अर्थ है 'देखी गई' और 'मथुरा' का अर्थ है 'एक नगरी'। अब 'दृष्टा' और 'मथुरा' का बहुव्रीहिसमास किया तो बना— 'दृष्टमथुरः'। इस का अर्थ है— 'जिस से मथुरा देखी गई है वह पुरुष'। इस अर्थ में किसी अन्यपदार्थ (पुरुष) की प्रधानता है। अत एव बहुव्रीहिसमास अन्य पदार्थ प्रधान कहाता है। इस बहुव्रीहि-समास के पुनः दो भेद हो जाते हैं— १. तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास, २ अतद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास। जिस बहुव्रीहिसमास में अन्यपदार्थ की प्रधानता के साथ २ समस्यमान पदों के अर्थों का भी प्रवेश हो वह 'तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास' होता है। यथा— 'पीताम्बरः' यहां अन्यपदार्थ=पुरुष की प्रधानता के साथ २ समस्यमान पदों के अर्थ का भी त्याग नहीं हुआ। यदि कहा जाय कि 'पीताम्बरमानय' [पीले कपड़े वाले को लाओ] तो उस पुरुष के साथ पीले कपड़े भी आएंगे। अतः यहां तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास है।

जहां अन्यपदार्थ के साथ समस्यमान पदों के अर्थ प्रवेश नहीं होता वह 'अतद्गुण-संविज्ञान-बहुव्रीहिसमास' होता है। यथा—दृष्टमथुरः। यहां अन्यपदार्थ =पुरुष की प्रधानता के साथ समस्यमान पदोंके अर्थों का प्रवेश नहीं होता। यदि कहा जाय कि— 'दृष्टमथुरमानय' (जिस ने मथुरा देखी है उसे लाओ) तो उस पुरुष के साथ देखी गई मथुरा नहीं आएगी; अतः यहां 'अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास' है। इसी प्रकार 'चित्रगु-मानय' आदि में समझना चाहिये। उपर्युक्त सूत्र में 'तदादि' [तत्=प्रकृतिभूतम् आदिर्यस्य तत्=तदादि] यहां 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि' समास है; अतः यहां अन्यपदार्थ [जिस के आदि में प्रकृति होगी] के साथ उस [प्रकृति] की भी अङ्गसञ्ज्ञा हो जायगी।

जहां पर केवलमात्र प्रकृति ही होगी उस से आगे तथा प्रत्यय से पूर्व अन्य कोई न होगा, वहां केवल प्रकृति की ही अङ्गसञ्ज्ञा हो जायगी; अर्थात् व्यपदेशिवद्भाव से 'तदादि' केवल प्रकृति ही समझी जायगी। [देखो—'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (२७८)]

'राम+सुँ' यहां रामशब्द से 'सुँ' प्रत्यय का विधान है. अतः उस प्रत्यय के परे होने पर तदादि=रामशब्द की अङ्गसञ्ज्ञा हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्र में अङ्गसञ्ज्ञा का उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१३४ एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ।६।१।६७॥

एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल् लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत् ।

अर्थः— एङन्त अङ्ग तथा ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—एङ्ह्रस्वात् ।५।१। सम्बुद्धेः ।६।१। हल् ।१।१। ['हल्ङ्या—हल्' से] लोपः ।१।१। ['लोपो व्योर्वलि' से] लुप्यत इति लोपः, भावे घञ् । समासः—एङ् च ह्रस्वश्च=एङ्ह्रस्वम्, तस्मात्=एङ्ह्रस्वात् , समाहारद्वन्द्वः । 'एङ् और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप होता है' ऐसा अर्थ होने से 'हे कतरत् कुल' यहां दोष उत्पन्न होता है । तथाहि—नपुंसकलिङ्ग में 'कतर' शब्द से सम्बुद्धि अर्थात् सम्बोधन का एकवचन 'सुँ' करने पर 'अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' (२४१) से इस सुँ को अद्ड् आदेश हो जाता है—कतर + अद् (ड्) । पुनः डित्त्वसामर्थ्य से रेफोत्तर अकार का लोप हो—कतर + अद्=
'कतरद्' बनता है । अब 'एङ् और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप होता है' इस प्रकार का यदि अर्थ होगा तो 'कतर—द्' यहां रेफोत्तर ह्रस्व अकार से सम्बुद्धि के हल् दकार का लोप प्राप्त होगा जो अनिष्ट है । अतः इसकी निवृत्ति के लिये इस सूत्र में 'अङ्गात्' का अध्याहार किया जाता है [क्योंकि सम्बुद्धि प्रत्यय का विधान होने से एङ् और ह्रस्व सुतराम् अङ्ग होंगे ही ।] । एङ्ह्रस्वात्' को 'अङ्गात्' का विशेषण बना तदन्तविधि करने से—'एङन्तह्रस्वान्तादङ्गात्' ऐसा अर्थ निष्पन्न होता है । इस अर्थ के होने से 'कतरद्' आदि में कोई दोष नहीं आता । क्योंकि यहां अङ्ग ह्रस्वान्त नहीं प्रत्युत रेफान्त है, रेफोत्तर अकार तो 'अद्ड्' प्रत्यय का ही है । अतः दकारलोप न हो कर इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है । **अर्थः**—(एङ्ह्रस्वात्) एङन्त और ह्रस्वान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सम्बुद्धेः) सम्बुद्धि का (हल्) हल् (लोपः) लुप्त किया जाता है ।

राम + सुँ='राम + स्' यहां 'राम' इस ह्रस्वान्त अङ्ग से परे 'स्' यह सम्बुद्धि का हल् वर्त्तमान है अतः इस सूत्र से उस का लोप हो 'राम' यह प्रयोग सिद्ध हुआ । 'हे' आदि साथ जोड़ने से— 'हे राम ! भो राम !' आदि बनेंगे ।

सम्बोधन का द्विवचन और बहुवचन प्रथमावत् सिद्ध होता है । हे रामौ ! हे रामाः ।

नोट—सम्बोधन के द्विवचन और बहुवचन में प्रथमा से कुछ भी भेद नहीं हुआ करता; भेद सम्बुद्धि में ही होता है । अतः आगे सर्वत्र हम सम्बुद्धि की ही सिद्धि करेंगे । द्विवचन और बहुवचन में स्वयं प्रथमावत् सिद्धि कर लेनी चाहिये ।

अब द्वितीया विभक्ति के रूप सिद्ध किये जाते हैं । द्वितीया के एकवचन में 'राम+अम्' बना । अब यहां क्रमशः 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ, 'अतो गुणे' (२७४)

से पररूप तथा 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में अग्रिमसूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का बाध हो जाता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१ ३ ५ अमि पूर्वः ।६।१।१०४॥

अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। रामम्। रामौ॥

अर्थः— अक् से अम् में विद्यमान अच् परे हो तो पूर्व + पर के स्थान पर एक पूर्वरूप आदेश होता है।

व्याख्या—अकः ।५।१। ['अकः सवर्णे दीर्घः' से] अमि ।७।१। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है।] पूर्वः ।१।१। अर्थः—(अकः) अक् प्रत्याहार से (अमि) अम् प्रत्यय में स्थित (अचि) अच् के परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्व वर्ण आदेश हो जाता है।

'राम + अम्' यहां मकारोत्तर अकार अक् से परे अम् का अच् अकार है। अतः पूर्व+पर के स्थान पर पूर्व—अकार का रूप हो कर-राम् 'अ' म्='रामम्' रूप सिद्ध हुआ।

द्वितीया के द्विवचन में 'राम + औट्' हुआ। टकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा हो कर 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो जाता है—राम + औ। अब इस की सिद्धि प्रथमा के द्विवचन के समान हो जाती है। रामौ।

द्वितीया के बहुवचन में 'राम + शस्' हुआ। अब शकार की इत्सञ्ज्ञा करने के लिये अग्रिम+सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१ ३ ६ लशक्वतद्धिते ।१।३।८॥

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः।

अर्थः—तद्धितभिन्न प्रत्यय के आदि में स्थित लकार, शकार और कवर्ग इत्सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—प्रत्ययस्य ।६।१। ['यः प्रत्ययस्य' से] आदिः ।१।१। ['आदिर्ञिटुडवः' से लिङ्गविपरिणाम कर के] लशकु ।१।१। इत् ।१।१। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से] अतद्धिते ।७।१। समासः— लश्च शश्च कुश्च एषां समाहारः, लशकु, समाहारद्वन्द्वः। न तद्धिते=अतद्धिते, नञ्समासः। अर्थः-(प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (आदिः) आदि में स्थित (लशकु) लकार, शकार और कवर्ग (इत्) इत्सञ्ज्ञक होते हैं (अतद्धिते) परन्तु तद्धित में नहीं होते। तद्धितप्रत्यय में निषेध होने से कप्, ख, ग्मिन्, घ, भस्, चञ् आदि में इत्सञ्ज्ञा न होगी।

'राम + शस्' यहां 'शस्' तद्धित नहीं अतः इस सूत्र से इस के आदि स्थित शकार

की इत्सञ्ज्ञा हुई और लोप हो गया—राम + अस् । अब 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'रामास्' बन गया । इस अवस्था में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१३७ तस्माच्छसो नः पुंसि ।६।१।१००॥

पूर्वसवर्णदीर्घात् परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात् पुंसि ।

अर्थः—पूर्वसवर्ण-दीर्घ से परे जो शस् का सकार उस के स्थान पर नकार हो पुंल्लिङ्ग में ।

व्याख्या—तस्मात् ।५।१। शसः ।६।१। नः ।१।१। पुंसि ।७।१। नकारादकार उच्चारणार्थः । 'तद्' शब्द पूर्व का बोध कराया करता है । इस सूत्र से पूर्व 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) में पूर्वसवर्ण दीर्घ का प्रकरण है । अतः यहां 'तस्मात्' शब्द से भी 'पूर्वसवर्णदीर्घात्' का ग्रहण होगा । अर्थः—(तस्मात्=पूर्वसवर्णदीर्घात्) उस पूर्वविहित पूर्वसवर्णदीर्घ से परे*(शसः) शस् के स्थान पर (नः) न् हो जाता है (पुंसि) पुंल्लिङ्ग में । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से यह नकार आदेश शस् के अन्त्य अल् सकार को ही होगा ।

'रामास्' यहां मकारोत्तर आकार पूर्वसवर्णदीर्घ है अतः इस से परे शस् के सकार को नकार हो कर—'रामान्' बना ।

अब यहां अनिष्ट णत्व प्राप्त होता है । उस का परिहार करने के लिये ग्रन्थकार प्रथम णत्वविधायक सूत्र लिखते हैं ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१३८ अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ।८।४।२॥

अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः समानपदे । इति प्राप्ते—

अर्थः—अट् प्रत्याहार, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् इन का अलग २ या यथासम्भव दो तीन अथवा चारों का मिल कर व्यवधान होने पर भी समानपद में रेफ और षकार से परे नकार को णकार हो जाता है । इस सूत्र के प्राप्त होने पर [अग्रिमसूत्र निषेध करता है] ।

व्याख्या—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ।७।१। अपि इत्यव्ययपदम् । समानपदे ।७।१। रषाभ्याम् ।५।२। नः ।६।१। णः ।१।१। ['रषाभ्यां नो णः समानपदे' से] णकारादकार

---

* जहां पूर्वसवर्णदीर्घ न होगा, वहां पर पुंल्लिङ्ग में भी शस् के स् को न् न होगा, जैसे—'गाः' । 'गो—शस्' यहां पर 'औतोऽम्शसोः' (२१४) से पूर्व+पर के स्थान 'आ' आदेश है, तब पूर्वसवर्णदीर्घ की प्राप्ति न होने से न् भी न हुआ ।

उच्चारणार्थः । इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' सूत्र पढ़ा गया है । वह सूत्र समानपद में रेफ और षकार से परे अव्यवहित (व्यवधान-रहित) नकार को णकार करता है । यथा—चतुर्णाम्, पूष्णि आदि । परन्तु यह सूत्र 'नराणाम् , पुरुषेण' प्रभृति प्रयोगों में व्यवहित नकार को णकार करने के लिये रचा गया है । समासः—अट् च कुश्च पुश्च आङ् च नुम् च=अट्कुप्वाङ्नुमः, इतरेतरद्वन्द्वः । तैर्व्यवायः (व्यवधानम्)= अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायः, तृतीयातत्पुरुषः । तस्मिन्=अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये, भावसप्तमी । अर्थः—(अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये) अट्प्रत्याहार, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् इन से व्यवधान होने पर (अपि) भी (रषाभ्याम्) रेफ और षकार से परे (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् हो जाता है (समानपदे) समान अर्थात् अखण्ड पद में ।

जिस पद के खण्ड अर्थात् टुकड़े कर उन का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग न किया जा सके उसे समानपद या अखण्डपद कहते हैं । 'रामान्' अखण्डपद है इस के खण्ड नहीं किये जा सकते । इसलिये यहां णकार प्राप्त है । 'रघुनाथः, रमानाथः, रामनाम' ये अखण्डपद नहीं इन के खण्ड हो सकते हैं । रघु और नाथ इन दोनों खण्डों का स्वतन्त्र प्रयोग किया जा सकता है । इसलिये इन में णत्व नहीं हुआ ।

अब यहां यह विचार उपस्थित होता है कि क्या अट्, कवर्ग आदि सब का व्यवधान हो तो णत्व होता है ? या इन में से किसी एक का व्यवधान होने पर णत्व होता है ? । पहला पक्ष असम्भव है क्योंकि संस्कृतसाहित्य में ऐसा कोई शब्द नहीं जिस में रफ वा षकार से परे अट्, कवर्ग आदि सब से व्यवहित णकार हो । अतः लक्ष्य (उदाहरण) न मिलने के कारण 'सब का व्यवधान हो तो णत्व होता है' यह पक्ष असङ्गत है । दूसरा पक्ष ठीक है, इस से 'नराणाम् , कराणाम् , पुरुषेण' आदि प्रयोगों की सिद्धि हो जाती है । 'करणे यजः' (८०७), 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' (६२६) इत्यादि पाणिनिसूत्रों से भी इस पक्ष की पुष्टि होती है । इन सूत्रों में मुनि ने एक २ का व्यवधान होने पर णकार आदेश किया है । किञ्च—इस पक्ष के अतिरिक्त एक अन्य पक्ष भी महामुनि के सूत्रपाठ से पुष्ट होता है । वह यह है कि 'अट्, कवर्ग आदियों में चाहे जितने वर्णों का व्यवधान हो णत्व हो जाय' । मुनि ने—"सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ (१२५), कर्मणि द्वितीया (८६१), इन्हन्पूषार्यम्णां शौ (२८४), ग्राम्य-पशु-सङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री (१।२।७३)" इत्यादि सूत्रों में यथासम्भव अनेकों का व्यवधान होने पर भी णकार आदेश किया है । ग्रन्थकार ने इन दोनों पक्षों का—'एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च' इन शब्दों से वर्णन किया है । इन के उदाहरण यथा—

अट्—करणम्, हरणम्, करिणा, हरिणा इत्यादि ।

कवर्ग—अर्केण, मूर्खाणाम्, गर्गेण, अर्घेण इत्यादि।

पवर्ग—दर्पेण, रेफेण, गर्भेण, अर्मणा, कर्मणा इत्यादि।

आङ्—पर्याणद्धम्, निराणद्धम् इत्यादि।

नोट—इस सूत्र की अनुवृत्ति 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४५१) सूत्र में जाती है। अतः यहां उस से णत्व हो जाता है। 'पदव्यवायेऽपि' (८।४।३८) द्वारा निषेध नहीं होता। यही इस के ग्रहण का प्रयोजन है। इस पर विस्तृत विचार व्याकरण के उच्च-ग्रन्थों में देखें।

नुम्—बृंहणम्, तृंहणम् इत्यादि। यहां 'नुम्' से अनुस्वार अभिप्रेत है। वह अनुस्वार चाहे 'नुम्' के स्थान पर हुआ हो या स्वाभाविक हो इस से कुछ प्रयोजन नहीं। यथा—'बृंहणम्' यहां नुम् के स्थान पर अनुस्वार हुआ २ है। 'तृंहणम्' यहां स्वाभाविक अनुस्वार है।

सूचना—सम्पूर्ण णत्वप्रकरण में रेफ और षकार की तरह ऋवर्ण को भी णत्व में निमित्त समझना चाहिये। अतएव 'अप्तृन्तृच्...... प्रशास्तृणाम्' (२०६) इत्यादि मुनि-वर के निर्देश उपलब्ध होते हैं। आगे चल कर ग्रन्थकार 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा० २०) इस वार्त्तिक को स्वयं ही उद्धृत करेंगे।

रामान्=र्+आ+म्+आ+न्। यहां रेफ से परे आ=अट्, म्=पवर्ग, आ=अट् इन तीन वर्णों से व्यवहित नकार है अतः 'अट्कु—' सूत्र से णकार प्राप्त होता है। अब इस का अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—१३९ पदान्तस्य।८।४।३७॥

नस्य णो न। रामान्।

अर्थः—पदान्त नकार को णकार नहीं होता।

व्याख्या—पदान्तस्य।६।१। नः।६।१। णः।१।१। ['रषाभ्यां नो णः समान-पदे' से] न इत्यव्ययपदम्। ['न भाभूपू—' से] अर्थः—(पदान्तस्य) पद के अन्त वाले (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश (न) नहीं होता।

'रामान्' यह सुँबन्त होने से 'सुँप्तिङन्तं पदम्' (१४) के अनुसार पदसञ्ज्ञक है। यहां 'न्' पदान्त है। अतः 'पदान्तस्य' से णकार का निषेध हो गया। 'रामान्' रूप सिद्ध हो गया।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१४० टाङसिङसामिनात्स्याः।७।१।१२॥

अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः । णत्वम्—रामेण ।

अर्थः—अदन्त (अङ्ग) से परे टा को इन, ङसि को आत् और ङस् को स्य आदेश होता है ।

व्याख्या—अतः ।५।१। ['अतो भिस ऐस्' से] अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है, इस का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है] टाङसिङसाम् ।६।३। इनात्स्याः ।१।३। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि हो जाती है—'अदन्ताद् अङ्गात्' । अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (टा-ङसि-ङसाम्) टा, ङसि, ङस् के स्थान पर (इनात्स्याः) इन, आत्, स्य आदेश हो जाते हैं । 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) के अनुसार आदेश क्रमशः होंगे ।

'राम + टा' यहां 'राम' अदन्त अङ्ग है । इस से परे 'टा' को इन आदेश हो जाता है । 'राम + इन' इस अवस्था में 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश तथा 'अट्कु—' (१३८) से णकार आदेश हो कर 'रामेण' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां 'पदान्तस्य' (१३९) द्वारा णत्व का निषेध नहीं होता, क्योंकि यहां न् पदान्त नहीं, पदान्त 'अ' है ।

तृतीया के द्विवचन में 'भ्याम्' लाने पर 'राम+भ्याम्' हुआ । अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१४१ सुँपि च ।७।३।१०२॥

यञादौ सुँपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः । रामाभ्याम् ।

अर्थः—यञादि सुँप् परे होने पर अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—यञि ।७।१। ['अतो दीर्घो यञि' से] सुँपि ।७।१। अतः ।६।१। ['अतो दीर्घो यञि' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] दीर्घः ।१।१। ['अतो दीर्घो यञि' से] । 'यञि' पद 'सुपि' पद का विशेषण है और अल् है इस लिये इस से तदादिविधि हो कर 'यञादौ सुपि' बन जायगा । 'अतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तस्य अङ्गस्य' हो जायगा । अर्थः—(यञि) यञादि (सुँपि) सुँप् परे होने पर (अतः) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है । यञ् एक प्रत्याहार है; यञादि सुप्—भ्याम्, भ्यस् आदि हैं ।

'राम+भ्याम्' यहां 'भ्याम्' यञादि सुप् है, अतः 'राम' इस अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो— 'रामाभ्याम्' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

तृतीया के बहुवचन में 'भिस्' प्रत्यय आकर 'राम+भिस्' हुआ। अब 'सुँपि च' (१४१) से दीर्घ के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१४२ अतो भिस ऐस् ।७।१।९॥

अनेकाल्शित् सर्वस्य । रामैः ।

अर्थः—अदन्तात् अङ्गात् परस्य भिस ऐस् स्यात्। अदन्त अङ्ग से परे भिस् के स्थान पर ऐस् हो जाता है।

व्याख्या—अतः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है, इस की विभक्ति का यहां विपरिणाम हो जाता है।] भिसः ।६।१। ऐस् ।१।१। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि हो जायगी। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (भिसः) भिस् के स्थान पर (ऐस्) ऐस् हो जाता है। यह आदेश 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) से उत्तर भिस् को होना है, पर 'भिसः' के षष्ठीनिर्दिष्ट होने से 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) द्वारा अन्त्य सकार को प्राप्त होता है, फिर 'आदेः परस्य' (७२) से पूर्व को प्राप्त है, उस को बाध कर 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (४५) द्वारा सम्पूर्ण भिस् के स्थान पर हो जाता है।

'राम + भिस्' यहां 'राम' यह अदन्त अङ्ग है अतः इस से परे प्रकृत सूत्र द्वारा भिस् के स्थान पर ऐस् हो कर—राम+ऐस्। अब 'वृद्धिरेचि' (३३) से पूर्व + पर के स्थान पर 'ऐ' वृद्धि हो रुत्व विसर्ग करने से—'रामैः' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब रामशब्द के चतुर्थी विभक्ति के रूप सिद्ध किये जाते हैं। एकवचन में 'राम + ङे' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१४३ ङेर्यः ।७।१।१३॥

अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः ।

अर्थः—अदन्त अङ्ग से परे 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश हो।

व्याख्या—अतः ।५।१। ['अतो भिस ऐस्' से] अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है। यहां विभक्तिविपरिणाम हो जाता है।] ङेः ।६।१। [ङे + ङस्=ङे+अस्=ङेस्=ङेः, 'ङसिँङसोश्चे' ति पूर्वरूपम्।] यः ।१।१। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ङेः) ङे के स्थान पर (यः) 'य' आदेश होता है। ध्यान रहे कि 'य' आदेश सस्वर है।

'राम + ङे' यहां 'राम' यह अदन्त अङ्ग है अतः इस से परे ङे को 'य' आदेश हो—'राम + य' हुआ। यहां 'य' यञादि तो है पर सुप् नहीं। सुप् तो 'ङे' था, वह

अब रहा नहीं। अतः 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ प्राप्त नहीं हो सकता। अब य में सुप्त्व धर्म लाने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—१४४ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ।१।१।५५।

आदेशः स्थानिवत् स्यात्, न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। इति स्थानिवत्त्वात् 'सुपि चे' ति दीर्घः—रामाय। रामाभ्याम्।

अर्थः—आदेश स्थानी के समान होता है, परन्तु स्थानी अल् के आश्रित यदि कार्य करना हो तो नहीं होता। इस सूत्र से यकार के स्थानिवत् हो जाने से 'सुपि च' से दीर्घ हो कर 'रामाय' हुआ।

व्याख्या—स्थानिवत् इत्यव्ययपदम्। आदेशः।१।१। अनल्विधौ।७।१। समासः—स्थानिना तुल्य इति स्थानिवत्, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' (११४८) इति वतिप्रत्ययः। १. अला विधिः=अल्विधिः, तृतीयातत्पुरुषः। २. अलः (परस्य) विधिः=अल्विधिः, पञ्चमी-तत्पुरुषः। ३. अलः (स्थाने) विधिः=अल्विधिः, षष्ठीतत्पुरुषः। ४. अलि (परे) विधिः= अल्विधिः, सप्तमीतत्पुरुषः। न अल्विधिः=अनल्विधिः, तस्मिन्=अनल्विधौ, नञ्तत्पुरुषः। यहां अल् स्थानी या स्थानी का अवयव ही ग्रहण किया जाता है। अर्थः—(आदेशः) आदेश (स्थानिवत्) स्थानी के समान होता है। परन्तु (अनल्विधौ) स्थान्यल् द्वारा, स्थान्यल् से परे, स्थान्यल् के स्थान पर या स्थान्यल् के परे होने पर विधि करनी हो तो स्थानिवत् नहीं होता। भावः—जिस के स्थान पर कुछ किया जाय उसे 'स्थानी' कहते हैं। यथा—'ङेर्यः' (१४३) द्वारा 'ङे' के स्थान पर 'य' किया जाता है अतः 'ङे' स्थानी है। 'इको यणचि' (१५) द्वारा इक् के स्थान पर यण् किया जाता है अतः 'इक्' स्थानी है। जो स्थानी के स्थान पर किया जाता है उसे 'आदेश' कहते हैं। यथा—'ङेर्यः' (१४३) में य और 'इको यणचि' (१५) में यण् आदेश है। **"आदेश स्थानिवत्=स्थानी के समान होता है"** अर्थात् जो कार्य स्थानी के होने से सिद्ध होते हैं वे आदेश के होने से भी सिद्ध हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

'राम+य' यहां 'य' यञादि तो है पर सुप् नहीं, अतः 'सुपि च' (१४१) प्राप्त नहीं हो सकता। अब प्रकृत सूत्र द्वारा आदेश 'य' के स्थानिवत्=ङेवत् होने से 'य' में सुप्त्व धर्म आ जाने के कारण 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ हो कर—'रामाय' रूप सिद्ध हो जाता है।

निम्नलिखित अवस्थाओं में आदेश स्थानिवत् न होगा—

(१) स्थानी अल् के द्वारा कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—'व्यूढोरस्केन' [व्यूढम् उरो यस्य स व्यूढोरस्कः, तेन=व्यूढोरस्केन।

बहुव्रीहिसमासः ।] यहां विसर्ग के स्थान पर 'सोऽपदादौ' (८।३।३८) से सकार हुआ है। वार्त्तिककार एवं भाष्यकार ने विसर्ग का अट् प्रत्याहार में पाठ माना है। अब यदि इस सकार को स्थानिवद्भाव से विसर्ग मान लें तो यह अट् प्रत्याहार के अन्तर्गत हो जायगा। तब 'अट्कु—' (१३८) द्वारा सकार को णकार प्राप्त होगा जो अनिष्ट है। यहां स्थानी=विसर्ग=अल् के द्वारा णत्वविधि करनी है अतः आदेश=स् स्थानिवत्=विसर्गवत् न होगा।

(२) **स्थानी अल् से परे कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता।** यथा—द्यौः। 'दिव्' शब्द से सुँ प्रत्यय करने पर 'दिव औत्' (२६४) सूत्र द्वारा 'व्' को 'औ' हो—'दि औ स्' बना। अब यहां 'औ' इस आदेश को स्थानिवत् अर्थात् वकारवत् हल् मानने से 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७१) द्वारा सकार का लोप प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल्=वकार से परे लोपविधि करनी है अतः आदेश (औ) स्थानिवत् (वकारवत्) न होगा।

(३) **स्थानी अल् के स्थान पर कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता।** यथा—द्युकामः। यहां 'दिव् + काम' में 'दिव उत्' (२६५) सूत्र द्वारा 'व्' को 'उ' होता है। यदि इस 'उ' आदेश को स्थानिवत्=वकारवत् मानें तो उस के वल् प्रत्याहार के अन्तर्गत होने के कारण 'लोपो व्योर्वलि' (४२१) द्वारा वकारलोप प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल्=वकार के स्थान पर लोपविधि करनी है अतः आदेश (उ) स्थानिवत् (वकारवत्) न होगा।

(४) **स्थानी अल् के परे होने पर उस से पूर्व कोई विधि करनी हो तो भी आदेश स्थानिवत् नहीं होता।** यथा—क इष्टः। 'इष्टः' यहां यजँधातु के यकार के स्थान पर इकार किया गया है। 'कस् + इष्टः' यहां 'ससजुषो रुँः' (१०५) से रुँ आदेश कर अनुबन्धलोप किया तो—'कर् +इष्टः' हुआ। अब यहां 'इष्टः' के इकार आदेश को स्थानिवत्=यकारवत् हश्प्रत्याहारान्तर्गत मानें तो 'हशि च' (१०७) से रेफ के स्थान पर उत्व प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल् यकार है; उस के परे होने पर उस से पूर्व रेफ को उत्वविधि करनी है अतः आदेश (इ) स्थानिवत् (यकारवत्) न होगा।

नोट—इस सूत्र पर उपयोगी सब बातें हम ने लिख दी हैं। विद्यार्थियों को इस सूत्र का खूब अभ्यास कर लेना चाहिये; आगे व्याकरण में यत्र तत्र इस का बहुत उपयोग होगा।

चतुर्थी के द्विवचन में 'रामाभ्याम्' पूर्ववत् सिद्ध होता है।

चतुर्थी के बहुवचन में 'भ्यस्' प्रत्यय आ कर 'राम+भ्यस्' हुआ। अब 'सुँपि च' (१४१) के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१४५ बहुवचने झल्येत् ।७।३।१०३॥

झलादौ बहुवचने सुपि अतोऽङ्गस्यैकारः । रामेभ्यः । सुपि किम् ? पचध्वम् ।

अर्थः—झलादि बहुवचन सुप् परे हो तो अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो ।

व्याख्या—अतः ।६।१। ['अतो दीर्घो यञि' से । यहां विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] बहुवचने ।७।१। झलि ।७।१। सुँपि ।७।१। ['सुँपि च' से] एत् ।१।१। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि तथा 'सुँपि' का विशेषण होने से 'झलि' से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादिविधि हो जाती है । अर्थः—(झलि=झलादौ) झलादि (बहुवचने) बहुवचन (सुपि) सुप् परे हो तो (अतः=अदन्तस्य) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) 'ए' आदेश हो जाता है । 'अचश्च' (१।२।२८) और 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषाओं द्वारा यह 'ए' आदेश अन्त्य अच्=अत् के स्थान पर ही होगा ।

'राम + भ्यस्' यहां 'भ्यस्' बहुवचन है, इस के आदि में भकार झल् है और यह सुँप् भी है । अतः इस के परे होने से प्रकृत सूत्र द्वारा मकारोत्तर अकार को एकार हो सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'रामेभ्यः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'सुँपि' कथन से इस सूत्र की प्रवृत्ति सुँप् में ही होती है । अन्यथा 'पचध्वम्' [तुम सब पकाओ] यहां भी एकार आदेश हो 'पचेध्वम्' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता । 'ध्वम्' झलादि बहुवचन तो है पर सुँप् नहीं तिङ् है । इसकी साधनप्रक्रिया तिङन्तप्रकरण में स्पष्ट होगी ।

अब रामशब्द के पञ्चमी के रूप सिद्ध किये जाते हैं । पञ्चमी के एकवचन में ङसिँ प्रत्यय आ कर 'राम + ङसिँ' बना । इस अवस्था में 'टाङसि—'(१४०) द्वारा ङसिँ को आत् आदेश हो सवर्णदीर्घ करने पर—'रामात्' हुआ । अब तकार झल् के पदान्त होने से 'झलां जशोऽन्ते' (६७) द्वारा तकार को दकार करने से—'रामाद्' । इस अवस्था में 'विरामोऽवसानम्' (१२४) सूत्र से दकार की अवसानसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१४६ वाऽवसाने ।८।४।५६॥

अवसाने झलां चरो वा । रामात्, रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य ।

अर्थः—अवसान में झलों को चर् विकल्प से हों ।

व्याख्या—अवसाने ।७।१। झलाम् ।६।३। ['झलां जश्झशि' से] चर् ।१।१। ['अभ्यासे चर्च' से] वा इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(अवसाने) अवसान में (झलाम्) झलों के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (चर्) चर् हो जाते हैं ।

'रामाद्' यहां अवसान में इस सूत्र से दकार झल् को तकार चर् विकल्प से आदेश करने पर—'रामात्, रामाद्' दो रूप सिद्ध होते हैं ।

नोट—अनेक वैयाकरण 'वाऽवसाने' (१४६) सूत्र को 'झलां जशोऽन्ते' (६७) सूत्र का अपवाद मानते हैं । अतः 'रामात्' में प्रथम 'वाऽवसाने' (१४६) से तकार को तकार कर पक्ष में 'झलां जशोऽन्ते' (६७) द्वारा दकार किया करते हैं । किञ्च——जहां २ कौमुदी मे 'जश्त्व-चर्त्वे' [जश्त्व और चर्त्व होते हैं] लिखा रहता है, वे वहां 'जश् तु अचर्त्वे' [चर्त्वाभावपक्ष में जश् हो जाता है] ऐसा पदच्छेद स्वीकार किया करते हैं । परन्तु——— हमारी सम्मति मे यह मत युक्त प्रतीत नहीं होता । क्योंकि ऐसा मानने से 'रत्नमुष्' शब्द के 'रत्नमुट्, रत्नमुड्' ये दो रूप न बन सकेंगे । तथाहि—प्रथम चर्त्व करने से षकार को षकार हो कर—'रत्नमुष्' बनेगा । तदनन्तर जश्त्व हो—रत्नमुड्' । इस प्रकार रत्नमुष्, रत्नमुड्' ये दो रूप बन जायेंगे; 'रत्नमुट्' रूप न बन सकेगा । यद्यपि वे इस का 'ष्णान्ता षट्' (२६७) आदि निर्देशों से परिहार किया करते हैं; तथापि उन निर्देशों से उन २ कल्पनाओं के करने की अपेक्षा प्रथम जश्त्व कर तदनन्तर चर्त्व करने मे ही लाघव प्रतीत होता है । इस का विशेष विवरण हमारी सिद्धान्तकौमुदी में देखें ।

पञ्चमी के द्विवचन में पूर्ववत् 'रामाभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है । बहुवचन मे चतुर्थी विभक्ति के बहुवचन के समान 'रामेभ्यः' रूप बनता है ।

अब रामशब्द से षष्ठी के बहुवचन में 'ङस्' प्रत्यय आता है और 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (१४०) सूत्र से उस के स्थान पर 'स्य' आदेश हो कर 'रामस्य' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

षष्ठी के द्विवचन में 'ओस्' प्रत्यय आ कर 'राम+ओस्' हुआ । अब वृद्धि एकादेश को बान्धकर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप की प्राप्ति होती है । इस अवस्था में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**१४७ ओसि च ।७।३।१०४॥**

(ओसि परे) अतोऽङ्गस्यैकारः । रामयोः ।

अर्थः—ओस् परे होने पर अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो ।

व्याख्या—ओसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अतः ।६।१। ['अतो दीर्घो यञि' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] एत् ।१।१। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'अतः' से तद-न्तविधि हो जाती है । अर्थः—(ओसि) ओस् परे होने पर (अतः) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) 'ए' आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल् अकार को ही एकार आदेश होगा ।

'राम + ओस्' यहां अदन्त अङ्ग 'राम' है । इस से परे 'ओस्' है । अतः 'ओसि च' से अङ्ग के अन्त्य अकार को एकार हो कर 'रामे + ओस्' इस अवस्था में 'एचोऽयवायावः' (२२) से एकार के स्थान पर अय् आदेश हो जाता है—रामयोस् । अब सकार को रुत्व विसर्ग करने से 'रामयोः' रूप सिद्ध होता है ।

षष्ठी के बहुवचन में 'आम्' प्रत्यय आ कर 'राम + आम्' हुआ । अब सवर्णदीर्घ के प्राप्त होने पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

(लघु०) विधि-सूत्रम्—१४८ ह्रस्वनद्यापो नुट् ।७।१।५४॥

ह्रस्वान्ताद् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुडागमः ।

अर्थः—ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त अङ्गों से परे आम् का अवयव नुट् हो जाता है ।

व्याख्या—ह्रस्वनद्यापः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है यहां विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है] आमः ।६।१। ['आमि सर्वनाम्नः सुट्' से विभक्ति-विपरिणाम कर के] नुट् ।१।१। समासः—ह्रस्वश्च नदी च आप् च=ह्रस्वनद्याप्, समाहार-द्वन्द्वः । तस्मात् = ह्रस्वनद्यापः । यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(ह्रस्वनद्यापः) ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (आमः) आम् का अवयव (नुट्) नुट् हो जाता है । 'नुट्' टित् है अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' (८४) द्वारा 'आम्' का आद्यवयव होगा ।

'राम+आम्' यहां 'राम' ह्रस्वान्त अङ्ग है, इस से परे आम् विद्यमान है । अतः प्रकृतसूत्र से आम् का आद्यवयव नुट् हो गया—'राम+नुट् आम्' । नुट् में टकार 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक है, उकार उच्चारणार्थ है; न् अवशिष्ट रहता है । 'राम् + नाम्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१४९ नामि ।६।४।३॥

(नामि परे) अजन्ताङ्गस्य दीर्घः । रामाणाम् । रामे । रामयोः । एत्वे कृते—

अर्थः—नाम् परे हो तो अजन्त अङ्ग के स्थान पर दीर्घ हो जाता है। बहुवचन में ह्रस्व करने पर (अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है।)

व्याख्या—नामि ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] 'अचश्च' (१.२.२८) परिभाषा द्वारा 'अचः' पद उपस्थित हो कर 'अङ्गस्य' का विशेषण बन जाता है अतः इस से तदन्त-विधि हो कर 'अजन्तस्य' बन जायगा। अर्थः—(नामि) नाम् परे होने पर (अचः) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा यह दीर्घ अजन्त अङ्ग के अन्त्य अल्=अच् को ही होगा।

'राम+नाम्' यहां नाम् परे होने से अजन्त अङ्ग 'राम' के अन्त्य अकार को दीर्घ हो कर 'रामा नाम्'। अब इस अवस्था में 'अट्कुप्वाङ्–'(१३८) से आ = अट्, म् = पवर्ग, आ= अट् के व्यवधान होने पर भी नकार के स्थान पर णकार हो कर—'रामाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'ङि' प्रत्यय आ कर 'राम+ङि' हुआ। ङकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से इत् सञ्ज्ञा हो लोप करने पर 'राम+इ' बना। अब 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश हो कर 'रामे' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के द्विवचन में 'रामयोः' रूप षष्ठी के द्विवचन की तरह सिद्ध होता है

सप्तमी के बहुवचन में 'राम+सुप्' यहां पकार की इत्सञ्ज्ञा और लोप हो कर 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) से मकारोत्तर अकार को एकार आदेश करने पर 'रामे+सु' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५० आदेश-प्रत्यययोः ।८।३।५९॥

इण्कुभ्यां परस्यापदान्तस्यादेशः, प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः। ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः। रामेषु। एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः।

अर्थः—इण् प्रत्याहार और कवर्ग से परे अपदान्त जो आदेशरूप सकार अथवा प्रत्यय का अवयव जो सकार उस के स्थान पर मूर्धन्य (मूर्धास्थान वाला) आदेश हो। ईषद्विवृतप्रयत्न वाले सकार के स्थान पर वैसा ईषद्विवृत षकार ही होगा। इसी प्रकार 'कृष्ण' आदि अदन्त (पुंलिङ्ग) शब्दों के रूप बनेंगे।

व्याख्या—इण्कोः ।५।१। [यह अधिकृत है] आदेश-प्रत्यययोः ।६।२। अपदान्तस्य ।६।१। ['अपदान्तस्य मूर्धन्यः' यह अधिकृत है] सः ।६।१। ['सहेः साडः सः' से] मूर्धन्यः ।१।१। समासः—इण् च कुश्च = इण्कुः, तस्मात्=इण्कोः, समाहारद्वन्द्वः। पुंस्त्व-

मार्षम् । आदेशश्च प्रत्ययश्च=आदेश-प्रत्ययौ, तयोः=आदेश-प्रत्यययोः, इतरेतरद्वन्द्वः । यहां व्याख्यान द्वारा 'आदेश' के साथ अभेदात्मिका षष्ठी और 'प्रत्यय' के साथ अवयवषष्ठी है । अर्थात् 'आदेशस्य = आदेश का सकार' इस का तात्पर्य होगा—'आदेशरूप सकार' । 'प्रत्ययस्य=प्रत्यय का सकार' इस का तात्पर्य होगा—'प्रत्यय का अवयव सकार' । यदि 'आदेशस्य' यहां अभेदात्मिका षष्ठी न मान कर अवयवषष्ठी मानते हैं तो 'तिसृणाम्' यहां भी 'तिसृ' आदेश के अवयव सकार को इण् से परे मूर्धन्य प्राप्त होता है जो अनिष्ट है । अभेदात्मिका षष्ठी मानने से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि 'तिसृ' में सकार आदेशरूप नहीं, आदेश का अवयव है । आदेशरूप तो 'तिसृ' सम्पूर्ण है । इसी प्रकार यदि 'प्रत्ययस्य' यहां अवयवषष्ठी न मान कर अभेदात्मिका षष्ठी मानें तो "रामेषु, हरिषु, करोषि, चिनोषि" आदि प्रयोग तथा "हलि सर्वेषाम् (१०६), बहुषु बहुवचनम् (१२८), लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (५८१)" इत्यादि पाणिनि के निर्देश अनुपपन्न होंगे। तब 'सात्पदाद्योः' (१२४१) सूत्र द्वारा सात् को षत्व करने का निषेध भी अयुक्त हो जायगा । अतः 'प्रत्ययस्य' में अवयव-षष्ठी ही युक्तियुक्त, कार्यसाधिका तथा पाणिन्यनुमोदिता है । अर्थः—(इण्कोः) इण् प्रत्याहार या कवर्ग से परे (आदेश-प्रत्यययोः) आदेशरूप या प्रत्यय के अवयव (अपदान्तस्य) अपदान्त (सः) स् के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धास्थानीय वर्ण आदेश होता है ।

यहां इण्प्रत्याहार (११) सूत्र पर लिखी व्यवस्थानुसार पर अर्थात 'लण्' के णकार तक ग्रहण किया जाता है । मूर्ध्नि भवः=मूर्धन्यः, जो वर्ण मूर्धा स्थान से निष्पन्न हो उसे मूर्धन्य कहते हैं । मूर्धन्य वर्ण आठ हैं—ऋ, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, र्, ष् । यहां स्थानी सकार के साथ इन में से किसी का स्थान तुल्य हो यह असम्भव है । अब शेष रहा यत्न । सकार का 'ईषद्विवृत' आभ्यन्तर-यत्न तथा 'विवार, श्वास, अघोष' बाह्ययत्न है । मूर्धन्य वर्णों में इस प्रकार के यत्न वाला 'ष्' के अतिरिक्त अन्य कोई वर्ण नहीं अतः सकार के स्थान पर षकार ही मूर्धन्य आदेश होगा ।*

'रामे+सु' यहां मकारोत्तर एकार इण् है । इस से परे 'सु' प्रत्यय के अवयव अपदान्त सकार को इस सूत्र से मूर्धन्य षकार हो कर—'रामेषु' प्रयोग सिद्ध होता है ।

आदेशरूप सकार के उदाहरण—'सुष्वाप' प्रभृति हैं । इण् कवर्ग से परे षत्वविधान करने से—'रामस्य, पुरुषस्य' इत्यादियों में सकार को षकार नहीं होता । एवम् 'अपदान्त' कहने से—'कविस्तिष्ठति, हरिस्तत्र' इत्यादियों में पदान्त सकार को षकार नहीं होता।

---

* यद्यपि 'मूर्धन्य' के स्थान पर 'षः' लिखने में ही लाघव था; तथापि 'इणः षीध्वम्—' (५१४) आदि सूत्रों में 'षः' की अनुवृत्ति जाने से अनिष्टापत्ति हो जाती; क्योंकि 'एधाञ्चकृढ्वे' में मूर्धन्य ढ अभीष्ट है ष नहीं—अतः 'मूर्धन्यः' लिखा गया है ।

रामशब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः
द्वितीया	रामम्	,,	रामान्
तृतीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
चतुर्थी	रामाय	,,	रामेभ्यः
पञ्चमी	रामात्, रामाद्	,,	,,
षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
सप्तमी	रामे	,,	रामेषु
सम्बोधन	हे राम !	हे रामौ !	हे रामाः !

यद्यपि ग्रन्थकार ने सम्बोधनविभक्ति को प्रथमाविभक्ति के अनन्तर रखा है; तथापि आजकल यह सब विभक्तियों के अन्त में प्रचलित है। यहां हम ने लौकिकक्रम का अनुसरण किया है।

इस प्रकार सब अकारान्त पुंलिङ्गों के उच्चारण होते हैं। जिन में कुछ विशेषता है उन का कथन आगे मूल में स्वयं ग्रन्थकार करेंगे। हम यहां रामवत् कुछ उपयोगी शब्दों का अर्थ सहित सङ्ग्रह दे रहे हैं। जिन शब्दों के आगे '*' इस प्रकार का चिह्न है उन में णत्वविधि जान लेनी चाहिये।

अथ पशुपक्षिकीटादयः।

	शब्द	अर्थ
१	अश्व	घोड़ा
	उलूक	उल्लू
	उष्ट्र*	ऊँट
	कपोत	कबूतर
५	काक	कौआ
	कीट	कीड़ा
	कीर*	तोता
	कीश	बानर
	कुक्कुट	मुर्गा
१०	कुक्कुर*	कुत्ता
	कुञ्जर*	हाथी
	कुरङ्ग*	हरिण
	कूर्म*	कछुआ
	कृकलास	गिरगिट
१५	कोक	चकवा
	कोल	सूअर
	कौशिक	उल्लू
	खग	पक्षी
	खद्योत	जुगनू
२०	खर*	गधा
	गज	हाथी
	गण्डक	गैण्डा
	गर्दभ	गधा
	गृध्र*	गीध
२५	घोटक	घोड़ा
	चकोर*	चकोर
	चरणायुध	मुर्गा
	चाष*	नीलकण्ठ
	चिल्ल	चील

शब्द	अर्थ
३० छाग	बकरा
ज्योतिरिङ्गण	जुगनू
ताम्रचूड	मुर्गा
तुरङ्ग*	घोड़ा
दिवान्ध	उल्लू
३५ द्विरद	हाथी
ध्वाङ्क्ष*	कौआ
नकुल	नेवला
नक्र*	नाका
पारावत	कबूतर
४० पिक	कोयल
बर्हिण	मोर
भालुक	रीछ
भृङ्ग*	भ्रमर
भेक	मेंढक
४५ भ्रमर*	भौंरा
मकर*	मगरमच्छ
मण्डूक	मेंढक
मत्कुण	खटमल
मत्स्य	मच्छ
५० मधुप	भौंरा
मयूर*	मोर
मर्कट	बन्दर
मशक	मच्छर
महिष*	भैंसा
५५ मार्जार*	बिल्ला
मूषिक*	चूहा
मृग*	हरिण
मृगादन	चीता

शब्द	अर्थ
मेष*	मेढ़ा
६० बक	बगुला
वराह*	सूअर
वर्त्तक	बटेर
वायस	कौआ
वानर*	बन्दर
६५ वृक*	भेड़िया
वृश्चिक	बिच्छू
वृषभ*	बैल
शलभ	पतङ्गा
शशक	खरगोश
७० शाखामृग*	बन्दर
शुक	तोता
शृगाल	गीदड़
श्येन	बाज़
षट्पद	भ्रमर
७५ सर्प*	सांप
सारमेय*	कुत्ता
सारङ्ग*	पपीहा
हरिण	मृग

अथ सम्बन्धवाचकाः ।

शब्द	अर्थ
अग्रज	बड़ा भाई
८० आवुत्त	बहनोई
जनक	पिता
तनय	पुत्र
देवर*	देवर
दौहित्र*	दोहता
८५ धव	पति
पितामह	दादा
पितृव्य*	चाचा
पितृ-ष्वस्रेय*	बुआ का पुत्र
पौत्र*	पोता
९० प्रपितामह	परदादा
प्रपौत्र*	परपोता
भगिनी-पुत्र*	भांजा
भागिनेय	भांजा
भ्रातृव्य*	भतीजा, शत्रु
९५ भ्रात्रीय*	भतीजा
मातामह	नाना
मातुल	मामा
मातुलेय	मामा का पुत्र
मातृ-ष्वस्रेय*	मौसी का पुत्र
१०० वैमात्रेय*	सौतेला भाई
श्याल	साला
श्वशुर*	ससुर
सोदर*	सगा भाई
स्वस्रीय*	भांजा

अथ खाद्यान्नादिवाचकाः ।

शब्द	अर्थ
१०५ अपूप	पुआ
अक्षोटक	अखरोट
आम्र*	आम
कुलत्थ	कुल्थी
केशर*	केसर
११० कोविदार*	कचनार
खर्जूर*	खजूर

शब्द	अर्थ
गुड	गुड़
गृञ्जन	गाजर
गोधूम	गन्दम
११५चणक	चना
चम्पक	चम्पा
तिल	तिल
दशाङ्गुल	खरबूजा
दाडिम	अनार
१२०नारिकेल	नारियल
निम्ब	नीम
पटोल	परवल
परुषक*	फालशा
पर्पट	पापड़
१२५पुष्पराज	गुलाब
बिभीतक	बहेड़ा
माष*	माष
मुद्ग	मूंग
लवङ्ग	लौंग
१३०वटक	पकोड़ा
वाताद	बादाम
वेशवार*	मसाला
शाक	तरकारी
सर्षप*	सरसों
१३५संयाव	हलुआ

अथ मनुष्यवर्गस्थ-शब्दाः ।

शब्द	अर्थ
अकिञ्चन	निर्धन
अज्ञ	मूर्ख
अध्यापक	पढ़ाने वाला
अध्वनीन	मुसाफिर
१४०अन्ध	अन्धा
अर्चक	पुजारी
अश्वारोह*	घुड़सवार
आलोचक	आलोचना करने वाला
आसिक	तलवारदार-योद्धा
१४५ऐकागारिक*	चोर
कर्णेजप	चुगलखोर
काण	काना
कृतघ्न	नाशुक्रगुजार
कृतज्ञ	शुक्रगुजार
१५०कृपण	कंजूस
केशव	श्रीकृष्ण
कोविद	पण्डित
क्षत्रिय*	क्षत्री
खल	दुष्ट
१५५गर्धन	लोभी
गुप्तचर*	सी.आई.डी.
घस्मर*	पेटू
चिकित्सक	वैद्य
चिरक्रिय*	सुस्त
१६०जागरूक*	सावधान
जाल्म	असमीक्ष्य-कारी
जिह्म	कुटिल
तस्कर*	चोर
तूष्णीक	चुप
१६५दर्शक	देखने वाला
दानव	दैत्य
दुर्विनीत	अनम्र
देव	देवता
धनिक	धनी
१७०नट	नटवा
नर्मद	मसखरा
नापित	नाई
नाविक	मल्लाह
निशाचर*	राक्षस
१७५निःसंज्ञ	बेहोश
निःस्व	निर्धन
नृप*	राजा
नैयायिक	न्याय-शास्त्रवेत्ता
न्यायाधीश	जज
१८०पथिक	मुसाफिर
परिचारक*	सेवक
पाचक	रसोइया
पुरन्दर*	इन्द्र
बधिर*	बहरा
१८५बालचर*	स्काउट
भारक*	कुली
मन्मथ	कामदेव
मल्ल	पहलवान
मायिक	मायावी
१९०मितम्पच	कञ्जूस
	मीमांसा-शास्त्रवेत्ता
याचक	मांगने वाला
याष्टीक	लाठीधारी-योद्धा

शब्द	अर्थ
रथिक	रथी
१९५वक्र*	टेढ़ा
वचनेस्थित	आज्ञाकारी
विप्र *	ब्राह्मण
वैयाकरण	व्याकरण-वेत्ता
वैश्य	वैश्य
२००वैहासिक	मसखरा
शाक्तीक	शक्तिधारी-योद्धा
शूद्र*	शूद्र
सतीर्थ्य	सहपाठी
सहृदय	काव्यमर्म-वेत्ता
२०५स्तावक	स्तुति करने-वाला
स्वच्छन्द	स्वतन्त्र

अथ व्यावसायिक-शब्दाः ।

शब्द	अर्थ
अधमर्ण	कर्ज़ा लेने वाला
अयस्कार*	लोहार
आपणिक	दुकानदार
२१०उत्तमर्ण	कर्ज़ा देने-वाला
कान्दविक	हलवाई
कुम्भकार*	कुम्हार
कुविन्द	जुलाहा
घटिका-कार*	घड़ीसाज़
२१५चर्मकार*	चमार
चित्रकार*	फ़ोटोग्राफ़र
तन्तुवाय	जुलाहा
ताम्बूलिक	पान बेचने-वाला
निर्णेजक	धोबी
२२०पटकार*	जुलाहा
पश्यतोहर*	सुनार
मालाकार *	माली
रजक	रङ्गरेज़
रथकार*	बढ़ई
२२५सुवर्णकार*	सुनार
सूचीकार*	दरज़ी

अथ विविध-शब्दाः ।

शब्द	अर्थ
अनुग्रह*	कृपा
अपराध	कसूर
अब्द	वर्ष
२३०अभ्युदय	उन्नति
अरघट्ट	रेंहट
अर्क*	सूर्य
अर्घ*	मूल्य
अर्णव	समुद्र
२३५अशिक्षित	अनपढ़
असुर*	दैत्य
आकर*	खान
आखण्डल	इन्द्र
आतप	धूप
२४०आपण	बाज़ार
आभीर*	अहीर

शब्द	अर्थ
आय	आमदनी
आलय	घर
आविष्कार*	ईजाद
२४५आश्विन	असौज
आषाढ	आषाढ़
आसार*	ज़ोर की वर्षा
उदन्त	खबर
उद्भव	उत्पत्ति
२५०उपद्रव*	उपद्रव
उपयोग	इस्तेमाल
उपाय	तरीका
एकक	अकेला
ऐरावत	इन्द्र का हाथी
२५५कन्दर*	गुफ़ा
कपर्द	शिव-जटा
कलङ्क	दोष
कवल	ग्रास
कागद	काग़ज़
२६०कारावास	जेलखाना
कार्त्तिक	कार्त्तिक
कुप्रबन्ध	दुर्व्यवस्था
कुबेर*	कुबेर
कूट	पहाड़ की-चोटी
२६५कूप	कूँआ
कोलाहल	शोरगुल
कोष*	खज़ाना
क्रम*	सिलसिला
क्षय*	नाश

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
२७०खेद	दुःख	फाल्गुन	फागुन	वेशन्त	छोटातालाब
गर्व*	अभिमान	३००बहिष्कार*	बायकाट	वैशाख	वैशाख मास
चन्द्र*	चान्द	भाद्रपद	भादों	वैश्वानर*	अग्नि
चैत्र*	चेत मास	भूधर*	पर्वत	व्यय	खर्च
जय	जीत	मयूख	किरण	३३०व्याज	बहाना
२७५ज्येष्ठ	जेठ मास	मध्याह्न	दोपहर	व्यायाम	कसरत
ज्यैष्ठ	,, ,,	३०५महाविद्यालय	कालेज	शक्र*	इन्द्र
तडाग	तालाब	माघ	माघमास	शिशिर*	शिशिर ऋतु
तानपूर*	तम्बूरा	मारुत	वायु	शैल	पर्वत
तार्क्ष्य*	गरुड	मार्गशीर्ष*	अगहन	३३५श्रावण	श्रावण मास
२८०त्रास	भय	मित्र*	सूर्य	सङ्केत	इशारा
त्रिदिव	स्वर्ग	३१०मुकुर*	दर्पण	सत्कार*	सम्मान
दाव	बनकी आग	मृदङ्ग	तबला	संदंशक	चिमटा
नाक	स्वर्ग	याम	पहर	सन्देह	शक
नाद	शब्द	रय*	वेग	३४०सन्दोह	समूह
२८५नाश	नाश	रुग्ण	बीमार	समीर*	वायु
निकष*	कसौटी	३१५रुद्र*	शिव	संवत्सर*	वर्ष
निर्झर*	झरना	वध	घात	स्कन्द	कार्त्तिकेय
न्याय	इन्साफ़	वसन्त	वसन्त ऋतु	स्वभाव	आदत
पङ्क	कीचड़	विद्यालय	स्कूल	३४५हठ	ज़िद्द
२९०पाखण्ड	ढकोसला	विनायक	गणेश	हायन	वर्ष
पारिजात	स्वर्ग का वृक्ष	३२०विमर्श	विचार	हृषीकेश	श्रीकृष्ण
पावक	अग्नि	विलम्ब	देर	हेमन्त	हेमन्त ऋतु
पाषाण	पत्थर	विलाप	रोना	हेरम्ब*	गणेश
पौष*	पौषमास	विवाह	शादी	३५०ह्रद †	गहरातालाब
२९५प्रणय	प्रेम	विस्रम्भ*	विश्वास		
प्रत्यूष*	प्रातःकाल	३२५विश्वविद्यालय	यूनिवर्सिटी		
प्रदोष*	सायङ्काल				
प्रहर*	पहर				

† इस सङ्ग्रह में रुग्ण, कृतज्ञ, कृतघ्न, अन्ध आदि कई शब्द त्रिलिङ्गी भी हैं। उन का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है। विशेष्य के पुंल्लिङ्ग होने पर ही उन का रामशब्दवत् उच्चारण समझना चाहिये। एवम् आगे भी व्यवस्था समझ लेनी चाहिये।

इत्सञ्ज्ञकों के विषय में विशेष स्मरणीय सूचना

"सुङस्योरुकारेकारौ जशटङपाश्चेतः" (सि० कौ०)

अथवा— "जकारश्च शकारश्च टकारश्च ङपावपि ।
सुङस्योरुदितौ चैव सुपि सप्त स्मृता इतः ॥"

अर्थः—सुँ और ङसिँ के अन्त्य उकार इकार तथा अन्यत्र सुपों में स्थित जकार शकार टकार ङकार और पकार इत्सञ्ज्ञक होते हैं । इत्सञ्ज्ञकों के प्रयोजन निम्नलिखित हैं—

(१) सुँ—में उकार अनुबन्ध का यह प्रयोजन है कि 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३६२) सूत्र में 'असौ' कथन से 'सुँ' का निषेध हो जाय । यदि उकार अनुबन्ध न करते तो इसमें 'असि' कहना पड़ता । तब 'सादि प्रत्यय में निषेध हो' ऐसा अर्थ हो जाने से 'सुप्' में भी निषेध हो जाता जो अनिष्ट था ।

(२) जस्, शस्—में जकार और शकार पर-पर के भेद के लिये है । अत एव—'दीर्घाज्जसि च' (१६२), 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) आदि सूत्र उपपन्न हो जाते हैं ।

(३) औट्—में टकार 'सुट्' प्रत्याहार के लिये है । सुट् प्रत्याहार का उपयोग 'सुडनपुंसकस्य' (१६३) सूत्र में होता है ।

(४) टा—में टकार 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) सूत्र में ग्रहण के लिये है । अन्यथा—'द्वितीयौस्स्वेनः' सूत्र होने पर 'आ' का कहीं पता भी न चलता ।

(५) ङे, ङसिँ, ङस्, ङि—इन में ङकार 'तीयस्य ङित्सु वा' (वा०—१६) तथा 'घेर्ङिति' (१७२) प्रभृति ङित्कार्यों के लिये है । 'ङसिँ' में इकार 'ङस्' से भेद करने के लिये है । भेद का प्रयोजन—'टाङसिङसाम्—' (१४०) में भिन्न २ आदेश करना है ।

(६) सुप्—में पकार 'सुप्' प्रत्याहार के लिये किया गया है ।

इस के अतिरिक्त—"जस्; शस्, भ्यस्, ङस्, ओस्, अम्, भ्याम्, आम्" प्रत्ययों के अन्त्य सकार मकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती; 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) से निषेध हो जाता है—

"सकारो जश्शसोरोसि ङसि भ्यसि न चेद् भवेत् ।
मकारश्च तथा ज्ञेय आमि भ्यामि स्थितस्त्वमि ॥"

अभ्यास (२५)

(१) व्युत्पत्ति और अव्युत्पत्ति पक्षों का सोदाहरण विवेचन करते हुए यह लिखें कि किस सूत्र से किस पक्ष में प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होती है ?

(२) प्रातिपदिकसञ्ज्ञाविधायक सूत्रों की व्याख्या करते हुए 'समास' ग्रहण पर प्रकाश डालें ।

(३) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दें—

(क) 'ङेर्यः' यहां 'ङः' में कौन सी विभक्ति है ? ।

(ख) 'रामान्' यहां णकारादेश क्यों नहीं होता ? ।

(ग) 'जस्' के सकार की इत्सञ्ज्ञा क्यों नहीं होती ? ।

(घ) 'शस्' के सकार को कौन नकारादेश करता है ? ।

(ङ) सुपों में किस २ की किस २ सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होती है ? ।

(४) निम्नलिखित रूपों में कहां २ णत्वविधि शुद्ध और कहां २ अशुद्ध है ? सहेतुक लिखें—

१ मृगेन । २ हरिणाणाम् । ३ गर्वेन । ४ दृष्टानाम् । ५ संदंशकेण । ६ अशिक्षितेण । ७ नॄणाम् । ८ पाषाणाणाम् । ९ रामणाम । १० कारावासेन । ११ द्राघिमानम् । १२ षट्पदाणाम् । १३ मूर्छणा । १४ वृषभेन । १५ केशवेण । १६ विमर्शणीयम् । १७ चौरानाम् । १८ वैदुष्येन । १९ परकीयेन । २० क्षयेन । २१ समर्थानि । २२ वर्त्तकेण । २३ दर्शकेण । २४ शशकेण । २५ प्राज्ञाणाम् । २६ शिक्षकेन । २७ सरटेण । २८ रूप्यकेन ।

(५) इन में णत्वविधि का निमित्त बताओ—

१ उष्ट्रेण । २ तार्क्ष्याणाम् । ३ महाराष्ट्रेण । ४ प्रहारेण । ५ पितृव्यस्त्रेयेण ।

(६) णत्वविधि में क्या सब का व्यवधान आवश्यक होता है या एक २ का ? सयुक्तिक स्पष्ट करें ।

(७) क्या 'वाऽवसाने' सूत्र 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र का अपवाद है ? ।

(८) "यज्ञदत्तस्तस्करः, देवस्य" इत्यादि में षत्व क्यों न हो ? ।

(९) निम्नलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१ राम । २ रामाः । ३ रामयोः । ४ रामैः । ५ रामस्य । ६ रामाय । ७ रामेषु । ८ रामाणाम् । ९ रामम् । १० रामाः ।

(१०) क्या दोष होगा यदि—

'बहुवचने झल्येत्' में 'बहुवचने' न हो; स्थानिवत्सूत्र में 'अनल्विधौ' न हो; अर्थवत्सूत्र में 'अप्रत्ययः' न हो; एङ्ह्रस्वात्—में 'अङ्ग' का अध्याहार न हो।

(११) "अट्कु—,सरूपाणाम्—,प्रथमयोः—,यस्मात्—,आ्ङो—" इन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करें।

—※:o:※—

जिन अकारान्त शब्दों में 'राम' शब्द की अपेक्षा कुछ अन्तर होता है अब उन का वर्णन करते हैं। उन में सर्वादिगण के शब्द मुख्य हैं; अतः प्रथम सर्वादि-गण दर्शाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१५१ सर्वादीनि सर्वनामानि।१।१।२६॥

सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसञ्ज्ञानि स्युः। सर्व। विश्व। उभ। उभय। डतर। डतम। अन्य। अन्यतर। इतर। त्वत्। त्व। नेम। सम। सिम। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः। त्यद्। तद्। यद्। एतद्। इदम्। अदस्। एक। द्वि। युष्मद्। अस्मद्। भवतु। किम्। [इति पञ्चत्रिंशत् सर्वादयः।]

अर्थः—सर्व आदि शब्दस्वरूप सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—सर्वादीनि।१।३। [नपुंसकलिङ्ग के कारण 'शब्दस्वरूपाणि' विशेष्य का अध्याहार किया जाता है।] सर्वनामानि।१।३। समासः—सर्वः (सर्वशब्दः) आदिः (आद्यवयवः) येषां (शब्दस्वरूपाणाम्) तानि सर्वादीनि। तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। 'अदः सर्वेषाम् (२२७), हलि सर्वेषाम्' (१०६) प्रभृति सूत्रों में सर्वशब्द से भी सर्वनामकार्य (सुट्) देखा जाता है अतः सर्वशब्द की भी सर्वनामसञ्ज्ञा करने के लिये यहां 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि' समास मानना ही युक्त है।

सर्वादिगण में पैंतीस (३५) शब्द आते हैं, जो ऊपर मूल में लिखे हुए हैं। इन का श्लोकों में सङ्ग्रह यथा—

सर्वान्यविश्वोभयनेमयत्तदः, किंयुष्मदस्मद्द्विभवत्त्यदेतदः।
उभत्वतौ विज्ञजनैरुदीरितौ, समः सिमस्त्वान्यतरेतरा अपि॥ १॥

एकेदमदसो ज्ञेया डतरो डतमस्तथा।
स्वमज्ञातिधनेऽनाम्नि कालदिग्देशवृत्तयः॥ २॥
पूर्वापरावरपरा उत्तरो दक्षिणाधरौ।
अन्तरं चोपसंव्याने बहिर्योगे तथाऽपुरि॥ ३॥

इन सब का विवेचन आगे यथास्थान किया जायगा।

सर्वनाम सञ्ज्ञा अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुसार है। इस गण में पढ़े हुए शब्द यदि 'सभी' के वाचक होंगे तो तभी इन की सर्वनामसञ्ज्ञा होगी, अन्यथा नहीं। अत एव यदि किसी व्यक्तिविशेष का नाम 'सर्व' होगा तो वहां सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। इसी प्रकार 'सर्वम् अतिक्रान्तः=अतिसर्वः, तस्मै=अतिसर्वाय' इत्यादि स्थानों पर गौण होने पर भी सर्वनामता न होगी। 'सर्वनाम' यह महासञ्ज्ञा करना इस में प्रमाण है; अन्यथा घु, टि, भ के समान कोई छोटी सञ्ज्ञा भी कर सकते थे। इस विषय का विस्तार 'सिद्धान्त-कौमुदी' में देखना चाहिये।

सर्वादिगण के अजन्त शब्दों का प्रायः 'जस्, ङे, ङसिँ, आम् और ङि' इन पाञ्च विभक्तियों में रामशब्द की अपेक्षा अन्तर होता है। शेष विभक्तियों में रामवत् रूप बनते हैं। अतः इन पाञ्च विभक्तियों में ही रूप सिद्ध किये जाएंगे।

सर्वशब्द का अर्थ 'सब' अर्थात् समूचा समुदाय है। समुदाय दो प्रकार का होता है—१ उद्भूतावयव २ अनुद्भूतावयव। जहां वक्ता की केवल समुदाय कहने की इच्छा होती है वहां अनुद्भूतावयवसमुदाय होता है। जहां वक्ता का अभिप्राय समुदाय कहने के साथ २ तदन्तर्गत व्यक्तियों से भी हुआ करता है वहां उद्भूतावयव समुदाय होता है। अतः अनुद्भूतावयवसमुदाय की विवक्षा में एकवचन और उद्भूतावयवसमुदाय की विवक्षा में द्विवचन और बहुवचन होगा।

सर्वशब्द के प्रथमा के एकवचन और द्विवचन में रामशब्दवत् 'सर्वः, सर्वौ' प्रयोग बनते हैं।

प्रथमा के बहुवचन में 'जस्' प्रत्यय आ कर 'सर्व+जस्' हुआ। अब 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) सूत्र से सर्वशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५२ जसः शी ।७।१।१७।।

अदन्तात् सर्वनाम्नो जसः शी स्यात्। अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः—सर्वे।

अर्थः—अदन्त सर्वनाम से परे जस् के स्थान पर शी आदेश हो।

व्याख्या—अतः ।५।१। ['अतो भिस ऐस्' से] सर्वनाम्नः ।५।१। ['सर्वनाम्नः स्मै' से] जसः ।६।१। शी ।१।१। 'सर्वनाम्नः' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि होती है। अर्थः—(अतः) अदन्त (सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (जसः) जस् के स्थान पर (शी) शी आदेश होता है।

'प्रत्ययः' (१२०) के अधिकार में न पढ़े जाने से शी की प्रत्ययसञ्ज्ञा नहीं होती; परन्तु हां! जब वह जस् के स्थान पर हो जाता है तब स्थानिवद्भाव से उस की प्रत्यय-

सञ्ज्ञा हो जाती है । तात्पर्य यह है कि जब तक जस् के स्थान पर शी आदेश नहीं होगा तब तक वह प्रत्ययसञ्ज्ञक भी न होगा । प्रत्ययसञ्ज्ञा न होने से 'लशक्वतद्धिते' (१३६) द्वारा इस के शकार की इत् सञ्ज्ञा नहीं होगी; क्योंकि उस सूत्र से प्रत्यय के आदि शकार की इत् सञ्ज्ञा की जाती है । अतः शिद्भाव के कारण शी सर्वादेश नहीं होता, किन्तु अनेकाल् (श्+ई) होने से 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (४५) द्वारा सर्वादेश हो जाता है ।

"आदेशकरणात्पूर्वं यतः शीति न प्रत्ययः ।
तस्मात्तस्य शकारस्तु लशक्वेति न हीद्भवेत् ॥ १ ॥
सर्वादेशो न शिद्भावात् ततो भवितुमर्हति ।
अनेकाल्त्वाद् भवेदेव विद्भिरेतदुदीरितम् ॥ २ ॥"

'सर्व+जस्' यहां प्रकृतसूत्र से जस् के स्थान पर शी आदेश हो स्थानिवद्भाव के कारण शी में प्रत्ययत्व आने से 'लशक्वतद्धिते' (१३६) द्वारा शकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है; तब शकार का लोप करने पर गुण एकादेश हो कर 'सर्वे' प्रयोग सिद्ध होता है ।

ध्यान रहे कि यहां यद्यपि ह्रस्व 'शि' आदेश करने पर भी 'आद् गुणः' (२७) द्वारा गुण एकादेश करने से 'सर्वे' प्रयोग सिद्ध हो सकता है; तथापि अग्रिम 'नपुंसकाच्च' (२३५) आदि सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये इसे दीर्घ किया गया है । अन्यथा—'वारिणी, मधुनी' आदि दीर्घघटित प्रयोग न बन सकते (देखो २४५ सूत्र) ।

द्वितीया और तृतीया विभक्ति में रामशब्दवत् रूप बनते हैं । द्वितीया—सर्वम्, सर्वौ, सर्वान् । तृतीया—सर्वेण, सर्वाभ्याम्, सर्वैः ।

चतुर्थी के एकवचन में 'सर्व + ङे' । इस अवस्था में सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५३ सर्वनाम्नः स्मै ।७।१।१४॥

अतः सर्वनाम्नो 'ङे' इत्यस्य स्मैः स्यात् । सर्वस्मै ।

अर्थः—अदन्त सर्वनाम से परे 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' आदेश हो ।

व्याख्या—अतः ।५।१। ['अतो भिस ऐस्' से] सर्वनाम्नः ।५।१। ङेः ।६।१। ['ङेर्यः' से] स्मै ।१।१। [विभक्तिलोप आर्षः] 'अतः' यह 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है; इस लिये इस से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(अतः) अदन्त (सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (ङेः) ङे के स्थान पर (स्मै) स्मै आदेश होता है । यह सूत्र 'ङेर्यः' (१४३) सूत्र का अपवाद है ।

'सर्व+ङे' यहां अदन्त सर्वनाम 'सर्व' है । इस से परे 'ङे' वर्तमान है । अतः प्रकृतसूत्र से ङे के स्थान पर स्मै आदेश हो कर 'सर्वस्मै' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

चतुर्थी के द्विवचन और बहुवचन में क्रमशः 'सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः' सिद्ध होते हैं।

पञ्चमी के एकवचन में 'ङसिँ' प्रत्यय आकर 'सर्व+ङसिँ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५४ ङसिँङ्योः स्मात्स्मिनौ।७।१।१५॥

अतः सर्वनाम्नो ङसिँङ्योरेतौ स्तः। सर्वस्मात्।

अर्थः—अदन्त सर्वनाम से परे ङसिँ और ङि के स्थान पर क्रमशः स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं।

व्याख्या—अतः।५।१। ['अतो भिस ऐस्' से] सर्वनाम्नः।५।१। ['सर्वनाम्नः स्मै' से] ङसिङ्योः।६।२। स्मात्स्मिनौ।१।२।'सर्वनाम्नः' के विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि होगी। अर्थः—(अतः) अदन्त (सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (ङसिँङ्योः) ङसिँ और ङि के स्थान पर (स्मात्स्मिनौ) स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं। यथासङ्ख्यपरिभाषा से ङसिँ को स्मात् और ङि को स्मिन् होगा। ध्यान रहे कि स्मात् और स्मिन् के अन्त्य तकार और नकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत् सञ्ज्ञा न होगी; 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) से निषेध हो जायगा।

'सर्व + ङसिँ' यहां अदन्त सर्वनाम 'सर्व' है; इस से परे ङसिँ मौजूद है। अतः प्रकृतसूत्र से ङसिँ के स्थान पर स्मात् हो कर 'सर्वस्मात्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

षष्ठी के एकवचन और द्विवचन में 'सर्वस्य, सर्वयोः' प्रयोग रामशब्द के समान सिद्ध होते हैं।

षष्ठी के बहुवचन में आम् प्रत्यय आ कर—'सर्व + आम्' हुआ। अब सर्वनाम-सञ्ज्ञा हो कर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५५ आमि सर्वनाम्नः सुट्।७।१।५२॥

अवर्णान्तात् परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः। एत्वषत्वे—सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्। शेषं रामवत्।

अर्थः—अवर्णान्त (अङ्ग) से परे तथा सर्वनाम से विहित आम् को सुट् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—आत्।५।१। ['आज्जसेरसुक्' से] अङ्गात्।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है। इस का पञ्चमी में विपरिणाम हो जाता है।] सर्वनाम्नः।५।१। आमि।७।१। सुट्।१।१। 'आत्' पद 'अङ्गात्' पद का विशेषण है, अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१.१.७१) द्वारा तदन्तविधि हो कर—'अवर्णान्ताद् अङ्गात्' बनेगा।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सुट् किन का अवयव हो ?। यह तो ज्ञात है कि 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा यह आद्यवयव होता है; परन्तु किस का आद्यवयव हो ? यह यहां ज्ञातव्य है। 'अङ्गात्' में पञ्चमी का निर्देश किया गया है, अतः 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) के अनुसार सुट् अङ्ग से परे आम् का अवयव होना चाहिये। 'आमि' में सप्तमी का निर्देश किया गया है, अतः तस्मिन्निति—' (१६) के अनुसार सुट् आम् से पूर्व अङ्ग का अवयव होना चाहिये। तो अब सुट् किस का अवयव हो ? ऐसी शङ्का होने पर "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" (देखो पृष्ठ—१३८) के अनुसार पञ्चमी-निर्देश के बलवान् होने से सुट्, अङ्ग से पर = आम् का ही अवयव ठहरता है। तो इस प्रकार 'आमि' पद को 'आमः' बना कर सम्बन्ध में षष्ठी स्वीकार करेंगे। यहां स्पष्ट 'आमः' न कह कर 'आमि' कहने का प्रयोजन आगे 'ओस्त्रयः' (१६२) आदि सूत्रों में उस का अनुवर्त्तन करना ही है। अर्थः—(आत्) अवर्णान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सर्वनाम्नः) तथा सर्वनाम से विहित (आमः) आम् का अवयव (सुट्) सुट् हो जाता है।

प्रश्नः—'आप ने अवर्णान्त सर्वनाम से परे आम् को सुट् का आगम हो' ऐसा सरलार्थ न कर यह अपूर्व अर्थ क्यों किया है ?।

उत्तर—यदि आप का अर्थ करते तो 'येषाम्, तेषाम्' आदि प्रयोग सिद्ध न हो सकते। तथाहि—यद् और तद् सर्वनाम से आम् प्रत्यय कर के 'त्यदादीनामः' (१९३) से दकार को अकार और 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप करने पर 'त + आम्, य + आम्' हुआ। अब यहां आप का अर्थ मानने से सुट् प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि यहां अवर्णान्त सर्वनाम से परे आम् वर्त्तमान नहीं। जो अवर्णान्त है वह सर्वनाम नहीं और जो सर्वनाम है वह अवर्णान्त नहीं। सर्वनामसञ्ज्ञा 'यद्, तद्' आदि दकारान्तों की ही की गई है। परन्तु—हमारे उपर्युक्त अर्थ में कोई दोष नहीं आता। यथा—यहां अवर्णान्त अङ्ग 'य, त' हैं, इन से परे यद्, तद् सर्वनाम से विहित आम् विद्यमान है; अतः इसे सुट् का आगम हो जायगा। यह अर्थ 'जसः शी (१५२), सर्वनाम्नः स्मै (१५३)' आदि सूत्रों में भी समझ लेना चाहिये; अन्यथा 'ये, यस्मै, यस्मात्' आदि में शी आदि सर्वनामकार्य न हो सकेंगे।

'सर्व+आम्' यहां अवर्णान्त अङ्ग है 'सर्व'। इस से परे, सर्वनाम (सर्व) से विहित 'आम्' विद्यमान है। अतः इसे सुट् का आगम हो—'सर्व + सुट् आम्'। सुट् में टकार इत् है और उकार उच्चारणार्थ है; अतः स् अवशिष्ट रहता है—'सर्व + साम्'। सुट् का आगम आम् को कहा गया है। जिसको आगम होता है वह उस का अवयव माना जाता है। उस के ग्रहण से उस का भी ग्रहण हो जाता है। जैसा कि कहा भी है—"यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते"। अतः 'साम्' आम् से भिन्न नहीं। इस से 'साम्' को नाडि

बहुवचन ठहरता है; इस के परे होने से 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) द्वारा अकार को एकार तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से साम् प्रत्यय के अवयव सकार को मूर्धन्य षकार करने से 'सर्वेषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

सप्तमी के एकवचन में 'सर्व+ङि' हुआ । यहां 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५४) से ङि' को स्मिन हो कर 'सर्वस्मिन्' प्रयोग सिद्ध हुआ । सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्रथमा	सर्वः	सर्वौ	सर्वे	पञ्चमी	सर्वस्मात्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
द्वितीया	सर्वम्	"	सर्वान्	षष्ठी	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
तृतीया	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः	सप्तमी	सर्वस्मिन्	"	सर्वेषु
चतुर्थी	सर्वस्मै	"	सर्वेभ्यः	सम्बोधन	हे सर्व !	हे सर्वौ !	हे सर्वे !

[लघु०] एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः ।

व्याख्या—अब अन्य अदन्त पुंल्लिङ्ग सर्वनामों के विषय में कहते हैं कि—विश्व आदि अदन्त (सर्वनाम) भी इसी तरह होते हैं । 'विश्व' शब्द का अर्थ 'सम्पूर्ण' है । सर्वादिगण में पाठ होने से 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) द्वारा सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर शी, स्मै आदि सर्वनामकार्य हो जाएंगे । शेष रामवत् प्रक्रिया होगी । सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्रथमा	विश्वः	विश्वौ	विश्वे	पञ्चमी	विश्वस्मात्	विश्वाभ्याम्	विश्वेभ्यः
द्वितीया	विश्वम्	"	विश्वान्	षष्ठी	विश्वस्य	विश्वयोः	विश्वेषाम्
तृतीया	विश्वेन	विश्वाभ्याम्	विश्वैः	सप्तमी	विश्वस्मिन्	"	विश्वेषु
चतुर्थी	विश्वस्मै	"	विश्वेभ्यः	सम्बोधन	हे विश्व !	हे विश्वौ !	हे विश्वे !

[लघु०] उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । उभौ २ । उभाभ्याम् ३ । उभयोः २ । तस्येह पाठोऽकजर्थः ।

व्याख्या—सर्वादिगण में विश्व शब्द के बाद 'उभ' शब्द आता है । इस का अर्थ है 'दोनों' (Both) । अतः यह सदा द्विवचनान्त ही प्रयुक्त होता है । एकवचन और बहुवचन प्रत्ययों में असम्भव होने से इस का प्रयोग नहीं होता । इस की प्रक्रिया रामशब्दवत् समझनी चाहिये । सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	०	उभौ	०	पञ्चमी	०	उभाभ्याम्	०
द्वितीया	०	"	०	षष्ठी	०	उभयोः	०
तृतीया	०	उभाभ्याम्	०	सप्तमी	०	"	०
चतुर्थी	०	"	०	सम्बोधन	०	हे उभौ !	०

अब यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि उभशब्द में सर्वनामसञ्ज्ञा का कोई कार्य नहीं किया गया; क्योंकि सर्वनामसञ्ज्ञा के सब कार्य या तो बहुवचन में होते हैं या एकवचन में। यथा "जसः शी (१५२), आमि सर्वनाम्नः सुट् (१५५)" ये बहुवचन में होते हैं; "सर्वनाम्नः स्मै (१५३), ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४)" ये एकवचन में होते हैं। द्विवचन में कोई कार्य नहीं देखा जाता। तो पुनः किस लिये 'उभ' शब्द को सर्वादिगण में डाल कर उस की सर्वनामसञ्ज्ञा करने का प्रयत्न किया गया है ?। इस शङ्का को मन में रख कर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि—

"तस्येह पाठोऽकजर्थः"

अर्थात् इस उभशब्द का सर्वादिगण में पाठ कर इस की सर्वनामसञ्ज्ञा करने का प्रयोजन 'अकच्' प्रत्यय विधान करना ही है। तात्पर्य यह है कि सर्वशब्द पर कहे गये 'जसः शी' (१५२) आदि कार्य ही केवल सर्वनामकार्य नहीं, किन्तु सर्वनामकार्य तो और भी हैं। यदि उभशब्द पर शी आदि कोई कार्य नहीं होता तो भले ही न हो; इस को सर्वनामसञ्ज्ञा तो अन्य कार्य के लिये ही की गई है। तथाहि—'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' (१२२६)·······सर्वनामों की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय हो। उभशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा होने से अकच् प्रत्यय हो कर—उभ अकच् अ+औ = 'उभकौ' रूप हो जाता है। यदि इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होती तो अकच् न हो सकता। विशेष 'सिद्धान्त-कौमुदी' में देखें।

[लघु०] उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। डतर—डतमौ प्रत्ययौ। 'प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इति तदन्ता ग्राह्याः। नेम इत्यर्धे। समः सर्वपर्यायः। तुल्यपर्यायस्तु न। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' इति ज्ञापकात्।

अर्थः—'उभय' शब्द का द्विवचन नहीं होता। डतर और डतम प्रत्यय होते हैं। 'प्रत्यय के ग्रहण में तदन्त का ग्रहण हो' इस परिभाषा से तदन्त अर्थात् डतरान्त और डतमान्त शब्दों का ग्रहण करना चाहिये। नेम शब्द अर्ध (आधा) अर्थ में सर्वादिगण में समझना चाहिये। सर्वपर्याय अर्थात् 'सब' अर्थ के वाचक समशब्द का सर्वादियों में पाठ है, तुल्यपर्याय—समान अर्थ के वाचक का नहीं। इस में ज्ञापक पाणिनि का 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) सूत्र है।

व्याख्या—सर्वादिगण में 'उभ' शब्द के बाद 'उभय' शब्द आता है। यह शब्द उभशब्द से 'अयच्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। वार्त्तिककार श्रीकात्यायन के अनुसार इस का द्विवचन-प्रत्ययों में प्रयोग नहीं किया जाता। इस का अर्थ है—दो अवयवों वाला।

यथा—उभयो मणिः [दो हिस्सों वाली मणि], उभये मणयः [दो हिस्सों वालीमणियां]। इस की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	उभयः	०	उभये	पञ्चमी	उभयस्मात्	०	उभयेभ्यः
द्वितीया	उभयम्	०	उभयान्	षष्ठी	उभयस्य	०	उभयेषाम्
तृतीया	उभयेन	०	उभयैः	सप्तमी	उभयस्मिन्	०	उभयेषु
चतुर्थी	उभयस्मै	०	उभयेभ्यः	सम्बोधन	हे उभय !	०	हे उभये !

सर्वादि-गण में उभयशब्द के बाद 'डतर, डतम' का नम्बर आता है। ये दोनों प्रत्यय हैं। इनके विधायक तीन तद्धितसूत्र हैं। (१) किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् (१२३२), (२) वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् (१२३३), (३) एकाच्च प्राचाम् (५.३.९४)। किम्, यद्, तद् और एक इन चार सर्वनामों से डतर और डतम प्रत्यय हो कर आठ शब्द बनते हैं। (१) कतर, (२) कतम, (३) यतर, (४) यतम, (५) ततर, (६) ततम, (७) एकतर, (८) एकतम। सर्वादिगण में 'डतर, डतम' के पाठ से इन आठशब्दों का ही ग्रहण होता है। क्योंकि—"न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न केवलः प्रत्ययः" अर्थात् न केवल प्रकृति का और न केवल प्रत्यय का ही प्रयोग करना चाहिये—इस सिद्धान्त के अनुसार केवल डतर डतम का कहीं प्रयोग नहीं हो सकता। किञ्च—"प्रत्ययग्रहणे तदन्त-ग्रहणम्" [प्रत्यय का ग्रहण होने पर तदन्त अर्थात् वह प्रत्यय जिस के अन्त में है उस के सहित उस प्रत्यय का ग्रहण करना चाहिये] इस नियम से डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त उपर्युक्त आठ शब्दों का ही ग्रहण प्रसक्त होगा। अतः इन आठ शब्दों की ही सर्वनामसञ्ज्ञा होगी; केवल डतर डतम प्रत्ययों की नहीं।

प्रश्नः—पाणिनि-जी को यदि यह प्रत्ययग्रहण-परिभाषा अभीष्ट होती तो वे 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र के स्थान पर 'सुप्तिङ् पदम्' ऐसा छोटा सूत्र रचते; क्योंकि सुँप् और तिङ् के प्रत्यय होने से सुँबन्त और तिङन्त का सुतरां ग्रहण हो जाता ?।

उत्तर—'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र में मुनि के 'अन्त' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—"सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" अर्थात् जहां प्रत्यय की सञ्ज्ञा की जा रही हो वहां प्रत्ययग्रहण-परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो यहां डतर और डतम प्रत्ययों की सर्वनामसञ्ज्ञा करने पर यह परिभाषा क्यों प्रवृत्त हो रही है ?। यहां भी उसे प्रवृत्त नहीं होना चाहिये ?।

उत्तर—यह बात सत्य है। परन्तु यहां केवल उन प्रत्ययों की सञ्ज्ञा करने का कुछ भी प्रयोजन न होने से उपर्युक्त परिभाषा की प्रवृत्ति हो जाती है। क्योंकि जब इस लोक में मन्द से मन्द बुद्धि वाला पुरुष भी प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता तो क्या महाबुद्धिमान् जगद्गुरु भगवान् पाणिनि व्यर्थ के लिये इन की सर्वनामसञ्ज्ञा करेंगे? कदापि नहीं।

कतर आदि शब्दों का उच्चारण पुंल्लिङ्ग में 'सर्व' शब्द की तरह होता है। कतर (दो में कौन) शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	कतरः	कतरौ	कतरे	पञ्चमी	कतरस्मात्	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः
द्वितीया	कतरम्	"	कतरान्	षष्ठी	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्
तृतीया	कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः	सप्तमी	कतरस्मिन्	"	कतरेषु
चतुर्थी	कतरस्मै	"	कतरेभ्यः	सम्बोधन	हे कतर!	हे कतरौ!	हे कतरे!

इसी प्रकार—कतम (बहुतों में कौन), यतर (दो में जो), यतम (बहुतों में जो), ततर (दो में वह), ततम (बहुतों में वह), एकतर (दो में एक), एकतम (बहुतों में एक), शब्द भी समझने चाहियें।

डतर, डतम के अनन्तर सर्वादिगण में 'अन्य' (दूसरा) शब्द आता है। इस का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है। यथा—

प्रथमा	अन्यः	अन्यौ	अन्ये	पञ्चमी	अन्यस्मात्	अन्याभ्याम्	अन्येभ्यः
द्वितीया	अन्यम्	"	अन्यान्	षष्ठी	अन्यस्य	अन्ययोः	अन्येषाम्
तृतीया	अन्येन	अन्याभ्याम्	अन्यैः	सप्तमी	अन्यस्मिन्	"	अन्येषु
चतुर्थी	अन्यस्मै	"	अन्येभ्यः	सम्बो०	हे अन्य!	हे अन्यौ!	हे अन्ये!

अन्यशब्द के बाद 'अन्यतर' शब्द आता है। इस का अर्थ है—दोनों में से एक। इसे डतरप्रत्ययान्त नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार का एक 'अन्यतम' शब्द भी लोक में देखा जाता है। इस का अर्थ है—बहुतों में से एक। इसे भी डतमप्रत्ययान्त नहीं समझना चाहिये। ये दोनों शब्द अव्युत्पन्न हैं। इन में से प्रथम 'अन्यतर' शब्द का गण में पाठ है अतः इस की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। दूसरे 'अन्यतम' शब्द का गण में पाठ नहीं अतः इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी; रामशब्दवत् उच्चारण होगा। 'अन्यतर' शब्द का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है। यथा—

प्र०	अन्यतरः	अन्यतरौ	अन्यतरे	प०	अन्यतरस्मात्	अन्यतराभ्याम्	अन्यतरेभ्यः
द्वि०	अन्यतरम्	"	अन्यतरान्	ष०	अन्यतरस्य	अन्यतरयोः	अन्यतरेषाम्
तृ०	अन्यतरेण	अन्यतराभ्याम्	अन्यतरैः	स०	अन्यतरस्मिन्	"	अन्यतरेषु
च०	अन्यतरस्मै	"	अन्यतरेभ्यः	सम्बो०	हे अन्यतर!	हे अन्यतरौ!	हे अन्यतरे!

अन्यतरशब्द के बाद 'इतर' शब्द आता है। इस का अर्थ 'भिन्न' है। इस का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है—

प्र०	इतरः	इतरौ	इतरे	पं०	इतरस्मात्	इतराभ्याम्	इतरेभ्यः
द्वि०	इतरम्	"	इतरान्	ष०	इतरस्य	इतरयोः	इतरेषाम्
तृ०	इतरेण	इतराभ्याम्	इतरैः	स०	इतरस्मिन्	"	इतरेषु
च०	इतरस्मै	"	इतरेभ्यः	सम्बो०	हे इतर !	हे इतरौ !	हे इतरे !

इतरशब्द के अनन्तर सर्वादिगण में अदन्त शब्द 'त्व' आता है। इस का अर्थ भी 'भिन्न' है। यह वेद में ही प्रयुक्त होता है। इस का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है। यथा—

प्र०	त्वः	त्वौ	त्वे	पं०	त्वस्मात्	त्वाभ्याम्	त्वेभ्यः
द्वि०	त्वम्	"	त्वान्	ष०	त्वस्य	त्वयोः	त्वेषाम्
तृ०	त्वेन	त्वाभ्याम्	त्वैः	स०	त्वस्मिन्	"	त्वेषु
च०	त्वस्मै	"	त्वेभ्यः	सम्बो०	हे त्व !	हे त्वौ !	हे त्वे !

त्वशब्द के अनन्तर अदन्त सर्वनाम 'नेम' आता है। अर्ध (आधा) अर्थ में इस का सर्वादिगण में पाठ अभीष्ट है। अवधि आदि अर्थों में पाठ न होने से सर्वनामसञ्ज्ञा नहीं होगी। तब रामवत् उच्चारण होगा। अर्धवाची सर्वनाम नेमशब्द का विशेष विवेचन 'प्रथम-चरम—' (१६०) सूत्र पर देखें।

सर्वादिगण में नेमशब्द के बाद 'सम' आता है। इस के 'सब' और 'तुल्य' दो अर्थ होते हैं। 'सब' अर्थ में इस की सर्वनामसञ्ज्ञा होती है; 'तुल्य' अर्थ में नहीं होती। इस का कारण यह है कि पाणिनि मुनि ने 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) इस सूत्र मे 'समानाम्' कहा है। यहां समशब्द तुल्यवाचक है। यदि इस अर्थ में इसका सर्वादिगण में पाठ होता तो 'समानाम्' की बजाय 'समेषाम्' होता। सर्वनामसञ्ज्ञक समशब्द की रूप-माला यथा—

प्र०	समः	समौ	समे	पं०	समस्मात्	समाभ्याम्	समेभ्यः
द्वि०	समम्	,,	समान्	ष०	समस्य	समयोः	समेषाम्
तृ०	समेन	समाभ्याम्	समैः	स०	समस्मिन्	,,	समेषु
च०	समस्मै	,,	समेभ्यः	सम्बो०	हे सम !	हे समौ !	हे समे !

इस के बाद 'सिम' शब्द का पाठ है। इस का अर्थ 'सब' है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	सिमः	सिमौ	सिमे	प०	सिमस्मात्	सिमाभ्याम्	सिमेभ्यः
द्वि०	सिमम्	,,	सिमान्	ष०	सिमस्य	सिमयोः	सिमेषाम्
तृ०	सिमेन	सिमाभ्याम्	सिमैः	स०	सिमस्मिन्	,,	सिमेषु
च०	सिमस्मै	,,	सिमेभ्यः	सम्बो०	हे सिम !	हे सिमौ !	हे सिमे !

इस के बाद "पूर्व-परावर-दक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् असञ्ज्ञायाम्" यह गण-सूत्र आता है। इस का अर्थ यह है—सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ हो तो 'पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर' ये सात शब्द सर्वादिगण में समझे जावें। इस गणसूत्र की विशेष व्याख्या तथा पूर्वादि शब्दों के उच्चारण आगे (१२६) सूत्र पर देखें।

पूर्वादियों के अनन्तर 'स्वम् अज्ञातिधनाख्यायाम्' यह गणसूत्र आता है। इस का अर्थ यह है—बन्धु और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ वाला स्वशब्द सर्वादिगण में समझा जावे। इसका विशेष व्याख्यान आगे (१२७) सूत्र पर देखें।

स्वशब्द के बाद 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' यह गणसूत्र आता है। इस का अर्थ यहहै—बाह्य और परिधानीय अर्थ वाला 'अन्तर' शब्द सर्वादिगण में समझा जाए। इस का विशेष विवरण भी आगे (१२८) सूत्र पर देखें।

अन्तरशब्द के बाद त्यदादिगण आता है। [त्यदादिगण सर्वादिगण के अन्तर्गत एक गण है, नया गण नहीं। इस में 'त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्' ये बारह शब्द आते हैं।] त्यदादियों में केवल 'एक' शब्द ही अदन्त है। यदि 'एक' शब्द सङ्ख्यावाचक हो तो वह नित्य एकवचनान्त होता है और यदि अन्य [प्रधान, प्रथम, केवल, अन्य, साधारण, समान, अल्प] अर्थों का वाचक हो तो इस से द्विवचन तथा बहुवचन प्रत्यय भी होते हैं। यथा—'यजुष्येकेषाम्' (८. ३. १०२)। इस की सर्वनामसञ्ज्ञा प्रत्येक अवस्था में होती है। प्रथम सङ्ख्यावाची 'एक' शब्द का उच्चारण यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	एकः	०	०	पञ्चमी	एकस्मात्	०	०
द्वितीया	एकम्	०	०	षष्ठी	एकस्य	०	०
तृतीया	एकेन	०	०	सप्तमी	एकस्मिन्	०	०
चतुर्थी	एकस्मै	०	०	त्यदादियों का प्रायः सम्बोधन नहीं हुआ करता।			

प्रधान आदि अर्थों में 'एक' शब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	एकः	एकौ	एके	प०	एकस्मात्	एकाभ्याम्	एकेभ्यः
द्वि०	एकम्	,,	एकान्	ष०	एकस्य	एकयोः	एकेषाम्
तृ०	एकेन	एकाभ्याम्	एकैः	स०	एकस्मिन्	,,	एकेषु
च०	एकस्मै	,,	एकेभ्यः	सम्बो०	हे एक !	हे एकौ !	हे एके !

नोट— अत्र कोषः—"एकोऽन्यार्थे प्रधाने च, प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे, सङ्ख्यायाञ्च प्रयुज्यते" ॥

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१५६ **पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम् । १ । १ । ३३ ॥**

एतेषां व्यवस्थायामसञ्ज्ञायां सर्वनामसञ्ज्ञा गणसूत्रात् सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात् । पूर्वे, पूर्वाः । असञ्ज्ञायां किम् ? उत्तराः कुरवः । स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था । व्यवस्थायां किम् ? दक्षिणा गाथकाः । कुशला इत्यर्थः ।

अर्थः—(१) पूर्व, (२) पर, (३) अवर, (४) दक्षिण, (५) उत्तर, (६) अपर, (७) अधर इन सात शब्दों की सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में गण-सूत्र से जो सर्वनामसञ्ज्ञा सब जगह प्राप्त थी वह जस् परे होने पर विकल्प से हो ।

व्याख्या—पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि ।१।३। व्यवस्थायाम् ।७।१। असञ्ज्ञायाम् ।७।१। विभाषा ।१।१। जसि ।७।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनामानि ।१।३। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से] समासः—पूर्वञ्च परञ्च अवरञ्च दक्षिणञ्च उत्तरञ्च अपरञ्च अधरञ्च [यहां नपुंसकलिङ्ग 'शब्दस्वरूपम्' इस विशेष्य के कारण लगाया गया है ।] = पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि, इतरेतरद्वन्द्वः । न सञ्ज्ञा=असञ्ज्ञा, तस्याम्=असञ्ज्ञायाम्, नञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(असञ्ज्ञायाम्) सञ्ज्ञाभिन्न (व्यवस्थायाम्) व्यवस्था अर्थ हो तो (पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि) पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर ये सात शब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक हों ।

सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में पूर्वादि सातों शब्दों की 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्' इस गण सूत्र से [यह गणसूत्र सर्वादिगण में पीछे आ चुका है] सर्वनामसञ्ज्ञा की जा चुकी है । अब वही सर्वत्र प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा जस् में विकल्प कर के की जाती है ।

प्रश्नः—यह सूत्र एक बार सर्वादिगण में पढ़ा जा चुका है; पुनः यहां सूत्रपाठ में इस के पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं । केवल जस् में विकल्प करने के लिये 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि' इतना ही सूत्र पर्याप्त है । 'व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्' इस के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—आप का यह विचार ठीक नहीं। क्योंकि वैसा करने से गणसूत्र से तो इन की सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था में ही सर्वनामसञ्ज्ञा होगी और यहां सञ्ज्ञा होने तथा व्यवस्था न होने पर भी इन की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जायगी। अतः यहां भी 'व्यवस्थायाम-सञ्ज्ञायाम्' कहना अत्यावश्यक है।

अब हमें यह जानना है कि 'व्यवस्था' क्या होती है। ग्रन्थकार ने व्यवस्था का यह लक्षण किया है—

"स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था"

अपेक्ष्यत इत्यपेक्षः, कर्मणि घञ्। स्वस्य (पूर्वादिशब्दस्य) अभिधेयेन (वाच्येन) अपेक्षस्य (अपेक्ष्यमाणस्य) अवधेर्नियमो व्यवस्था। अर्थः—जहां पूर्व आदि शब्दों के अपने अर्थों से अवधि के नियम की अपेक्षा हो वहां व्यवस्था समझनी चाहिये। उदाहरण यथा—

काशी पूर्वा। कुतः? प्रयागात्। यहां 'पूर्वा' शब्द का अर्थ पूर्वदिशास्थित काशी देश है। इस अर्थ से अवधि के नियम की आकाङ्क्षा होती है। अर्थात 'काशी पूर्व है' यह सुनने वालों को यहां यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'किस से पूर्व है?'। इस पर उत्तर मिलता है कि 'प्रयाग से'। तो यहां पूर्वाशब्द का अर्थ क्योंकि अवधि के नियम ['प्रयागात' इस प्रकार] की अपेक्षा = आकाङ्क्षा करता है; अतः यहां व्यवस्था है।

पूर्वे रावणादयः। केभ्यः? कंसादिभ्यः। यहां पूर्वशब्द का अर्थ पूर्वकालस्थित रावण आदि व्यक्ति हैं। इन अर्थों से अवधि के नियम की अपेक्षा = आकाङ्क्षा = जिज्ञासा होती है कि किस से रावण आदि पूर्व हुए हैं?। इस पर उत्तर मिलता है कि 'कंस आदियों से'। तो यहां पूर्वशब्द का अर्थ क्योंकि अवधि के नियम ['कंसादिभ्यः' इस प्रकार] की अपेक्षा करता है; अतः यहां व्यवस्था है।

पूर्वस्यां रविरुदेति। यहां पूर्वाशब्द का अर्थ दिशा-विशेष है। दिशाविशेषों का सङ्केत सुमेरुपर्वत की अपेक्षा से अनादिकाल से चला आ रहा है। तो इस प्रकार यहां भी व्यवस्था है।

तात्पर्य यह हुआ कि जहां पूर्व आदि शब्दों के प्रयोग होने पर 'कहां से?', 'किस से?', 'किन से?' इत्यादि प्रकारेण जिज्ञासा हो वहां व्यवस्था समझनी चाहिये।

ध्यान रहे कि व्यवस्था में पूर्वादि शब्द तीन प्रकार के होते हैं। (१) देशवाची, यथा—काशी पूर्वा। (२) कालवाची, यथा—पूर्वे रावणादयः। (३) दिशावाची, यथा—पूर्वस्यां रविरुदेति। यदि इन तीनों से अतिरिक्त पूर्वादि शब्द होंगे तो वहां व्यवस्था न होगी। यथा—अधरे रागः (निचले होंठ पर लाली है)।

"व्यवस्थायां किम् ? दक्षिणा गाथकाः ।"

'दक्षिणा गाथकाः' (चतुर गायक)। यहां दक्षिणशब्द का अर्थ 'चतुर' है। इस से अवधि के नियम की आकाङ्क्षा नहीं होती। अतः यहां व्यवस्था न होने से इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। [सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से पक्ष में 'जसः शी' (१५२) द्वारा शी आदेश न होगा।] इसी प्रकार—'अयं बाल उत्तरे प्रत्युत्तरे शक्तः' [यह बालक जवाब सवाल में चतुर है।] यहां 'उत्तर शब्द का अर्थ 'जवाब' तथा प्रत्युत्तर' शब्द का अर्थ 'जवाब का जवाब' है। इन अर्थों से किसी प्रकार भी अवधि के नियम की जिज्ञासा नहीं होती। अतः व्यवस्था में वर्त्तमान न होने के कारण इन की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। इस से पक्ष में 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' (१५१) सूत्र प्रवृत्त न होगा।

"असञ्ज्ञायां किम् ? उत्तराः कुरवः"

व्यवस्था होने पर भी पूर्वादि शब्द किसी की सञ्ज्ञा नहीं होने चाहियें। यदि ये किसी की सञ्ज्ञा होंगे तो व्यवस्था में वर्त्तमान होने पर भी इन की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। यथा 'उत्तराः कुरवः' [उत्तरकुरुदेश] *। सुमेरुपर्वत को अवधि मान कर 'उत्तर कुरु' इस प्रकार देश व्यवस्था की गई है। अतः यहां 'उत्तर' शब्द व्यवस्था में वर्त्तमान है। परन्तु 'उत्तर कुरु' इस प्रकार कुरुदेश की सञ्ज्ञा होने से उत्तरशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी।

जहां पूर्व आदि शब्द किसी की सञ्ज्ञा न होंगे और व्यवस्था में वर्त्तमान होंगे वहां निम्नप्रकारेण प्रयोगसिद्धि होगी—

'पूर्व+जस्' यहां 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१४१) सूत्र से पूर्वशब्द की नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरा....' इस प्रकृतसूत्र से जस् में वह विकल्प कर के हो जाती है। सर्वनामपक्ष में 'जसः शी' (१५२) से जस् को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश करने पर 'पूर्वे' प्रयोग सिद्ध होता है। सर्वनामाभावपक्ष में रामशब्दवत् पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'पूर्वाः' प्रयोग बन जाता है।

इसी प्रकार पर आदि शब्दों के भी—परे, पराः। अवरे, अवराः। दक्षिणे, दक्षिणाः। उत्तरे, उत्तराः। अपरे, अपराः। ये दो २ रूप बनते हैं। इन शब्दों की रूपमाला आगे लिखेंगे।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१५७ स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ।१।१।३४॥

---

* कुरुशब्दो देशविशेषे बहुवचनान्त. प्रयुज्यते। सम्प्रति रूस का पूर्वोत्तरप्रदेश 'उत्तरकुरु' देश है—ऐसा विचारकों का मत है। परन्तु अन्य लोग 'कुरुक्षेत्र' को ही 'उत्तरकुरु' देश मानते हैं।

ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता सञ्ज्ञा जसि वा। स्वे, स्वाः। आत्मीया आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः=ज्ञातयोऽर्था वा।

अर्थः—ज्ञाति (बान्धव) और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ वाले स्वशब्द की प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा जस् में विकल्प से हो।

व्याख्या—स्वम् ।१।१। ['शब्द-स्वरूपम्' की दृष्टि से नपुंसक लिखा गया है।] अज्ञातिधनाख्यायाम् ।७।१। विभाषा ।१।१। जसि ।७।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनाम ।१।१। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से वचनविपरिणाम कर के]। समासः—ज्ञातिश्च धनञ्च=ज्ञातिधने, तयोर् आख्या (सञ्ज्ञा)=ज्ञातिधनाख्या, तस्याम्=ज्ञातिधनाख्यायाम्, द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः। न ज्ञातिधनाख्यायाम्=अज्ञातिधनाख्यायाम्, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अज्ञातिधनाख्यायाम्) ज्ञाति और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थों में (जसि) जस् परे होने पर (स्वम्) स्वशब्द (विभाषा) विकल्प करके (सर्वनाम) सर्वनाम-सञ्ज्ञक होता है।

सर्वादिगण में भी यह सूत्र पढ़ा गया है। उस से ज्ञाति और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थों में स्वशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा सर्वत्र प्राप्त होती थी। पुनः इस सूत्र के द्वारा उसी प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा का जस् मे विकल्प किया गया है।

स्वशब्द के चार अर्थ होते हैं—(१) आत्मा (खुद अथवा स्वयम्), (२) आत्मीय (खुद का=अपना), (३) ज्ञाति (बान्धव=रिश्तेदार), (४) धन। इन चार अर्थों में से प्रथम दो अर्थों में स्वशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा होती है, पिछले दो अर्थों में नहीं। प्रकृतसूत्र से वही सर्वत्र प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा जस् में विकल्प कर के की जाती है। सर्वनाम पक्ष में जस् को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश हो कर 'स्वे' प्रयोग बना। सर्वनामाभावपक्ष में रामशब्दवत् 'स्वाः' रूप सिद्ध हुआ।

ज्ञाति और धन अर्थ में सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से 'स्व' शब्द का रामशब्दवत् उच्चारण होगा। अतः जस् में केवल 'स्वाः' ही बनेगा।

"ज्ञातिरात्मा तथात्मीयश्चतुर्थं धनमेव च
अर्थाः प्रोक्ताः स्वशब्दस्य कोषे बुद्धिमतां वरैः ॥१॥
आत्मात्मीयार्थयोरेव सर्वनाम स्मृतं बुधैः।
यो ज्ञातिधनवाची स्यात् सर्वनाम न कीर्त्यते ॥२॥"

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१५८ अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ।१।१।३५॥

बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता सञ्ज्ञा जसि वा। अन्तरे, अन्तरा वा गृहाः—बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे, अन्तरा वा शाटकाः—परिधानीया इत्यर्थः।

अर्थः—बाह्य और परिधानीय अर्थ में अन्तरशब्द की सर्वत्र प्राप्त सर्वनाम-सञ्ज्ञा जस् में विकल्प से हो।

व्याख्या—अन्तरम्।१।१। बहिर्योगोपसंव्यानयोः।७।२। जसि।७।१। विभाषा।१।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनाम।१।१। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से] समासः—बहिः=अनावृतो देशः, तेन योगः=सम्बन्धो यस्य स बहिर्योगः, बहुव्रीहि-समासः। उपसंवीयते=परिधीयते इत्युपसंव्यानम् †। बहिर्योगश्च उपसंव्यानञ्च=बहिर्योगोपसंव्याने। तयोः=बहिर्योगोपसंव्यानयोः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(बहिर्योगोपसंव्यानयोः) बाहर से सम्बन्धित तथा नीचे पहनने योग्य वस्त्रादिक अर्थ में (अन्तरम्) अन्तरशब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनाम) सर्वनामसञ्ज्ञक होता है।

बाह्य अर्थात् बाहरस्थित तथा नीचे पहनने योग्य वस्त्रादिक अर्थ में अन्तरशब्द की इसी प्रकार के गणसूत्र द्वारा जो सर्वनामसञ्ज्ञा सर्वत्र प्राप्त थी उसी का यहां जस् में विकल्प किया गया है। सर्वनामपक्ष में जस् को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश हो—'अन्तरे' बनेगा। तदभावपक्ष में पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश करने पर—'अन्तराः' सिद्ध होगा। अन्तरे, अन्तरा वा गृहाः [बाहरस्थित घर। प्रायः चाण्डाल आदियों के घर नगर की चारदिवारी से बाहर ही हुआ करते हैं। देखो मनुस्मृति—१०।५१।]। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः [नीचे पहनने योग्य वस्त्र=धोती आदि]।

बहिर्योगोपसंव्यानयोः किम्? अनयोर्ग्रामयोर् अन्तरे तापसः प्रतिवसति [इन दो गांवों के मध्य तपस्वी रहता है]। यहां 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'मध्यदेश' है। अतः सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से सर्वनामकार्य न होंगे। [यह प्रत्युदाहरण गणसूत्र का ही है। एवम्—'आवयोरन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः' रामा०।] इसी प्रकार—'इमे अत्यन्तरा मम'।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**१५६ पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा।७।१।१६॥**

एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्, पूर्वात्। पूर्वस्मिन्, पूर्वे। एवम्परादीनाम् *। शेषं सर्ववत्।

---

† 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके' इत्यमरः।

* रूपाणि बोध्यानीति शेषः।

अर्थः—पूर्व आदि नौ शब्दों से परे ङसि और ङि को क्रमशः स्मात् और स्मिन् आदेश विकल्प से हों।

व्याख्या—पूर्वादिभ्यः ।५।३। नवभ्यः ।५।३। ङसिङ्योः ।६।२। स्मात्स्मिनौ ।१।२। ['ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' से] वा इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(पूर्वादिभ्यः) पूर्व आदि (नवभ्यः) नौ शब्दों से परे (ङसिङ्योः) ङसि और ङि के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (स्मात्स्मिनौ) स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं।

पूर्वोक्त त्रिसूत्री (१५६, १५७, १५८) में स्थित नौ शब्दों का उन्हीं अर्थों में यहां ग्रहण है। गणसूत्रों द्वारा नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा विहित होने से इन से परे स्मात् और स्मिन् आदेश नित्य प्राप्त होते थे। अब इस सूत्र से विकल्प किया जाता है। पूर्वस्मात्, पूर्वस्मिन्। पक्ष में रामवत् प्रक्रिया हो कर—पूर्वात्, पूर्वे।

अब पूर्वोक्त अर्थों में पूर्व आदि शब्दों के उच्चारण लिखे जाते हैं—

१ पूर्व (पहला)

प्र०	पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे, पूर्वाः
द्वि०	पूर्वम्	,,	पूर्वान्
तृ०	पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः
च०	पूर्वस्मै	,,	पूर्वेभ्यः
पं०	पूर्वस्मात् / पूर्वात्	,,	,,
ष०	पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
स०	पूर्वस्मिन् / पूर्वे	,,	पूर्वेषु
सं०	हे पूर्व !	हे पूर्वौ !	हे पूर्वे !, पूर्वाः !

२ पर (दूसरा)

प्र०	परः	परौ	परे, पराः
द्वि०	परम्	,,	परान्
तृ०	परेण	पराभ्याम्	परैः
च०	परस्मै	,,	परेभ्यः
पं०	परस्मात् / परात्	,,	,,
ष०	परस्य	परयोः	परेषाम्
स०	परस्मिन् / परे	,,	परेषु
सं०	हे पर !	हे परौ !	हे परे !, पराः !

३ अवर (न्यून आदि)

प्र०	अवरः	अवरौ	अवरे, अवराः
द्वि०	अवरम्	,,	अवरान्
तृ०	अवरेण	अवराभ्याम्	अवरैः
च०	अवरस्मै	,,	अवरेभ्यः
पं०	अवरस्मात् / अवरात्	,,	,,

४ दक्षिण (दहिना)

प्र०	दक्षिणः	दक्षिणौ	दक्षिणे, दक्षिणाः
द्वि०	दक्षिणम्	,,	दक्षिणान्
तृ०	दक्षिणेन	दक्षिणाभ्याम्	दक्षिणैः
च०	दक्षिणस्मै	,,	दक्षिणेभ्यः
पं०	दक्षिणस्मात् / दक्षिणात्	,,	,,

ष०	अवरस्य	अवरयोः	अवरेषाम्
स०	अवरस्मिन् / अवरे	,,	अवरेषु
सं०	हे अवर!	हे अवरौ!	हे अवरे!, अवराः!

ष०	दक्षिणस्य	दक्षिणयोः	दक्षिणेषाम्
स०	दक्षिणस्मिन् / दक्षिणे	,,	दक्षिणेषु
सं०	हे दक्षिण!	हे दक्षिणौ!	हे दक्षिणे!, हे दक्षिणाः!

५ उत्तर (अगला)

प्र०	उत्तरः	उत्तरौ	उत्तरे, उत्तराः
द्वि०	उत्तरम्	,,	उत्तरान्
तृ०	उत्तरेण	उत्तराभ्याम्	उत्तरैः
च०	उत्तरस्मै	,,	उत्तरेभ्यः
प०	उत्तरस्मात् / उत्तरात्	,,	,,
ष०	उत्तरस्य	उत्तरयोः	उत्तरेषाम्
स०	उत्तरस्मिन् / उत्तरे	,,	उत्तरेषु
सं०	हे उत्तर!	हे उत्तरौ!	हे उत्तरे!, उत्तराः!

६ अपर (दूसरा)

प्र०	अपरः	अपरौ	अपरे, अपराः
द्वि०	अपरम्	,,	अपरान्
तृ०	अपरेण	अपराभ्याम्	अपरैः
च०	अपरस्मै	,,	अपरेभ्यः
प०	अपरस्मात् / अपरात्	,,	,,
ष०	अपरस्य	अपरयोः	अपरेषाम्
स०	अपरस्मिन् / अपरे	,,	अपरेषु
सं०	हे अपर!	हे अपरौ!	हे अपरे!, हे अपराः!

७ अधर (नीचा)

प्र०	अधरः	अधरौ	अधरे, अधराः
द्वि०	अधरम्	,,	अधरान्
तृ०	अधरेण	अधराभ्याम्	अधरैः
च०	अधरस्मै	,,	अधरेभ्यः
प०	अधरस्मात् / अधरात्	,,	,,
ष०	अधरस्य	अधरयोः	अधरेषाम्
स०	अधरस्मिन् / अधरे	,,	अधरेषु
सं०	हे अधर!	हे अधरौ!	हे अधरे!, अधराः!

८ स्व (आत्मा, आत्मीय)

प्र०	स्वः	स्वौ	स्वे, स्वाः
द्वि०	स्वम्	,,	स्वान्
तृ०	स्वेन	स्वाभ्याम्	स्वैः
च०	स्वस्मै	,,	स्वेभ्यः
प०	स्वस्मात् / स्वात्	,,	,,
ष०	स्वस्य	स्वयोः	स्वेषाम्
स०	स्वस्मिन् / स्वे	,,	स्वेषु
सं०	हे स्व!	हे स्वौ!	हे स्वे!, हे स्वाः!

९ अन्तर (बाह्य या परिधानीय)

प्र०	अन्तरः	अन्तरौ	अन्तरे, अन्तराः
द्वि०	अन्तरम्	,,	अन्तरान्
तृ०	अन्तरेण	अन्तराभ्याम्	अन्तरैः
च०	अन्तरस्मै	,,	अन्तरेभ्यः
प०	अन्तरस्मात् / अन्तरात्	,,	,,
ष०	अन्तरस्य	अन्तरयोः	अन्तरेषाम्
स०	अन्तरस्मिन् / अन्तरे	,,	अन्तरेषु
सं०	हे अन्तर !	हे अन्तरौ !	हे अन्तरे !, हे अन्तराः !

यहां पूर्व आदि ९ शब्द समाप्त होते हैं ॥

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१६० प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च ।१।१।३२॥

एते जसि उक्तसञ्ज्ञा वा स्युः । प्रथमे, प्रथमाः । तयः प्रत्ययः—द्वितये, द्वितयाः । शेषं रामवत् । नेमे, नेमाः । शेषं सर्ववत् ।

अर्थः—प्रथम, चरम, तयप्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम ये शब्द जस् परे होने पर विकल्प कर के सर्वनाम-सञ्ज्ञक हों ।

व्याख्या—प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः ।१।३। च इत्यव्ययपदम् । जसि ।७।१। विभाषा ।१।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनामानि ।१।३। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से] समासः—प्रथमश्च चरमश्च तयश्च अल्पश्च अर्धश्च कतिपयश्च नेमश्च = प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(प्रथम—नेमाः) प्रथम, चरम, तय, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम ये शब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं ।

इन शब्दों में 'नेम' शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द का सर्वादिगण में पाठ नहीं, अतः शेष सब शब्दों की जस् को छोड़ अन्य विभक्तियों में रामशब्दवत् प्रक्रिया होगी । जस् में सर्वनामपक्ष में 'जसः शी' (१५२) आदि कार्य होंगे । तदभावपक्ष में रामवत् प्रक्रिया जाननी चाहिये । इन के उच्चारण यथा—

प्रथम (पहला)

प्र०	प्रथमः	प्रथमौ	प्रथमे, प्रथमाः
द्वि०	प्रथमम्	,,	प्रथमान्
तृ०	प्रथमेन	प्रथमाभ्याम्	प्रथमैः
च०	प्रथमाय	,,	प्रथमेभ्यः
प०	प्रथमात्	,,	,,

चरम (अन्तिम)

प्र०	चरमः	चरमौ	चरमे, चरमाः
द्वि०	चरमम्	,,	चरमान्
तृ०	चरमेण	चरमाभ्याम्	चरमैः
च०	चरमाय	,,	चरमेभ्यः
प०	चरमात्	,,	,,

ष०	प्रथमस्य	प्रथमयोः	प्रथमानाम्	ष०	चरमस्य	चरमयोः	चरमाणाम्
स०	प्रथमे	,,	प्रथमेषु	स०	चरमे	,,	चरमेषु
सं०	हे प्रथम!	हे प्रथमौ!	हे प्रथमे!, प्रथमाः!	सं०	हे चरम!	हे चरमौ!	हे चरमे!, चरमाः!

चरमशब्द के बाद 'तय' आता है। 'तय' प्रत्यय है। **'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्'** इस परिभाषानुसार तयप्रत्ययान्तों का ही ग्रहण किया जायगा। यद्यपि **"सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति"** इस ज्ञापक से तदन्तों का ग्रहण नहीं होना चाहिये था; तथापि केवल तय प्रत्यय की सञ्ज्ञा करना निष्प्रयोजन होने से तदन्तों का ग्रहण हो जाता है। तयप्रत्ययान्त शब्द—द्वितय, त्रितय, चतुष्टय, पञ्चतय, षट्तय, सप्ततय, अष्टतय, नवतय, दशतय आदि जानने चाहियें। किञ्च—द्वि और त्रि शब्दों से परे तयप् को 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' (११६६) सूत्र से अयच् आदेश हो कर 'द्वय' और 'त्रय' शब्द भी बन जाते हैं। ये भी स्थानिवद्भाव से तयप्प्रत्ययान्त होने के कारण जस् में प्रकृत सूत्र द्वारा सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

द्वितय (द्वौ अवयवौ यस्य, दो अवयवों वाला—जोड़ा)

प्र०	द्वितयः	द्वितयौ	द्वितये, द्वितयाः	प०	द्वितयात्	द्वितयाभ्याम्	द्वितयेभ्यः
द्वि०	द्वितयम्	,,	द्वितयान्	ष०	द्वितयस्य	द्वितययोः	द्वितयानाम्
तृ०	द्वितयेन	द्वितयाभ्याम्	द्वितयैः	स०	द्वितये	,,	द्वितयेषु
च०	द्वितयाय	,,	द्वितयेभ्यः	सं०	हे द्वितय!	हे द्वितयौ!	हे द्वितये!, द्वितयाः!

इसी प्रकार—द्वय, त्रितय, त्रय, चतुष्टय, पञ्चतय प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

अल्प (थोड़ा) | **अर्ध** (आधा)

प्र०	अल्पः	अल्पौ	अल्पे, अल्पाः	प्र०	अर्धः	अर्धौ	अर्धे, अर्धाः
द्वि०	अल्पम्	,,	अल्पान्	द्वि०	अर्धम्	,,	अर्धान्
तृ०	अल्पेन	अल्पाभ्याम्	अल्पैः	तृ०	अर्धेन	अर्धाभ्याम्	अर्धैः
च०	अल्पाय	,,	अल्पेभ्यः	च०	अर्धाय	,,	अर्धेभ्यः
प०	अल्पात्	,,	,,	प०	अर्धात्	,,	,,
ष०	अल्पस्य	अल्पयोः	अल्पानाम्	ष०	अर्धस्य	अर्धयोः	अर्धानाम्
स०	अल्पे	,,	अल्पेषु	स०	अर्धे	,,	अर्धेषु
सं०	हे अल्प!	हे अल्पौ!	हे अल्पे!, अल्पाः!	सं०	हे अर्ध!	हे अर्धौ!	हे अर्धे!, अर्धाः!

कतिपय (कुछ)

प्रथमा	कतिपयः	कतिपयौ	कतिपये, कतिपयाः
द्वितीया	कतिपयम्	,,	कतिपयान्
तृतीया	कतिपयेन	कतिपयाभ्याम्	कतिपयैः
चतुर्थी	कतिपयाय	,,	कतिपयेभ्यः
पञ्चमी	कतिपयात्	,,	,,
षष्ठी	कतिपयस्य	कतिपययोः	कतिपयानाम्
सप्तमी	कतिपये	,,	कतिपयेषु
सम्बोधन	हे कतिपय !	हे कतिपयौ !	हे कतिपये !, कतिपयाः !

'कतिपय' शब्द के अनन्तर 'नेम' शब्द आता है। अर्धवाचक नेमशब्द सर्वनाम-सञ्ज्ञक होता है—यह पीछे कह आये हैं। उसी का प्रकृतसूत्र में ग्रहण समझना चाहिये, अन्य का नहीं। रूपमाला यथा—

प्र०	नेमः	नेमौ	नेमे, नेमाः	प०	नेमस्मात्	नेमाभ्याम्	नेमेभ्यः
द्वि०	नेमम्	,,	नेमान्	ष०	नेमस्य	नेमयोः	नेमेषाम्
तृ०	नेमेन	नेमाभ्याम्	नेमैः	स०	नेमस्मिन्	,,	नेमेषु
च०	नेमस्मै	,,	नेमेभ्यः	सं०	हे नेम!	हे नेमौ !	हे नेमे !, नेमाः !

[लघु०] वा०—१६ तीयस्य ङित्सु वा ।

द्वितीयस्मै, द्वितीयायेत्यादि । एवं तृतीया ।

अर्थः—ङित् विभक्तियों में तीयप्रत्ययान्तों की विकल्प कर के सर्वनामसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या—तीयस्य ।६।१। ङित्सु ।७।३। वा इत्यव्ययपदम् । सर्वनामता ।१।१। [प्रकरण-प्राप्त]। 'तीय' यह एक प्रत्यय है। केवल इस की सञ्ज्ञा का कोई प्रयोजन नहीं; अतः 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' इस निषेध के होते हुए भी 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से तीयप्रत्ययान्तों का ही ग्रहण किया जाएगा। ङ् इत् यस्य असौ=ङित्, जिस विभक्ति के ङकार की इत्सञ्ज्ञा हो उसे ङित् विभक्ति कहते हैं। ङित् विभक्तियां चार हैं—ङे, ङसि, ङस्, ङि ।

ङे में सर्वनामसञ्ज्ञा होने से 'सर्वनाम्नः स्मै' (१५३) तथा ङसि और ङि में सर्वनामसञ्ज्ञा होने से 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५४) सूत्र प्रवृत्त होगा। ङस् में कुछ

विशेषता नहीं * । पक्ष में जहां सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी वहां रामशब्दवत् प्रक्रिया होगी । द्वितीय (दूसरा) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	द्वितीयः	द्वितीयौ	द्वितीयाः
द्वि०	द्वितीयम्	,,	द्वितीयान्
तृ०	द्वितीयेन	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयैः
च०	द्वितीयस्मै / द्वितीयाय	,,	द्वितीयेभ्यः
पं०	द्वितीयस्मात् / द्वितीयात्	,,	,,
ष०	द्वितीयस्य	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
स०	द्वितीयस्मिन् / द्वितीये	,,	द्वितीयेषु
सं०	हे द्वितीय !	हे द्वितीयौ !	हे द्वितीयाः !

इसी प्रकार 'तृतीय' (तीसरा) शब्द का उच्चारण भी समझ लेना चाहिये ।

अभ्यास (२६)

(१) व्यवस्था का लक्षण लिख उस का सोदाहरण विस्तृत विवेचन करें ।

(२) (क) किस अर्थ में 'सम' की सर्वनामसञ्ज्ञा होती है और क्यों ? ।

(ख) द्वितीय और द्वितय शब्दों के उच्चारण में क्या अन्तर है ? । सप्रमाण लिखो ।

(ग) 'जसः शी' यहां शी को ह्रस्व क्यों नहीं किया ? ।

(घ) 'उभ' शब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ? ।

(ङ) 'स्व' शब्द के कितने अर्थ होते हैं और किस २ अर्थ में उस की सर्वनाम-सञ्ज्ञा की गई है ? ।

(३) 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' सूत्र का क्यों कैसे और कौनसा विचित्र अर्थ ग्रन्थकार ने किया है ? सविस्तर लिखो ।

(४) तद्गुणसंविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि का भेद प्रतिपादन करते हुए 'सर्वादीनि सर्वनामानि' सूत्र में इन में से किस का आश्रय किया जाता है वर्णन करो ? ।

(५) सर्वादिगणपठित त्रिसूत्री का पुनः अष्टाध्यायी में क्यों उल्लेख किया गया है ?

(६) निम्नलिखित परिभाषाओं का सोदाहरण विवेचन करें—

१ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् । २ सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति । ३ यद्गणमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते । ४ उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् । ५ न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न केवलः प्रत्ययः ।

(७) (क) 'सर्व, अर्ध, तृतीय, नेम, सम' शब्दों के षष्ठी-बहुवचन में रूप सिद्ध करो ।

---

* यहां पुंल्लिङ्ग में यद्यपि सर्वनामसञ्ज्ञा का कोई फल नहीं, तथापि स्त्रीलिङ्ग में 'द्वितीयस्याः, तृतीयस्याः' प्रयोगों में 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२०) सूत्र द्वारा स्याट् आगम तथा ह्रस्व होना फल है ।

(ख) 'उभ, अर्ध, द्वितय, द्वितीय, पूर्व, स्व, अन्तर, एक' शब्दों के पञ्चमी के एकवचन में रूप सिद्ध करो ?।

(ग) 'अवर, कतिपय, चरम, स्व, प्रथम' शब्दों के प्रथमा के बहुवचन में रूप सिद्ध करो ?।

सर्वादिगण के अदन्त शब्द यहां समाप्त होते हैं।

—०:※:०—

रामशब्द की अपेक्षा विशिष्ट उच्चारण वाले शब्दों में 'निर्जर' शब्द का प्रमुखस्थान है। अतः यहां अब उस का वर्णन किया जाता है—

निर्गतो जरायाः=निर्जरः। ['निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासः, उपसर्जनह्रस्वः।] देवता को 'निर्जर' कहते हैं, क्योंकि वह जरा (बुढ़ापा) से रहित होता है।

प्रथमा के एकवचन में रामशब्द के समान 'निर्जरः' रूप बनता है।

प्रथमा के द्विवचन में 'निर्जर + औ'। यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६१ जराया जरसन्यतरस्याम्।७।२।१०१॥

अजादौ विभक्तौ।

अर्थः—अजादि विभक्ति परे होने पर जरा शब्द को विकल्प कर के जरस् आदेश हो।

व्याख्या—अचि।७।१। ['अचि र ऋतः' से] विभक्तौ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] जरायाः।६।१। जरस्।१।१। अन्यतरस्याम्।७।१। 'विभक्तौ' का विशेषण होने से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा 'अचि' पद से तदादिविधि हो 'अजादौ' बन जाता है। अर्थः—(अचि) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (जरायाः) जरा शब्द के स्थान पर (जरस्) जरस् आदेश हो जाता है।

औ, जस् (अस्), अम्, औट्, शस् (अस्), टा (आ), ङे (ए), ङसि (अस्), ङस् (अस्), ओस्, आम्, ङि (इ), ओस्—ये तेरह अजादि विभक्तियां हैं।

'निर्जर + औ' यहां अजादि विभक्ति परे है 'औ'। परन्तु यहां जरा शब्द नहीं 'निर्जर' शब्द वर्त्तमान है। इस का समाधान अग्रिम-परिभाषा से करते हैं—

[लघु०] पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च (प)।

अर्थः—'पद' तथा 'अङ्ग' के अधिकार में जिस के स्थान पर आदेश विधान किया जाए, उस के तथा वह जिसके अन्त में है उस समुदाय के भी स्थान पर आदेश होता है।

व्याख्या—'पदस्य' यह अष्टमाध्याय के प्रथमपाद का सोलहवां सूत्र है। यह अधिकार-सूत्र है। इस का अधिकार 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।३।५५) सूत्र तक जाता है। इसे पदाधिकार कहते हैं। ['अलुगुत्तरपदे' इत्ययमुत्तरपदाधिकारोऽपि पदाधिकारग्रहणेन गृह्यते' इति तत्त्वबोधिनीकाराः श्रीज्ञानेन्द्रस्वामिनः।]

'अङ्गस्य' यह छठे अध्याय के चौथे पाद का प्रथम-सूत्र है। यह भी अधिकार-सूत्र है। इस का अधिकार सातवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। इसे अङ्गाधिकार कहते हैं।

इन दोनों अधिकारों में जिस के स्थान पर आदेश का विधान किया गया हो उसके तथा वह जिस समुदाय के अन्त में हो उस समुदाय के भी स्थान में आदेश होता है।

'जराया जरसन्यतरस्याम्' (१६१) सूत्र अङ्गाधिकार में पढ़ा गया है। इस सूत्र में जरस् आदेश जरा के स्थान पर विधान किया गया है। अतः वह अकेले जरा शब्द के स्थान पर भी होगा और जरा शब्द जिस के अन्त में होगा ऐसे 'निर्जर' प्रभृति शब्दों के स्थान पर भी होगा।

अब 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (४४) सूत्र से सम्पूर्ण 'निर्जर' शब्द के स्थान पर जरस् आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-परिभाषा प्रवृत्त होती है—

[लघु०] निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति (५)।

अर्थः— जिस का निर्देश किया गया हो उस के स्थान पर ही आदेश होते हैं।

व्याख्या—सूत्र में जो साक्षात् निर्दिष्ट किया गया हो उस के स्थान पर ही आदेश करना चाहिये। अन्य के स्थान पर नहीं। 'जरायाः......' सूत्र में जरस् आदेश जरा के स्थान पर ही कहा गया है, अतः वह 'निर्जर' के अन्तर्गत 'जरा' के स्थान पर ही होगा सम्पूर्ण निर्जर के स्थान पर नहीं।

यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जब आदेश निर्दिश्यमान के स्थान पर ही करना अभीष्ट है तो पुनः पूर्वोक्त तदन्तग्रहण परिभाषा का क्या लाभ ?। इस का उत्तर यह है कि तदन्तग्रहण परिभाषा से केवल इतना लाभ होता है कि प्रथम जो तदन्तों में आदेश की बिल्कुल प्राप्ति नहीं होती थी सो अब हो जाती है। यथा—यदि तदन्तग्रहणपरिभाषा न होती तो 'निर्जर' शब्द में जरस् आदेश की बिल्कुल प्राप्ति ही न होती, क्योंकि वहां 'निर्जर' शब्द है, 'जरा' नहीं। अब इस परिभाषा से तदन्तघटित 'निर्जर' के जरा में भी आदेश की प्रवृत्ति हो जाती है—यह यहां लाभ है।

अब यहां यह सन्देह होता है कि 'निर्जर' शब्द में 'जरा' नहीं 'जर' है। आदेश जरा के स्थान पर ही होता है अतः यहां जरस् नहीं होना चाहिये। इस अड़चन को दूर करने के लिये अग्रिम-परिभाषा प्रवृत्त होती है—

[लघु०] एकदेशविकृतमनन्यवत् (प)। इति जरशब्दस्य जरस्—
निर्जरसौ, निर्जरसः पक्षे हलादौ च रामवत्।

अर्थः—अवयव के विकृत हो जाने पर भी अवयवी अन्य के समान नहीं हो जाता।

व्याख्या—यह परिभाषा लोकन्याय पर आश्रित है। अर्थात् जैसे लोक में किसी कुत्ते की पूँछ कट जाने पर वह गधा घोड़ा नहीं हो जाता, वैसे कुत्ता ही रहता है; इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी 'निर्जर' के अन्तर्गत जरा के जर हो जाने पर भी वह जरा ही रहता है कुछ अन्य नहीं हो जाता। इस से जर को भी जरस् हो जाता है।

'निर्जर + औ' यहां 'जर' को 'जरस्' आदेश हो कर—'निर्जरस्+औ' = 'निर्जरसौ' रूप सिद्ध हो जाता है। पक्ष में रामशब्दवत् प्रक्रिया हो कर 'निर्जरौ' रूप बनता है। इसी प्रकार आगे भी अजादि विभक्तियों में समझ लेना चाहिये। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	निर्जरः	निर्जरसौ, निर्जरौ	निर्जरसः, निर्जराः
द्वितीया	निर्जरसम्, निर्जरम्	" "	" , निर्जरान्
तृतीया	निर्जरसा, निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
चतुर्थी	निर्जरसे, निर्जराय	"	निर्जरेभ्यः
पञ्चमी	निर्जरसः, निर्जरात्	"	"
षष्ठी	" , निर्जरस्य	निर्जरसोः, निर्जरयोः	निर्जरसाम्, निर्जराणाम्
सप्तमी	निर्जरसि, निर्जरे	" "	निर्जरेषु
संबोधन	हे निर्जर!	हे निर्जरसौ! हे निर्जरौ!	हे निर्जरसः!, हे निर्जराः!

इसी प्रकार जराशब्दान्त 'दुर्जर' प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

ध्यान रहे कि—इन, आत्, स्य, य तथा नुट् आदियों से जरस् आदेश पर है; अतः प्रथम जरस् आदेश प्रवृत्त हो कर तदनन्तर उन की प्रवृत्ति होगी। यदि प्रथम 'इन' आदि आदेश हो जाते तो टा में 'निर्जरसिन', ङसि में 'निर्जरसात्' तथा ङस्, ङे और आम् में हलादि हो जाने से जरस् आदेश न हो—'निर्जरस्य', निर्जराय' और 'निर्जराणाम्' यह एक एक रूप बन जाता।

प्रश्न—निर्जर शब्द से तृतीया का बहुवचन भिस् करने पर जब 'अतो भिस ऐस्' (१४२) से भिस् को ऐस् हो जाता है तब जरस् आदेश क्यों नहीं होता ?।

उत्तर—"**सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य**" [सन्निपातः=संयोगः, लक्षणम्=निमित्तं यस्य स सन्निपातलक्षणो विधिः। तम्=सन्निपातं विहन्तीति—तद्विघातः, कर्मण्युपपदे कर्त्तर्यण्। तस्य अनिमित्तम्भवति——कारणन्न भवतीत्यर्थः।] जिसके विद्यमान होने पर जो कार्य हुआ हो वह कार्य उस निमित्त के विघातक कार्य में निमित्त नहीं हुआ करता। तथा अत्र——अदन्त अङ्ग निर्जर के होने से 'अतो भिस ऐस्' (१४२) द्वारा भिस् के स्थान में ऐस् हुआ है। तो यह ऐस् आदेश——अदन्त अङ्ग को नष्ट करने वाले=जरस् आदेश का निमित्त नहीं होगा—अर्थात् इसे मान कर जरस् आदेश न हो सकेगा।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'रामाय' में 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ आदेश भी न होना चाहिये। क्योंकि अदन्त अङ्ग को निमित्त मान कर उत्पन्न हुआ 'य' आदेश—अदन्तत्व के विघातक दीर्घ का निमित्त न हो सकेगा।

उत्तर—यह सत्य है; परन्तु पाणिनि के 'कष्टाय क्रमणे' (७२८) और भाष्यकार के 'धर्माय नियमः=धर्मनियमः' (पस्पशाह्निके) प्रभृति निर्देशों तथा सम्पूर्ण संस्कृतसाहित्य के अनुरोध से इस स्थल पर उपर्युक्त परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

[यहां अदन्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।]

—:o:—

अब आकारान्त पुंल्लिङ्ग 'विश्वपा' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विश्वपाः।

व्याख्या—विश्वं पातीति—विश्वपाः। विश्वकर्मोपपद 'पा रक्षणे' (अदा०) धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (७९९) सूत्र से विच् प्रत्यय हो उस का सर्वापहार लोप हो जाता है। संसार के रक्षक—परमात्मा को 'विश्वपा' कहते हैं। प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय आ कर 'विश्वपा + सुँ' हुआ। अब उकार की इत्सञ्ज्ञा और लोप होने पर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग हो कर 'विश्वपाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'विश्वपा + औ' यहां 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि प्राप्त होने पर उसे बाध कर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—१६२ दीर्घाज्जसि च।६।१।१०२॥

दीर्घाज्जसि इचि च परे न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिः—विश्वपौ। विश्वपाः। हे विश्वपाः। विश्वपाम्। विश्वपौ।

अर्थः—दीर्घ से जस् अथवा इच् प्रत्याहार परे होने पर पूर्वसवर्णदीर्घ आदेश नहीं होता।

व्याख्या—दीर्घात् ।५।१। जसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। इचि ।७।१। ['नादिचि' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है।] पूर्वसवर्णः ।१।१। ['प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से] दीर्घः ।१।१। ['अकः सवर्णे दीर्घः' से] न इत्यव्ययपदम्। ['नादिचि' से] अर्थः—(दीर्घात्) दीर्घ से (जसि) जस् (च) अथवा (इचि) इच् प्रत्याहार परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (पूर्वसवर्णः, दीर्घः, एकः) पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश (न) नहीं होता।

'विश्वपा+औ' यहां पकारोत्तर आकार दीर्घ है। इस से परे औकार=इच् वर्त्तमान है। अतः पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो गया। तब 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'विश्वपौ' रूप सिद्ध हुआ।

प्रथमा के बहुवचन में—विश्वपा + जस् = विश्वपा + अस्। इस अवस्था में प्रकृतसूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो जाता है। तब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर 'विश्वपाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रश्नः—'विश्वपा+औ' में 'नादिचि' (१२७) से भी पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो सकता है; तथा जस् में उस के हो जाने से भी कोई अनिष्ट नहीं होता; तो पुनः 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र के बनाने की क्या आवश्यकता है?।

उत्तर—यद्यपि इस सूत्र का फल इस स्थान पर कुछ प्रतीत नहीं होता; तथापि 'पप्यौ, पप्यः' आदि स्थानों पर इस का फल स्पष्ट होगा। यहां तो न्यायवशात् ही इसे लिख दिया गया है।

द्वितीया में—विश्वपा+अम्। पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर 'अमि पूर्वः' (१३२) से पूर्वरूप हो—'विश्वपाम्' प्रयोग बना।

द्वितीया के द्विवचन में 'विश्वपौ' प्रथमा के समान बनता है।

द्वितीया के बहुवचन में—विश्वपा+शस्=विश्वपा + अस्। यहां पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर अग्रिम कार्य होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१६३ सुडनपुंसकस्य ।१।१।४२॥

स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसञ्ज्ञानि स्युरक्लीबस्य ।

अर्थः—नपुंसकलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग के सुँ आदि पाञ्च प्रत्यय सर्वनामस्थान सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—सुँट् ।१।१। अनपुंसकस्य ।६।१। सर्वनामस्थानम् ।१।१। ['शि सर्वनाम-स्थानम्' से] समासः—न नपुंसकस्य=अनपुंसकस्य, नञ्समासः । पर्युदासप्रतिषेधः । अर्थः—(अनपुंसकस्य) नपुंसक से भिन्न अन्य लिङ्ग का (सुँट्) सुँट् प्रत्याहार (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है ।

'स्वौजसमौट्……' (११८) सूत्र के सुँ से लेकर औट् के टकार तक सुँट् प्रत्याहार बनता है । इस में 'सुँ, औ, जस्, अम्, औट्' इन पाञ्च प्रत्ययों का ग्रहण होता है । ये पाञ्च प्रत्यय पुंल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग से परे हों तो इन की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होती है । अब अग्रिमसूत्र में इस सञ्ज्ञा का उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१६४ स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ।१।४।१७।।

कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात् ।

अर्थः—सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययों को छोड़ कर 'सुँ' से लेकर 'कप्' पर्यन्त प्रत्ययों के परे होने पर पूर्वशब्दस्वरूप पदसञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—स्वादिषु ।७।३। असर्वनामस्थाने ।७।१। पदम् ।१।१। ['सुप्तिङन्तं पदम्' से] समासः—सुँप्रत्यय आदिर्येषान्ते स्वादयः, तेषु=स्वादिषु, बहुव्रीहिसमासः । न सर्वनाम-स्थाने=असर्वनामस्थाने, नञ्समासः । 'असर्वनामस्थाने' यह 'स्वादिषु' का विशेषण है । इस में एकवचन आर्ष समझना चाहिये । 'स्वादिषु' यह सप्तम्यन्त है । अतः 'तस्मिन्निति……' (१६) परिभाषा से पूर्वशब्दसमुदाय ही पदसञ्ज्ञक होगा । अर्थः—(असर्वनामस्थाने) सर्व-नामस्थान-भिन्न (स्वादिषु) सुँ आदि प्रत्ययों के परे होने पर पूर्वशब्दसमुदाय (पदम्) पदसञ्ज्ञक होता है ।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम प्रत्यय 'सुँ' से लेकर पाञ्चवें अध्याय के अन्तिम प्रत्यय 'कप्' तक सब प्रत्यय 'स्वादि' कहलाते हैं । इन स्वादि प्रत्ययों में 'सुँ, औ, जस्, अम्, औट्' इन पाञ्च प्रत्ययों की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा है । इन सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक पाञ्च प्रत्ययों से भिन्न अन्य स्वादि प्रत्यय यदि परे हों तो उन से पूर्वशब्दसमुदाय पदसञ्ज्ञक होता है ।

'विश्वपा+अस्' (शस्) यहां शस् प्रत्यय सर्वनामस्थान से भिन्न स्वादि है; अतः इस के परे होने से पूर्वशब्दसमुदाय 'विश्वपा' की पदसञ्ज्ञा प्राप्त होती है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१६५ यचि भम् ।१।४।१८॥

यकारादिषु अजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः—सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययों को छोड़ कर 'सु' से लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त यकारादि और अजादि प्रत्यय परे होने पर पूर्वशब्दसमुदाय भसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—असर्वनामस्थाने ।७।१। स्वादिषु ।७।३। ['स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से] यचि ।७।१। भम् ।१।१। समासः—य् च अच् च = यच्, तस्मिन्=यचि, समाहारद्वन्द्वः ['समासान्तविधिरनित्यः' इति 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे' इति टच् न] । 'यस्मिन् विधिः ......' परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'यकारादिषु अजादिषु' ऐसा बन जायगा । यहां भी पूर्ववत् 'तस्मिन्निति......' (१६) परिभाषा से पूर्वशब्दसमुदाय की ही भसञ्ज्ञा होगी। अर्थः—(असर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान से भिन्न (यचि) यकारादि या अजादि (स्वादिषु) स्वादि प्रत्यय परे हों तो (भम्) पूर्वशब्दसमुदाय भसञ्ज्ञक होता है।

'विश्वपा + अस्' (शस्) यहां 'अस्' प्रत्यय अजादि है अतः इस के परे होने से 'पूर्वशब्दसमुदाय 'विश्वपा' की भसञ्ज्ञा प्राप्त होती है।

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या जैसे लोक में एक व्यक्ति की दो सञ्ज्ञाएं देखी जाती हैं वैसे यहां भी शस् आदियों के परे होने पर पूर्व की पद और भ दोनों सञ्ज्ञाएं की जाएं या कोई एक ? यदि एक की जाय तो कौन सी एक ? इस पर अग्रिमसूत्र निर्णय करता है—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—१६६ आकडारादेका सञ्ज्ञा ।१।४।१॥

इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राग् एकस्यैकैव सञ्ज्ञा ज्ञेया, या पराऽनवकाशा च ।

अर्थः—इस सूत्र से लेकर 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र तक एक की एक ही सञ्ज्ञा हो।

व्याख्या—यह प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद का पहला सूत्र है। यह अधिकार-सूत्र है। इस का अधिकार दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के अन्तिमसूत्र 'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) तक जाता है। इस प्रकार इस के अधिकार में तीन पाद होते हैं। आ इत्यव्यय-पदम् । कडारात् ।५।१। एका ।१।१। सञ्ज्ञा ।१।१। अर्थः—(कडारात्) 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र (आ) तक (एका) एक (सञ्ज्ञा) सञ्ज्ञा हो।

'कडाराः......' सूत्र तक यदि एक ही सञ्ज्ञा करेंगे तो शेष सब सञ्ज्ञाएं जो मुनि

ने उस सूत्र तक की हैं व्यर्थ हो जाएंगी ; अतः यहां 'एक की एक ही सञ्ज्ञा हो दो न हों' ऐसा मुनि का अभिप्राय समझना चाहिये ।

अब पुनः संशय उठता है कि इस सूत्र से 'एक की एक सञ्ज्ञा हो दो न हों' यह तो निर्णीत हो गया ; परन्तु कौन सी सञ्ज्ञा हो ? यह सन्देह वैसे का वैसा बना रहता है । इस का ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि—

"या पराऽनवकाशा च"

अर्थात् जो पर या निरवकाश हो—वह हो । यदि दोनों सञ्ज्ञाएं सावकाश [भिन्न भिन्न स्थानों पर प्रवृत्त हो चुकी] हों तो पर सञ्ज्ञा और यदि एक सावकाश और एक अनवकाश [जिसे प्रवृत्त होने के लिये कोई स्थान न मिला हो] हो तो वह अनवकाश सञ्ज्ञा ही हो ।

ग्रन्थकार का ऐसा लिखना युक्त ही है । जहां दोनों सञ्ज्ञाएं सावकाश होंगी वहां विप्रतिषेध होने से 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) द्वारा पर सञ्ज्ञा ही होनी चाहिये । जहां एक सावकाश और एक निरवकाश होगी वहां निरवकाश सञ्ज्ञा को ही स्थान देना युक्तिसङ्गत है * । क्योंकि यदि सावकाश सञ्ज्ञा वहां पर भी अनवकाशसञ्ज्ञा को न होने दे तो उस अनवकाश सञ्ज्ञा का करना ही व्यर्थ हो जाय । अतः अनवकाश और सावकाश दोनों के एक साथ एक ही स्थान पर प्राप्त होने पर अनवकाश सञ्ज्ञा ही होगी † ।

प्रकृत में पद सञ्ज्ञा को भ्याम् आदि में अवकाश=स्थान प्राप्त है; क्योंकि वहां अजादि और यकारादि के न होने से भ सञ्ज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती । परन्तु भ सञ्ज्ञा अनवकाश है अर्थात् इसे कोई स्थान नहीं मिलता ; क्योंकि जब यह यकारादियों और अजादियों में प्रवृत्त होने लगती है तब पद सञ्ज्ञा भी उपस्थित हो जाती है । अतः यहां पूर्वकथितनियमानुसार अनवकाशसञ्ज्ञा का होना ही युक्त है । तो इस प्रकार यह निर्णय हुआ कि—यकारादि और अजादि प्रत्यय परे होने पर भ सञ्ज्ञा तथा शेष हलादि प्रत्ययों के परे होने पर पद सञ्ज्ञा हो । हम बालकों के ज्ञान के लिये इसे और अधिक स्पष्ट करते हैं—

(१) 'सुँ, औ , जस् , अम् , औट्' इन पाञ्चों के परे रहते न तो पदसञ्ज्ञा होती है और न भसञ्ज्ञा । परन्तु ध्यान रहे कि पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग तक ही यह नियम सीमित है नपुंसकलिङ्ग में नहीं ; क्योंकि इन की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा इन दो ही लिङ्गों में

---

* लोक में भी ऐसा देखा जाता है । यथा—यदि भूखे और तृप्त के मध्य अन्नदान का प्रश्न उपस्थित हो तो भूखे को ही अन्न देना उचित समझा जाता है, क्योंकि वही अन्न का अधिकारी है ।

† दो अनवकाश सञ्ज्ञाओं की किसी एक रूप में युगपत् प्राप्ति इस प्रकरण में कहीं नहीं देखी जाती, अतः उस की चर्चा नहीं की गई है ।

की गई है। नपुंसक में सुँ परे रहते 'पद' तथा औ, अम् परे रहते 'भ' सञ्ज्ञा होती है। जस् के स्थान पर नपुंसक में 'शि' आदेश हो जाया करता है; उस की 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) से सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होती है, अतः उस के परे रहते न तो पद सञ्ज्ञा होती है और न भ सञ्ज्ञा।

(२) शस्, टा, ङे, ङसिँ, ङस्, ओस् और ङि—इन के परे रहने पर पूर्व की भसञ्ज्ञा होती है; क्योंकि ये सर्वनामस्थान से भिन्न होते हुए अजादि स्वादि हैं। ध्यान रहे कि अनुबन्धों का लोप कर देने से शस् आदि प्रत्यय अजादि हो जाते हैं।

(३) यदि आम् विशुद्ध अर्थात् नुट् आगम से रहित हो तो उस से पूर्व भसञ्ज्ञा होती है। अन्यथात्व होने पर अजादि न होने से पदसञ्ज्ञा ही हो जाती है। यथा 'षण्णाम्' में पदसञ्ज्ञा हुई है।

(४) उपर्युक्त सुँप् प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य सुँप् प्रत्ययों (भ्याम्, भिस्, भ्यस्, नुट् सहित आम्, सुप्) के परे रहते पूर्व की पदसञ्ज्ञा होती है।

यहां यह सुँबन्तप्रक्रियोपयोगी विवरण ही लिखा है। विद्यार्थियों को चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों में स्थित अन्यान्य प्रत्ययों के विषय में भी पूर्वोक्त आधार से व्यवस्था समझ लेनी चाहिये। यह विषय व्याकरण में अत्यन्त महत्त्वशाली है अतः छात्रों को इस का पुनः २ अभ्यास करना आवश्यक है।

तो इस प्रकार 'विश्वपा + अस्' यहां भसञ्ज्ञा हुई। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६७ आतो धातोः ।६।४।१४०॥

आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः। अलोऽन्त्यस्य। विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्याम् इत्यादि।

अर्थः—आकारान्त धातु जिस के अन्त में हो ऐसे भसञ्ज्ञक अङ्ग का लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल्—आकार का ही लोप होगा।

व्याख्या—आतः ।६।१। धातोः ।६।१। भस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [ये दोनों अधिकृत हैं] लोपः ।१।१। ['अल्लोपोऽनः' से] 'आतः' यह 'धातोः' का तथा 'धातोः' यह 'भस्य' का विशेषण है, अतः विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(आतः) आकारान्त (धातोः) धातु जिस के अन्त में हो ऐसे (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (लोपः) लोप हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल्—आकार का ही लोप होगा।

'विश्वपा + अस्' यहां आकारान्त धातु 'पा' है; तदन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग 'विश्वपा' है। इस के अन्त्य अल् आकार का लोप कर रुत्व विसर्ग करने से 'विश्वपः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'विश्वपा+आ' (टा) यहां भी अन्त्य आकार का लोप हो कर 'विश्वपा' रूप सिद्ध होता है।

अजादि विभक्तियों में इसी प्रकार आकार का लोप होगा, हलादि विभक्तियों में कोई विशेष कार्य नहीं होगा। रूपमाला यथा—

प्र०	विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः	पं०	विश्वपः❀	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
द्वि०	विश्वपाम्	,,	विश्वपः❀	ष०	,, ❀	विश्वपोः❀	विश्वपाम्❀
तृ०	विश्वपा❀	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः	स०	विश्वपि❀	,, ❀	विश्वपासु
च०	विश्वपे❀	,,	विश्वपाभ्यः	सं०	हे विश्वपाः !	हे विश्वपौ !	हे विश्वपाः !

❀ इन स्थानों पर आकार का लोप होता है।

[लघु०] एवं शङ्खध्मादयः।

व्याख्या—शङ्खं धमतीति—शङ्खध्माः, शंख बजाने वाला। 'शङ्खध्मा' आदि शब्दों के रूप भी 'विश्वपा' के समान होते हैं। आदि से—सोमपा, मधुपा, कीलालपा आदि शब्दों का ग्रहण जानना चाहिये।

[लघु०] धातोः किम् ? हाहान्। हाहै। हाहाः २। हाहौः २। हाहाम्। हाहे।

व्याख्या—'आतो धातोः' (१६७) में—धातु के आकार का लोप होता है—यह क्यों कहा गया है ? इसलिये कि 'हाहान्' आदि में 'हाहा' शब्द के आकार का लोप न हो जाय। तथाहि—'हाहा' शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। इस का अर्थ है 'गन्धर्व-विशेष'। 'हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम्' इत्यमरः। यह शब्द किसी धातु से निष्पन्न नहीं होता अतः शसादियों में भसञ्ज्ञा होने पर भी इस के आकार का लोप नहीं होता। 'हाहा' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	हाहाः	हाहौ	हाहाः	पं०	हाहाः†	हाहाभ्याम्	हाहाभ्यः
द्वि०	हाहाम्	,,	हाहान्❀	ष०	,, †	हाहौः‡	हाहाम्†
तृ०	हाहा†	हाहाभ्याम्	हाहाभिः	स०	हाहे*	,, ‡	हाहासु
च०	हाहै‡	,,	हाहाभ्यः	सं०	हे हाहाः !	हे हाहौ !	हे हाहाः !

सर्वनामस्थानप्रत्ययों में विश्वपावत् प्रक्रिया होती है।

❀ पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर शस् के सकार को नकार हो जाता है।

† इन सब स्थानों पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) प्रवृत्त होता है।

‡ इन स्थानों पर 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश होता है।

* यहां 'आद् गुणः' (२७) से गुण हो जाता है।

अभ्यास (२७)

(१) निम्नलिखित वचनों का सोदाहरण विवेचन करो—

१ या पराऽनवकाशा च । २ पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च । ३ निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति । ४ एकदेशविकृतमनन्यवत् । ५ सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ।

(२) (क) 'निर्जरैः' में जरस् आदेश क्यों नहीं होता ?

(ख) 'हाहाः' प्रयोग कहां २ बनता है ?

(ग) सर्वनाम और सर्वनामस्थान में भेद बताओ ।

(घ) 'हाहान्' में आकारलोप क्यों नहीं हुआ ?

(ङ) सुँपों में अजादि प्रत्यय कितने और कौन २ से हैं ?

(३) निम्नलिखित अधिकारों की अवधि बताओ—

१ पदाधिकार । २ अङ्गाधिकार । ३ एकसञ्ज्ञाधिकार । ४ प्रत्ययाधिकार । ५ एकादेशाधिकार ।

(४) सुँप् प्रत्ययों के परे रहते कहां २ भसञ्ज्ञा और कहां २ पदसञ्ज्ञा होती है ? ।

(५) 'दीर्घाज्जसि च' सूत्र के विना भी क्या 'विश्वपाः' आदि प्रयोग सिद्ध हो सकते हैं ? यदि हां ! तो सूत्र रचने की क्या आवश्यकता ? ।

(६) निर्जर, हाहा और सोमपा शब्दों की रूपमाला लिखो ।

(७) 'विश्वपोः, निर्जरसः, हाहौः' प्रयोगों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखो ।

[यहां आकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं]

—•:※:०—

[लघु०] हरिः । हरी ।

व्याख्या—अब ह्रस्व इकारान्त शब्दों का वर्णन करते हैं । 'हरि' शब्द के कोषों में अनेक अर्थ लिखे हैं । यथा—

> "हरिर्विष्णावहाविन्द्रे भेके सिंहे हये रवौ ।
> चन्द्रे कोले प्लवङ्गे च यमे वाते च कीर्त्तितः ।।"

हरि शब्द के बारह अर्थ होते हैं—(१) भगवान् विष्णु, (२) साँप, (३) इन्द्र, (४) मेंडक, (५) शेर, (६) घोड़ा, (७) सूर्य, (८) चन्द्र, (९) सूअर, (१०) वानर, (११) यमराज, (१२) वायु ।

प्रथमा के एकवचन में—हरि+सुँ=हरि + स् । सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने से 'हरिः' प्रयोग बना ।

प्रथमा के द्विवचन में 'हरि + औ' । इस अवस्था में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ ईकार हो कर 'हरी' रूप बनता है ।

प्रथमा के बहुवचन में—'हरि + अस्' (जस्) । इस अवस्था में पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६८ जसि च ।७।३।१०६॥

ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः । हरयः ।

अर्थः—जस् परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जाता है ।

व्याख्या—जसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । ह्रस्वस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] गुणः ।१।१। ['ह्रस्वस्यगुणः' से] विशेषण होने से 'ह्रस्वस्य' से तदन्तविधि होती है । अर्थः—(जसि) जस् परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्वान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुण अङ्ग के अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा ।

'हरि+अस्' यहां ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' है । इस से परे जस् वर्त्तमान है । अतः प्रकृतसूत्र द्वारा अङ्ग के अन्त्य अल्—इकार के स्थान पर एकार गुण हो गया । 'हरे + अस्' इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' (२२) से एकार को अय् आदेश हो कर रुँत्व विसर्ग करने से—'हरयः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

सम्बोधन के एकवचन में—'हे हरि + स्' । 'एकवचनं सम्बुद्धिः' (१३२) से सम्बुद्धिसञ्ज्ञा होकर 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (१३४) से सकारलोप प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६९ ह्रस्वस्य गुणः ।७।३।१०८॥

सम्बुद्धौ । हे हरे ! । हरिम् । हरीन् ।

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जाता है ।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। ['सम्बुद्धौ च' से] ह्रस्वस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] गुणः ।१।१। 'ह्रस्वस्य' से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्वान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा यह गुण अङ्ग के अन्त्य अल् के स्थान पर होगा ।

'हे हरि+स्' यहां सम्बुद्धि परे है, अतः ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' के अन्त्य इकार को एकार गुण हो जाता है। तब अङ्ग के एङन्त हो जाने से 'एङ्ह्रस्वात·······' (१३४) सूत्र से सम्बुद्धि का लोप हो कर 'हे हरे!' प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्वितीया के एकवचन में 'हरि+अम्' इस अवस्था में 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप एकादेश हो कर 'हरिम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में प्रथमावत् 'हरी' रूप बनता है।

बहुवचन में 'हरि+अस्' (शस्) इस दशा में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ ईकार हो कर 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) से सकार को नकार करने पर 'हरीन्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां 'पदान्तस्य' (१३९) से नकार को णकार का निषेध हो जाता है।

'हरि+आ (टा)' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१७० शेषो घ्यसखि।१।४।७॥

शेष इति स्पष्टार्थम्। अनदीसञ्ज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखि-वर्जं घिसञ्ज्ञम्।

अर्थः—जिन की नदीसञ्ज्ञा नहीं ऐसे जो ह्रस्व इकार और उकार तदन्त शब्दों की घिसञ्ज्ञा होती है परन्तु 'सखि' शब्द की नहीं होती।

व्याख्या—शेषः।१।१। ह्रस्वः।१।१। ['ङिति ह्रस्वश्च' से] यू।१।२। ['यू स्त्र्याख्यौ नदी' से] घि।१।१। असखि।१।१। समासः—इश्च उश्च, यू, इतरेतरद्वन्द्वः। न सखि= असखि, नञ्तत्पुरुषः। इस सूत्र से पूर्व विशेष २ अवस्थाओं में ह्रस्व की नदीसञ्ज्ञा की गई है, अतः जिस ह्रस्व की नदीसञ्ज्ञा नहीं की गई वह ह्रस्व यहां 'शेषः' पद से गृहीत किया गया है। 'शेषः ह्रस्वः' ये 'यू' के प्रत्येक के साथ अन्वित होते हैं। अर्थात् 'शेष ह्रस्व इकार, शेष ह्रस्व उकार' यह इन का अर्थ है। 'शब्दस्वरूपम्' इस विशेष्य का ऊपर से अध्याहार कर लिया जाता है। 'शेषः ह्रस्वः यू' ये उस के विशेषण बना दिये जाते हैं। तब विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(शेषः) जिन की नदीसञ्ज्ञा नहीं ऐसे (ह्रस्वः) ह्रस्व (यू) इकार उकार जिन के अन्त में हैं वे शब्दस्वरूप (घि) घिसञ्ज्ञक होते हैं परन्तु (असखि) सखि शब्द नहीं होता।

कहां २ नदीसञ्ज्ञा नहीं होती ?

(१) पुल्लिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त तथा ह्रस्व उकारान्त शब्द नदीसञ्ज्ञक नहीं होते। यथा—हरि, अरि, भानु, गुरु आदि।

(२) स्त्रीलिङ्ग में ङित् विभक्तियों के परे रहते जिस पक्ष में 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) द्वारा नदीसञ्ज्ञा नहीं होती।

इन दो स्थानों के अतिरिक्त अन्य सब स्थानों पर ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। अतः उपर्युक्त दो स्थान ही इस सूत्र के विषय हो सकते हैं।

सूत्र में 'शेषः' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि नदी सञ्ज्ञा करने से जो शेष ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द रहें उन की ही घिसञ्ज्ञा हो अन्यों की न हो। परन्तु यह प्रयोजन 'शेषः' ग्रहण के विना भी सिद्ध हो सकता है। क्योंकि घिसञ्ज्ञा सामान्य होने से उत्सर्ग और 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) द्वारा विहित नदीसञ्ज्ञा विशेष होने से अपवाद है। अपवाद के विषय को छोड़ कर ही उत्सर्ग प्रवृत्त हुआ करते हैं। इस से प्रथम नदीसञ्ज्ञा हो कर शेष अवशिष्टों की ही घिसञ्ज्ञा सुतरां प्राप्त हो जायगी; इस के लिये 'शेषः' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। तथापि यहां मुनि ने बात को बिल्कुल स्पष्ट करने के लिये 'शेषः' का ग्रहण कर दिया है। अर्थात् मुनि ने यह समझा कि कदाचित् मन्दमति लोग इस बात को न समझ सकें अतः 'शेषः' पद लिख कर स्पष्ट कर देना उचित है।

'हरि' शब्द की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती अतः इस की घि-सञ्ज्ञा हुई। अब घिसञ्ज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७१ आङो नाऽस्त्रियाम् ।७।३।१२०॥

घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। आङ् इति टासञ्ज्ञा। हरिणा। हरिभ्याम्। हरिभिः।

अर्थः—घिसञ्ज्ञक से परे आङ् को ना आदेश हो, परन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं। 'आङ्' यह टा की सञ्ज्ञा है।

व्याख्या—घेः ।५।१। ['अच्च घेः' से] आङः ।६।१। ना ।१।१। [विभक्तिलोप आर्षः] अस्त्रियाम् ।७।१। समासः—न स्त्रियाम्=अस्त्रियाम्, नञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग में (घेः) घिसञ्ज्ञक से परे (आङः) आङ् के स्थान पर (ना) ना आदेश होता है।

पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य टा को 'आङ्' कहते चले आ रहे हैं। पाणिनि ने भी यहां उसी सञ्ज्ञा का व्यवहार किया है।

'हरि + आ' यहां घिसञ्ज्ञक है 'हरि'। इस से परे टा को ना हो 'अट्कुप्वाङ्....' (१३८) सूत्र से नकार को णकार करने पर 'हरिणा' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्विवचन में 'हरिभ्याम्' और बहुवचन में 'हरिभिः' सिद्ध होते हैं।

चतुर्थी के एकवचन में—हरि+ए (ङे)। यहां घिसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७२ घेर्ङिति ।७।३।१११॥

घिसञ्ज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः। हरये।

अर्थः—ङित् सुप् परे रहते घिसञ्ज्ञक को गुण हो।

व्याख्या—घेः ।६।१। गुणः ।१।१। ['ह्रस्वस्य गुणः' से] ङिति ।७।१। सुपि ।७।१। ['सुपि च' से] अर्थः—(ङिति) ङित् (सुपि) सुँप् परे होने पर (घेः) घिसञ्ज्ञक के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से गुण अङ्ग के अन्त्य वर्ण को ही होगा।

'हरि + ए' यहां घिसञ्ज्ञक 'हरि' है। इस से परे ङित् सुँप् 'ए' है। अतः घि के अन्त्य वर्ण इकार के स्थान पर एकार गुण हो कर—'हरे + ए' बना। अब इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' (२२) से रेफोत्तर एकार को अय् होकर 'हरये' प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्विवचन में 'हरिभ्याम्' और बहुवचन में 'हरिभ्यः' रूप बनते हैं।

पञ्चमी के एकवचन में 'हरि + अस्' (ङसिँ)। यहां घिसञ्ज्ञा हो कर 'घेर्ङिति' (१७२) सूत्र से इकार को एकार गुण हुआ। तब 'हरे + अस्' इस स्थिति में पदान्त न होने से 'एङः पदान्तादति' (४३) से पूर्वरूप नहीं हो सकता। 'एचोऽयवायावः' (२२) से अय् आदेश प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७३ ङसिँ-ङसोश्च ।६।१।१०७॥

एङो ङसिँ-ङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः। हरेः २। हर्योः। हरीणाम्।

अर्थः—एङ् (ए, ओ) से ङसिँ या ङस् का अकार परे हो तो पूर्व + पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो।

व्याख्या—एङः ।५।१। ['एङः पदान्तादति' से] ङसिँ-ङसोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम्। अति ।७।१। ['एङः पदान्तादति' से] पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] पूर्वः ।१।१। ['अमि पूर्वः' से] अर्थ—(एङः) एङ् प्रत्याहार से (ङसिँ-ङसोः) ङसिँ अथवा ङस् का (अति) अत् परे हो तो (पूर्व-परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्व वर्ण आदेश होता है।

'हरे + अस्' यहां एकार एङ् से ङसिँ का अकार परे है अतः पूर्व + पर के स्थान पर एकार पूर्वरूप हो कर सकार को रुत्व विसर्ग करने से 'हरेः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

ओकार का उदाहरण 'भानोः' आगे आएगा।

षष्ठी के एकवचन में पूर्ववत 'हरेः' रूप बनता है।

द्विवचन में 'हरि + ओस्' इस दशा में 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर सकार को रुँत्व विसर्ग करने पर 'हर्योः' रूप बनता है।

बहुवचन में 'हरि + आम्'। यहां ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' है अतः 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से आम् को नुट् का आगम हो अनुबन्धलोप और 'नामि' (१४९) से दीर्घ करने पर 'हरी + नाम्'। अब 'अट्कुप्वाङ्······' (१३८) सूत्र से नकार को णकार करने से—'हरीणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में—हरि + इ (ङि)। यहां घिसञ्ज्ञा हो कर 'घेर्ङिति' (१७२) से गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७४ अच्च घेः ।७।३।११९॥

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत्, घेरत्। हरौ। हर्योः। हरिषु। एवं कव्यादयः।

अर्थः—ह्रस्व इकार तथा ह्रस्व उकार से परे ङि को 'औत्' और घि को 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—इदुद्भ्याम् ।५।२। ['इदुद्भ्याम्' से] ङेः ।६।१। ['ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से] औत् ।१।१। ['औत्' से] घेः ।६।१। अत् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार तथा ह्रस्व उकार से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (औत्) औ आदेश हो (च) तथा (घेः) घिसञ्ज्ञक के स्थान पर (अत्) ह्रस्व अकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह अत् आदेश घि के अन्त्य अल् को ही होगा।

'हरि+इ' यहां इस सूत्र से ङि (इ) को 'औ' और घिसञ्ज्ञक 'हरि' शब्द के इकार के स्थान पर अकार आदेश हुआ। तब 'हर+औ' इस दशा में 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'हरौ' रूप सिद्ध हुआ।

द्विवचन में पूर्ववत् 'हर्योः' रूप सिद्ध होता है।

सप्तमी के बहुवचन में 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से प्रत्यय के अवयव सकार को षकार हो 'हरिषु' प्रयोग सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	हरिः	हरी	हरयः	पं०	हरेः	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
द्वि०	हरिम्	,,	हरीन्	ष०	,,	हर्योः	हरीणाम्
तृ०	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः	स०	हरौ	,,	हरिषु
च०	हरये	,,	हरिभ्यः	सं०	हे हरे !	हे हरी !	हे हरयः !

इसी प्रकार 'कवि' आदि शब्दों की प्रक्रिया होती है। बालकोपयोगी कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं—

शब्द	अर्थ
१ अग्नि	आग
अङ्घ्रि❀	चरण
अञ्जलि	जुड़े हुए दोनों हाथ
अतिथि	महमान
५ अद्रि❀	पहाड़
अराति	शत्रु
अरि❀	शत्रु
अलि	भ्रमर
अवधि	सीमा
१० असि	तलवार
आधि	मानसिक पीड़ा
इषुधि	तरकस
उडुपति	चन्द्र
उदधि	समुद्र
१५ उपाधि	उपाधि
उषापति	सूर्य
ऊर्मि❀	लहर
ऋषि❀	मन्त्रद्रष्टा
कपि	वानर
२० कलानिधि	चन्द्र
कलि	झगड़ा
कवि	कविता करने वाला
कृपीटयोनि	अग्नि
कृमि❀	कीड़ा
२५ गिरि	पहाड़
ग्रन्थि	गाँठ

शब्द	अर्थ
चक्रपाणि	भगवान् विष्णु
चरणग्रन्थि	गिट्टा
चूडामणि	शिरोरत्न
३० जठराग्नि	पेट की अग्नि
जलधि	समुद्र
ज्ञाति	रिश्तेदार
दिनमणि	सूर्य
दिवाकीर्त्ति	नापित
३५ दुन्दुभि	नगारा
दुर्मति	दुष्ट बुद्धि वाला
धूर्जटि	शिव
धन्वन्तरि❀	प्रसिद्ध वैद्य
ध्वनि	आवाज़
४० नमुचि	एक दैत्य
निधि	खज़ाना
निशापति	चन्द्र
नृपति	राजा
पत्ति	पैदल सेना
४५ पयोधि	समुद्र
पयोराशि	समुद्र
परिधि	गोल दाइरा
पवि	वज्र
पशुपति	शिव
५० पाणि	हाथ
पाणिनि	प्रसिद्ध मुनि
प्रजापति	ब्रह्मा
प्रणिधि	दूत
प्रतिनिधि	नुमाइन्दा

शब्द	अर्थ
५५ बालधि	पूंछ
बृहस्पति	देवगुरु
भर्तृहरि❀	प्रसिद्ध राजा
भागुरि❀	एक मुनि
भारवि❀	एक कवि
६० भूपति	राजा
मणि	मणि
मरीचि	किरण
मातलि	इन्द्र का सारथि
मारुति	हनुमान
६५ मुनि	मुनि
मृगपति	शेर
मेधातिथि	मनुस्मृति के एक टीकाकार
मौलि	सिर
यति	संन्यासी
७० ययाति	प्रसिद्ध राजा
रमापति	भगवान् विष्णु
रवि❀	सूर्य
रश्मि	किरण
राशि	ढेर
७५ रोहिणीपति	चन्द्र
वकवृत्ति	स्वार्थी
वह्नि	आग
वाक्पति	बृहस्पति
वारिधि	सागर
८० वारिराशि	समुद्र

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
वाल्मीकि	सुप्रसिद्ध मुनि	शेवधि	निधि-पद्म आदि	सभापति	सभा का प्रधान
व्याधि	बीमारी	सनाभि	जात भाई	९९सारथि	रथ-वाहक
विधि	दैव	९०सन्धि	मेल	सुगन्धि	इष्ट गन्ध से
व्रीहि	चावल	सप्तसप्ति	सूर्य		युक्त
८५शकुनि	पक्षी	सप्ति	घोड़ा	सुमति	श्रेष्ठ बुद्धि वाला
शाल्मलि	सेंबल का वृक्ष	समाधि	योग का एक	सूरि॰	विद्वान्
शीतरश्मि	चन्द्र		अङ्ग	सेनापति	सेना-नायक

१००, हिमगिरि॰ = हिमालय

हरि शब्द की अपेक्षा सखि, पति, कति, त्रि और द्वि शब्दों में कुछ अन्तर पड़ता है; अतः अब इन का क्रमशः वर्णन किया जाता है । प्रथम सखि (मित्र) शब्द यथा—

'शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से 'सखि' शब्द की घिसञ्ज्ञा नहीं होती । प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होकर इस से स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं । प्रथमा के एकवचन में—सखि + सुँ = सखि + स् । इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७५ अनङ् सौ ।७।१।९३॥

सख्युरङ्गस्यानङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ ।

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सुँ परे रहते अङ्गसञ्ज्ञक सखि शब्द के स्थान पर अनङ् आदेश हो ।

व्याख्या—सख्युः ।६।१। ['सख्युरसम्बुद्धौ' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अनङ् ।१।१। असम्बुद्धौ ।७।१। ['सख्युरसम्बुद्धौ' से] सौ ।७।१। यहां 'सौ' से प्रथमा के एकवचन का ग्रहण होता है सप्तमी के बहुवचन का नहीं; क्योंकि सप्तमी का बहुवचन मानने से 'असम्बुद्धौ' निषेध व्यर्थ हो जाता है । अर्थः—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे होने पर (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (सख्युः) सखि शब्द के स्थान पर (अनङ्) अनङ् आदेश हो ।

अनङ् में ङकार इत् है । नकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है । ङित् होने के कारण 'ङिच्च' (४६) द्वारा यह अनङ् आदेश सखि शब्द के अन्त्य अल्=इकार के स्थान पर होगा ।

'सखि + स्' यहां सुँ परे है; अतः इकार को अनङ् आदेश हो अङ् के चले जाने पर—सख् अन् + स्='सखन् + स्' हुआ । इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१७६ अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ।१।१।६४॥

अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधा-सञ्ज्ञः।

अर्थः—अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण उपधासञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—अन्त्यात् ।५।१। अलः ।५।१। पूर्वः ।१।१। उपधा ।१।१। अर्थः—(अन्त्यात्) अन्त्य (अलः) अल् से (पूर्वः) पूर्व वर्ण (उपधा) उपधासञ्ज्ञक हो।

अल् प्रत्याहार में सब वर्ण आ जाते हैं, अतः अल् और वर्ण पर्यायवाची हैं। समुदाय के अन्तिम वर्ण से पूर्व वर्ण की उपधा सञ्ज्ञा होती है। यथा—पठ्, पच्, पत्, अत् इत्यादि में अन्त्य वर्ण से पूर्व अकार उपधासञ्ज्ञक है। बुध्, युध्, रुध् इत्यादि में अन्तिम वर्ण से पूर्व उकार उपधासञ्ज्ञक है। वृत्, वृध् इत्यादि में अन्त्य वर्ण से पूर्व ऋकार उपधासञ्ज्ञक है।

'सखन् + स्' यहां अङ्ग में अन्त्य अल् नकार है, इस से पूर्व वर्ण अकार है; इस की उपधासञ्ज्ञा हुई। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७७ सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ।६।४।८॥

नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने।

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—न ।६।१। ['नोपधायाः' से। यहां 'सुपां सुलुक्……' सूत्र द्वारा षष्ठी का लुक् हुआ है। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से इस से तदन्तविधि हो 'नान्तस्य' बन जाता है।] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। समासः—न सम्बुद्धौ=असम्बुद्धौ, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (न) नान्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है।

'सखन् + स्' यहां नान्त अङ्ग 'सखन्' है, इस से परे सर्वनामस्थान है 'स्'। यह सम्बुद्धिभिन्न भी है। अतः प्रकृतसूत्र से उपधा अकार को दीर्घ हो—'सखान् + स्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१७८ अपृक्त एकाल् प्रत्ययः ।१।२।४१॥

एकाल् प्रत्ययो यः, सोऽपृक्तसञ्ज्ञः स्यात्।

अर्थः—एक अल् रूप प्रत्यय अपृक्तसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—अपृक्तः ।१।१। एकाल् ।१।१। प्रत्ययः ।१।१। समासः—एकश्चासावल्=एकाल्, कर्मधारयसमासः। एकशब्दोऽत्र असहायवाची। अर्थः—(एकाल्) एक अल् रूप (प्रत्ययः) प्रत्यय (अपृक्तः) अपृक्तसञ्ज्ञक हो। भावः—जो प्रत्यय केवल एक अल् रूप हो या एक अल् रूप हो गया हो, उस की अपृक्तसञ्ज्ञा होती है।

'सखान्+स्' यहां 'स' यह एक अल् रूप प्रत्यय है, अतः प्रकृत सूत्र से इस की अपृक्तसञ्ज्ञा हुई। अब अग्रिमसूत्र से इस का लोप करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७९ हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् । ६ । १ । ६६ ॥

हलन्तात् परम्, दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परम्, 'सु-ति-सि' इत्येतद् अपृक्तं हल् लुप्यते।

अर्थः—हलन्त से अथवा दीर्घ 'ङी' या 'आप्' जिस के अन्त में हों उस से परे 'सु, ति, सि' प्रत्ययों के अपृक्त हल् का लोप होता है।

व्याख्या—हल्ङ्याब्भ्यः ।५।३। दीर्घात् ।५।१। सु-ति-सि ।१।१। अपृक्तम् ।१।१। हल् ।१।१। लोपः ।१।१। ['लोपो व्योर्वलि' से] समासः—हल् च ङी च आप् च=हल्ङ्यापः, तेभ्यः=हल्ङ्याब्भ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां 'शब्दस्वरूपम्' अथवा 'अङ्गम्' का अध्याहार कर उस के ये हलादि विशेषण बना दिये जाते हैं। इस से तदन्तविधि हो कर 'हलन्तात् ङ्यन्ताद् आबन्तात्' ऐसा बन जाता है। सूत्रस्थ 'दीर्घात्' पद 'ङी' और 'आप्' के साथ ही सम्बद्ध हो सकता है, 'हल्' के साथ नहीं; क्योंकि हल् दीर्घ नहीं हुआ करता। तो अब 'हलन्तात् दीर्घङ्यन्तात् दीर्घाबन्तात्' ऐसा हो जायगा। 'हल्ङ्याब्भ्यः' में पञ्चमी विभक्ति दिग्योग में हुई है, अतः 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) की सहायता से 'परम्' का अध्याहार कर लेंगे। सुश्च तिश्च सिश्च=सु-ति-सि, समाहारद्वन्द्वः। 'सुतिसि अपृक्तं हल्' इस का अर्थ है—'सु, ति, सि जो अपृक्त हल्'। यहां सन्देह होता है कि अपृक्तसञ्ज्ञा तो एक अल् रूप प्रत्यय की की जाती है पुनः 'सु, ति, सि' ये कैसे हल् और अपृक्त बन सकते हैं। इस का समाधान यह है कि जब 'सु, ति, सि' के उकार तथा इकार का लोप हो जाता है तब अवशिष्ट 'स्, त्, स्' को ही 'सु, ति, सि' समझ लेना चाहिये; क्योंकि वे उन से ही शेष बचे हैं। इस प्रकार वे अपृक्त भी होंगे और हल् भी होंगे। कई लोग—'सुतिसेरपृक्तम्=सुतिस्यपृक्तम्' ऐसा षष्ठीतत्पुरुषसमास मान कर 'सु, ति, सि के अपृक्त हल् का लोप हो' इस प्रकार अर्थ किया करते हैं। यह अर्थ भी शुद्ध तथा स्पष्ट है। 'लोपः' यहां कर्म में 'घञ्' प्रत्यय हुआ है—लुप्यत इति लोपः। जो लुप्त किया जाय उसे 'लोप' कहते हैं। यह 'हल्'

पद का विशेषण है। अर्थः—(हल्ङ्याब्भ्यः दीर्घात्) हल् से परे तथा दीर्घ ङी और आप् जिस के अन्त में हैं उस से परे (सुतिसि) सु, ति, सि ये (अपृक्तम्) अपृक्तसञ्ज्ञक (हल्) हल् (लोपः) लुप्त हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

हलन्त से परे—'राजान्+स्' (सुँ) यहां नकार हल् से परे अपृक्त सुँ का लोप हो जाता है। 'अहन् + त्' ('इतश्चे'ति तिप इकारलोपः) यहां नकार हल् से परे अपृक्त ति का लोप हो जाता है। 'अहन्+स्' (इतश्चेति सिप इकारलोपः) यहां हल् से परे अपृक्त सि का लोप हो जाता है।

दीर्घ ङी* से परे—'कुमारी + स्' (सुँ) यहां दीर्घ ङी से परे अपृक्त सुँ का लोप हो जाता है। दीर्घ ङी से परे ति और सि का आना असम्भव है।

दीर्घ आप्* से परे—'बाला + स्' (सुँ) यहां दीर्घ आप् से परे अपृक्त सुँ का लोप हो जाता है। दीर्घ आप् से परे भी ति और सि नहीं आया करते।

यद्यपि ङी और आप् स्वतः ही दीर्घ हुआ करते हैं, इन के लिये पुनः दीर्घ का कथन व्यर्थ सा प्रतीत होता है; तथापि समास में इन के ह्रस्व हो जाने पर उन से परे लोप न हो—इसलिये सूत्र में दीर्घ का ग्रहण किया गया है। यथा—निष्कौशाम्बिः ['निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः' इति विग्रहः, 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासः, गोस्त्रियोः—इत्युपसर्जनह्रस्वः।] यहां ङी के ह्रस्व हो जाने से उस से परे सुँ का लोप नहीं होता। एवम्—अतिखट्वः, अतिमालः आदि में भी ह्रस्व आप् से परे सुँलोपाभाव समझ लेना चाहिये।

प्रश्नः—हलन्त से परे हल् के लोप की कुछ आवश्यकता नहीं; क्योंकि वहां 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से भी लोप सिद्ध हो सकता है।

उत्तर—संयोगान्तलोप करने से निम्नलिखित दोष प्राप्त होते हैं। तथाहि—

(१) 'राजान्+स्' यहां संयोगान्तलोप करने पर उस के असिद्ध होने से 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) द्वारा नकार का लोप न हो सकेगा।

(२) 'उखास्रत् + स्, पर्णध्वत् + स्' यहां संयोगान्तलोप करने पर उसके असिद्ध होने से तकार के पदान्त न रहने पर जश्त्व न हो सकेगा।

(३) 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०) धातु के लङ् लकार के मध्यमपुरुष के एकवचन में सिप्, श्नम्, और 'दश्च' (४७३) सूत्र से दकार को रुँ आदेश करने पर 'अभिनर्+स्' हुआ। अब यदि यहां संयोगान्तलोप करते हैं तो 'अभिनर्+अत्र' यहां 'अतो रोरप्लुतादप्लुते'

---

* भेदक अनुबन्धों से रहित होने के कारण 'ङी' से ङीप्, ङीष्, ङीन् का तथा 'आप्' से टाप्, डाप्, चाप् का ग्रहण होता है। इन प्रत्ययों का विवेचन स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में देखें।

(१०६) सूत्र से उत्व नहीं हो सकता; क्योंकि सकारलोप के असिद्ध होने से उसका व्यवधान पड़ता है। इस से 'अभिनोऽत्र' सिद्ध नहीं होता।

(४) 'अबिभर् + त' ('इतश्चे'ति तिप इकारलोपः।) यहां संयोगान्तलोप से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ; क्योंकि 'रात्सस्य' (२०९) सूत्र द्वारा रेफ से परे सकार के लोप का ही नियम है।

अतः हल् से परे भी हल् का लोप अवश्य करना चाहिये—यह यहां सिद्ध होता है। इस विषय पर श्लोक प्रसिद्ध है—

"संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिध्यति।
रात्तु तेनैव लोपः स्याद् हलस्तस्माद्विधीयते॥"

'सखान् + स्' यहां नकार हल् से परे अपृक्त सुँ का लोप होकर 'सखान्' बना। अब नकार का लोप करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८० न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य।८।२।७॥

प्रातिपदिकसञ्ज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः स्यात्। सखा।

अर्थः—प्रातिपदिकसञ्ज्ञक जो पद उस के अन्त्य नकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—प्रातिपदिक ।६।१। [यहां 'सुपां सुलुक्······' सूत्र से षष्ठी का लुक् हुआ है।] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्तस्य ।६।१। न ।६।१। [यहां भी षष्ठी का लुक् हुआ है] लोपः ।१।१। अर्थः—(प्रातिपदिक) प्रातिपदिकसञ्ज्ञक (पदस्य) पद के (अन्तस्य) अन्त (नः) न् का (लोपः) लोप हो जाता है।

यदि सूत्र में 'प्रातिपदिक' का ग्रहण न करते केवल 'पद' का ही ग्रहण करते तो 'अहन्' यहां भी नकार का लोप हो जाता; क्योंकि यहां पदसञ्ज्ञा अक्षुण्ण है। इसी प्रकार यदि 'पद' का ग्रहण न करते केवल 'प्रातिपदिक' का ही ग्रहण करते तो 'राजान् + औ' यहां भी नकार का लोप हो जाता; क्योंकि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तो यहां भी है। अतः दोनों का ग्रहण किया गया है।

'सखान्' यह प्रातिपदिकसञ्ज्ञक पद है। यद्यपि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा 'सखि' शब्द की ही थी तो भी 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' से यहां भी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा विद्यमान है। इसी प्रकार सुँ—सुप् का लोप होने पर भी आगे आने वाले 'प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्' (१९०) सूत्र की सहायता से सुँबन्त हो जाने के कारण 'सुँप्तिङन्तं पदम्' (१४) द्वारा पदसञ्ज्ञा हो जाती है। तो प्रकृत-सूत्र से इस के नकार का लोप हो—'सखा' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सखि+औ' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ को बान्धकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—१८१ सख्युरसम्बुद्धौ ।७।१।९२॥

सख्युरङ्गात् परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत् स्यात् ।

अर्थः—अङ्गसञ्ज्ञक सखि शब्द से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान णिद्वत्—णित् के समान हो अर्थात् णित् के परे होने पर जो कार्य होते हैं उस के परे होने पर भी वे कार्य हों।

व्याख्या—अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है। यहां विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है] सख्युः ।५।१। असम्बुद्धौ ।७।१। [यह प्रथमान्त हो जायगा] सर्वनामस्थानम् ।१।१। ['इतोऽत् सर्वनामस्थाने' से] णित् ।१।१। ['गोतो णित्' से] समासः—न सम्बुद्धिः= असम्बुद्धिः, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अङ्गात्) अङ्गसञ्ज्ञक (सख्युः) सखिशब्द से परे (असम्बुद्धिः) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान (णित्) णित् हो।

यह अतिदेश-सूत्र है। अतिदेशसूत्रों का यह काम होता है कि जो, जो नहीं उसे वह बना देते हैं। यथा 'सिंहो माणवकः' (बालक शेर है)। बालक शेर नहीं होता, परन्तु उसे शेर कह दिया जाता है। इन का तात्पर्य अन्ततोगत्वा सादृश्य में समाप्त होता है—बालक शेर के समान (शूर) है। यहां सर्वनामस्थान को णित् कहा गया है, परन्तु उस में न तो ण् है और न ही उस की इत्सञ्ज्ञा होती है। तो यहां 'णित्' अतिदेश का तात्पर्य 'णिद्वत्' होगा। अर्थात् णित् परे रहते जो कार्य होते हैं, उस के परे रहते भी होंगे।

'सखि+औ' यहां अङ्गसञ्ज्ञक सखि से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'औ' है। यह णित्=णिद्वत् हुआ। अब अग्रिमसूत्र में इस का फल कहते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८२ अचो ञ्णिति ।७।२।११५॥

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः, ञिति णिति च परे। सखायौ, सखायः। हे सखे!। सखायम्, सखायौ, सखीन्। सख्या। सख्ये।

अर्थः—ञित् अथवा णित् परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि हो।

व्याख्या—अचः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [अधिकृत है] ञ्णिति ।७।१। वृद्धिः ।१।१। ['मृजेर्वृद्धिः' से] समासः—ञ् च ण् च ञ्णौ, तावितौ यस्य तत् ञ्णित्, तस्मिन्=ञ्णिति, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(ञ्णिति) ञित् अथवा णित् परे रहते (अचः) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् के स्थान पर वृद्धि होगी।

'सखि+औ' यहां 'औ' णित् परे है, अतः सखि के अन्त्य अल् इकार को ऐकार

वृद्धि हो—'सखै + औ' हुआ। अब 'एचोऽयवायावः' (२२) से ऐकार को आय् आदेश हो कर 'सखायौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सखि+अस्' (जस्) यहां भी पूर्ववत् णिद्वद्भाव, वृद्धि और आय् आदेश हो कर सकार को रुँत्व विसर्ग करने पर 'सखायः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'हे सखि + स्' यहां सम्बुद्धि में हरिशब्द के समान 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६६) से इकार को एकार गुण हो एङन्त हो जाने से 'एङ्ह्रस्वात्……' (१३४) सूत्र द्वारा सम्बुद्धि के हल् का लोप करने पर 'हे सखे' सिद्ध होता है।

'सखि+अम्' यहां भी पूर्ववत् सर्वनामस्थान को णिद्वद्भाव, उस के परे रहते वृद्धि तथा ऐकार को आय् आदेश हो कर—'सखायम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में 'सखायौ' प्रथमावत् बनता है।

बहुवचन में 'सखि + अस्' (शस्) इस दशा में पूर्वसवर्णदीर्घ होकर 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) द्वारा सकार को नकार करने पर—'सखीन्' प्रयोग सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि शस् के सर्वनामस्थान न होने से णिद्वद्भाव नहीं होगा।

तृतीया के एकवचन में 'सखि+आ' (टा) इस स्थिति में 'इको यणचि' (१५) से यण् आदेश हो—'सख्या' प्रयोग सिद्ध होता है। स्मरण रहे कि सखि की घिसञ्ज्ञा न होने से 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) द्वारा 'टा' को 'ना' नहीं होता।

तृतीया के द्विवचन 'सखिभ्याम्'। बहुवचन में 'सखिभिः'।

'सखि + ए' (ङे) यहां घिसञ्ज्ञा के न होने से 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण नहीं होता। 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर 'सख्ये' प्रयोग बनता है।

'सखि + अस्' (ङसिँ) यहां 'इको यणचि' (१५) से इकार को यकार हो—'सख्य् + अस्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८३ ख्यत्यात्परस्य ।६।१।१०६॥

'खि-ति' शब्दाभ्यां 'खी-ती' शब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिँ-ङसोरत उः। सख्युः २।

अर्थः—जिन के स्थान पर यण् किया गया हो ऐसे खिशब्द, तिशब्द, खीशब्द अथवा तीशब्द से परे ङसिँ और ङस् के अकार को उकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—ख्यत्यात् ।५।१। परस्य ।६।१। ङसिँ-ङसोः ।६।२। ['ङसिँ-ङसोश्च' से] अतः ।६।१। ['एङः पदान्तादति' से, विभक्तिविपरिणाम कर के] उत् ।१।१। ['ऋत उत्' से] समासः—ख्यश्च त्यश्च = ख्यत्यम्, तस्मात् = ख्यत्यात्, समाहारद्वन्द्वः। यकारादकार

उच्चारणार्थः*। 'खि' या 'खी' शब्द के इवर्ण को यण् करने से ख्य् और 'ति' या 'ती' शब्द के इवर्ण को यण् करने से त्य् रूप बनता है। उसी का यहां ग्रहण करना चाहिये। 'ख्यत्यात्' यह पञ्चम्यन्त है; अतः 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) सूत्र से स्वयं ही ख्य् और त्य् से परे कार्य होना था, पुनः मुनि का 'परस्य' ग्रहण करना 'एकः पूर्वपरयोः' अधिकार की निवृत्ति के लिये है। अर्थः—(ख्यत्यात्) यणादेश किये हुए खि, खी और ति, ती शब्दों से (परस्य) पर (ङसिँ-ङसोः) ङसिँ और ङस् के (अतः) अकार के स्थान पर (उत्) उकार आदेश होता है।

'सख्य् + अस्' यहां यणादेश किया हुआ 'खि' शब्द है; अतः इस से परे ङसिँ के अकार को उकार हो—'सख्य् + उस्' बना। अब सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'सख्युः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्विवचन में चतुर्थी के समान 'सखिभ्याम्'। बहुवचन में 'सखिभ्यः'।

षष्ठी के एकवचन में पूर्ववत् 'सख्युः' बनता है।

'सखि+ओस्' यहां यण् हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'सख्योः' बना।

'सखि + आम्' इस स्थिति में ह्रस्वान्त अङ्ग को नुट् का आगम हो अनुबन्धलोप कर 'नामि' (१४६) से दीर्घ करने पर 'सखीनाम्' रूप बनता है।

'सखि+इ' (ङि) यहां घिसञ्ज्ञा न होने से 'अच्च घेः' (१७४) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। तब यण् आदेश प्राप्त होने पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८४ औत् ।७।३।११८॥

इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत्। सख्यौ। शेषं हरिवत्।

अर्थः—ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार से परे 'ङि' को 'औ' हो जाता है।

व्याख्या—इदुद्भ्याम् ।५।२। ['इदुद्भ्याम्' से] ङेः ।६।१। ['ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से] औत् ।१।१। अर्थः—(इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार तथा उकार से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (औत्) औकार ‡ आदेश होता है।

यह उत्सर्ग-सूत्र (सामान्य-सूत्र) है। 'अच्च घेः' (१७४) इस का अपवाद है। अतः

---

* ध्यान रहे कि यदि यहां अकार को उच्चारणार्थ न मान 'ख्य' और 'त्य' शब्दों का ग्रहण कर 'सङ्ख्य' 'अपत्य' आदि शब्दों के ख्य और त्य का ग्रहण करेंगे तो 'सख्युर्यः, पत्युर्नः, अपत्यस्य च ....' इत्यादि निर्देश विपरीत पड़ेंगे।

‡ यहां पर श्री पं० श्रीधरानन्द जी शास्त्री व्याकरणाचार्य भ्रान्तिवश तकार को इत् लिखने और उस का प्रयोजन सर्वादेश करना बताते हैं।

इस के विषय में इस की प्रवृत्ति नहीं होती। उकार का उदाहरण नहीं मिलता, उस का यहां ग्रहण 'अच्च घेः' (१७४) आदि अग्रिम-सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये है।

'सखि + इ' यहां इकार को औकार आदेश हो 'इको यणचि' (१५) से यण् करने पर 'सख्यौ' रूप बनता है।

द्विवचन में 'सख्योः' षष्ठी के समान बनता है।

बहुवचन में सखि+सु=सखिषु [आदेश-प्रत्यययोः]। रूपमाला यथा—

प्र० सखा	सखायौ	सखायः	प० सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
द्वि० सखायम्	,,	सखीन्	ष० ,,	सख्योः	सखीनाम्
तृ० सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः	स० सख्यौ	,,	सखिषु
च० सख्ये	,,	सखिभ्यः	सं० हे सखे !	हे सखायौ !	हे सखायः !

अब 'पति' शब्द का वर्णन करते हैं। 'पति' का अर्थ 'स्वामी' है। प्रथम दो विभक्तियों में 'हरि' शब्द के समान प्रक्रिया होती है। तृतीया के एकवचन में 'शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इस पर अग्रिम-सूत्र से नियम करते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—**१८५ पतिः समास एव ।१।४।८॥**

घि-सञ्ज्ञः। पत्या। पत्ये। पत्युः २। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु—भूपतये।

अर्थः—'पति' शब्द समास में ही घिसञ्ज्ञक होता है। [समास से भिन्न स्थल में नहीं]।

व्याख्या—पतिः ।१।१। समासे ।७।१। एव इत्यव्ययपदम्। घिः ।१।१। ['शेषो घ्यसखि' से] अर्थः—(पतिः) पतिशब्द (समासे) समास में (एव) ही (घिः) घिसञ्ज्ञक होता है।*

समास और असमास दोनों अवस्थाओं में पतिशब्द की 'शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा प्राप्त होती थी। अब इस सूत्र से नियम किया जाता है कि समास में ही पति-शब्द की घिसञ्ज्ञा हो असमास में नहीं।

घिसञ्ज्ञा के यहां तीन कार्य होते हैं। १. 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) से टा को ना आदेश। २. ङे, ङसिँ, ङस् में 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण। ३. 'अच्च घेः' (१७४) द्वारा ङि को औकार और घि को अकार आदेश। असमासावस्था में पति शब्द की घिसञ्ज्ञा

---

* इस सूत्र में यद्यपि 'एव' पद के विना भी 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' द्वारा उपर्युक्त नियम सिद्ध हो सकता था; तथापि—'समास में पतिशब्द ही घिसञ्ज्ञक हो अन्य शब्द न हों' इस विपरीत नियम की आशङ्का से बचने के लिये यहां मुनि ने 'एव' पद का ग्रहण किया है।

न होने से ये तीनों विकार्य न होंगे। तब इन विभक्तियों में सखिशब्दवत् प्रक्रिया होगी। यथा—

'पति + आ' यहां यण् आदेश हो—'पत्या' बना।

'पति+ए' (ङे) यहां भी यण् आदेश करने पर 'पत्ये' बना।

'पति+अस्' (ङसिँ व ङस्) इस दशा में यण् आदेश हो 'ख्यत्यात् परस्य' (१८३) से उकार आदेश करने पर 'पत्युः' बना।

'पति+इ' (ङि) इस अवस्था में 'औत्' (१८४) से ङि को औकार हो 'इको यणचि' (१५) से यण् करने पर 'पत्यौ' रूप सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र० पतिः	पती	पतयः	प० पत्युः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
द्वि० पतिम्	,,	पतीन्	ष० ,,	पत्योः	पतीनाम्
तृ० पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः	स० पत्यौ	,,	पतिषु
च० पत्ये	,,	पतिभ्यः	सं० हे पते !	हे पती !	हे पतयः !

समास में 'पति' शब्द की घिसञ्ज्ञा हो जायगी ; अतः 'हरि' शब्द के समान रूप चलेंगे। 'भूपति' (पृथ्वी का पति=राजा) में 'भुवः पतिः=भूपतिः' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस की रूपमाला यथा—

प्र० भूपतिः	भूपती	भूपतयः	प० भूपतेः	भूपतिभ्याम्	भूपतिभ्यः
द्वि० भूपतिम्	,,	भूपतीन्	ष ,,	भूपत्योः	भूपतीनाम्
तृ० भूपतिना	भूपतिभ्याम्	भूपतिभिः	स० भूपतौ	,,	भूपतिषु
च० भूपतये	,,	भूपतिभ्यः	सं० हे भूपते !	हे भूपती !	हे भूपतयः

इसी प्रकार—नरपति, नृपति, मृगपति, गृहपति, पृथ्वीपति, क्षितिपति, लोकपति, देशपति, राष्ट्रपति, पशुपति गणपति, सेनापति प्रभृति शब्दों के रूप जानने चाहियें।

विशेष—'बहुपति' (ईषदूनः पतिः) शब्द में 'बहुच्' प्रत्यय है, जो कि—'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' (५।३।६८) इस सूत्र से प्रकृति से पूर्व होगा। उस का उच्चारण 'पति' की तरह होगा। यदि 'बहु' शब्द अभीष्ट हो, तब 'भूपति' की तरह होगा।

प्रश्नः—'सीतायाः पतये नमः' इत्यादि स्थानों पर समास न होने से कैसे घिसञ्ज्ञा कर दी गई है?

उत्तर—यहां पर 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' इस परिभाषा से 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' (१।४।९) से घिसञ्ज्ञा कर लेनी चाहिये। अथवा—'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (८१२) सूत्र में बहुलग्रहणसामर्थ्यात् यहां षष्ठी का समास में अलुक् जान कर घि-सञ्ज्ञा कर लेनी चाहिये।

[लघु०] कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः ।

अर्थः—'कति' शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है ।

व्याख्या—'किम्' शब्द से 'डति' प्रत्यय करने पर 'कति' शब्द सिद्ध होता है। इस का प्रयोग सदा बहुवचन में ही होता है, एकवचन और द्विवचन में नहीं। क्योंकि 'कति' (कितने) शब्द बहुत्व का ही वाचक है एक दो का नहीं।

'कति + अस्' (जस्) इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१८६ बहु-गण-वतु-डति सङ्ख्या ।१।१।२२॥

अर्थः—बहुशब्द, गणशब्द, वतुप्रत्ययान्त शब्द तथा डतिप्रत्ययान्त शब्द 'सङ्ख्या' सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—बहु-गण-वतु-डति ।१।१। सङ्ख्या ।१।१। समासः—बहुश्च गणश्च वतुश्च=बहु-गण-वतु-डति, समाहारद्वन्द्वः। 'वतु' और 'डति' प्रत्यय हैं, अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्त-ग्रहणम्' से तदन्त शब्दों का ही ग्रहण होगा। केवल प्रत्ययों की सञ्ज्ञा करना निष्प्रयोजन होने से 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्यय-ग्रहणे तदन्त-ग्रहणं नास्ति' यह निषेध प्रवृत्त न होगा। अर्थः—(बहु-गण-वतु-डति) बहुशब्द, गणशब्द, वतुप्रत्ययान्त शब्द तथा डति-प्रत्ययान्त शब्द (सङ्ख्या) सङ्ख्या सञ्ज्ञक होते हैं।

'कति+अस्' यहां प्रकृतसूत्र से 'कति' शब्द की सङ्ख्या सञ्ज्ञा हो जाती है। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१८७ डति च ।१।१।२४॥

डत्यन्ता सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञा स्यात् ।

अर्थः—डति-प्रत्ययान्त सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—डति ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। सङ्ख्या ।१।१। ['बहु-गण-वतु-डति सङ्ख्या' से] षट् ।१।१। ['ष्णान्ता षट्' से] ।अर्थः—(डति) डतिप्रत्ययान्त (सङ्ख्या) सङ्ख्यासञ्ज्ञक शब्द (षट्) षट् सञ्ज्ञक होते हैं।

'कति + अस्' यहां कतिशब्द डतिप्रत्ययान्त है और साथ ही सङ्ख्यासञ्ज्ञक भी है; अतः इस की षट्सञ्ज्ञा हो जाती है। 'आकडारात्—' (१६६) इस अधिकार से बहिर्भूत होने के कारण यहाँ एक की दो सञ्ज्ञाएं हुईं। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८८ षड्भ्यो लुक् ।७।१।२२॥

जश्शसोः ।

अर्थः—षट्सञ्ज्ञकों से परे जस् और शस् का लुक् हो जाता है ।

व्याख्या—षड्भ्यः ।५।३। जश्शसोः ।६।२। ['जश्शसोः शिः' से] लुक् ।१।१। अर्थः—(षड्भ्यः) षट्सञ्ज्ञकों से परे (जश्शसोः) जस् और शस् का (लुक्) लुक् हो जाता है ।

'कति+अस्' यहां 'कति' शब्द की षट्सञ्ज्ञा है। इस से परे जस् विद्यमान है, अतः जस् का लुक् होगा । अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि लुक् किसे कहते हैं ? इस का समाधान अग्रिमसूत्र से करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**१८९ प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ।१।१।६०॥**

लुक्-श्लु-लुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात् तत्तत्सञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः—लुक्, श्लु और लुप् शब्दों से जो प्रत्यय का अदर्शन किया जाता है, वह (अदर्शन) क्रमशः लुक्, श्लु और लुप् सञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—प्रत्ययस्य ।६।१। अदर्शनम् ।१।१। ['अदर्शनं लोपः' से] लुक्श्लुलुपः ।१।३। यहां 'प्रत्यय का अदर्शन लुक्, श्लु, लुप् सञ्ज्ञक हो' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। इस से एक ही प्रत्यय के अदर्शन की 'लुक्, श्लु, लुप्' ये तीन सञ्ज्ञाएं हो जाती हैं। इस से 'हन्ति' में शप् का लुक् होने पर 'श्लौ' (६०५) से द्वित्व प्राप्त होता है। 'जुहोति' में शप् का श्लु होने से 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (५६६) से वृद्धि प्राप्त होती है। अतः इन के साङ्कर्य की निवृत्ति के लिये 'लुक्-श्लु-लुपः' पद की आवृत्ति (दो बार पाठ) कर एक स्थान पर उस का तृतीयान्ततया विपरिणाम कर लेना चाहिये । अर्थः—(लुक्-श्लु-लुब्भिः) लुक्, श्लु और लुप् शब्दों से जो (प्रत्ययस्य) प्रत्यय का (अदर्शनम्) अदर्शन किया जाता है, वह क्रमशः (लुक्-श्लु-लुपः) लुक्, श्लु और लुप् सञ्ज्ञक होता है। भावः—१ प्रत्यय का अदर्शन 'लुक्' सञ्ज्ञक होता है। २ प्रत्यय का अदर्शन 'श्लु' सञ्ज्ञक होता है। ३ प्रत्यय का अदर्शन 'लुप्' सञ्ज्ञक होता है। अब इस अर्थ से 'हन्ति' आदि में कोई दोष नहीं आता; क्योंकि 'हन्ति' में शप्प्रत्यय का अदर्शन लुक्सञ्ज्ञक है श्लुसञ्ज्ञक नहीं, अतः 'श्लौ' (६०५) से द्वित्व नहीं होता। 'जुहोति' में शप्प्रत्यय का अदर्शन श्लुसञ्ज्ञक है लुक्सञ्ज्ञक नहीं, अतः 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (५६६) से वृद्धि नहीं होती। इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना चाहिये। तो अब हमें विदित हो गया कि प्रत्यय के अदर्शन को ही 'लुक्' कहते हैं।

'कति + अस्' यहां अस् का लुक् अर्थात् अ-दर्शन हो कर 'कति' प्रयोग सिद्ध होता

है। अब यहां 'जसि च' (१६८) द्वारा गुण की आशङ्का करने के लिए प्रथम जस् की स्थापना करते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—१९० प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्। १।१।६२॥

प्रत्यये लुप्ते तदाश्रितं कार्यं स्यात्। इति 'जसि चे' ति गुणे प्राप्ते—

अर्थः—प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी तदाश्रित कार्य हो जाते हैं। इस सूत्र से 'जसि च' (१६८) द्वारा 'कति' में गुण प्राप्त होता है। इस पर [अग्रिमसूत्र निषेध कर देता है।]

व्याख्या—प्रत्यय-लोपे ।७।१। प्रत्यय-लक्षणम् ।१।१। समासः—प्रत्ययस्य लोपः= प्रत्ययलोपः, तस्मिन्=प्रत्ययलोपे। षष्ठीतत्पुरुषसमासः। प्रत्ययो लक्षणं (निमित्तम्) यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम्, कार्यम् इत्यर्थः। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(प्रत्ययलोपे) प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी (प्रत्ययलक्षणम्) प्रत्यय को मान कर होने वाला कार्य हो जाता है।

कई कार्य प्रत्यय को मान कर हुआ करते हैं। यथा—'जसि च' (१६८) यह 'जस्' प्रत्यय को मान कर ह्रस्वान्त अङ्ग के स्थान पर गुण करता है। 'सुपि च' (१४१) यह यञादि सुँप् प्रत्यय को मान कर अदन्त अङ्ग को दीर्घ करता है। 'सुँप्तिङन्तं पदम्' (१४) यह सुँप् तथा तिङ् प्रत्यय को मान कर ही पद सञ्ज्ञा करता है। इस प्रकार के कार्य उस प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी हो जाते हैं—यह इस सूत्र का तात्पर्य है। यथा—'रामः' यहां जिस प्रकार सुँप् प्रत्यय के रहते पदसञ्ज्ञा हो जाती है वैसे 'लिट्, विद्वान्, भगवान्' आदियों में सुँप् प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।

'कति' यहां जस् प्रत्यय का लोप हो चुका है, अब इस सूत्र से उस के न रहने पर भी उस को मान कर 'जसि च' (१६८) द्वारा गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र निषेध करता है।

प्रश्नः—इस सूत्र द्वारा प्रत्यय के लोप में ही प्रत्ययलक्षण होता है; परन्तु 'कति' में प्रत्यय का लुक् हुआ है लोप नहीं, तो यहां कैसे प्रत्ययलक्षण (गुण) प्राप्त हो सकता है?

उत्तर—जैसे लोक में एक व्यक्ति की अनेक सञ्ज्ञाएं देखी जाती हैं वैसा इस शास्त्र में भी होता है। तव्यत्, तव्य, अनीयर् आदि प्रत्ययों की कृत् और कृत्य दोनों सञ्ज्ञाएं हैं।

जहां शास्त्र में एक सञ्ज्ञा करना अभीष्ट होता है वहां स्पष्ट कह दिया जाता है यथा—आकडारादेका सञ्ज्ञा (१।४।१)। यहां प्रत्यय के अदर्शन की 'अदर्शनं लोपः' (२) से लोप सञ्ज्ञा की गई है। उसी अदर्शन की पुनः प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१८९) सूत्र से लुक् श्लु और लुप् सञ्ज्ञाएं की जाती हैं। तो इस प्रकार लुक्, श्लु और लुप् तीनों सञ्ज्ञाओं के साथ 'लोप' सञ्ज्ञा वर्त्तमान रहती है। इस से 'कति' में प्रत्यय-लक्षण प्राप्त होता है।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—१९१ न लुमताऽङ्गस्य ।१।१।६२॥

लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कति २। कतिभिः। कतिभ्यः २। कतीनाम्। कतिषु।

अर्थः—लु वाले (लुक्, श्लु, लुप्) शब्दों से यदि प्रत्यय का लोप हुआ हो तो तन्निमित्तक (उस प्रत्यय को निमित्त मान कर होने वाला) अङ्ग-कार्य नहीं होता।

व्याख्या—लुमता ।३।१। प्रत्ययलोपे ।७।१। ['प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] प्रत्ययलक्षणम् ।१।१। न इत्यव्ययपदम्। समासः—लु इत्येकदेशोऽस्यास्य स लुमान्, तेन लुमता। 'तदस्यास्ती' तिसूत्रेण मतुप्प्रत्ययः। प्रत्ययस्य लोपः=प्रत्ययलोपः, तस्मिन्=प्रत्ययलोपे, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(लुमता) लु वाले शब्द से (प्रत्ययलोपे) प्रत्यय का लोप होने पर (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (प्रत्ययलक्षणम्) उस प्रत्यय को मान कर होने वाला कार्य (न) नहीं होता। 'लु' वाले शब्द तीन हैं—१. लुक्, २. श्लु, ३. लुप्। यह सूत्र पूर्वकथित प्रत्ययलक्षण सूत्र का अपवाद है।

'कति' में जस् प्रत्यय का लु वाले शब्द=लुक् से अदर्शन हुआ है तो यहां प्रत्यय-लक्षण कार्य (गुण) न होगा।

ध्यान रहे कि यह निषेध तभी होगा जब अङ्ग के स्थान पर प्रत्ययलक्षण कार्य करना होगा। यदि अङ्ग के स्थान पर कार्य न होगा तो 'लु' वाले शब्दों से अदर्शन होने पर भी प्रत्ययलक्षण हो जायगा। यथा—पञ्च, सप्त' यहां 'षड्भ्यो लुक्' (१८८) से जस् और शस् का लुक् होने पर भी 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र से पदसञ्ज्ञा हो जाती है। पदसञ्ज्ञा हो जाने से 'नलोपः ……' (१८०) द्वारा नकार का लोप हो जाता है। पदसञ्ज्ञा केवल अङ्ग की ही नहीं होती किन्तु प्रत्ययविशिष्ट अङ्ग की हुआ करती है; इस से प्रत्ययलक्षण में कोई बाधा नहीं होती। इसी प्रकार यङ्लुगन्त प्रक्रिया में यङ् लुक् होने पर भी यङन्तमूलक द्वित्व हो ही जाता है। यह विषय विस्तारपूर्वक 'रोऽसुपि' (११०) सूत्र पर लिख आए हैं वहीं देखें।

द्वितीया के बहुवचन शस् में भी जस् की तरह 'कति' प्रयोग बनता है। प्रत्ययलक्षण द्वारा गुणप्राप्ति तथा उस का निषेध यहां नहीं होता।

कति + भिस् = कतिभिः । कति + भ्यस् = कतिभ्यः । यहां सकार को रुँ और रेफ को विसर्ग आदेश हो जाते हैं ।

'कति + आम्' यहां ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) सूत्र से ह्रस्वान्त अङ्ग को नुट् आगम, अनुबन्धलोप तथा 'नामि' (१४९) से दीर्घ होकर—'कतीनाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। [अथवा षट्त्व के कारण 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) सूत्र से नुट् का आगम कर दीर्घ कर लेना चाहिये । इस की स्पष्टता 'रामाणाम्' प्रयोग पर "सिद्धान्तकौमुदी" की टीकाओं में देखना चाहिये ।]

सप्तमी के बहुवचन में 'आदेश-प्रत्यययोः' (१५०) से मूर्धन्य षकार होकर 'कतिषु' रूप बनता है ।

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	कति	पं०	०	०	कतिभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	कतीनाम्
तृ०	०	०	कतिभिः	स०	०	०	कतिषु
च०	०	०	कतिभ्यः	सं०	०	०	हे कति !

[लघु०] युष्मदस्मत्षट्सञ्ज्ञकास्त्रिषु सरूपाः ।

अर्थः—युष्मद्, अस्मद् और षट्सञ्ज्ञक शब्द तीनों लिङ्गों में समान रूप वाले होते हैं ।

व्याख्या—समानानि रूपाणि येषां ते सरूपाः, बहुव्रीहिसमासः । 'कति' शब्द षट्सञ्ज्ञक है; अतः तीनों लिङ्गों में एक समान रूप बनेंगे । यथा—कति पुरुषाः ? कति नार्यः ? कति फलानि ? । इसी प्रकार युष्मद् और अस्मद् के भी—'अहम्पुरुषः, अहं नारी, त्वं पुरुषः, त्वं नारी' इत्यादि समान रूप बनते हैं ।

[लघु०] त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः२ ।

अर्थः—'त्रि' शब्द नित्य बहुवचनान्त है ।

व्याख्या—'त्रि' शब्द का अर्थ 'तीन' है । तीन—बहुसङ्ख्या का वाचक है अतः एकत्व और द्वित्व का प्रकृति के अर्थ—बहुत्व के साथ अन्वय न हो सकने के कारण एकवचन द्विवचन नहीं आते ।

ध्यान रहे कि प्रधान होने पर ही 'त्रि' शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है, गौण अवस्था में तो इस से एकवचन और द्विवचन भी हुआ करते हैं जैसा कि आगे 'प्रियत्रि' शब्द में किया गया है ।

'त्रि+अस्' (जस्) इस अवस्था में 'जसि च' (१६८) सूत्र से गुण हो 'एचोऽयवायावः' (२२) से अय् आदेश करने पर—त्रयस्='त्रयः' रूप बनता है।

'त्रि + अस्' (शस्) इस स्थिति में पूर्वसवर्णदीर्घ हो सकार को नकार करने पर 'त्रीन्' प्रयोग सिद्ध होता है।

त्रि + भिस् = त्रिभिः। त्रि+भ्यस्=त्रिभ्यः। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

'त्रि + आम्' इस दशा में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६२ त्रेस्त्रयः ।७।१।५३॥

त्रि-शब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि। त्रयाणाम्। त्रिषु। गौणत्वेऽपि —प्रियत्रयाणाम्।

अर्थः—आम् परे हो तो 'त्रि' शब्द के स्थान पर 'त्रय' आदेश हो।

व्याख्या—त्रेः ।६।१। त्रयः ।१।१। आमि ।७।१। ['आमि सर्वनाम्नः सुट्' से] अर्थः—(आमि) आम् परे रहते (त्रेः) त्रिशब्द के स्थान पर (त्रयः) त्रय आदेश हो। अनेकाल् होने से यह आदेश सर्वादेश होगा।

सूत्र में त्रिशब्द सङ्ख्यावाचक नहीं शब्दवाचक है अतः एकवचन उच्चारण होने से 'त्रेः' यहां एकवचन हो गया है।

'त्रि + आम्' यहां आम् पर है अतः त्रिशब्द को त्रय आदेश हो—'त्रय + आम्'। अब ह्रस्वान्त अङ्ग को नुट् आगम, अनुबन्धलोप, 'नामि' (१४६) से दीर्घ तथा 'अट्कुप्वाङ् -......' (१३८) से णत्व करने पर 'त्रयाणाम्' रूप सिद्ध होता है।

'त्रि + सु' (सुप्) यहां 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार हो कर—'त्रिषु' रूप सिद्ध हुआ।

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	त्रयः	पं०	०	०	त्रिभ्यः
द्वि०	०	०	त्रीन्	ष०	०	०	त्रयाणाम्
तृ०	०	०	त्रिभिः	स०	०	०	त्रिषु
च०	०	०	त्रिभ्यः	सं०	०	०	हे त्रयः!

बहुव्रीहिसमास में अन्य पद प्रधान रहता है, समस्यमान पद गौण अर्थात् अप्रधान रहते हैं। यह हम पीछे (१३३) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। जब समास में 'त्रि' शब्द गौण होता है तब भी इस सूत्र से उस के स्थान पर 'त्रय' आदेश हो जाता है। सूत्र में 'त्रेः' यहां एकवचन करना इस में प्रमाण है; अन्यथा 'अष्टाभ्य औश्' (२००) की तरह यहां भी 'त्रयाणां त्रयः' सूत्र बनाते।

प्रियाः त्रयः यस्य सः=प्रियत्रिः। जिसे तीन प्रिय हों उसे 'प्रियत्रि' कहते हैं। 'प्रियत्रि + आम्' इस स्थिति में त्रि के स्थान पर त्रय आदेश हो—प्रियत्रय + आम्। तब ह्रस्वान्त अङ्ग को नुट् आगम, अनुबन्धलोप, ह्रस्वान्त अङ्ग को दीर्घ तथा नकार को णकार हो कर 'प्रियत्रयाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। अन्य विभक्तियों में रूप 'हरि' की तरह होते हैं।

प्र०	प्रियत्रिः	प्रियत्री	प्रियत्रयः	पं०	प्रियत्रेः	प्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभ्यः
द्वि०	प्रियत्रिम्	,,	प्रियत्रीन्	ष०	,,	प्रियत्र्योः	प्रियत्रयाणाम्
तृ०	प्रियत्रिणा	प्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभिः	स०	प्रियत्रौ	,,	प्रियत्रिषु
च०	प्रियत्रये	,,	प्रियत्रिभ्यः	सं०	हे प्रियत्रे !	हे प्रियत्री !	हे प्रियत्रयः !

अब सङ्ख्यावाचक द्वि (दो) शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१९३ त्यदादीनामः ।७।२।१०२॥

एषामकारो विभक्तौ। द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः। द्वौ २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २।

अर्थः—विभक्ति परे रहते त्यद् आदि शब्दों के स्थान पर अकार आदेश हो। **द्विपर्यन्तानामिति**—द्वि तक ही त्यदादियों को अकार करना इष्ट है।

व्याख्या—त्यदादीनाम् ।६।३। अः ।१।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] समासः—त्यद्-शब्द आदिर्येषान्ते त्यदादयः, तद्गुण-संविज्ञान-बहुव्रीहि-समासः। सर्वादिगण के अन्तर्गत त्यदादिगण आया है। यह त्यद् शब्द से आरम्भ होता है। इस की अवधि भाष्यकार ने 'द्वि' शब्द पर्यन्त नियत की है। इस प्रकार इस गण में 'त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि' ये आठ शब्द आते हैं। अर्थः—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (त्यदादीनाम्) त्यद् आदि शब्दों के स्थान पर (अः) अकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से त्यदादियों के अन्त्य अल् को अकार आदेश होगा।

'द्वि' शब्द द्वित्व का वाचक होने से सदा द्विवचनान्त प्रयुक्त होता है। द्विवचन प्रत्यय आने पर सब विभक्तियों में प्रथम प्रकृतसूत्र द्वारा इकार को अकार हो 'द्व' बन जाता है। तब रामशब्द के समान प्रक्रिया हो कर रूप सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	द्वौ †	०	पं०	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि०	०	,, †	०	ष०	०	द्वयोः ‡	०
तृ०	०	द्वाभ्याम् ❀	०	स०	०	,,	०
च०	०	,,	०	त्यदादियों का प्रायः सम्बोधन नहीं होता।			

† 'द्वि + औ' यहां अकार अन्तादेश हो वृद्धि हो जाती है।

❀ 'द्वि + भ्याम्' इस दशा में अकार अन्तादेश हो 'सुपि च' से दीर्घ हो जाता है।

‡ 'द्वि + ओस्' यहां अकार अन्तादेश हो 'ओसि च' से एकार तथा 'एचोऽयवायावः' से अय् आदेश हो जाता है।

अभ्यास (२८)

(१) अव्ययों से अतिरिक्त ऐसे कौन से शब्द हैं जो तीनों लिङ्गों में सरूप अर्थात् समान रूप वाले होते हैं ?

(२) 'सीतायाः पतये नमः' यहां समास न होने पर भी कैसे 'घि' सञ्ज्ञा हो जाती है ?

(३) निम्नलिखित सञ्ज्ञाओं में कौन २ सञ्ज्ञा प्रकृति की और कौन २ प्रत्यय की होती है ? ससूत्र यथाधीत टिप्पण करें—

१. अपृक्त । २. अङ्ग । ३. आङ् । ४. उपधा । ५. सर्वनाम । ६. सङ्ख्या । ७. षट् । ८. घि । ९. सर्वनामस्थान । १०. विभक्ति । ११. भ । १२ पद । १३. प्रातिपदिक । १४. सम्बुद्धि । १५. बहुवचन ।

(४) (क) 'न लुमताङ्गस्य' सूत्र में 'अङ्गस्य' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(ख) 'शेषो घ्यसखि' सूत्र में 'शेषः' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

(ग) 'हल्ङ्याब्भ्यः......' सूत्र में 'दीर्घात्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(घ) अतिदेश किसे कहते हैं ? इस का क्या लाभ होता है ?

(ङ) प्रत्यय का लुक् होने पर भी क्या प्रत्ययलक्षण हुआ करता है ?

(५) इस व्याकरण में क्या एक की एक सञ्ज्ञा करनी उचित है या बहुत—सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(६) 'ख्यत्यात् परस्य' सूत्र में 'परस्य' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(७) 'अपत्य' आदि शब्दों से परे ङसि या ङस् के अकार को 'ख्यत्यात्परस्य' द्वारा उकार आदेश होगा या नहीं, स्पष्ट करें ।

(८) 'संयोगान्तस्य लोपे हि ......' इस श्लोक की व्याख्या करें ।

(९) हरौ, त्रयाणाम्, सख्युः, पत्ये, कति, सखा, हरेः, भूपतये, सखायौ, प्रियत्रयः— इन दस रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक साधनप्रक्रिया लिखें ।

(१०) 'शेषो घ्यसखि' सूत्र की व्याख्या करें ।

[यहां ह्रस्व इकारान्तपुल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।]

—— ०:❀:० ——

अब ईकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों का वर्णन किया जाता है—

[लघु०] पाति लोकमिति पपीः सूर्यः । दीर्घाज्जसि च—पप्यौ २ । पप्यः । हे पपीः । पपीम् । पपीन् । पप्या । पपीभ्याम् ३ ।

पपीभिः। पप्ये। पपीभ्यः २। पप्यः २। पप्योः। दीर्घत्वान्न नुट्—पप्याम्। ङौ तु सवर्णदीर्घः—पपी। पप्योः। पपीषु। एवं वातप्रम्यादयः।

व्याख्या—'पा रक्षणे' (अदा०) धातु से औणादिक 'ई' प्रत्यय कर द्वित्व और आकार का लोप करने से 'पपी' शब्द सिद्ध होता है [देखो—'पापोः किद् द्वे च' उणा० (४३६)]। जगत का रक्षक होने से सूर्य 'पपी' कहाता है। प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो कर इस से सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

पपी + स् (सुँ) इस स्थिति में सकार को रेफ और विसर्ग करने पर 'पपीः' रूप बनता है। ध्यान रहे कि यहां 'ङी' के न होने से 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७६) सूत्र द्वारा सुँ का लोप नहीं होता।

'पपी + औ' यहां 'प्रथमयोः—' (१२६) सूत्र से प्राप्त पूर्वसवर्णदीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र से निषेध होकर 'इको यणचि' (१५) से ईकार को यण्=यकार करने से 'पप्यौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'पपी + अस्' (जस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो ईकार को यण्=यकार करने से 'पप्यः' रूप बनता है।

'पपी + अम्' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'पपीम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'पपी + अस्' (शस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) से सकार को नकार करने से 'पपीन्' रूप बनता है।

'पपी + आ' (टा) 'इको यणचि' (१५) से यण् हो 'पप्या' बना।

तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन में 'पपीभ्याम्' बनता है।

तृतीया के बहुवचन में 'पपीभिः'। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

चतुर्थी के एकवचन में—'पप्ये'। 'इको यणचि' से यण् हो जाता है।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'पपी + अस्' इस दशा में यण् हो कर 'पप्यः' रूप बन जाता है।

'पपी + ओस्' इस अवस्था में यण् हो कर 'पप्योः' बनता है।

'पपी+आम्' इस स्थिति में दीर्घ होने से नुट् का आगम नहीं होता। पुंल्लिङ्ग होने से नदी सञ्ज्ञा भी नहीं होती। तब यण् हो कर 'पप्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'पपी+इ' (ङि) यहां सवर्णदीर्घ हो कर 'पपी' बनता है।

'पपी + सु' (सुप्) यहां सकार को षकार हो कर 'पपीषु' बनता है।

'पपी' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	पपीः	पप्यौ	पप्यः	पं० पप्यः	पपीभ्याम्	पपीभ्यः
द्वि०	पपीम्	,,	पपीन्	ष० ,,	पप्योः	पप्याम्
तृ०	पप्या	पपीभ्याम्	पपीभिः	स० पपी	,,	पपीषु
च०	पप्ये	,,	पपीभ्यः	सं० हे पपीः !	हे पप्यौ !	हे पप्यः !

इसी प्रकार—यर्यी (मार्ग), वातप्रमी (मृग-विशेष) आदि शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी ।

व्याख्या—'बहु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'बह्वादिभ्यश्च' (१२४६) द्वारा ङीप् प्रत्यय करने पर 'बह्वी' शब्द निष्पन्न होता है। इसी प्रकार 'प्रशस्य' शब्द से 'द्विवचन-विभज्योपपदे ··' (१२१८) सूत्र द्वारा 'ईयसुन्' प्रत्यय करने तथा 'प्रशस्यस्य श्रः' (१२१९) से 'श्र' आदेश और 'उगितश्च' (१२४६) से ङीप् प्रत्यय करने पर 'श्रेयसी' शब्द बनता है। अतिशयेन प्रशस्या=श्रेयसी। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स =बहुश्रेयसी। अतिप्रशंसनीय बहुत स्त्रियों वाला पुरुष 'बहुश्रेयसी' कहाता है। यहां 'बह्वी' और 'श्रेयसी' पदों का बहुव्रीहि-समास हो गया है। 'स्त्रियाः पुंवत् ··' (९६८) सूत्र से समास में बह्वी पद को पुंवत् अर्थात् 'बहु' शब्द हो जाता है। 'ईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाच्यम्' इस निषेध के कारण उपसर्जनह्रस्व नहीं होता। समासान्त 'कप्' प्रत्यय प्राप्त था, परन्तु 'ईयसश्च' (५।४।१५६) से निषिद्ध हो गया।

समास होने के कारण प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय आते हैं—

'बहुश्रेयसी+स्' (सुँ) यहां 'श्रेयसी' शब्द ङ्यन्त है; अतः ङी से परे सुँ का 'हल्ङ्याब्भ्यः····' (१७९) सूत्र से लोप हो कर 'बहुश्रेयसी' बनता है।

प्रथमा के द्विवचन में 'बहुश्रेयस्यौ' तथा बहुवचन में 'बहुश्रेयस्यः' बनता है। दोनों स्थानों पर यण् हो जाता है।

सम्बोधन के एकवचन में—'हे बहुश्रेयसी+स्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**१९४ यूस्त्र्याख्यौ नदी** ।१।४।३॥

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसञ्ज्ञौ स्तः ।

अर्थः—ईदन्त और ऊदन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—यू ।१।२। स्त्र्याख्यौ ।१।२। नदी ।१।१। समासः—ई च ऊ च=यू ['यू+औ' इत्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घः, 'दीर्घाज्जसि च' इति निषेधाभावश्छान्दसः] इतरेतर-

द्वन्द्वः। स्त्रियम् आचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ [स्त्रीकर्मोपपदाद् आङ्पूर्वात् चक्षिङ्धातोः कर्तरि मूलविभुजादित्वात् कप्रत्यये, ख्याञादेशे, आकारलोपे, उपपदसमासे च कृते 'स्त्र्याख्य'-शब्दो निष्पद्यते]। यहां शब्दशास्त्र के प्रस्तुत होने से 'यू' का विशेष्य 'शब्दौ' अध्याहृत किया जाता है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो जायगी। 'स्त्र्याख्यौ' का अर्थ 'स्त्रियाम्' कहने से भी सिद्ध हो सकता है अतः यहां इस के फलस्वरूप 'नित्य' शब्द का अध्याहार किया जाता है। अर्थः—(स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्गी (यू) ईदन्त और ऊदन्त शब्द (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं *।

जिन शब्दों का केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग होता है वे शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग कहाते हैं। 'ग्रामणी, खलपू' आदि शब्द पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में देखे जाते हैं अतः ये नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं, इन की नदीसञ्ज्ञा न होगी। नदी, गौरी, वधू आदि शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग हैं वे यहां उदाहरण समझने चाहियें। [वस्तुतः नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्दों के विषय में विस्तारपूर्वक विचार सिद्धान्तकौमुदी के अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में देखें]।

श्रेयसी शब्द ङ्यन्त होने से नित्यस्त्रीलिङ्ग है, अतः इस की तो इस सूत्र से नदीसञ्ज्ञा निर्बाध होगी ही; परन्तु बहुश्रेयसी में श्रेयसीशब्द गौण हो जाता है, इस की इस सूत्र से नदीसञ्ज्ञा नहीं हो सकती—इस पर अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—१७ प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च।

पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः।

अर्थः—यहां नदीसञ्ज्ञा में प्रथमलिङ्ग का भी ग्रहण होता है अर्थात् जो शब्द पहले नित्यस्त्रीलिङ्ग हैं और बाद में समासवशात् गौण हो जाने से अन्य लिङ्ग में चले गये हैं उन की भी पहले के लिङ्ग के द्वारा नदीसञ्ज्ञा कर लेनी चाहिये।

व्याख्या—इस वार्त्तिक से 'बहुश्रेयसी' में स्थित 'श्रेयसी' शब्द की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। अब इस का फल अग्रिमसूत्र में दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१९५ अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः।७।३।१०७॥

सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि !।

अर्थः—अम्बार्थ तथा नद्यन्त अङ्गों को सम्बुद्धि परे रहते ह्रस्व हो जाता है।

व्याख्या—अम्बार्थनद्योः।६।२। अङ्गयोः।६।२। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है]

* इस सूत्र से वर्णों की भी नदीसञ्ज्ञा हो जाती है; अन्यथा 'दीव्यन्ती' आदि उदाहरणों में 'आच्छीनद्योर्नुम्' (३६५) से नुम् न हो सकेगा। [इसी सूत्र पर 'तत्त्वबोधिनी यहां द्रष्टव्य है।]

ह्रस्वः ।१।१। सम्बुद्धौ ।७।१। ['सम्बुद्धौ च' से] अम्बा अर्थो यस्य सः=अम्बार्थः, बहुव्रीहिसमासः । अम्बार्थश्च नदी च=अम्बार्थनद्यौ, तयोः=अम्बार्थनद्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से इस से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(अम्बार्थनद्योः) अम्बा=माता अर्थ वाले तथा नद्यन्त (अङ्गयोः) अङ्गों के स्थान पर (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे रहते (ह्रस्वः) ह्रस्व हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह ह्रस्व अङ्ग के अन्त्य अल् के स्थान पर होगा । अम्बार्थकों के उदाहरण आगे अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में आएंगे ।

'हे बहुश्रेयसी + स्' यहां 'श्रेयसी' की नदीसञ्ज्ञा है; नद्यन्त शब्द 'बहुश्रेयसी' है । इस से परे सम्बुद्धि वर्त्तमान है । अतः प्रकृतसूत्र से ईकार को ह्रस्व हो 'एङ्ह्रस्वात्...' (१३४) से सम्बुद्धि के हल् का लोप करने पर 'हे बहुश्रेयसि !' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि ह्रस्व हो जाने पर ह्रस्वविधानसामर्थ्य से 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६६) द्वारा गुण नहीं होगा; अन्यथा 'अम्बार्थनद्योर्गुणः' सूत्र ही पढ़ देते ।

द्वितीया के एकवचन में 'बहुश्रेयसी + अम्' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'बहुश्रेयसीम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

द्वितीया के बहुवचन में 'बहुश्रेयसी + अस्' (शस्) इस स्थिति में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'तस्माच्छसः...' (१३७) सूत्र से सकार को नकार करने पर 'बहुश्रेयसीन्' बनता है ।

बहुश्रेयसी+आ (टा)=बहुश्रेयस्या । यहां 'इको यणचि' (१५) से यण् हो जाता है ।

तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी के द्विवचन में 'बहुश्रेयसीभ्याम्' सिद्ध होता है ।

तृतीया के बहुवचन में 'बहुश्रेयसीभिः' । सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं ।

चतुर्थी के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+ए' (ङे) इस स्थिति में नदीसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६६ **आण्नद्याः** ।७।३।११२॥

नद्यन्तात् परेषां ङितामाडागमः ।

अर्थः—नद्यन्त शब्दों से परे ङित् प्रत्ययों को आट् आगम हो ।

व्याख्या—आट् ।१।१। [सूत्र में 'यरोऽनुनासिके—'द्वारा अनुनासिक हुआ है] नद्याः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' अधिकृत है ।] ङितः ।६।१। ['घेर्ङिति' से विभक्ति-विपरिणाम कर के] अर्थः—(नद्याः) नद्यन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ङितः) ङित् का अवयव (आट्) आट् हो जाता है । आट् टित् है अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा ङितों का आद्यवयव होगा ।

'बहुश्रेयसी + ए' यहां 'ए' ङित् है, 'बहुश्रेयसी' नद्यन्त है। अतः ङित् से पूर्व आट् का आगम हो—'बहुश्रेयसी + आ ए' हुआ। इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१९७ आटश्च ।६।१।८८॥

आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः २। नद्यन्तत्वान्नुट्—बहुश्रेयसीनाम्।

अर्थः—आट् से अच् परे रहने पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो।

व्याख्या—आटः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्व-परयोः' यह अधिकृत है] वृद्धिः ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] अर्थः—(आटः) आट् से (अचि) अच् परे रहते (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो।

'बहुश्रेयसी+आ ए' यहां आट् से परे 'ए' अच् वर्त्तमान है, अतः पूर्व (आ) पर (ए) के स्थान पर ऐकार वृद्धि एकादेश हो गया। तब 'बहुश्रेयसी+ऐ' इस दशा में 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर 'बहुश्रेयस्यै' प्रयोग सिद्ध हुआ।

नोट—यद्यपि यहां 'वृद्धिरेचि' (३३) से भी वृद्धि हो सकती थी; तथापि 'ऐक्षत' (आ+ईक्षत) आदि प्रयोगों में 'आटश्च' के बिना कार्य सिद्ध नहीं हो सकता था, इस लिये इस का रचना आवश्यक था। यहां न्यायवशात् इसे प्रवृत्त किया गया है।

चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में 'बहुश्रेयसीभ्यः'। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+अस्' इस दशा में नदीसञ्ज्ञा हो कर 'आण्नद्याः' (१९६) से आट् का आगम और 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि हो जाती है। तब 'बहुश्रेयसी+आस्' इस अवस्था में यण हो सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'बहुश्रेयस्याः' प्रयोग सिद्ध होता है।

षष्ठी के द्विवचन में यण् हो कर 'बहुश्रेयस्योः' बना।

षष्ठी के बहुवचन में 'बहुश्रेयसी+आम्' इस स्थिति में नद्यन्त होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) सूत्र द्वारा नुट् आगम हो 'बहुश्रेयसीनाम्' रूप सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+इ' (ङि) इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१९८ ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ।७।३।११६॥

नद्यन्ताद्, आबन्ताद्, 'नी'शब्दाच्च परस्य ङेराम्। बहुश्रेयस्याम्। शेषं पपीवत्।

अर्थः—नद्यन्त, आबन्त तथा 'नी' शब्द से परे 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश हो।

व्याख्या—ङेः।६।१। आम्।१।१। नद्याम्नीभ्यः।५।३। अङ्गेभ्यः।५।३। ['अ. स्य' अधिकृत है। इस का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है।] समासः—नदी च आप् च नीश्च=नद्याम्न्यः, ('यणोऽनु ' इत्यनुनासिकः) तेभ्यः=नद्याम्नीभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। नदी और आप् 'अङ्ग' के विशेषण हैं अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) द्वारा इन से तदन्तविधि हो जाती है *। 'आप्' के प्रत्यय होने से 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा द्वारा भी इस से तदन्तविधि हो सकती है। अर्थः—(नद्याम्नीभ्यः) नद्यन्त, आबन्त और नी (अङ्गेभ्यः) अङ्गों से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (आम्) आम् आदेश होता है।

'बहुश्रेयसी + इ' यहां 'बहुश्रेयसी' नद्यन्त अङ्ग है, अतः इस से परे ङि को आम् हो गया। 'बहुश्रेयसी + आम्' इस स्थिति में स्थानिवद्भाव से आम् ङित् है। अब यहां 'आण्नद्याः' (१६६) से आट् का आगम तथा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से नुट् का आगम युगपत् प्राप्त होता है। दोनों सावकाश [आट्—'बहुश्रेयस्यै' आदियों में तथा नुट्—'बहुश्रेयसीनाम्' आदियों में चरितार्थ हैं] हैं, अतः 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से पर कार्य आट् आगम हो कर—'बहुश्रेयसी+आ आम्' हुआ। अब यद्यपि आम् परे होने से नुट् आगम प्राप्त हो सकता है और इस में आम् का अवयव होने से आट् आगम बाधा नहीं डाल सकता है; तथापि **'विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव'** [अर्थात् विप्रतिषेधस्थल में जिस शास्त्र का एक बार बाध हो जाता है उस की पुनः प्रवृत्ति नहीं होती] इस नियमानुसार नुट् नहीं होता। तब 'आटश्च' (१६७) से वृद्धि तथा 'इको यणचि' (१५) से यण् आदेश हो 'बहुश्रेयस्याम्' प्रयोग बनता है।

बहुश्रेयसी + सु (सुप्) = बहुश्रेयसीषु। यहां 'आदेश-प्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार हो जाता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्यः
द्वि०	बहुश्रेयसीम्	,,	बहुश्रेयसीन्
तृ०	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभिः

---

* ग्रन्थकार के अनुरोध से हम ऐसा कर रहे हैं। वस्तुतः 'नी' शब्द से भी तदन्तविधि हो जाती है; वह भी 'अङ्ग' का विशेषण है। अतएव 'ग्रामण्याम्' में आम् आदेश हो जाता है।

च०	बहुश्रेयस्यै	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
पं०	बहुश्रेयस्याः	,,	,,
ष०	,,	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीनाम्
स०	बहुश्रेयस्याम्	,,	बहुश्रेयसीषु
सं०	हे बहुश्रेयसि !	हे बहुश्रेयस्यौ !	हे बहुश्रेयस्यः !

[लघु०] अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः । अतिलक्ष्मीः । शेषं बहुश्रेयसीवत् ।

व्याख्या—'लक्ष दर्शने अङ्कने च' (चुरा०) इस धातु से 'लक्षेर्मुट् च' (उणा० ४४०) सूत्र द्वारा ई प्रत्यय तथा मुट् का आगम हो कर 'लक्ष्मी' शब्द निष्पन्न होता है। लक्ष्मीमतिक्रान्तः=अतिलक्ष्मीः, लक्ष्मी का अतिक्रमण करने वाला पुरुष 'अतिलक्ष्मी' कहाता है।

'अतिलक्ष्मी+स्' (सुँ) । ङ्यन्त न होने से सुँ का लोप नहीं होता; रुँत्व विसर्ग करने पर 'अतिलक्ष्मीः' रूप बनता है।

इस के शेष रूप 'बहुश्रेयसी' के समान बनते हैं। इस में 'लक्ष्मी' शब्द पहले नित्यस्त्रीलिङ्ग है; अब इस के गौण हो जाने पर भी 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' (वा० १७) वार्त्तिक द्वारा नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। अतः नदी के सब पूर्वोक्त कार्य हो जाते हैं। इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	अतिलक्ष्मीः	अतिलक्ष्म्यौ	अतिलक्ष्म्यः
द्वि०	अतिलक्ष्मीम्	,,	अतिलक्ष्मीन्
तृ०	अतिलक्ष्म्या	अतिलक्ष्मीभ्याम्	अतिलक्ष्मीभिः
च०	अतिलक्ष्म्यै	,,	अतिलक्ष्मीभ्यः
पं०	अतिलक्ष्म्याः	,,	,,
ष०	,,	अतिलक्ष्म्योः	अतिलक्ष्मीणाम्
स०	अतिलक्ष्म्याम्	,,	अतिलक्ष्मीषु
सं०	हे अतिलक्ष्मि !	हे अतिलक्ष्म्यौ !	हे अतिलक्ष्म्यः !

[लघु०] प्रधीः ।

व्याख्या—प्रध्यायतीति प्रधीः (विशेष रूप से मनन करने वाला) । 'प्रधी' शब्द प्रपूर्वक 'ध्यै चिन्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से 'ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च' इस वार्त्तिक द्वारा क्विप् प्रत्यय तथा सम्प्रसारण करने पर सिद्ध होता है। व्युत्पत्तिपक्ष में कृदन्त होने के कारण इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाती है।

'प्रधी + स्' (सुँ) ङ्यन्त न होने से 'हल्ङ्याब्भ्यः ···' (१७१) द्वारा सकार का लोप न हुआ। रुत्व विसर्ग हो कर 'प्रधीः'।

'प्रधी + औ' इस अवस्था में पूर्वसवर्णदीर्घ के प्राप्त होने पर 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है। पुनः 'इको यणचि' (१५) से यण् प्राप्त होने पर अग्रिम अपवाद सूत्र प्राप्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१९९ अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियँङुवँङौ ।६।४।७७॥

श्नुप्रत्ययान्तस्य, इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः, भ्रू इत्यस्य च, अङ्गस्य इयँङुवँङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते—

अर्थः—अजादि प्रत्यय परे होने पर श्नु-प्रत्ययान्त रूप, इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु रूप तथा भ्रू रूप अङ्गों के स्थान पर इयँङ् और उवँङ् आदेश होते हैं।

व्याख्या—अचि।७।१। श्नु-धातु-भ्रुवाम्।६।३। अङ्गानाम्।६।३। ['अङ्गस्य' इस अधिकृत का वचनविपरिणाम हो जाता है।] य्वोः।६।२। इयँङुवँङौ।१।२। 'श्नु, धातु, भ्रू' ये सब अङ्ग होने चाहियें। अङ्गसञ्ज्ञा प्रत्यय परे होने पर ही हुआ करती है, अतः 'प्रत्यये' पद का अध्याहार हो 'अचि' का विशेषण बना कर 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादिविधि करने पर 'अजादौ प्रत्यये' बन जायगा। श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्च श्नु-धातु-भ्रुवः, तेषाम्=श्नु-धातु-भ्रुवाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। 'श्नु' यह प्रत्यय है, 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' के नियमानुसार तदन्त अर्थात् श्नुप्रत्ययान्त का ही ग्रहण होगा। 'भ्रू' यह शब्द है, 'भ्रमु अनवस्थाने' (दिवा० प०) धातु से 'भ्रमेश्च डूः' (उणा० २२७) द्वारा डू प्रत्यय करने पर इस की निष्पत्ति होती है। इस का विशेष वर्णन आगे अजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरण में किया जाएगा। इश्च उश्च=यू, इतरेतरद्वन्द्वः, तयोः=य्वोः। यह 'श्नु-धातु-भ्रुवाम्' पद के 'धातु' अंश का ही विशेषण है, क्योंकि श्नु और भ्रू के सदा उवर्णान्त होने से उन के साथ इस का सम्बन्ध नहीं हो सकता। 'धातु' अंश का विशेषण होने से 'य्वोः' से तदन्तविधि हो कर 'इवर्णान्तस्य उवर्णान्तस्य च धातोः' ऐसा बन जाता है। इस प्रकार समुचित अर्थ यह होता है—(अचि) अजादि प्रत्यय परे होने पर (श्नु-धातु-भ्रुवाम्) श्नु-प्रत्ययान्त रूप, इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु रूप तथा भ्रू शब्द (अङ्गानाम्) इन अङ्गों के स्थान पर (इयँङुवँङौ) इयँङ् और उवँङ् आदेश होते हैं।

'ङिच्च' (४६) सूत्र द्वारा ये आदेश अङ्ग के अन्त्य इकार उकार के स्थान पर होते हैं। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से इवर्ण को इयँङ् तथा उवर्ण को उवँङ् आदेश होगा। इन आदेशों में अँङ् की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है इय्, उव् शेष रहते हैं।

'प्रधी + औ' यहां 'औ' यह अजादि प्रत्यय परे है; प्रधी में 'धी' इवर्णान्त धातु है। [यद्यपि धातु 'ध्यै' था तो भी 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' के अनुसार इसे भी इवर्णान्त मान लिया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि प्रत्ययान्त हो जाने से यह प्रातिपदिक हो गया है, तथापि "क्विबन्ता धातुत्वं न जहति" इस से इस का धातुत्व भी अक्षत रह जाता है।] तो प्रकृतसूत्र से इसके ईकार के स्थान पर इयँङ् आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध कर यण् विधान करता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०० एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ।६।४।८२॥

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे। प्रध्यौ। प्रध्यम्। प्रध्यः। प्रध्यि। शेषं पपीवत्।

अर्थः—धातु का अवयव जो संयोग वह पूर्व में नहीं है जिस इवर्ण के, वह इवर्ण है अन्त में जिस धातु के, वह धातु है अन्त में जिस के, ऐसा जो अनेक अचों वाला अङ्ग, उस के स्थान पर यण् हो अजादि प्रत्यय परे होने पर।

व्याख्या—एः ।६।१। अनेकाचः ।६।१। असंयोगपूर्वस्य ।६।१। यण् ।१।१। ['इणो यण्' से] धातोः ।६।१। ['अचि श्नुधातुभ्रुवाम् ···' से। श्नु और भ्रू का—उवर्णान्त होने से 'एः' के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता अतः उन का अनुवर्त्तन नहीं किया जाता] अचि ।७।१। ['अचि श्नु ···' से] 'एः' यह षष्ठी का एकवचन है। इस का अर्थ है—'इवर्णस्य'। 'धातोः' पद आवर्तित [दो बार पढ़ा हुआ] किया जाता है। एक 'धातोः' पद 'एः' का विशेष्य बन जाता है जिस से 'एः' से तदन्तविधि होकर 'इवर्णान्तस्य धातोः' ऐसा हो जाता है। दूसरा 'धातोः' पद 'असंयोगपूर्वस्य' पद के 'संयोग' अंश के साथ सम्बन्धित होता है। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। इस का 'एर्धातोः' (इवर्णान्तस्य धातोः) यह विशेषण है। अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर—'इवर्णान्तधात्वन्तस्य अङ्गस्य' ऐसा अर्थ होता है। 'अनेकाचः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है। अनेके अचो यस्य यस्मिन् वा सोऽनेकाच्, तस्य=अनेकाचः, बहुव्रीहिसमासः। 'असंयोगपूर्वस्य' का 'एः' के साथ सामानाधिकरण्य है। नास्ति संयोगः पूर्वो यस्य सोऽसंयोगपूर्वः, नञ्बहुव्रीहिसमासः। इस प्रकार यह अर्थ हुआ—(धातोः, असंयोगपूर्वस्य) धातु का अवयव संयोग जिस के पूर्व में नहीं ऐसा (एः) जो इवर्ण, वह है अन्त में जिस के ऐसी (धातोः) जो धातु, वह है अन्त में जिस के ऐसा (अनेकाचः) जो अनेक अचों वाला (अङ्गस्य) अङ्ग, उस के स्थान पर (यण्) यण् आदेश होता है (अचि) अजादि प्रत्यय परे हो तो।

तात्पर्य—अजादि प्रत्यय परे होने पर उस अनेकाच् अङ्ग को यण् आदेश होता है, जिस के अन्त में इवर्णान्त धातु हो। परन्तु धातु के इवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग न हो।

'प्रधी + औ' यहां 'धी' इवर्णान्त धातु है। इस के इवर्ण से पूर्व धातु का कोई अवयव संयोगयुक्त नहीं। [यद्यपि 'प्र' संयोग है, तथापि वह धातु का अवयव नहीं, उपसर्ग है। किञ्च वह इवर्ण से पूर्व भी नहीं है धकार का व्यवधान पड़ता है।] यह धातु जिस के अन्त में है ऐसा अनेकाच् अङ्ग 'प्रधी' है। इस से परे 'औ' यह अजादि प्रत्यय वर्त्तमान है। अतः अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा प्रकृतसूत्र से ईकार को यण्=यकार आदेश हो कर—प्रध्य् + औ = 'प्रध्यौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'प्रधी + अस्' (जस्) यहां सर्वप्रथम 'इको यणचि' (१५) से यण्, उस को बान्ध कर पूर्वसवर्णदीर्घ, उस का 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध, पुनः 'इको यणचि' से यण् प्राप्त है, तब उस को बान्ध कर 'अचि श्नु ...' (१९९) सूत्र से इयँङ् प्राप्त होता है, उस को बान्ध कर 'एरनेकाचः....' (२००) सूत्र से यण् हो कर सकार को रुत्व विसर्ग करने पर 'प्रध्यः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'प्रधी + अम्' यहां भी सर्वप्रथम 'इको यणचि' (१५) से यण्, उस को बान्ध कर 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप प्राप्त था। उसे परत्व के कारण 'अचि श्नु ...' (१९९) बान्ध लेता है। तब उस के भी अपवाद 'एरनेकाचः....' (२००) से यण् हो कर 'प्रध्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'प्रधी + अस' (शस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। इसे परत्व के कारण 'अचि श्नु ......' (१९९) सूत्र बान्ध लेता है। पुनः 'एरनेकाचः.......' (२००) से यण् करने पर सकार को रुत्व विसर्ग हो 'प्रध्यः' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां पूर्वसवर्णदीर्घ न होने से 'तस्माच्छसः ......' (१३१) द्वारा सकार को नकार भी नहीं होता।

'प्रधी+आ' (टा) यहां इयँङ् प्राप्त होने पर 'एरनेकाचः ...' (२००) से यण् हो कर 'प्रध्या' प्रयोग सिद्ध होता है।

तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन में 'प्रधीभ्याम्'।

तृतीया के बहुवचन में 'प्रधीभिः'।

'प्रधी + ए' (ङे) यहां भी पूर्ववत् इयँङ् को बान्ध कर यण् करने से 'प्रध्ये' प्रयोग सिद्ध होता है।

चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में 'प्रधीभ्यः'।

'प्रधी + अस्' (ङसि व ङस्) यहां भी 'एरनेकाचः .....' (२००) से यण् हो जाता है—प्रध्यः। इसी प्रकार 'प्रध्योः'।

'प्रधी+आम्' यहां नदीसञ्ज्ञा न होने से नुट् प्राप्त नहीं होता। तब 'एरनेकाचः...' से यण् हो कर 'प्रध्याम्' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'एरनेकाचः......' (२००)

और 'ह्रस्वनद्यापः ·· ···' (१४८) के विप्रतिषेध होने पर परत्व के कारण नुट् ही होगा यण् नहीं।

'प्रधी+इ' (ङि) यहां सवर्णदीर्घ को बाध कर इयँङ् प्राप्त होता है। पुनः उसे भी बाध कर 'एरनेकाचः ···' से यण् करने पर 'प्रध्यि' रूप सिद्ध होता है।

'प्रधी+सु' (सुप्) यहां 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से मूर्धन्य आदेश हो—'प्रधीषु'।

सम्बुद्धि अर्थात् सम्बोधन के एकवचन में नद्यन्त न होने से 'अम्बार्थनद्योः ···' (१९५) द्वारा ह्रस्व नहीं होता। हे प्रधीः!। 'प्रधी' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः	पं०	प्रध्यः	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
द्वि०	प्रध्यम्	,,	,,	ष०	,,	प्रध्योः	प्रध्याम्
तृ०	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः	स०	प्रध्यि	,,	प्रधीषु
च०	प्रध्ये	,,	प्रधीभ्यः	सं०	हे प्रधीः!	हे प्रध्यौ!	हे प्रध्यः!

विशेष वक्तव्य—ऊपर कहा गया 'प्रधी' शब्द प्रपूर्वक 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से क्विप् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इस प्रकार से निष्पन्न हुआ 'प्रधी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं होता। यह पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग सब प्रकार का हो सकता है। अतः 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) से इस की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती। यदि प्रथम 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से क्विप् प्रत्यय कर के 'धी' शब्द बना दिया जावे तो वह नित्यस्त्रीलिङ्ग होने से नदीसञ्ज्ञक होगा। तब 'प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधीः' इस प्रकार समस्त किया हुआ पुंल्लिङ्ग 'प्रधी' शब्द भी 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' (वा० १७) से नदीसञ्ज्ञक हो जायगा। तब आट्, नुट्, आदि नदीकार्य भी होंगे।

प्रधी (प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधीः। उत्तम बुद्धि वाला)

प्र०	प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः	पं०	प्रध्याः❀	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
द्वि०	प्रध्यम्	,,	,,	ष०	,, ❀	प्रध्योः	प्रधीनाम्‡
तृ०	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः	स०	प्रध्याम्†	,,	प्रधीषु
च०	प्रध्यै❀	,,	प्रधीभ्यः	सं०	हे प्रधि!×	हे प्रध्यौ!	हे प्रध्यः!

❀ "आण्नद्याः, आटश्च, एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य"।

‡ यहां 'एरनेकाचः···' से यण् तथा 'ह्रस्वनद्यापः···' से नुट् का विप्रतिषेध होने पर परकार्य नुट् हो जाता है।

† यहां 'ङेराम्···' से ङि को आम्, 'आण्नद्याः' से आट् आगम 'आटश्च' से वृद्धि तथा 'एरनेकाचः···' से यण् हो जाता है।

× "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः, एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः"।

प्रश्नः—नित्यस्त्रीलिङ्ग 'धी' शब्द में 'अचि श्नु···' सूत्र द्वारा इयँङ् हो—'धियौ, धियः' आदि रूप बना करते हैं। परन्तु जिस नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान पर इयँङ् उवँङ् हों वहां प्रथम 'नेयँङुवँङ्···' (२२१) सूत्र से नदीसञ्ज्ञा का सर्वत्र निषेध हो जाता है, तत्पश्चात् 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से ङित् विभक्तियों में तथा 'वाऽऽमि' (२३०) से आम् में नदीसञ्ज्ञा का विकल्प किया जाता है; जैसा कि अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में 'श्री' शब्द पर होता है। तो इस प्रकार 'प्रकृष्टा धीर्यस्य' इस विग्रह वाले प्रधी शब्द में भी आप को वैसा करना चाहिये। आप के वैसा न करने का क्या कारण है ?।

उत्तर—'नेयँङुवँङ्···' (२२१) सूत्र वहां पर निषेध करता है जहां इयँङ्, उवँङ् प्राप्त नहीं किन्तु साक्षात् हुआ करते हैं। अतएव 'इयँङुवँङोरस्त्री' न कह कर सूत्र में 'स्थान' शब्द का ग्रहण किया गया है। 'प्रधी' शब्द में प्रत्युत यण् होता है इयँङ् नहीं अतः नदीत्व का निषेध न होगा। 'ङिति ह्रस्वश्च' तथा 'वाऽऽमि' में 'इयँङुवँङ्स्थानौ' की अनुवृत्ति आती है अतः वे भी प्रवृत्त न होंगे।

[लघु०] एवं ग्रामणीः। ङौ तु ग्रामण्याम्।

व्याख्या—ग्रामं नयतीति = ग्रामणीः। 'ग्राम' कर्मोपपद 'णीञ् प्रापणे' (भ्वा०उ०) धातु से कर्त्ता में 'क्विप् च' (८०२) सूत्र से क्विप् प्रत्यय करने पर 'ग्रामणी' (ग्राम का नेता, नम्बरदार) शब्द निष्पन्न होता है। 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः' वार्त्तिक से यहां नकार को णकार हुआ है।

'ग्रामणी' शब्द में 'नी' इवर्णान्त धातु है। इस के इवर्ण से पूर्व धातु का कोई अवयव संयोगयुक्त नहीं। तदन्त 'ग्रामणी' शब्द अनेकाच् अङ्ग भी है। अतः अजादि प्रत्ययों में सर्वत्र 'एरनेकाचः···' (२००) से यण् हो जायगा। 'अचि श्नु···' (१९९) से इयँङ् न होगा। 'ग्रामणी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं, किन्तु सब लिङ्गों में साधारण है; अतः 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) से नदी सञ्ज्ञा न होगी। तब आट्, नुट् आदि नदीकार्य न होंगे सम्बुद्धि में ह्रस्व भी न हो सकेगा। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	ग्रामणीः*	ग्रामण्यौ	ग्रामण्यः	पं०	ग्रामण्यः	ग्रामणीभ्याम् ग्रामणीभ्यः
द्वि०	ग्रामण्यम्	,,	,,	ष०	,,	ग्रामण्योः ग्रामण्याम्
तृ०	ग्रामण्या	ग्रामणीभ्याम्	ग्रामणीभिः	स०	ग्रामण्याम्†	,, ग्रामणीषु
च०	ग्रामण्ये	,,	ग्रामणीभ्यः	सं०	हे ग्रामणीः !	हे ग्रामण्यौ ! हे ग्रामण्यः !

इस प्रकार 'अग्रणी' तथा 'सेनानी' शब्द होंगे।

* ङ्यन्त न होने से सुलोप नहीं होता।

† 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' सूत्र में 'नी' के साक्षात् निर्देश के कारण 'ङि' को 'आम्' आदेश हो जाता है। नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् का आगम नहीं होता।

अब 'एरनेकाचः ···' को अधिक स्पष्ट करने के लिये उस के प्रत्युदाहरण दर्शाते हैं—

[लघु०] अनेकाचः किम्—नीः, नियौ, नियः। अमि शसि च परत्वाद् इयँङ्—नियम्, नियः। ङेराम्—नियाम्।

व्याख्या—'एरनेकाचः···' सूत्र में कहा गया है कि 'अङ्ग अनेकाच् हो' यह क्यों कहा ? इस का फल है 'नी' शब्द में यण् न होना। 'नी' ('णीञ् प्रापणे' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'नी' शब्द निष्पन्न होता है। इस का अर्थ 'ले जाने वाला = नेता' है।) शब्द एकाच् है अनेकाच् नहीं, अतः इस में यण् आदेश न हो सकेगा; 'अचि श्नु···'(१९९) सूत्र से इयँङ् हो जायगा। इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	नीः †	नियौ	नियः	पं०	नियः*	नीभ्याम्	नीभ्यः
द्वि०	नियम् ‡	,,	,, ‡	ष०	,, *	नियोः	नियाम्
तृ०	निया	नीभ्याम्	नीभिः	स०	नियाम् ×	,,	नीषु
च०	निये*	,,	नीभ्यः	सं०	हे नीः ! ✠	हे नियौ !	हे नियः !

† ङ्यन्त न होने से सुँलोप नहीं होता।

‡ अम् और शस् में क्रमशः 'अमि पूर्वः' तथा 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सूत्र को परत्व के कारण 'अचि श्नु···' बाध लेता है। इसी प्रकार 'एरनेकाचः···' द्वारा विहित यण् भी इन का बाधक समझ लेना चाहिये।

* सब लिङ्गों में साधारण होने से 'नी' शब्द की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती। अतः आट् आदि नदीकार्य नहीं होते।

× 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः'।

✠ नदीत्व न होने के कारण 'अम्बार्थ···' द्वारा ह्रस्व न होगा।

[लघु०] असंयोगपूर्वस्य किम् ? सुश्रियौ, यवक्रियौ।

व्याख्या—'एरनेकाचः···' (२००) सूत्र में कहा गया था कि धातु के इवर्ण से पूर्व संयोग नहीं होना चाहिये—यह क्यों कहा ? इस का फल है 'सुश्रियौ' और 'यवक्रियौ' में यण् न होना। इन स्थानों पर धातु के इवर्ण से पूर्व संयोग है अतः यण् न हुआ, तब इयँङ् हो कर रूप बना।

[ध्यान रहे कि संयोग भी जब धातु का अवयव होगा, तभी यण् निषेध होगा। 'सुश्री' आदि शब्दों में संयोग धातु का अवयव है। 'उन्नी' शब्द में संयोग धातु का अवयव नहीं, उपसर्ग के तकार को मिला कर बना है अतः निषेध न होगा यण् हो जायगा। 'उन्न्यौ, उन्न्यः' आदि रूप बनेंगे।]

सुष्ठु श्रयतीति सुश्रीः (अच्छी तरह आश्रय करने वाला)। सुपूर्वक 'श्रिञ् सेवायाम्' (भ्वा० उ०) धातु से 'क्विब्वचिप्रच्छि···' (उणा० २१६) इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय और दीर्घ करने पर 'सुश्री' शब्द निष्पन्न होता है। तीनों लिङ्गों में साधारण होने के कारण इस की नदीसञ्ज्ञा न होगी। समग्र रूपमाला यथा—

प्र० सुश्रीः *	सुश्रियौ	सुश्रियः	प० सुश्रियः ‡	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभ्यः
द्वि० सुश्रियम्	,,	,,	ष० ,,	सुश्रियोः	सुश्रियाम् ‡
तृ० सुश्रिया	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभिः	स० सुश्रियि †	,,	सुश्रीषु
च० सुश्रिये ‡	,,	सुश्रीभ्यः	सं० हे सुश्रीः !	हे सुश्रियौ !	हे सुश्रियः !

* अङ्यन्त होने से सुँलोप नहीं होता।

‡ नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् आदि नदीकार्य नहीं होते।

† यहां न तो नदीसञ्ज्ञा है और न ही नीशब्द है अतः 'ङेराम्···' द्वारा ङि को आम् नहीं होता।

सूचना—सु=शोभना श्रीर्यस्य स सुश्रीः। इस प्रकार विग्रह मानने पर भी 'सुश्री' शब्द के रूपों में कोई अन्तर नहीं आता। 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' (वा० १७) वार्त्तिक की सहायता से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) द्वारा नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर इयँङुवँस्थानी होने के कारण 'नेयँङुवँङ्···' (२२८) सूत्र से निषेध हो जाता है। इसी प्रकार आगे 'शुद्धधी, सुधी' आदि शब्दों में भी समझ लेना चाहिये। यहां 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से ङित् विभक्तियों में तथा 'वाऽऽमि' (२३०) से आम् में वैकल्पिक नदीत्व की भी आशङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि जिस स्त्रीलिङ्ग अङ्ग से ङित् व आम् का विधान हो उस की उन सूत्रों से वैकल्पिक नदीसञ्ज्ञा की जाती है (देखो—शेखर में 'ङिति ह्रस्वश्च')। यहां ङित् और आम् का विधान तो सुश्री, सुधी आदि पुंल्लिङ्ग शब्दों से किया गया है और नदीसञ्ज्ञा उन के अवयव श्री, धी आदि शब्दों की करनी है। अतः नदीसञ्ज्ञा सर्वथा न होगी। लघुकौमुदी और मध्यकौमुदी के वित्तिकार, काशी के संस्कृतकालेज के प्रिंसिपल, श्री पण्डित विश्वनाथ जी शास्त्री प्रभाकर तथा लघुकौमुदी के हिन्दी व्याख्याकार पं० श्रीधरानन्द जी शास्त्री व्याकरणाचार्य को 'सुश्री' शब्द पर महती भ्रान्ति हो गई है। वे यहां नदीसञ्ज्ञा करना बतलाते हैं। यदि वैसा हो तो सुधी आदि शब्दों में भी नदीत्व प्रसक्त होगा, जो उनके भी मत में अनिष्ट है। 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) के महाभाष्य पर "श्रियै अतिश्रियै ब्राह्मण्यै, मा भूत्—श्रिये अतिश्रिये ब्राह्मणाय" ये वचन यहां विशेष मननीय हैं।

इसी प्रकार 'यवक्री' (जौ खरीदने वाला) शब्द के रूप होते हैं। यह भी 'असंयोगपूर्वस्य' का प्रत्युदाहरण है। यवान् क्रीणातीति—यवक्रीः, यवकर्मोपपदात् 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' (क्र्या० उ०) इति धातोः 'क्विप् च' (८०२) इति क्विप्प्रत्ययः। इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	यवक्रीः	यवक्रियौ	यवक्रियः
द्वि०	यवक्रियम्	,,	,,
तृ०	यवक्रिया	यवक्रीभ्याम्	यवक्रीभिः
च०	यवक्रिये	,,	यवक्रीभ्यः
प०	यवक्रियः	यवक्रीभ्याम्	यवक्रीभ्यः
ष०	,,	यवक्रियोः	यवक्रियाम्
स०	यवक्रियि	,,	यवक्रीषु
सं०	हे यवक्रीः !	हे यवक्रियौ !	हे यवक्रियः !

इस शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सुश्री' शब्द के समान होती है। सर्वत्र अजादि प्रत्ययों में इयँङ् हो जाता है। नदीसञ्ज्ञा कहीं नहीं होती।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२०१ गतिश्च ।१।४।५६॥

प्रादयः क्रियायोगे गतिसञ्ज्ञाः स्युः।

अर्थः—क्रियायोग में प्रादि शब्द गतिसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—प्रादयः ।१।३। ['प्रादयः' से] क्रियायोगे ।७।१। ['उपसर्गाः क्रियायोगे' से] गतिः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(प्रादयः) प्र आदि बाईस शब्द (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गतिसञ्ज्ञक (च) भी होते हैं।

यह सूत्र एकसञ्ज्ञाधिकार के अन्तर्गत पढ़ा गया है। इस अधिकार में 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (३५) सूत्र द्वारा क्रियायोग में प्रादियों की उपसर्गसञ्ज्ञा कह आए हैं। एक की दो सञ्ज्ञा न हो सकने से पुनः इन की गतिसञ्ज्ञा सिद्ध नहीं हो सकती अतः दोनों सञ्ज्ञाओं के समावेश के लिये मुनि ने सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण किया है।

ध्यान रहे कि 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१।४।५६) के अधिकार में पठित होने से इन दो सञ्ज्ञाओं के साथ निपातसञ्ज्ञा का भी समावेश होता है। निपातसञ्ज्ञा का फल 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) द्वारा अव्ययसञ्ज्ञा करना है।

प्रश्नः—क्रियायोग में प्रादियों की गतिसञ्ज्ञा करना अनावश्यक है। क्योंकि क्रियायोग में इन की उपसर्ग सञ्ज्ञा है ही। जहां २ गति को कार्य कहा है वहां २ उपसर्ग का नाम कर देना चाहिये। इस से सर्वत्र कार्य चल सकता है।

उत्तर—गति सञ्ज्ञा केवल इन बाईस प्रादियों की ही नहीं, जिस से आप सर्वत्र काम चलाने की ठान रहे हैं। गतिसञ्ज्ञा तो बहुत से अन्य शब्दों की भी इस शास्त्र में की

गई है। यथा—'ऊर्यादिच्विडाचश्च' (१।४।६०) [ऊर्यादि, च्व्यन्त तथा डाजन्त शब्द क्रियायोग में गतिसञ्ज्ञक हों।], 'अनुकरणञ्चानितिपरम्' (१।४।६१) [इति परे न हो तो क्रियायोग में अनुकरण की गतिसञ्ज्ञा हो] इत्यादि। तो अब यदि सर्वत्र 'गति' के स्थान पर 'उपसर्ग' रख कर काम चलाते हैं तो अन्य गतिसञ्ज्ञकों की क्या गति होगी; उन के लिये पुनः गतिग्रहण करना पड़ेगा। अतः प्रादियों की भी क्रियायोग में गति सञ्ज्ञा कर सब को एक कोटि में रख समान भाव से कार्य करना उचित है।

अब गतिसञ्ज्ञा करने का यहां फल दर्शाते हैं —

[लघु०] वा०—१८ गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते।

शुद्धधियौ।

अर्थः—जिस शब्द का पूर्वपद गतिसञ्ज्ञक या कारक से भिन्न हो उस के स्थान पर 'एरनेकाचः...' द्वारा यण् नहीं होता।

व्याख्या—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छः कारक हैं। इन का विशेष विवेचन आगे 'कारकप्रकरण' में किया जायगा। जिस शब्द में 'एरनेकाचः ' (२००) सूत्र प्रवृत्त हो उस का पूर्वपद या तो गतिसञ्ज्ञक होना चाहिये अथवा कारक। यदि इन दोनों से भिन्न कोई अन्य होगा तो 'एरनेकाचः ' द्वारा यण् न होगा।

शुद्धा धीर्यस्य स शुद्धधीः (शुद्ध बुद्धि वाला), बहुव्रीहिसमासः। यहां 'शुद्धा' शब्द पूर्वपद और 'धी' शब्द उत्तरपद है। पूर्वपद न तो गतिसञ्ज्ञक है और न कारक है। अतः सब शर्तें पूर्ण होने पर भी अजादि प्रत्यय में 'एरनेकाचः...' द्वारा यण् न होगा, 'अचि श्नु ' (१९९) से इयँङ् हो जायगा।

'शुद्धधी' शब्द में समास से पूर्व 'धी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग था, अतः अब 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' (वा० १७) की सहायता से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) द्वारा इस को नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इस पर 'नेयङुवङ् ' (२२९) से निषेध हो जाता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	शुद्धधीः	शुद्धधियौ	शुद्धधियः	प०	शुद्धधियः	शुद्धधीभ्याम्	शुद्धधीभ्यः
द्वि०	शुद्धधियम्	,,	,,	ष०	,,	शुद्धधियोः	शुद्धधियाम्
तृ०	शुद्धधिया	शुद्धधीभ्याम्	शुद्धधीभिः	स०	शुद्धधियि	,,	शुद्धधीषु
च०	शुद्धधिये	,,	शुद्धधीभ्यः	सं०	हे शुद्धधीः!	हे शुद्धधियौ!	हे शुद्धधियः!

इसी प्रकार 'मन्दधी, तीक्ष्णधी, सूक्ष्मधी' आदि शब्दों के रूप होंगे।

नोट—'शुद्धधी' शब्द का 'शुद्धं ध्यायति' इस प्रकार यदि विग्रह इष्ट हो तो कर्म

कारक के पूर्वपद होने के कारण यण् हो जायगा। तब 'शुद्धध्यौ, शुद्धध्यः' इस प्रकार रूप बनेंगे। परन्तु नदीसञ्ज्ञा वहां भी न होगी; क्योंकि वहां स्त्रीलिङ्ग 'धी' शब्द ही नहीं रहेगा॥

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०२ न भूसुधियोः ।६।४।८५॥

एतयोरचि सुँपि यण्न। सुधियौ, सुधियः इत्यादि।

अर्थः—अजादि सुँप् प्रत्यय परे रहते भू और सुधी शब्द को यण् न हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। ['अचि श्नु ··· ' से *] सुँपि ।७।१। ['ओः सुँपि' से] यण् ।१।१। ['इको यण्' से] न इत्यव्ययपदम्। भूसुधियोः ।६।२। 'अचि' पद 'सुँपि' पद का विशेषण है, अतः 'यस्मिन्विधिः···' द्वारा तदादिविधि हो कर 'अजादौ सुँपि' बन जायगा। समासः—भूश्च सुधीश्च=भूसुधियौ, तयोः=भूसुधियोः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अचि) अजादि (सुँपि) सुँप् परे होने पर (भूसुधियोः) भू और सुधी शब्द के स्थान पर (यण्) यण् (न) नहीं होता।

सुध्यायतीति सुधीः (भली प्रकार चिन्तन करने वाला=बुद्धिमान्)। सुपूर्वक 'ध्यै चिन्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से 'ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च' वार्त्तिक द्वारा क्विप् प्रत्यय तथा सम्प्रसारण करने पर 'सुधी' शब्द निष्पन्न होता है। इस में पूर्वपद (सु) 'गतिश्च' सूत्र द्वारा गतिसञ्ज्ञक है, अतः अजादि प्रत्ययों में यण् निषेध नहीं होता 'एरनेकाचः······' द्वारा यण् प्राप्त होता है। इस पर इस सूत्र से उस का निषेध हो इयँङ् हो जाता है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	सुधीः	सुधियौ	सुधियः	प०	सुधियः	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
द्वि०	सुधियम्	,,	,,	ष०	,,	सुधियोः	सुधियाम्
तृ०	सुधिया	सुधीभ्याम्	सुधीभिः	स०	सुधियि	,,	सुधीषु
च०	सुधिये	,,	सुधीभ्यः	सं०	हे सुधीः !	हे सुधियौ !	हे सुधियः !

नोट—'सु=शोभना धीर्यस्य स सुधीः' इस विग्रह में भी उच्चारण इसी तरह होगा। नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर 'नेयँङ् ' (२२१) सूत्र से निषेध हो जायगा।

सूचना—इस सूत्र से 'सुध्युपास्यः' में यण् का निषेध नहीं होता। क्योंकि वहां यण्, अजादि सुँप् को मान कर नहीं किन्तु 'उपास्य' के उकार को मान कर प्रवृत्त होता है।

* 'इको यणचि' इत्यत्र 'अचि' इत्यनुवर्तत इति मन्वानो बालमनोरमाकारोऽत्र भ्रान्तः।

[लघु०] सुखमिच्छतीति—सुखीः । सुतमिच्छतीति—सुतीः । सुख्यौ । सुत्यौ । सुख्युः । सुत्युः । शेषं प्रधीवत् ।

व्याख्या—सुखम् आत्मन इच्छतीति—सुखीः । जो अपने लिये सुख चाहे उसे 'सुखी' कहते हैं । सुतम् आत्मन इच्छतीति—सुतीः । जो अपने लिये सुत—पुत्र चाहे उसे 'सुती' कहते हैं । इन शब्दों की साधनप्रक्रिया पर विशेष ध्यान देना चाहिये । तथाहि—'सुख + अम्' तथा 'सुत + अम्' इन सुबन्तों से 'सुप आत्मनः क्यच्' (७२०) सूत्र द्वारा क्यच् प्रत्यय हो कर 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से 'सुख अम् क्यच्' तथा 'सुत अम् क्यच्' इन समुदायों की धातुसञ्ज्ञा हो जाती है । अब 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' (७२१) सूत्र से अम् का लुक् हो कर 'क्यचि च' (७२२) से अकार को ईकार करने पर 'सुखीय, सुतीय' रूप बन जाते हैं । इन का अर्थ क्रमशः 'अपने लिये सुख चाहना' और 'अपने लिये पुत्र चाहना' है । अब इन धातुओं से कर्त्ता अर्थ में 'क्विप् च' (८०२) सूत्र से क्विप् प्रत्यय कर 'अतो लोपः' (४७०) से अकारलोप तथा 'लोपो व्योर्वलि' (४२१) से यकार का लोप हो कर—'सुखी' और 'सुती' शब्द निष्पन्न होते हैं । 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' इस नियमानुसार इन की धातुसञ्ज्ञा भी अक्षत है ।

'सुखी + स् (सुँ), सुती + स् (सुँ)' यहां ङ्यन्त न होने से सुँ का लोप नहीं होता । रुँत्व विसर्ग हो कर—सुखीः, सुतीः ।

'सुखी+औ, सुती + औ' यहां अजादि प्रत्ययों में सर्वत्र धातु के ईकार को 'एरने-काचः⋯' (२००) से यण् होता चला जायगा—सुख्यौ, सुत्यौ ।

'सुखी + अस् (ङसि व ङस्), सुती + अस् (ङसि व ङस्)' यहां प्रथम 'एरने-काचः' से यण् हो सुख्य् + अस्, सुत्य् + अस्' बन जाता है । तब 'ख्यत्यात् परस्य' (१८३) सूत्र से अकार को उकार हो 'सुख्युः, सुत्युः' प्रयोग निष्पन्न होते हैं । इन शब्दों के उच्चारण यथा—

सुखी

प्र०	सुखीः	सुख्यौ	सुख्यः
द्वि०	सुख्यम्	,,	,,
तृ०	सुख्या	सुखीभ्याम्	सुखीभिः
च०	सुख्ये	,,	सुखीभ्यः
प०	सुख्युः	,,	,,
ष०	,,	सुख्योः	सुख्याम्
स०	सुख्यि	,,	सुखीषु
सं०	हे सुखीः !	हे सुख्यौ !	हे सुख्यः !

सुती

प्र०	सुतीः	सुत्यौ	सुत्यः
द्वि०	सुत्यम्	,,	,,
तृ०	सुत्या	सुतीभ्याम्	सुतीभिः
च०	सुत्ये	,,	सुतीभ्यः
प०	सुत्युः	,,	,,
ष०	,,	सुत्योः	सुत्याम्
स०	सुत्यि	,,	सुतीषु
सं०	हे सुतीः !	हे सुत्यौ !	हे सुत्यः !

इसी प्रकार—लूनी, क्षामी, प्रस्तीमी आदि शब्दों के रूप होते हैं। इन शब्दों में क्त प्रत्यय के तकार के स्थान पर नकार, मकार आदि आदेश होते हैं। ये आदेश त्रिपादी होने से 'ख्यत्यात् परस्य' (१८३) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध हैं अतः उस से उकार आदेश करने में कोई बाधा नहीं होती।

अभ्यास (२६)

(१) यदि प्रादियों की गतिसञ्ज्ञा न कर उपसर्गसञ्ज्ञा से ही काम चलाया जाय तो क्या दोष उत्पन्न होगा ?

(२) प्रधी (प्रध्यायतीति प्रधीः। / प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधीः।

सुश्री (सुश्रयतीति सुश्रीः। / सु (शोभना) श्रीर्यस्य स सुश्रीः।

सुधी (सुध्यायतीति सुधीः। / सु (शोभना) धीर्यस्य स सुधीः।

शुद्धधी (शुद्धा धीर्यस्य स शुद्धधीः। / शुद्धं ध्यायतीति शुद्धधीः।

इन चार शब्दों में विग्रहभेद से रूपों में कौन २ सा भेद हो सकता है? सविस्तर लिखो।

(३) अजादि प्रत्ययों के परे रहते निम्नलिखित शब्दों में कहां यण् और कहां इयँङ् होता है? कारणनिर्देशपूर्वक तत्तद्विधायक सूत्र लिखो—

१. प्रस्तीमी। २. ग्रामणी। ३. सुधी। ४. यवक्री। ५. मन्दधी। ६. सुश्री। ७. प्रधी। ८. सुखी। ९. नी। १०. सुती।

(४) निम्नलिखित शब्दों में यण् हो या इयँङ्? समझ कर लिखो—

१. पपी। २. बहुश्रेयसी। ३. अतिलक्ष्मी। ४. ययी।

(५) (क) किस २ विभक्ति में नदीसञ्ज्ञा के कारण अन्तर होता है?

(ख) अग्रणी तथा सेनानी शब्द के अम् तथा आम् में क्या रूप बनेंगे?

(ग) 'सुध्युपास्यः' में 'न भूसुधियोः' द्वारा यणिनषेध क्यों नहीं होता?

(६) सन्धि-प्रकरण में सवर्णदीर्घ यण् का और इस प्रकरण में यण् सवर्णदीर्घ का बाधक होता है—इस कथन की पुष्टि सोदाहरण। मार्गनिर्देशपूर्वक करते हुए प्रधी और पपी शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप लिखो।

(७) सूत्रों की व्याख्या करो—

१. अचि श्नु ··। २. एरनेकाचः···। ३. यू स्त्र्याख्यौ नदी। ४. न भू-सुधियोः।

(८) यदागमास्तद्गुणीभूताः , क्विबन्ता धातुत्वम्···, प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च, गतिकारके-तर···, विप्रतिषेधे यद् ·· इन वचनों का तात्पर्य व्यक्त करो।

(९) सूत्र निर्देशपूर्वक सिद्धि करो—

१. सुत्युः । २. नियाम् । ३. शुद्धधियौ । ४. बहुश्रेयसि । ५. पपी । ६. अतिलक्ष्म्यै । ७. सुधियि । ८. यवक्रियौ । ९. प्रध्यै । १०. बहुश्रेयसीनाम् ।

[यहां ईकारान्त पुल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।]

—०:*:०—

अब ह्रस्व उकारान्त शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] शम्भुर्हरिवत् । एवम्—भान्वादयः ।

अर्थः—शम्भु (भगवान् शिव) शब्द के रूप हरिशब्द के समान होते हैं । इसी प्रकार भानु (सूर्य) आदि अन्य उकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के भी रूप होते हैं ।

व्याख्या—शम्भु शब्द को ह्रस्व उकारान्त होने से 'हरि' के समान 'शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा होती है, अतः घिसञ्ज्ञा के कार्य 'हरि' शब्द के समान ही होंगे । यहां गुण उकार के स्थान पर ओकार ही होगा । रूपमाला यथा—

प्र०	शम्भुः	शम्भू	शम्भवः ‡
द्वि०	शम्भुम्	,,	शम्भून्
तृ०	शम्भुना †	शम्भुभ्याम्	शम्भुभिः
च०	शम्भवे ×	,,	शम्भुभ्यः
प०	शम्भोः *	शम्भुभ्याम्	शम्भुभ्यः
ष०	,,	शम्भ्वोः	शम्भूनाम्
स०	शम्भौ ☉	,,	शम्भुषु
सं०	हे शम्भो ! ✠	हे शम्भू !	हे शम्भवः !

‡ 'जसि च' से गुण हो अव् आदेश हो जाता है ।

† घिसञ्ज्ञा होने से 'आङो नाऽस्त्रियाम्' द्वारा टा को ना हो जाता है ।

× 'घेर्ङिति' से गुण हो अव् आदेश हो जाता है

* 'घेर्ङिति' से गुण तथा 'ङसिङसोश्च' से पूर्वरूप हो जाता है ।

☉ 'अच्च घेः' से ङि को औ तथा घि को अत् हो जाता है ।

✠ 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण हो सुलोप हो जाता है ।

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप बनेंगे—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
अजातशत्रु*	युधिष्ठिर	अंशु	किरण	इषु *	बाण
अणु	परमाणु	आखु	चूहा	उन्दुरु*	चूहा
अध्वर्यु*	यजुर्वेद का ज्ञाता	इक्षु*	गन्ना	१५ऊरु *	पट्ट
अनूरु*	सूर्य का सारथि	१०इक्ष्वाकु *	एक राजा	ऊर्णायु	मेष—मेढा
अभीषु*	किरण व लगाम	इच्छु	चाहने वाला	ऋजु	सरल
असु	प्राण	इन्दु	चन्द्र	ऋतु	मौसम

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
आखु	बिल्ला	तरु	वृक्ष	७०प्रज्ञु	टेढे घुटनें वाला
२०कटु	† तीखा	४५तिग्मांशु	सूर्य	प्रभु*	स्वामी
	(मरिचवत्)	तितउ	चलनी	प्रांशु	उन्नत
कारु*	कारीगर	तुहिनांशु	चन्द्र	बन्धु	बान्धव
कृशानु	अग्नि	त्सरु*	तलवार की मूठ	बाहु	भुजा
केतु	झण्डी, एक ग्रह	दद्रु*	रोग विशेष	७५बुभुक्षु*	भूखा
केरु*	गीदड़	५०दयालु	दया वाला	भिक्षु*	याचक
२५क्रतु	यज्ञ	दस्यु	डाकू	भीरु*	डरपोक
क्षवथु	खांसी	दिदृक्षु*	दर्शनाभिलाषी	भृगु*	एक ऋषि
गुग्गुलु	गूगल	देवदारु*	दियार का वृक्ष	मञ्जु	खूबसूरत
गुरु*	गुरु	धातु	सुवर्णादि धातु	८०मनु	पहला राजा
गृध्नु	लालची	५५निद्रालु	निद्राशील	मन्यु	क्रोध
३०गोमायु	गीदड़	पङ्गु	लङ्गड़ा	मरु*	रेगिस्तान
चण्डांशु	सूर्य	पटु	चतुर	मित्रयु*	मित्रवत्सल
चरिष्णु	चालाक	परमाणु	ज़र्रा	मुमूर्षु*	मरणेच्छुक
चरु*	हव्यान्न	पशु	जानवर	८५मृगयु*	शिकारी
चिकीर्षु*	करने का इच्छुक	६०परशु	कुल्हाड़ा	मृत्यु	मौत
३५जन्तु	प्राणी	पलाण्डु	प्याज़	मेरु*	एक पर्वत
जायु	औषध	पाण्डु	प्रसिद्ध नृप	यदु	प्रसिद्ध नृप
जिज्ञासु	जानने का इच्छुक	पांशु	धूलि	रघु*	प्रसिद्ध नृप
जिष्णु	इन्द्र व अर्जुन	पायु	गुदा	९०रुरु*	मृगविशेष
जीवातु	जीवन-औषध	६५पिचु	कपास	राहु*	ग्रह विशेष
४०तनु	पतला	पिपासु	प्यासा	रिपु*	शत्रु
तन्तु	तागा	पीलु	पीलु का वृक्ष	रेणु	मट्टी
तन्द्रालु	बहुत ऊँघनेवाला	पुरु*	प्रसिद्ध नृप	लघु	छोटा
तरक्षु*	विशेष भेड़िया	पृथु	प्रसिद्ध नृप	९५वटु	बालक

† भाषा में आजकल मरिच, पिप्पली आदि को तिक्त अर्थात् तीखा तथा निम्ब आदि को कड़वा समझा जाता है। परन्तु वैद्यकशास्त्रों में ठीक इस से विपरीत होता है। वहां मरिच आदि को 'कटु' तथा निम्ब आदि को 'तिक्त' कहा जाता है। अतएव 'त्रिकटु' शब्द से शास्त्र में—'काली मिर्च, पिप्पली, शुण्ठी' इन तीनों का ग्रहण होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
वनायु	अरब देश	व्यसु	मृत	सानु	पर्वत की चोटी
वन्दारु*	वन्दनशील	शङ्कु	कील	१२०सिन्धु	सागर
वमथु	वमन	शत्रु*	दुश्मन	सीधु	मद्यविशेष
	(सूंड का पानी)	११०शयालु	निद्राशील	सुधांशु	चन्द्र
वायु	हवा	शयु	अजगर	सूनु	पुत्र
१००विधु	चन्द्र	शरारु*	हिंस्र	सेतु	पुल
विन्दु	बून्द	शिशु	बालक	१२५स्तनयित्नु	बादल
विभावसु	अग्नि, सूर्य	शीतगु	चन्द्र	स्थाणु	शाखाहीन वृक्ष
विभु	व्यापक	११५श्रद्धालु	श्रद्धालु	स्वर्भानु	राहु
विष्णु	भगवान् विष्णु	श्वयथु	सूजन-शोथ	स्वादु	स्वादिष्ट
१०५वेणु	बांस	सक्तु	सत्तू	हिमांशु	चन्द्र
वेपथु	कांपना	साधु	सज्जन	१३०हेतु	कारण

शम्भु शब्द की अपेक्षा क्रोष्टु (गीदड़ । 'शृगाल-वञ्चक-क्रोष्टु-फेरु-फेरव-जम्बुकाः' इत्यमरः) शब्द के रूपों में अन्तर पड़ता है । अतः अब उस का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—२०३ तृज्वत् क्रोष्टुः ।७।१।६५॥

असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' शब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः ।

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान पर 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग करना चाहिये—यह सूत्र का तात्पर्य है (अर्थ नहीं । अर्थ व्याख्या में देखें ।)

व्याख्या—तृज्वत् इत्यव्ययपदम् । क्रोष्टुः ।१।१। असम्बुद्धौ ।७।१। ['सख्युरसम्बुद्धौ' से] सर्वनामस्थाने ।७।१। ['इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से] तृच । तुल्यम्—तृज्वत् , 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (१.४८) इति वतिप्रत्ययः । प्रत्ययग्रहणपरिभाषा से तृजन्त का ग्रहण होता है । 'तृज्वत्' का अर्थ है—तृजन्त के समान । अर्थः—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे रहते (क्रोष्टुः) क्रोष्टुशब्द (तृज्वत्) तृच्प्रत्ययान्त के समान होता है । यह अतिदेश-सूत्र है; अतिदेश कई प्रकार के होते हैं, यहां रूपकातिदेश है ।

तृजन्त शब्द—कर्तृ, हर्तृ, दातृ आदि अनेक हैं; इन में से यहां क्रोष्टु शब्द के स्थान पर कौन सा तृजन्त हो ? इस का उत्तर यह है कि 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से

अर्थकृत आन्तर्य [अर्थ के तुल्य होने से जो सादृश्य देखा जाता है उसे अर्थकृत आन्तर्य कहते हैं] द्वारा क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ ही तृजन्त आदेश होगा। क्रोष्टु और क्रोष्टृ दोनों का एक ही अर्थ है।

'क्रोष्टु+स्' (सु) यहां सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'सु' परे है, अतः क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो कर—'क्रोष्टृ+स्' हुआ। इस अवस्था में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०४ ऋतो ङि-सर्वनामस्थानयोः। ।७।३।११०॥

ऋतोऽङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने च। इति प्राप्ते—

अर्थः—ङि अथवा सर्वनामस्थान परे होने पर ऋदन्त अङ्ग के स्थान पर गुण हो जाता है। इस सूत्र के प्राप्त होने पर (अग्रिम इसे बान्ध लेता है।)

व्याख्या—ऋतः।६।१। अङ्गस्य।६।१। [यह अधिकृत है] गुणः।१।१। ['ह्रस्वस्य गुणः' से] ङि-सर्वनामस्थानयोः।७।२। समासः—ङिश्च सर्वनामस्थानञ्च=ङिसर्वनामस्थाने, तयोः = ङिसर्वनामस्थानयोः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'ऋतः' से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(ऋतः) ऋदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण होता है (ङिसर्वनामस्थानयोः) ङि अथवा सर्वनामस्थान परे हो तो।

अलोऽन्त्यपरिभाषा तथा 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३) परिभाषा से अन्त्य ऋवर्ण के स्थान पर ही गुण होगा। किञ्च इसके साथ 'उरण्रपरः' (२९) सूत्र द्वारा रपर हो 'अर्' हो जायगा।

'क्रोष्टृ+स्' यहां 'सु' सर्वनामस्थान परे है अतः प्रकृत-सूत्र से ऋवर्ण के स्थान पर 'अर्' गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र निषेध कर अनङ् आदेश करता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०५ ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च। ।७।१।९४॥

ऋदन्तानाम् उशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ।

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सुँ परे होने पर ऋदन्तों तथा उशनस् (शुक्र आचार्य), पुरुदंसस् (बिल्ली) और अनेहस् (समय) शब्दों को अनङ् आदेश हो।

व्याख्या—असम्बुद्धौ।७।१। ['सख्युरसम्बुद्धौ' से] सौ।७।१। अनङ्।१।१। ['अनङ् सौ' से] ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम्।६।३। अङ्गानाम्।६।३। ['अङ्गस्य' अधिकार का

वचनविपरिणाम हो जाता है ।] च इत्यव्ययपदम् । समासः—ऋच्च उशना च पुरुदंसा च अनेहा च=ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसः, तेषाम्=ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । 'अङ्गानाम्' का विशेषण होने से 'ऋदुशनस् ···' पद में तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे हो तो (ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम्) ऋदन्त, उशनस्शब्दान्त तथा अनेहस्शब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों के स्थान पर (अनङ्) अनङ् आदेश होता है ।

अनङ् आदेश में ङकार इत्सञ्ज्ञक है, अकार उच्चारणार्थ है । 'अन्' ही अवशिष्ट रहता है । ङित् होने से यह आदेश 'ङिच्च' (४६) सूत्र द्वारा अन्त्य अल्—ऋवर्ण या सकार के स्थान पर होगा । किञ्च ध्यान रहे कि केवल उशनस् आदि शब्दों के स्थान पर भी व्यपदेशिवद्भाव (२७८) से अनङ् आदेश हो जायगा ।

'क्रोष्टृ + स्' यहां सम्बुद्धिभिन्न सुँ परे है अतः प्रकृत सूत्र से ऋकार को अनङ् आदेश हो अनुबन्ध-लोप करने पर—'क्रोष्टन् + स्' हुआ । इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०६ अप्—तृन्—तृच्—स्वसृ—नप्तृ—नेष्टृ—त्वष्टृ—क्षत्तृ—होतृ—पोतृ—प्रशास्तॄणाम् ।६।४।११॥

अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः । क्रोष्टारम्, क्रोष्टून् ।

अर्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर अप्, तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ शब्दों की उपधा को दीर्घ हो ।

व्याख्या—अप्—तृन् ······ प्रशास्तॄणाम् ।६।३। उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। ['सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से] समासः—आपश्च तृन् च तृच् च स्वसा च नप्ता च नेष्टा च त्वष्टा च क्षत्ता च होता च पोता च प्रशास्ता च=अप्–तृन्तृच् प्रशास्तारः, तेषाम्=अप्तृन् ··· प्रशास्तॄणाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । तृन् और तृच् प्रत्यय हैं अतः प्रत्ययग्रहणपरिभाषा द्वारा तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(अप्–तृन् ····· प्रशास्तॄणाम्) अप्, तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ तथा प्रशास्तृ शब्दों की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ होता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर । अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण उपधासञ्ज्ञक होता है—यह पीछे (१७६) सूत्र पर कहा गया है ।

इस सूत्र पर विशेष विचार स्वयं ग्रन्थकार आगे कृदन्त प्रकरण में करेंगे; अतः हम भी उस की वहीं व्याख्या करेंगे।

'क्रोष्टृ+स्' यहां 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' के अनुसार 'क्रोष्टृ' शब्द तृजन्त है। इस की उपधा नकार से पूर्व टकारोत्तर अकार है। सम्बुद्धिभिन्न सुँ=सर्वनामस्थान परे है ही, अतः प्रकृतसूत्र से उपधा को दीर्घ हो गया। 'क्रोष्टान्+स्' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यः ......'(१७९) से सकार लोप हो 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) से नकार का भी लोप हो गया तो—'क्रोष्टा' प्रयोग सिद्ध हुआ।

सूचना—यद्यपि सुँ में 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) सूत्र द्वारा भी उपधादीर्घ सिद्ध हो सकता है; तथापि औ, जस् आदियों में नान्त न होने से उपधादीर्घ नहीं हो सकता। अतः प्रकृतसूत्र का रचना आवश्यक है। तब यह सुँ में न्यायवशात् प्रवृत्त हो जाता है।

'क्रोष्टु+औ=क्रोष्टृ+औ' यहां सुँ परे न होने से अनङ् आदेश नहीं होता। 'ऋतो ङि......' (२०४) सूत्र से गुण हो 'अप्तृन्......' (२०६) से उपधादीर्घ हो जाता है—क्रोष्टारौ।

क्रोष्टु+अस् (जस्)=क्रोष्टृ+अस्। यहां भी पूर्ववत गुण और उपधादीर्घ करने पर 'क्रोष्टारः' सिद्ध होता है।

क्रोष्टु+अम्=क्रोष्टृ+अम्। गुण और उपधादीर्घ हो कर 'क्रोष्टारम्' सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि यह गुण, पूर्वसवर्णदीर्घ तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) आदि प्राप्त कार्यों का अपवाद है।

'क्रोष्टु + अस् (शस्)' यहां सर्वनामस्थान न होने से तृज्वद्भाव नहीं होता। पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार को नकार करने से 'क्रोष्टून्' सिद्ध होता है।

'क्रोष्टु + आ (टा)' यहां वैकल्पिक तृज्वद्भाव करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०७ विभाषा तृतीयादिष्वचि।७।१।९७॥

अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्। क्रोष्ट्रा। क्रोष्ट्रे।

अर्थः—अजादि तृतीयादि विभक्ति परे होने पर 'क्रोष्टु' शब्द विकल्प से तृज्वत हो।

व्याख्या—क्रोष्टुः।१।१। तृज्वत इत्यव्ययपदम्। ['तृज्वत्क्रोष्टुः' से] विभाषा इत्यव्ययपदम्। तृतीयादिषु।७।३। अचि।७।१। 'अचि' पद 'तृतीयादिषु' का विशेषण है, अतः तदादिविधि हो कर 'अजादिषु' बन जायगा। अर्थः—(अचि) अच् जिस के आदि

में है ऐसी (तृतीयादिषु) तृतीया आदि विभक्ति परे हो तो (क्रोष्टुः) क्रोष्टुशब्द (विभाषा) विकल्प कर के (तृज्वत) तृजन्त के समान होता है।

तृतीयादि विभक्तियों में अजादि विभक्तियां आठ हैं ।१ टा (आ), २ ङे (ए), ३ ङसि (अस्), ४ ङस् (अस्), ५ ओस् , ६ आम्, ७ ङि, ८ ओस् ।

जिस पक्ष में क्रोष्टृ आदेश न होगा वहां सर्वत्र घिसञ्ज्ञा हो कर 'शम्भु' शब्द के समान प्रक्रिया होगी।

तृतीया के एकवचन में 'क्रोष्टु + आ' इस स्थिति में अजादि तृतीयादि विभक्ति परे होने से विकल्प से तृज्वद्भाव हुआ। तृज्वद्भाव पक्ष में 'क्रोष्टृ + आ' इस स्थिति में 'इको यणचि' (१५) से ऋकार को रेफ आदेश हो कर 'क्रोष्ट्रा' प्रयोग सिद्ध हुआ। तृज्वत् के अभाव में घिसञ्ज्ञा हो कर टा को ना आदेश करने पर 'क्रोष्टुना' रूप सिद्ध होता है।

भ्याम्, भिस्, भ्यस्, और सुप् तृतीयादि होने पर भी हलादि हैं, अतः इन में तृज्वद्भाव न होगा।

चतुर्थी के एकवचन में 'क्रोष्टु + ए' इस दशा में विकल्प कर के तृज्वद्भाव हुआ। तृज्वद्भाव पक्ष में यण् हो—'क्रोष्ट्रे' रूप सिद्ध हुआ। तदभावपक्ष में 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण हो अव् आदेश करने पर—'क्रोष्टवे' रूप सिद्ध होता है।

तृज्वद्भाव पक्ष में पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'क्रोष्टृ + अस्' इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०८ ऋत उत् ।६।१।१०८॥

ऋतो ङसि-ङसोरति उद् एकादेशः । रपरः ।

अर्थः—ऋत् से ङसि अथवा ङस् का अत् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर उत् एकादेश हो। 'उरण्रपरः' (२९) से रपर भी हो जायगा।

व्याख्या—ऋतः ।५।१। ङसि–ङसोः ।६।२। ['ङसि–ङसोश्च'से] अति ।७।१। ['एङः पदान्तादति' से] पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है'] उत् ।१।१। अर्थः—(ऋतः) ह्रस्व ऋकार से (ङसि–ङसोः) ङसि अथवा ङस् का (अति) अत् परे हो तो (पूर्व-परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (उत्) ह्रस्व उकार आदेश होता है। 'उरण्रपरः' (२९) से रपर हो कर 'उर्' आदेश बन जायगा।

प्रश्नः—प्रत्यय अर्थात् विधीयमान अण् अपने सवर्णों का ग्राहक नहीं होता—यह पीछे 'अणुदित्…' (११) सूत्र में कहा गया है। इस नियमानुसार 'ऋत उत्' यहां विधीयमान उकार से सवर्णों का ग्रहण न होगा। इस से दीर्घ ऊकार आदि के एकादेश

होने की आशङ्का नहीं की जा सकती। तो पुनः 'ऋत उत्' में उकार को तपर करने का क्या प्रयोजन है ?।

उत्तर—यहां उकार को तपर करने से आचार्य यह जनाना चाहते हैं कि—**"भाव्यमानोऽप्यण् क्वचित् सवर्णान् गृह्णाति"** अर्थात् कहीं २ विधीयमान भी अण् अपने सवर्णों का ग्राहक हुआ करता है। अतएव—'यवलपरे यवला वा' (वा० १३) वार्त्तिक द्वारा अनुनासिक यकार आदियों का विधान हो जाता है। इसी प्रकार—'अदसो-ऽसेः—' (३५६) सूत्र में प्राचीन वैयाकरणों ने उकार से ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार के उकारों का ग्रहण किया है। यहां का विशेष विवेचन हमारी 'सिद्धान्त-कौमुदी' में देखें।

'क्रोष्टृ + अस्' यहां ऋत् से परे ङसि व ङस् का अत् विद्यमान है, अतः प्रकृतसूत्र से पूर्व (ऋ) और पर (अ) के स्थान पर उर् एकादेश हो—'क्रोष्ट् उर् स्' हुआ। अब अग्रिम नियम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—२०६ रात् सस्य ।८।२।२४॥

रेफात् संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य। रेफस्य विसर्गः। क्रोष्टुः। क्रोष्टोः।

अर्थः—रेफ से परे यदि संयोगान्त लोप हो तो सकार का ही हो, अन्य का न हो।

व्याख्या—रात् ।५।१। संयोगान्तस्य ।६।१। सस्य ।६।१। लोपः ।१।१। ['संयोगान्तस्य लोपः' से] रेफ से परे संयोगान्त सकार का लोप 'संयोगान्तस्य लोपः' से ही सिद्ध हो जाता है; पुनः इसका कथन 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार नियमार्थ है। अतः 'एव' पद प्राप्त हो जाता है। अर्थः—(रात्) रेफ से परे (संयोगान्तस्य) संयोग के अन्त में वर्त्तमान (सस्य) सकार का (एव) ही (लोपः) लोप होता है, अन्य किसी वर्ण का नहीं।

उदाहरण यथा—'ऊर्क्'। ऊर्ज् शब्द से सुँ का लुक् होने पर 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) द्वारा जकार का लोप प्राप्त होता है, वह अब इस नियम के कारण नहीं होता।

नोट—ध्यान रहे कि नियमसूत्रों के उदाहरण वही होते हैं जो लोक में प्रत्यु-दाहरण समझे जाते हैं। नियमसूत्रों की चरितार्थता भी इसी में है। 'पतिः समास एव' (१८४) का उदाहरण वस्तुतः 'पत्ये' ही है, 'भूपतये' नहीं, इसी प्रकार 'रात्सस्य' (२०६) का उदाहरण 'ऊर्क्' ही है, 'क्रोष्टुः' नहीं। बालकों के बोध के लिये ही 'भूपतये' आदि रूपों में नियमसूत्रों की प्रवृत्ति दर्शाई गई है।

'क्रोष्ट् उर् स्' यहां पर 'रात्सस्य' (२०६) की सहायता से 'संयोगान्तस्य लोपः'

(२०) से सकार का लोप हो कर अवसान में 'खरवसानयोः····' (९३) से रेफ को विसर्ग करने से 'क्रोष्टुः' रूप सिद्ध होता है। तृज्वद्भाव के अभाव में घिसञ्ज्ञा होकर 'घेर्ङिति' (१७२) से गुण तथा 'ङसि-ङसोश्च' (१९३) से पूर्वरूप होकर 'क्रोष्टोः' प्रयोग बनता है।

षष्ठी के द्विवचन में 'क्रोष्टु + ओस्' इस दशा में तृज्वद्भाव हो कर यण् करने से 'क्रोष्ट्रोः' रूप हुआ। तदभाव पक्ष में भी उकार को वकार होकर—'क्रोष्ट्वोः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

षष्ठी के बहुवचन में 'क्रोष्टु + आम्' इस दशा में तृज्वद्भाव तथा 'ह्रस्वनद्यापः··' (१४८) से नुट् युगपत् प्राप्त होते हैं। इस पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से पर होने के कारण तृज्वद्भाव ही प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—१९ नुम्-अचि-र-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन। क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। पक्षे हलादौ च शम्भुवत्।

अर्थः—नुम्, अच् परे होने पर रेफादेश (अचि र ऋतः) और तृज्वद्भाव—इन से पूर्वविप्रतिषेध के कारण नुट् हो जाता है।

व्याख्या—तुल्य बल वाले दो कार्यों का विप्रतिषेध होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) द्वारा अष्टाध्यायीक्रमानुसार परकार्य विधान किया जाता है। इस से—मनोरथः, वृक्षाभ्याम् आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु ऐसा करने से व्याकरण में कहीं २ दोष भी आ जाते हैं। क्योंकि वहां परकार्य करना इष्ट नहीं हुआ करता पूर्वकार्य इष्ट होता है। तो उन दोषों की निवृत्ति के लिये 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र को 'विप्रतिषेधेऽपरं कार्यम्' इस प्रकार पढ़ अपर अर्थात् पूर्वकार्य का विप्रतिषेध में विधान कर इष्ट सिद्ध किया जाता है। परन्तु कहां २ 'अपरम् कार्यम्' किया करें—इसके लिये भगवान् कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों में उन २ स्थानों का परिगणन कर दिया है। यह वार्त्तिक उन में एक है। इन परिगणित स्थानों के अतिरिक्त सर्वत्र परकार्य और इन में पूर्वकार्य होगा।

भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि 'पर' शब्द को इष्टवाची मान कर दोष निवृत्त कर देते हैं। यथा—"अस्तीष्टवाची परशब्दः, तद्यथा—'परं धाम गत' इष्टं धाम गत इति गम्यते। तद् य इष्टवाची परशब्दस्तस्येदं ग्रहणम्। विप्रतिषेधे परं यद् इष्टं तद् भवतीति"।

नुम् ['इकोऽचि विभक्तौ'], अच् परे होने पर रेफादेश ['अचि र ऋतः'] और तृज्वद्भाव ['तृज्वत्क्रोष्टुः, विभाषा तृतीयादिष्वचि']—इन तीन कार्यों के साथ यदि नुट् ['ह्रस्वनद्यापो नुट्'] का विप्रतिषेध हो तो नुट् ही होता है। ये तीनों यद्यपि अष्टाध्यायी में सूत्रक्रम से पर हैं और इन की अपेक्षा नुट् पूर्व है तथापि नुट् हो जाता है। नुम् का

उदाहरण 'तिसृ' शब्द पर आगे मूल में ही स्पष्ट हो जायगा। यहां तृज्वद्भाव का उदाहरण दिया जाता है--

'क्रोष्टु + आम्' यहां नुट् का तृज्वद्भाव के साथ विप्रतिषेध है अत. प्रकृतवार्त्तिक द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से नुट् हो 'नामि' (१४९) से दीर्घ करने पर 'क्रोष्टूनाम्' रूप सिद्ध हुआ।

'क्रोष्टु + इ' (ङि) यहां 'इ' यह अजादि तृतीयादि विभक्ति परे है अतः विकल्प से तृज्वद्भाव हो गया। तृज्वद्भाव पक्ष में 'ऋतो ङि···' (२०४) से अर् गुण हो कर 'क्रोष्टरि' रूप बना। तद्भाव पक्ष में 'अच्च घेः' (१७४) से ङि को औ तथा उकार को अकार कर वृद्धि करने से 'क्रोष्टौ' हुआ।

'हे क्रोष्टु + स्' यहां सम्बुद्धि में तृज्वद्भाव के निषेध के कारण 'तृज्वत्क्रोष्टुः' प्रवृत्त न हुआ। 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६९) से गुण हो 'एङ्ह्रस्वात्···' (१३४) द्वारा सम्बुद्धि के सकार का लोप करने पर 'हे क्रोष्टो'! रूप बना। 'हे क्रोष्टः' लिखने वाले सावधान रहें।

प्रथमा	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः
द्वितीया	क्रोष्टारम्	,,	क्रोष्टून्
तृतीया	क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः
चतुर्थी	क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे	,,	क्रोष्टुभ्यः
पञ्चमी	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टूनाम्
सप्तमी	क्रोष्टरि, क्रोष्टौ	,, ,,	क्रोष्टुषु
सम्बोधन	हे क्रोष्टो !	हे क्रोष्टारौ !	हे क्रोष्टारः !

अभ्यास (३०)

(१) 'ऋत उत्' में तपर करने का क्या प्रयोजन है ? सविस्तर पूर्वपक्ष का प्रतिपादन कर उत्तरपक्ष का निर्देश करें।

(२) पूर्वविप्रतिषेध और परविप्रतिषेध किसे कहते हैं ? इन दोनों का 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इस एक ही सूत्र से कैसे प्रतिपादन किया जाता है ?

(३) 'शास्त्रस्य' सूत्र की व्याख्या करते हुए इस बात को स्पष्ट करो कि नियमसूत्रों के प्रत्युदाहरण ही वस्तुतः उदाहरण होते हैं।

(४) किस आन्तर्य के कारण क्रोष्टु शब्द के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश होता है ?

(५) 'रे क्रोष्टः !' प्रयोग के शुद्धाशुद्ध होने का विवेचन करें।

(६) सूत्रनिर्देशपूर्वक निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें—

१. क्रोष्टुः । २ क्रोष्टः । ३. क्रोष्टूनाम् । ४. क्रोष्टारौ । ५. भानोः । ६. क्रोष्ट्रा । ७. शम्भवः । ८. शम्भो । ९. क्रोष्टा । १०. क्रोष्टरि ।

(यहां ह्रस्व उकारान्त पुल्ँलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

—※:०:※—

अब ऊकारान्त पुल्ँलिङ्ग शब्दों का वर्णन किया जाता है ।

[लघु०] हूहूः, हूह्वौ, हूह्वः । हूहून् इत्यादि ।

व्याख्या—'हूहू' अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है । इस का अर्थ 'गन्धर्व' है । इस की रूपमाला यथा—

प्र०	हूहूः	हूह्वौ †	हूह्वः †
द्वि०	हूहूम् ×	,,	हूहून् ‡
तृ०	हूह्वा*	हूहूभ्याम्	हूहूभिः
च०	हूह्वे*	,,	हूहूभ्यः
पं०	हूह्वः*	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः
ष०	,, *	हूह्वोः*	हूह्वाम्*
स०	हूह्वि*	,, *	हूहूषु
सं०	हे हूहूः !	हे हूह्वौ !	हे हूह्वः !

† 'दीर्घाज्जसि च' से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर 'इको यणचि' से यण् हो जाता है ।

× यहां 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप हो जाता है ।

‡ पूर्वसवर्ण-दीर्घ हो कर 'तस्माच्छसः....' से नत्व हो जाता है ।

* सर्वत्र 'इको यणचि' से यण् हो जाता है ।

[लघु०] 'अतिचमू' शब्दे तु नदीकार्यं विशेषः । हे अतिचमु ! । अतिचम्वै । अतिचम्वाः । अतिचमूनाम् । अतिचम्वाम् ।

व्याख्या—'चमू' शब्द ऊदन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग है । इस का अर्थ है—सेना । चमूम् अतिक्रान्तः=अतिचमूः, अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीययेति समासः । जो सेना का अतिक्रमण कर गया हो उसे 'अतिचमू' कहते हैं । 'अतिचमू' शब्द की 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' वार्त्तिक की सहायता से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) सूत्र द्वारा नदीसञ्ज्ञा हो जाती है । अतः नदी-कार्य अर्थात् सम्बुद्धि में ह्रस्व, ङितों में आट् का आगम, आम् को नुट् आगम और ङि को आम् आदेश ये छः कार्य हो जाते हैं । रूपमाला यथा—

प्रथमा	अतिचमूः †	अतिचम्वौ	अतिचम्वः
द्वितीया	अतिचमूम्	,,	अतिचमून्
तृतीया	अतिचम्वा	अतिचमूभ्याम्	अतिचमूभिः
चतुर्थी	अतिचम्वै ‡	,,	अतिचमूभ्यः
पञ्चमी	अतिचम्वाः ‡	,,	,,
षष्ठी	,, ‡	अतिचम्वोः	अतिचमूनाम् ×
सप्तमी	अतिचम्वाम् ✗	,,	अतिचमूषु
सम्बोधन	हे अतिचमु ! *	हे अतिचम्वौ !	हे अतिचम्वः !

† ङ्यन्त न होने से सुँलोप नहीं होता।

‡ आण्नद्याः, आटश्च, इको यणचि।

× ह्रस्वनद्यापो नुट्।

✗ ङेराम्नद्याम्नीभ्यः, आण्नद्याः, आटश्च, इको यणचि।

* अम्बार्थनद्योः...., एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः।

[लघु०] खलपूः।

व्याख्या—खलं पुनातीति खलपूः। 'खल' कर्मोपपद 'पूञ् पवने' (क्रया०उ० धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'खलपू' शब्द निष्पन्न होता है। झाड़ू द्वारा स्थान को शुद्ध करने वाले नौकर को 'खलपू' कहते हैं। 'खलपू' शब्द में ऊकार धातु का अवयव है।

'खलपू+स्' यहां ङ्यन्तादि न होने से सुँलोप नहीं होता। रुँत्व विसर्ग हो कर—'खलपूः' बनता है।

'खलपू'+औ' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से उस का निषेध हो जाता है। अब 'इको यणचि' (१५) से यण् प्राप्त होने पर 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' के अनुसार धातु होने से उस को बाध कर 'अचि श्नु-धातु····' (१९९) से उवँङ् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१० ओः सुँपि ।६।४।८३॥

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुँपि। खलप्वौ, खलप्वः।

अर्थः—धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं जिस उवर्ण के, वह उवर्ण है अन्त में जिस धातु के, वह धातु है अन्त में जिस के, ऐसा जो अनेकाच् अङ्ग, उस को यण् हो अजादि सुप् परे होने पर।

व्याख्या—ओः ।६।१। अनेकाचः ।६।१। असंयोगपूर्वस्य ।६।१। ['एरनेकाचोऽसंयोग-

पूर्वस्य' से] धातोः ।६।१। अचि ।७।१। ['अचि श्नु-धातु ···' से] सुपि ।७।१। यण् ।१।१। ['इको यण्' से] 'ओः' पद 'उ' शब्द के षष्ठी का एकवचन है। इस का अर्थ है—उवर्णस्य । 'धातोः' पद की आवृत्ति की जाती है। एक 'धातोः' पद 'ओः' का विशेष्य बन जाता है जिस से 'ओः' से तदन्तविधि हो कर 'उवर्णान्तस्य धातोः' ऐसा हो जाता है। दूसरा 'धातोः' पद 'असंयोगपूर्वस्य' पद के 'संयोग' अंश के साथ सम्बद्ध होता है। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। इस का 'ओर्धातोः' (उवर्णान्तस्य धातोः) यह विशेषण है। अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर—'उवर्णान्तधात्वन्तस्य अङ्गस्य' ऐसा अर्थ हो जाता है। 'अनेकाचः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है। 'असंयोगपूर्वस्य' का 'ओः' के साथ सामानाधिकरण्य है। अर्थः—(धातोः, असंयोगपूर्वस्य) धातु का अवयव संयोग जिस के पूर्व में नहीं ऐसा (ओः) जो उवर्ण, तदन्त (धातोः) जो धातु, तदन्त (अनेकाचः) अनेक अचों वाले (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (यण्) यण् आदेश हो (अचि) अजादि (सुपि) सुप् परे होने पर। तात्पर्य—अजादि सुप् प्रत्यय परे रहते उस अनेकाच् अङ्ग को यण् आदेश हो।। है जिस के अन्त में उवर्णान्त धातु हो परन्तु धातु के उवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग न हो।

'एरनेकाचः······'(२००) सूत्र का विषय इवर्णान्त है और इस का विषय उवर्णान्त धातु है। वह प्रत्येक प्रकार के अजादि प्रत्ययों में यण् करता है और यह केवल अजादि सुप् में। शेष सब बातें दोनों में समान है। दोनों 'अचि श्नु—' (१९९) के अपवाद हैं।

'खलपू + औ' यहां 'पू' उवर्णान्त धातु है, इस के उवर्ण से पूर्व धातु का कोई अवयव संयोगयुक्त नहीं। अनेकाच् अङ्ग 'खलपू' है इस से परे 'औ' यह अजादि सुप् वर्तमान है ही। अतः अलोऽन्त्यपरिभाषा की सहायता से प्रकृतसूत्र द्वारा ऊकार को यण्=वकार हो कर—'खलप्वौ' रूप बना।

स्त्रीलिङ्ग न होने के कारण 'खलपू' शब्द की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती; अतः आट् आदि नदीकार्य नहीं होते। सर्वत्र अजादि सुपों में यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

प्र०	खलपूः	खलप्वौ	खलप्वः	पं०	खलप्वः	खलपूभ्याम्	खलपूभ्यः
द्वि०	खलप्वम्‡	,,	,, ‡	ष०	,,	खलप्वोः	खलप्वाम्
तृ०	खलप्वा	खलपूभ्याम्	खलपूभिः	स०	खलप्वि	,,	खलपूषु
च०	खलप्वे	,,	खलपूभ्यः	सं०	हे खलपूः !	हे खलप्वौ !	हे खलप्वः !

‡ अम् और शस् में परत्व के कारण यण् होजाता है।

[लघु०] एवं सुल्वादयः ।

व्याख्या—'खलपू' शब्द के समान ही 'सुलू, उल्लू' आदि शब्दों के रूप होते हैं। सुष्ठु लुनातीति सुलूः (अच्छी प्रकार से काटने वाला)। उत्कृष्टं लुनातीति उल्लूः (उत्कृष्ट रीति से काटने वाला)। 'लूञ् छेदने' (क्रया० उ०) धातु से कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने से इन की निष्पत्ति होती है। सर्वत्र अजादि सुपों में यण् हो जाता है। ध्यान रहे कि 'उल्लू' में संयोग धातु का अवयव नहीं, उपसर्ग के तकार को मिला कर बना है अतः यण् करने में कोई बाधा नहीं होती। इन दोनों की रूपमाला यथा—

	सुलू				उल्लू		
प्र०	सुलूः	सुल्वौ	सुल्वः	प्र०	उल्लूः	उल्ल्वौ	उल्ल्वः
द्वि०	सुल्वम्	,,	,,	द्वि०	उल्ल्वम्	,,	,,
तृ०	सुल्वा	सुलूभ्याम्	सुलूभिः	तृ०	उल्ल्वा	उल्लूभ्याम्	उल्लूभिः
च०	सुल्वे	,,	सुलूभ्यः	च०	उल्ल्वे	,,	उल्लूभ्यः
प०	सुल्वः	,,	,,	प०	उल्ल्वः	,,	,,
ष०	,,	सुल्वोः	सुल्वाम्	ष०	,,	उल्ल्वोः	उल्ल्वाम्
स०	सुल्वि	,,	सुलूषु	स०	उल्ल्वि	,,	उल्लूषु
सं०	हे सुलूः !	हे सुल्वौ !	हे सुल्वः !	सं०	हे उल्लूः !	हे उल्ल्वौ !	हे उल्ल्वः !

[लघु०] स्वभूः। स्वभुवौ। स्वभुवः।

व्याख्या—स्वस्माद्भवतीति स्वभूः। 'स्व'पूर्वक 'भू सत्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'स्वभू' शब्द निष्पन्न होता है। ब्रह्मा को 'स्वभू' कहते हैं।

स्वभू+सुँ=स्वभूः। ङ्यन्तादि न होने से सुँ का लोप नहीं होता।

'स्वभू + औ' इस दशा में प्रथम 'इको यणचि' (१५) से यण् प्राप्त है। उस को बांध कर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त हुआ। उस का 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध हो गया। पुनः 'इको यणचि' से यण् प्राप्ति, उस को बांध कर 'अचि श्नु⋯' (१९९) से उवँङ् आदेश की प्राप्ति, उस को बांध कर 'ओः सुपि' (२१०) से यण् प्राप्त होता है। इस यण् का 'न भूसुधियोः ⋯ ⋯' (२०२) से निषेध हो जाता है। तब उवँङ् आदेश हो कर 'स्वभुवौ' रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार आगे अजादि विभक्तियों में सर्वत्र उवँङ् कर लेना चाहिये। रूपमाला यथा—

प्र०	स्वभूः	स्वभुवौ	स्वभुवः	प०	स्वभुवः	स्वभूभ्याम्	स्वभूभ्यः
द्वि०	स्वभुवम्	,,	,,	ष०	,,	स्वभुवोः	स्वभुवाम्
तृ०	स्वभुवा	स्वभूभ्याम्	स्वभूभिः	स०	स्वभुवि	,,	स्वभूषु
च०	स्वभुवे	,,	स्वभूभ्यः	सं०	हे स्वभूः !	हे स्वभुवौ !	हे स्वभुवः !

इसी प्रकार—स्वयम्भू (ब्रह्मा), आत्मभू (कामदेव), प्रतिभू (जामिन) शब्द होंगे ।

[लघु०] वर्षाभूः ।

व्याख्या—वर्षासु भवतीति वर्षाभूः (दर्दुरः, मेंढक) । 'वर्षा' पूर्वक 'भू सत्तायाम्' (भ्वा०प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'वर्षाभू' शब्द निष्पन्न होता है । यहां अजादियों में 'ओः सुपि' (२१०) द्वारा प्राप्त यण् का 'न भूसुधियोः' (२०२) से निषेध हो जाता है । पर अग्रिमसूत्र से पुनः यण् करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**२११ वर्षाभ्वश्च ।६।४।८४॥**

अस्य यण् स्याद् अचि सुपि । वर्षाभ्वौ इत्यादि ।

अर्थः—अजादि सुप् प्रत्यय परे होने पर वर्षाभू शब्द को यण् हो ।

व्याख्या—अचि ।७।१। ['अचिश्नु···' से] सुपि ।७।१। ['ओः सुपि' से] वर्षाभ्वः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । यण् ।१।१। ['इको यण्' से] अर्थः—(अचि) अजादि (सुपि) सुप् परे रहते (वर्षाभ्वः) वर्षाभू शब्द के स्थान पर (यण्) यण् हो । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् ऊकार को यण् होगा । रूपमाला यथा—

प्र०	वर्षाभूः	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः	पं०	वर्षाभ्वः	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभ्यः
द्वि०	वर्षाभ्वम्	,,	,,	ष०	,,	वर्षाभ्वोः	वर्षाभ्वाम्
तृ०	वर्षाभ्वा	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभिः	स०	वर्षाभ्वि	,,	वर्षाभूषु
च०	वर्षाभ्वे	,,	वर्षाभूभ्यः	सं०	हे वर्षाभूः !	हे वर्षाभ्वौ !	हे वर्षाभ्वः !

ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् आदि कार्य न होंगे ।

[लघु०] दृन्भूः ।

व्याख्या—'दृन' अव्यय के उपपद होने पर 'भू' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'दृन्भू' शब्द निष्पन्न होता है । दृन्=हिंसां भवते=प्राप्नोतीति दृन्भूः । वर्त्तमान उपलब्ध संस्कृतसाहित्य में इस के प्रयोगों के उपलब्ध न होने से इस के अर्थ में बड़ा विवाद है । कई इस का अर्थ सर्पविशेष व वज्र करते हैं, कोई इसे वानर व सूर्यवाची मानते हैं ।

अजादि विभक्तियों में 'ओः सुपि' (२१०) से प्राप्त यण् का 'न भूसुधियोः' (२०२) से निषेध हो जाता है । तब अग्रिमवार्त्तिक से पुनः यण् हो जाता है—

[लघु०] वा०—२० **दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः ॥**

दृन्भ्वौ । एवं करभूः ।

अर्थः—अजादि सुप् परे होने पर दृन्, कर और पुनर् पूर्व वाले 'भू' शब्द के स्थान पर यण् आदेश करना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक 'वर्षाभ्वश्च' (२११) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। दृन्भू, करभू और पुनर्भू शब्दों के ऊकार को यण् हो अजादि सुप् परे हो तो—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है।

'दृन्भू' शब्द को इस वार्त्तिक से यथास्थान यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

प्र०	दृन्भूः	दृन्भ्वौ	दृन्भ्वः	प० दृन्भ्वः	दृन्भूभ्याम्	दृन्भूभ्यः
द्वि०	दृन्भ्वम्	,,	,,	ष० ,,	दृन्भ्वोः	दृन्भ्वाम्
तृ०	दृन्भ्वा	दृन्भूभ्याम्	दृन्भूभिः	स० दृन्भ्वि	,,	दृन्भूषु
च०	दृन्भ्वे	,,	दृन्भूभ्यः	सं० हे दृन्भूः !	हे दृन्भ्वौ !	हे दृन्भ्वः

इसी प्रकार करभू और पुनर्भू शब्दों के रूप चलते हैं। करे भवतीति करभूः (नख=नाखून), पुनर्भवतीति पुनर्भूः (पुनः पैदा होने वाला)। कर और पुनर् के उपपद रहते 'भू सत्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर करभू और पुनर्भू शब्द निष्पन्न होते हैं। अजादि विभक्तियों में पूर्वोक्त वार्त्तिक से यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

करभू

प्र०	करभूः	करभ्वौ	करभ्वः
द्वि०	करभ्वम्	,,	,,
तृ०	करभ्वा	करभूभ्याम्	करभूभिः
च०	करभ्वे	,,	करभूभ्यः
प०	करभ्वः	,,	,,
ष०	,,	करभ्वोः	करभ्वाम्
स०	करभ्वि	,,	करभूषु
सं०	हे करभूः !	हे करभ्वौ !	हे करभ्वः !

पुनर्भू

प्र०	पुनर्भूः	पुनर्भ्वौ	पुनर्भ्वः
द्वि०	पुनर्भ्वम्	,,	,,
तृ०	पुनर्भ्वा	पुनर्भूभ्याम्	पुनर्भूभिः
च०	पुनर्भ्वे	,,	पुनर्भूभ्यः
प०	पुनर्भ्वः	,,	,,
ष०	,,	पुनर्भ्वोः	पुनर्भ्वाम्
स०	पुनर्भ्वि	,,	पुनर्भूषु
सं०	हे पुनर्भूः !	हे पुनर्भ्वौ !	हे पुनर्भ्वः !

सूचना—'पुनः ब्याही हुई स्त्री' इस अर्थ में 'पुनर्भू' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग होता है, पुल्लिङ्ग नहीं। स्त्रीलिङ्ग में इस का उच्चारण 'सिद्धान्त-कौमुदी' में देखना चाहिये।

अभ्यास (३१)

(१) 'लुल् + अतुस् = लुलुवतुः, पुपू + अतुस् = पुपुवतुः' इत्यादियों में 'ओः सुपि' से यण् क्यों न हो ?

(२) 'खलप्वौ, खलप्वः' आदि में 'एरनेकाचः…' से यण् क्यों नहीं होता ? क्या 'पू' धातु नहीं है ?

(३) स्वभू, वर्षाभू, आत्मभू, करभू, खलपू, अतिचमू और हूहू शब्दों के द्वितीया तथा सप्तमी के एकवचन में रूप सिद्ध करो ।

(४) उवँङ् आदेश 'ओः सुपि' के यण् का बाधक है या 'इको यणचि' के यण् का ? सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(५) 'एरनेकाचः ...' सूत्र की अपेक्षा 'ओः सुपि' सूत्र में क्या विशेषता है ?

(६) 'ओः सुपि' सूत्र का सोदाहरण विवेचन करें ।

[यहां दीर्घ ऊकारान्त पुल्ँलिङ्ग समाप्त होते हैं]

—०:%:०—

अब ऋकारान्त पुल्ँलिङ्ग शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] धाता । हे धातः ! । धातारौ । धातारः ।

व्याख्या—'डुधाञ् धारण-पोषणयोः' (जुहो०उ०) धातु से कर्ता में तृन् व तृच् प्रत्यय करने पर 'धातृ' शब्द निष्पन्न होता है । दधातीति धाता, धारण पोषण करने के कारण परमात्मा का नाम 'धातृ' है ।

'धातृ' शब्द के सर्वनामस्थान प्रत्ययों में क्रोष्टृ शब्द के समान रूप बनते हैं ।

सुँ में ऋदन्त होने से 'ऋदुशनस् ...' सूत्र से अनङ् आदेश, 'अप्तृन्तृच् ...' से उपधादीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यः ......' से अपृक्त सकार का लोप और 'न लोपः ...' (१८०) से नकार का लोप हो कर 'धाता' रूप बना ।

सम्बुद्धि में 'हे धातृ + स्' इस दशा में अनङ् आदेश नहीं होता । 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (२०४) से गुण = अर् हो, सुँ लोप और रेफ को विसर्ग करने से—'हे धातः !' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि सम्बुद्धि में निषेध के कारण उपधादीर्घ नहीं होगा ।

[लघु०] वा०—२१ ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् ।

धातॄणाम् ।

अर्थः—सम्पूर्ण णत्वप्रकरण में ऋवर्ण से परे भी नकार को णकार आदेश कहना चाहिये ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक सम्पूर्ण णत्वविधायक सूत्रों का शेष समझना चाहिये । अतः प्रत्येक णत्वविधायक सूत्र में इस की प्रवृत्ति होती है । इस से जिस २ व्यवधान या नियम के अधीन रेफ व षकार से परे णत्व करना कहा गया है वहां २ सर्वत्र ऋवर्ण का भी ग्रहण कर लेना चाहिये—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है ।

'धातृ + नाम्' यहां ऋवर्ण से परे इस वार्त्तिक की सहायता से 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (२६७) सूत्र द्वारा नकार को णकार हो कर 'धातॄणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'ऋतो ङि···' (२०४) से गुण हो कर 'धातरि' रूप बना।

सुप् में 'आदेश—' (१५०) से षत्व हो 'धातृषु' रूप सिद्ध होता है।

'धातृ' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	धाता	धातारौ	धातारः	प०	धातुः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
द्वि०	धातारम्	,,	धातॄन्	ष०	,,	धात्रोः	धातॄणाम्
तृ०	धात्रा	धातृभ्याम्	धातृभिः	स०	धातरि	,,	धातृषु
च०	धात्रे	,,	धातृभ्यः	सं०	हे धातः!	हे धातारौ!	हे धातारः

निम्न लिखित शब्दों के रूप भी इसी तरह होते हैं—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अध्येतृ	पढ़ने वाला	पठितृ	पढ़ने वाला
कथयितृ	कहने वाला	२० पातृ	रक्षक व पीने वाला
कर्तृ	करने वाला	पूजयितृ	पूजने वाला
क्षत्तृ	सारथि व द्वारपाल	पोतृ	ऋत्विज् विशेष
५ गणयितृ	गिनने वाला	प्रशास्तृ	ऋत्विज् व राजा
गन्तृ	जाने वाला	प्रष्टृ	पूछने वाला
छेत्तृ	काटने वाला	२५ बोद्धृ	जानने वाला
जेतृ	जीतने वाला	भर्तृ	स्वामी व पति
ज्ञातृ	जानने वाला	भेत्तृ	तोड़ने वाला
१० तरितृ	तैरने वाला	भोक्तृ	खाने वाला
त्वष्टृ	विश्वकर्मा	योद्धृ	युद्ध करने वाला
दातृ	देने वाला	३० रक्षितृ	रक्षा करने वाला
द्रष्टृ	देखने वाला	रचयितृ	रचने वाला
धर्तृ	धारण करने वाला	वक्तृ	बोलने वाला
१५ ध्यातृ	ध्यान करने वाला	वसितृ	पहनने वाला
नप्तृ	पोता व दोहता	वस्तृ	रहने वाला
नेतृ	नेता व सञ्चालक	३५ वेत्तृ	जानने वाला
नेष्टृ	सोमयज्ञ कराने वाला ऋत्विज्	वोढृ	उठाने वाला
		शङ्कितृ	शङ्का करने वाला

शब्द	अर्थ
शमयितृ	शान्त करने वाला
शयितृ	सोने वाला।
४० शासितृ	शासन करने वाला
श्रोतृ	सुनने वाला
सवितृ	सूर्य व प्रेरक
सान्त्वयितृ	तसल्ली देने वाला
सोढृ	सहन करने वाला।
४५ स्खलितृ	स्खलित होने वाला
स्तोतृ	स्तुति करने वाला
स्थातृ	ठहरने वाला
स्नातृ	स्नान करने वाला
स्मर्तृ	स्मरण करने वाला
५० स्रष्टृ	पैदा करने वाला
हर्तृ	हरने वाला
होतृ	यज्ञ करने वाला

[लघु०] एवं नप्त्रादयः।

व्याख्या—नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ शब्दों के रूप भी धातृ शब्द के समान होंगे। सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान में 'अप्तृन्—' (२०६) सूत्र से इन की उपधा को दीर्घ हो जायगा।

नप्तृ, नेष्टृ आदि शब्द औणादिक तृन्नन्त व तृजन्त हैं। उणादियों में तीन सूत्रों द्वारा प्रायः बीस शब्द तृन्नन्त व तृजन्त सिद्ध किये गये हैं। यथा—

१ शंस् + तृन् =शंस्तृ। [यह ऋत्विज् या भाट की सञ्ज्ञा है।]
२ शास् + तृन्*=शास्तृ। [यह ऋत्विज् या भगवान् बुद्ध की सञ्ज्ञा है।]
३ क्षद् + तृच्†=क्षत्तृ। [सारथि, द्वारपाल, वैश्या में शूद्र से उत्पन्न अथवा दासीपुत्र जैसे विदुर।]
४ क्षुद् + तृच् =क्षोत्तृ। [मुसल]
५ प्रशास्+ तृच् =प्रशास्तृ। [ऋत्विज् व राजा।]
६ उद् नी+तृच् =उन्नेतृ। [ऋत्विज्]
७ प्रति हृ+तृच् =प्रतिहर्तृ [ऋत्विज्]
८ उद् गा+तृच् =उद्गातृ [यज्ञ में साम का गान करने वाला]

(तृन्तृचौ शंसि-क्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ (उणा० २५८))

——०:※:०——

‡ ध्यान रहे आम् में सब ऋदन्तों को णत्व हो जाता है। अतः चिह्न नहीं लगाया।

* तत्त्वबोधिनीकाराः श्रीज्ञानेन्द्रस्वामिनोऽन्ये च उज्ज्वलदत्तप्रभृतयो वृत्तिकृतोऽत्र तृन्प्रत्ययमेवाहुः, परं भाष्यमनुविन्नागेशस्त्वत्र तृचमेवाभिदधाति। दृश्यतामस्यत्यः शेखरः। प्रक्रियाकौमुदीप्रसादटीकाकारः श्रीविट्ठलाचार्योऽप्यत्रानुकूलः।

† क्षद् सौत्रो धातुः। शकलीकरणं भक्षणं चास्येति दीक्षिताः। संवृत्तार्थ इति उज्ज्वलदत्तः।

९ हन् + तृच् = हन्तृ । [चोर व डाकू]
१० मन् + तृच् = मन्तृ । [विद्वान्]

'बहुलमन्यत्रापि' । [उ० २५२]

—— ०:※:० ——

११ नप्तृ	[पौत्र, दौहित्र ।	तृन्नन्त व तृजन्त निपातित हैं ।]
१२ नेष्टृ	[ऋत्विग्विशेष ।	” ” ” ” ”]
१३ त्वष्टृ	[विश्वकर्मा ।	” ” ” ” ”]
१४ होतृ	[ऋत्विज् ।	” ” ” ” ”]
१५ पोतृ	[ऋत्विग्विशेष ।	” ” ” ” ”]
१६ भ्रातृ	[भाई ।	” ” ” ” ”]
१७ जामातृ	[दामाद ।	” ” ” ” ”]
१८ मातृ	[माता ।	” ” ” ” ”]
१९ पितृ	[पिता ।	” ” ” ” ”]
२० दुहितृ	[लड़की ।	” ” ” ” ”]

'नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-होतृ-पोतृ-भ्रातृ-जामातृ-मातृ-पितृ-दुहितृ' (उणा० २५३)

—— ०:※:० ——

इस प्रकरण में प्रतिप्रस्थातृ, प्रस्तोतृ, दस्तृ †, शस्तृ और अप्तृ ‡ इतने शब्द अधिक अन्यत्र देखे जाते हैं । उपदेष्टृ और धातृ शब्द को भी यहां उज्ज्वलदत्त ने न जाने किस लिये गिन रखा है । और न जाने श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी उस का किस लिये अपनी उणादिवृत्ति में अनुसरण किया है ? सरस्वतीकण्ठाभरणकार धारेश्वर महाराज भोज, दण्डनारायण, प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट, प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका के रचयिता श्रीविट्ठलाचार्य और दुर्गसिंह प्रभृति इन का उल्लेख नहीं करते । यद्यपि ये सञ्ज्ञा शब्द हैं तथापि गण में इन के पाठ की कल्पना करना निष्प्रयोजन, लोकविरुद्ध और प्रमाणशून्य है ।

सूचना—स्वसृ, यातृ, देवृ, ननान्दृ, नृ और सव्येष्टृ ये छः शब्द भी यद्यपि औणादिक हैं तथापि ये ऋप्रत्ययान्त हैं, तृन्नन्त व तृजन्त नहीं । अतः इन के दीर्घ या दीर्घाभाव

† दस्वा त्वयकृत इति प्रक्रियासर्वस्वे नारायणभट्टः । न क्वाप्यन्यत्रायं शब्दोऽवलोक्यते ।

‡ महाराज भोजदेव ने 'आपो ह्रस्वश्च' इसप्रकार सूत्र बना कर 'अप्तृ' शब्द सिद्ध किया है । दण्डनारायण ने अपनी वृत्ति में 'अप्तृ' का अर्थ 'यज्ञ' किया है । वर्त्तमान उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में इस का पता नहीं चलता । परन्तु 'अप्तोर्याम, अप्तर्यामन्' आदि शब्दों के देखने से प्रतीत होता है कि यज्ञ अर्थ में इस का कहीं प्रयोग अवश्य हुआ होगा । इसी प्रकार 'चोर' आदि अर्थों में 'हन्तृ' शब्द के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

का यहां प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इन में से स्वसृ शब्द का ही सूत्र में ग्रहण है अतः उसे ही दीर्घ होगा अन्य किसी शब्द को न होगा।

प्रश्न:—यदि नप्तृ, नेष्टृ आदि सातों शब्द पूर्वोक्तरीत्या तृन्नन्त व तृजन्त हैं तो इन की उपधा को दीर्घ 'अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ' इतने से ही सिद्ध हो सकता है; क्योंकि सूत्र में तृन् और तृच् को दीर्घ कहा ही है। पुनः सूत्र में इन के पृथक् उल्लेख का क्या कारण है?

उत्तर:—इस प्रकार सिद्ध होने पर सूत्र में इन के पुनः ग्रहण का एक महान् प्रयोजन है। ग्रन्थकार के शब्दों में ही देखिये—

[लघु०] नप्त्रादीनां ग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। तेनेह न—पिता, पितरौ, पितरः। पितरम्। शेषं धातृवत्। एवं जामात्रादयः।

अर्थः—नप्तृ आदि तृन्नन्त व तृजन्त शब्दों का ग्रहण व्युत्पत्तिपक्ष में नियम के लिये है। अर्थात यदि व्युत्पत्तिपक्ष में औणादिक शब्दों को तृन्नन्त व तृजन्त समझा जाय तो नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ इन सात शब्दों की उपधा को ही 'अप्तृन्तृच्—' सूत्र से दीर्घ हो अन्य किसी औणादिक तृजन्त तृन्नन्त को दीर्घ न हो।*

व्याख्या—कुछ लोग औणादिक शब्दों को व्युत्पन्न और कुछ अव्युत्पन्न मानते हैं। अव्युत्पन्न मानने वालों के पक्ष में नप्तृ आदि शब्दों में न कोई धातु और न कोई प्रत्यय माना जाता है। अतः उन के मत में 'अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ' इतने सूत्रमात्र से काम नहीं चलता। उन के मत में नप्तृ, नेष्टृ आदि शब्दों का दीर्घ विधानार्थ ग्रहण करना आवश्यक है ही।

अब रहे व्युत्पत्तिपक्ष वाले, ये लोग औणादिक शब्दों में प्रकृति, प्रत्यय, आगम, विकार और आदेश आदि सब यथावत् मानते हैं। नप्तृ आदि शब्दों को ये लोग तृन्नन्त व तृजन्त मानते हैं। अतः इन के मत में 'अप्तृन्तृच्स्वसृ' इतने मात्र से ही दीर्घ सिद्ध हो सकता है। इस लिये इन के मत में इन शब्दों का सूत्र में ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। इस पर ग्रन्थकार यह उत्तर देते हैं कि इन का ग्रहण नियम के लिये है। जैसे—

आप ने अपने नौकर को कहा कि—तुम बाज़ार से फल और बेर लाओ। इस से क्या विदित हुआ? यही न, कि आप की दृष्टि में बेर फल नहीं हैं; क्योंकि यदि होते तो आप बेरों को पुनः लाने के लिये न कहते।

---

* "उणादिनिष्पन्नानां तृन्तृजन्तानां दीर्घश्चेद्? नप्त्रादीनामेव, न तु पित्रादीनाम्" इति नियमोऽत्र बोध्य।

इन ब्राह्मणों को दक्षिणा दो और वसिष्ठ को भी दे देना। इस से क्या आया? यही न कि आप की दृष्टि में वसिष्ठ ब्राह्मण नहीं; यदि होता तो आप पृथक् निर्देश न करते।

इन हिन्दुओं को दो २ आने दे दो और बलदेवसिंह को भी दे देना। इस से क्या आया? यही न, कि आप की दृष्टि में सिख हिन्दु नहीं; तभी तो आप बलदेवसिंह का पृथक् निर्देश करते हैं।

इसी प्रकार पाणिनि जी के—"तृन्नन्त तृजन्त शब्दों को दीर्घ हो तथा नप्तृ आदि शब्दों को भी दीर्घ हो" इस वचन से क्या आया? यही न कि वे यहां तृन्नन्त तृजन्त शब्दों में औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों का ग्रहण नहीं मानते, अष्टाध्यायीस्थ तृन्नन्त तृजन्त शब्दों को ही यहां 'तृन्, तृच्' से ग्रहण करते हैं; तभी तो औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों के दीर्घ के लिये उन्होंने इन का पृथक् उल्लेख किया है।

तात्पर्य यह है कि नप्तृ, नेष्टृ आदि सात औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों के अतिरिक्त अन्य किसी औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्द की उपधा को दीर्घ न होगा। सूत्रगत 'तृन्, तृच्' से अष्टाध्यायीस्थ तृन्नन्त तृजन्त शब्दों का ग्रहण हो कर केवल उन की उपधा को ही दीर्घ होगा।

ऋकारान्त औणादिक शब्द

उपधादीर्घ हो जाता है।	उपधादीर्घ नहीं होता।
१. नप्तृ। २. नेष्टृ। ३. त्वष्टृ। ४. क्षत्तृ। ५ होतृ। ६. पोतृ। ७. प्रशास्तृ। ८. उद्गातृ। ९. स्वसृ। [यद्यपि सूत्र में 'उद्गातृ' का उल्लेख नहीं तथापि भाष्यकार के 'उद्गातारः' (२.१.१पर) प्रयोग से इसे भी दीर्घ हो जाता है।]	१. शंस्तृ। २. शास्तृ। ३. चोत्तृ। ४. उन्नेतृ। ५. प्रतिहर्तृ। ६. हन्तृ। ७. मन्तृ। ८. प्रतिस्थातृ। ९ प्रस्तोतृ। १०. दुस्तृ। ११ शस्तृ। १२. अप्तृ। १३. भ्रातृ। १४. जामातृ। १५. मातृ*। १६. पितृ। १७. दुहितृ। १८ नृ। १९. यातृ। २०. देवृ। २१. ननान्दृ। २२ सव्येष्टृ।

पितृ (पिता) शब्द का उच्चारण यथा—

* यदि इन शब्दों में वहीं अष्टाध्यायीस्थ तृन्नन्त व तृजन्त मानेंगे तो तब दीर्घ हो जायगा। नपेध केवल औणादिकों के लिये ही है। यथा—माता (मापने वाला), मातारौ, मातारः। हन्ता (मारने वाला), हन्तारौ, हन्तारः। मन्ता (मनन करने वाला), मन्तारौ, मन्तारः।

प्र०	पिता	पितरौ	पितरः	प०	पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
द्वि०	पितरम्	,,	पितॄन्	ष०	,,	पित्रोः	पितॄणाम्
तृ०	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः	स०	पितरि	,,	पितृषु
च०	पित्रे	,,	पितृभ्यः	सं०	हे पितः !	हे पितरौ !	हे पितरः !

इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'भ्रातृ' शब्द के समान होती है। केवल सर्वनामस्थान में उपधादीर्घ का अभाव होता है। 'सु' में 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ हो जाता है।

इसी प्रकार पूर्वोक्त शंस्तृ आदि शब्दों के उच्चारण होते हैं। निदर्शनार्थ 'भ्रातृ' शब्द का उच्चारण यथा—

प्र०	भ्राता	भ्रातरौ	भ्रातरः	प०	भ्रातुः	भ्रातृभ्याम्	भ्रातृभ्यः
द्वि०	भ्रातरम्	,,	भ्रातॄन्	ष०	,,	भ्रात्रोः	भ्रातॄणाम्
तृ०	भ्रात्रा	भ्रातृभ्याम्	भ्रातृभिः	स०	भ्रातरि	,,	भ्रातृषु
च०	भ्रात्रे	,,	भ्रातृभ्यः	सं०	हे भ्रातः !	हे भ्रातरौ !	हे भ्रातरः !

पूर्वोक्त उपधादीर्घाभाव वाले औणादिक शब्दों में 'मातृ, दुहितृ, ननान्दृ और यातृ' ये चार शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं अतः इन का विवेचन आगे अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में किया जायगा।

अब नृ (मनुष्य) शब्द का वर्णन करते हैं। नृशब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया पितृ शब्द के समान होती है। सर्वनामस्थान में इसे उपधादीर्घ नहीं हुआ करता। षष्ठी के बहुवचन में यहां केवल अन्तर हुआ करता है—

'नृ + आम्' इस दशा में ह्रस्व को नुट् का आगम हो कर 'नृ + नाम्'। अब 'नामि' (१४६) से नित्य दीर्घ प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र विकल्प करता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१२ नृ च ।६।४।६॥

अस्य नामि वा दीर्घः। नृणाम्। नॄणाम्।

अर्थ—नाम् परे हो तो 'नृ' शब्द के ऋकार को विकल्प कर के दीर्घ हो।

व्याख्या—नृ ।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् समझना चाहिये] च इत्यव्ययपदम्। उभयथा इत्यव्ययपदम्। ['छन्दस्युभयथा' से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे—' से] नामि ।७।१। ['नामि' से] अर्थः—(नामि) नाम् परे होने पर (नृ) नृशब्द के स्थान पर (उभयथा) विकल्प कर के (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है। 'अचश्च' (१.२.२८) परिभाषा द्वारा ऋवर्ण को दीर्घ होगा।

'नृ + नाम्' यहां प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक दीर्घ हो कर दोनों पक्षों में 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा २१) वार्त्तिक की सहायता से 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (२६७) सूत्र से णत्व हो कर 'नृणाम्' और 'नृणाम्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। नृशब्द की रूपमाला यथा—

> 'णीञ् प्रापणे' (भ्वा० उ) इत्यस्मात् 'नयतेर्डिच्च' (उणा० २५८) इति ऋप्रत्यये, डित्वाट्टेर्लोपे नृशब्दः सिध्यति। नयति कार्याणीति ना=पुरुषो नेता वा।

प्र०	ना	नरौ	नरः	प०	नुः	नृभ्याम्	नृभ्यः
द्वि०	नरम्	,,	नॄन्	ष०	,,	र्नोः	नृणाम्, नॄणाम्
तृ०	ना	नृभ्याम्	नृभिः	स०	नरि	,,	नृषु
च०	ने	,,	नृभ्यः	सं०	हे नः!	हे नरौ!	हे नरः!

नोट—'नरो गच्छन्ति' इत्यादि वाक्यों में अकारान्त 'नर' शब्द का प्रयोग नहीं, इसी नृशब्द के प्रथमा के बहुवचन का प्रयोग है अतः वाक्य शुद्ध है।

सूचना—इस शब्द पर एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"लक्ष्म्या वै जायते भानुः, सरस्वत्यापि जायते।
अत्र षष्ठीपदं गुप्तं, यो जानाति स पण्डितः॥"
(भा=कान्तिः, नुः = पुरुषस्य)

अभ्यास (३२)

(१) (क) 'नॄन्' में नकार को णकार क्यों नहीं होता?

(ख) ऋ और लृ शब्दों का उच्चारण लिखो।

(ग) 'धातर्देहि, पितरत्र, नर्गच्छ' इत्यादि में उत्व क्यों न हो?

(घ) 'नृ च' यहां 'नृ' में कौन सी विभक्ति है?

(ङ) औणादिक तृजन्त होने पर भी 'उद्गातृ' को क्यों दीर्घ हो जाता है?

(२) निम्नलिखित शब्दों में कहां २ उपधादीर्घ करना चाहिये और कहां २ नहीं? कारण निर्देश पूर्वक लिखो—

१ श्रोतृ। २ पोतृ। ३ दातृ। ४ नेतृ। ५ प्रशास्तृ। ६ हन्तृ। ७ उद्गातृ। ८ भ्रातृ। ९ सवितृ। १० जामातृ। ११ स्तोतृ। १२ नेष्टृ। १३ अध्येतृ। १४ ध्यातृ। १५ नृ।

(३) 'नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्' इस पङ्क्ति का भाव स्पष्ट करते हुए यह लिखो कि इस का रूपसिद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(४) मातृशब्द यदि औणादिक न मान कर अष्टाध्यायी के तृच् प्रत्यय से निष्पन्न मानें तो क्या अन्तर होगा ?

(५) क्या व्यवधान में भी 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्त्तिक से णत्व हो जायगा ?

(६) शतृशब्द के सुँ, ङस्, ङि का क्या रूप बनेगा ?

[यहां ऋदन्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।]

——०:※:०——

संस्कृतसाहित्य में ऋदन्त, लृदन्त और एदन्त ऐसा कोई प्रसिद्ध शब्द नहीं जिस का बालकों के लिये वर्णन करना उपयोगी हो; अतः ग्रन्थकार ओकारान्त पुंल्लिङ्ग 'गो' शब्द का वर्णन करते हैं ।

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—२१३ गोतो णित् ।७।१।९०॥

ओकाराद् विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत् । गौः, गावौ, गावः ।

अर्थः—ओकारान्त शब्द से विधान किया हुआ सर्वनामस्थान णिद्वत् हो ।

व्याख्या—गोतः ।५।१। सर्वनामस्थानम् ।१।१। ['इतोऽत् सर्वनामस्थाने' से विभक्तिविपरिणाम कर के] णित् ।१।१। यह अतिदेशसूत्र है, अतः 'णित्' का तात्पर्य होगा—णिद्वत् । अर्थात् जो २ कार्य णित् के होने से होते हैं वे सब सर्वनामस्थान के परे होने से भी हो जाएंगे ।

यहां पर कात्यायनजी ने दो वार्त्तिक लिखे हैं । (१) ओतो णिद् इति वाच्यम् । (२) विहितविशेषणञ्च । इन का अभिप्राय यह है कि—यदि केवल गोशब्द से परे ही सर्वनामस्थान णित् हो तो 'सुद्यो' शब्द के—'सुद्यौः, सुद्यावौ, सुद्यावः' ये रूप सिद्ध न हो सकेंगे । अतः सूत्र में 'गोतः' पद को हटा उस के स्थान पर 'ओतः' यह सामान्यनिर्देश करना ही उचित है । परन्तु केवल उस 'ओतः' से भी पूरा काम नहीं चल सकता, क्योंकि तब 'हे भानो + स्, हे वायो + स्' इत्यादि स्थानों पर भी णिद्वत् हो कर वृद्धि आदि अनिष्ट प्रसक्त होगा । अतः यहां 'विहितम्' यह भी 'सर्वनामस्थानम्' का विशेषण कर देना चाहिये । 'हे वायो+स्, हे भानो+स्' आदि प्रयोगों में सर्वनामस्थान, ओकारान्त से विधान नहीं किया गया अपितु भानु, वायु आदि उकारान्त शब्दों से विधान किया गया है । अतः णिद्भाव न होने में कोई दोष नहीं आता । अर्थः—(गोतः = ओतः) ओकारान्त से (विहितम्, सर्वनामस्थानम्) विधान किया हुआ सर्वनामस्थान (णित्) णिद्वत् होता है ।

'गो+स्' (सुँ) यहां ओकारान्त शब्द 'गो' है इस से विहित सर्वनामस्थान 'सुँ' है । अतः प्रकृतसूत्र से सर्वनामस्थान णिद्वत् हुआ । णिद्वत् होने पर 'अचो ञ्णिति'

(१८२) सूत्र से गो के अन्त्य ओकार को औकार वृद्धि हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'गौः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'गो + औ' इस दशा में प्रकृतसूत्र से णिद्वत् 'अचो ञ्णिति' (१८२) से ओकार वृद्धि और औकार को 'एचोऽयवायावः' (२२) से आव् आदेश हो कर 'गावौ' प्रयोग सिद्ध हुआ।

जस् में भी इसी तरह णिद्वत्, वृद्धि और आव् आदेश हो कर 'गावः' रूप बना।

'गो+अम्' यहां पर 'अमि पूर्वः' (१३४) को बान्ध कर 'गोतो णित्' (२१३) से णिद्वद्भाव प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१४ औतोऽम्शसोः ।६।१।९१॥

ओतोऽम्शसोरचि आकार एकादेशः। गाम्, गावौ, गाः। गवा। गवे। गोः २ इत्यादि।

अर्थः—ओकार से अम् व शस् का अच् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर आकार एकादेश हो।

व्याख्या—आ ।१।१। [यहां विभक्ति का लुक् हो जाता है] ओतः ।५।१। अम्शसोः ।६।२। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है।] अर्थः—(ओतः) ओकार से (अम्शसोः) अम् व शस् का (अचि) अच् परे हो तो (पूर्व-परयोः) पूर्वपर के स्थान पर (आ) आकार (एकः) एकादेश हो।

'गो + अम्' यहां ओकार से परे अम् का अच् वर्त्तमान है; अतः प्रकृतसूत्र से ओकार और अकार के स्थान पर आकार एकादेश हो कर 'गाम्' रूप सिद्ध हुआ।

'गो+अस्' (शस्) यहां भी प्रकृतसूत्र से आकार एकादेश हो रुँत्व विसर्ग करने से 'गाः' रूप बनता है। ध्यान रहे कि आकार पूर्वसवर्णदीर्घघटित नहीं अतः 'तस्माच्छसः····' (१३७) से सकार को नकार न होगा।

तृतीया और चतुर्थी के एकवचन में 'एचोऽयवायावः' (२२) से आव् आदेश हो कर क्रमशः 'गवा' और 'गवे' बना।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'ङसिङसोश्च' (१७३) से पूर्वरूप हो कर 'गोः' सिद्ध होता है। स्मरण रहे कि पदान्त न होने से पूर्वरूप आदि कार्य नहीं होते। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

गो=बैल (गमेर्डोः)

प्र०	गौः	गावौ	गावः	प०	गोः	गोभ्याम्	गोभ्यः
द्वि०	गाम्	,,	गाः	ष०	,,	गवोः	गवाम्
तृ०	गवा	गोभ्याम्	गोभिः	स०	गवि	,,	गोषु
च०	गवे	,,	गोभ्यः	सं०	हे गौः !	हे गावौ !	हे गावः !

(यहां ओकारान्त पुंलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

—— ०:❀:० ——

अब ऐकारान्त पुंलिङ्ग 'रै' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१५ रायो हलि ।७।२।८५॥

अस्याकारादेशो हलि विभक्तौ । राः, रायौ, रायः राभ्यामित्यादि ।

अर्थः—हलादि विभक्ति परे होने पर रै शब्द के ऐकार को आकार आदेश हो जाता है

व्याख्या—रायः ।६।१। आ ।१।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] हलि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। 'हलि' पद 'विभक्तौ' पद का विशेषण है, अतः तदादिविधि हो कर 'हलादौ विभक्तौ' बन जायगा । अर्थः—(हलि=हलादौ) हलादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (रायः) रै शब्द के स्थान पर (आ) आकार आदेश होता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से ऐकार को आकार होगा ।

'रा दाने' (अदा० प०) धातु से 'रातेर्डैः' (उणा० २२९) सूत्र द्वारा डै प्रत्यय कर टिलोप करने से 'रै' शब्द निष्पन्न होता है । राति=ददाति श्रेयोऽर्थं वा पात्रेभ्य इति वा । रायते=दीयत इति रा इति वा । धन, सूर्य वा सुवर्ण को 'रै' कहते हैं ।

सुँ, भ्याम् ३, भिस्, भ्यस् २, सुप्—ये आठ हलादि विभक्तियां हैं । इन में प्रकृतसूत्र से रै को आकार आदेश हो जायगा । अन्यत्र अजादियों में 'एचोऽयवायावः' (२२) से आय् आदेश होगा । रूपमाला यथा—

प्र०	राः	रायौ	रायः	प०	रायः	राभ्याम्	राभ्यः
द्वि०	रायम्	,,	,,	ष०	,,	रायोः	रायाम्
तृ०	राया	राभ्याम्	राभिः	स०	रायि	,,	रासु
च०	राये	,,	राभ्यः	सं०	हे राः !	हे रायौ !	हे रायः !

(यहां ऐकारान्त पुंलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

—— ०:❀:० ——

[लघु०] ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः । ग्लौभ्याम् इत्यादि ।

व्याख्या—'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा० प०) धातु से 'ग्ला-नुदिभ्यां डौः' (उणा० २२३) सूत्र द्वारा डौ प्रत्यय कर टिलोप करने से 'ग्लौ' शब्द निष्पन्न होता है । ग्लायति=कमलस्य हर्षक्षयं करोति (अन्तर्भावितण्यर्थ) इति ग्लौः=चन्द्रः ।

'ग्लौ' शब्द के औकार को सर्वत्र अजादि प्रत्ययों में 'एचोऽयवायावः' (२२) से आव् आदेश हो जाता है। हलादि विभक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। सुप् में केवल षत्व विशेष है। रूपमाला यथा—

प्र० ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः	प० ग्लावः	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः
द्वि० ग्लावम्	,,	,,	ष० ,,	ग्लावोः	ग्लावाम्
तृ० ग्लावा	ग्लौभ्याम्	ग्लौभिः	स० ग्लावि	,,	ग्लौषु
च० ग्लावे	,,	ग्लौभ्यः	सं० हे ग्लौः!	हे ग्लावौ!	हे ग्लावः!

इसी प्रकार 'जनौ' प्रभृति शब्दों के रूप होंगे।

[लघु०] इत्यजन्ताः पुंल्लिङ्गाः [शब्दाः]।

अर्थः—यहां 'अजन्तपुंल्लिङ्ग' शब्द समाप्त होते हैं।

व्याख्या—'अजन्त' शब्द में स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये कुत्व नहीं किया गया। यहां 'अजन्त-पुंल्लिङ्ग-प्रकरण' समाप्त होता है। इस के अनन्तर 'अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण' आरम्भ किया जायगा।

अभ्यास (३३)

(१) 'गोतो णित्' सूत्र में दोषों की उद्भावना कर के भगवान् कात्यायन के वचनों के अनुसार उन का समाधान करो।

(२) क्या कारण है कि ग्रन्थकार ने ऋदन्त शब्दों के आगे ओदन्त शब्द लिखे हैं?

(३) 'रायो हलि' सूत्र में 'हलि' पद का ग्रहण न करें तो क्या दोष उत्पन्न होगा?

(४) 'औतोऽम्शसोः' सूत्र का पदच्छेद कर यह बताएं कि यह सूत्र 'ग्लौ' शब्द में क्यों प्रवृत्त (?) होता है?

(५) 'गो+अस्' (ङसि व ङस्) यहां 'एचोऽयवायावः' और 'एङः पदान्तादति' सूत्रों में कौन प्रवृत्त (?) होगा? कारण साथ लिखो।

(६) गो, रै और ग्लौ शब्दों का उच्चारण लिखते हुए गाः, गौः, राभ्याम् और ग्लावि प्रयोगों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखो।

(७) 'अजन्ताः' यहां कुत्व क्यों नहीं होता?

(यहां औकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

———०:❀:०———

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याम्
अजन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणं
पूर्त्तिमगात्।

❀ अथ अजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणम् ❀

अजन्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के अनन्तर अब अजन्त-स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन किया जाता है। शब्दों का विवेचन प्रत्याहारक्रम से हुआ करता है। यथा—अ = अकारान्त, आकारान्त। इ = इकारान्त, ईकारान्त। उ = उकारान्त, ऊकारान्त। ऋ = ऋकारान्त, ॠकारान्त। ऌ = ऌकारान्त। ए = एदन्त। ओ=ओदन्त। ऐ=ऐदन्त। औ=औदन्त।

तो इस प्रकार सर्वप्रथम अकारान्तों का नम्बर आता है, परन्तु स्त्रीलिङ्ग में कोई अकारान्त शब्द नहीं रह सकता; क्योंकि सर्वत्र 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४९) द्वारा अदन्तों से 'टाप्' प्रत्यय हो जाता है। 'टाप्' के अनुबन्धों का लोप हो कर सवर्णदीर्घ करने से आकारान्त शब्द बन जाता है। अतः सर्वप्रथम आकारान्त शब्दों का ही विवेचन किया जाएगा।

[लघु०] रमा।

व्याख्या—'रमुँ क्रीडायाम्' (भ्वा० आ०) धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (७८६) सूत्र द्वारा 'अच्' प्रत्यय करने पर 'रम' शब्द बन जाता है। तब स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप और सवर्णदीर्घ करने से 'रमा' शब्द निष्पन्न होता है। 'रमा' का अर्थ है 'लक्ष्मी'।

'रमा' शब्द से स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति प्रातिपदिकसञ्ज्ञा किये बिना ही हो जाती है; क्योंकि स्वादिप्रत्यय जैसे प्रातिपदिक से परे होते हैं वैसे ङ्यन्त और आबन्त से परे भी होते हैं (देखो सूत्र ११८)।

'रमा + स् (सुँ)' यहां 'रमा' शब्द आबन्त (टाबन्त) है, अतः इस से परे 'हल्ङ्याब्भ्यः ···' (१७९) सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो कर 'रमा' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—यद्यपि यहां विभक्ति का लोप हो गया है; तथापि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) सूत्र द्वारा यहां पदसञ्ज्ञा तो रहेगी ही। विभक्ति लाने का फल भी यही है।

'रमा + औ' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से उस का निषेध हो जाता है। अब 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश की प्राप्ति होती है। इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१६ औङ आपः ।७।१।१८॥

आबन्तादङ्गात् परस्य औङः शी स्यात् । 'औङ्' इत्यौकारविभक्तेः सञ्ज्ञा । रमे । रमाः ।

अर्थः—आबन्त अङ्ग से परे औङ् को शी आदेश हो । 'औङ्' यह 'औ'कार-विभक्ति—औ और औट् की सञ्ज्ञा है ।

व्याख्या—आपः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' इस अधिकृत का विभक्ति-विपरिणाम हो जाता है ।] औङः ।६।१। शी ।१।१। ['जसः शी' से] 'आपः' यह 'अङ्गात्' पद का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'आबन्ताद् अङ्गात' बन जाता है । अर्थः—(आपः) आबन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (औङः) औङ् के स्थान पर (शी) शी आदेश होता है ।

पाणिनिजी से पूर्ववर्ती आचार्य प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन को 'औङ्' कहते थे । महामुनि पाणिनि ने भी उसी सञ्ज्ञा का अपने शास्त्र में व्यवहार किया है ।

'रमा + औ' यहां आबन्त अङ्ग रमा से परे औङ् को शी आदेश हुआ । अब स्थानिवद्भाव से 'शी' में प्रत्ययत्व ला कर प्रत्यय के आदि शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो—रमा+ई । पुनः 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश करने से 'रमे' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'रमा+अस्' (जस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, उस का 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध हो जाता है । अब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'रमाः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'हे रमा + स्' यहां सम्बुद्धि में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१७ सम्बुद्धौ च ।७।३।१०६॥

आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ । 'एङ्ह्रस्वाद्—' इति सम्बुद्धिलोपः । हे रमे !, हे रमे !, हे रमाः ! । रमाम् । रमे । रमाः ।

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर 'आप्' को 'ए' आदेश हो ।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । आपः ।६।१। ['आङि चापः' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] एत् ।१।१। ['बहुवचने झल्येत्' से] 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'आपः' से तदन्तविधि हो कर 'आबन्तस्य अङ्गस्य' बन जायगा । अर्थः—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (आपः=आबन्तस्य) आबन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के

स्थान पर (एत्) एकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य आकार को एकार आदेश होगा।

'हे रमा + स्' यहां 'स्' यह सम्बुद्धि परे है ही अतः प्रकृतसूत्र से आकर को एकार हो गया। तब 'हे रमे + स्' इस स्थिति में 'एङ्ह्रस्वात्—' (१३४) सूत्र से सम्बुद्धि के सकार का लोप होने से 'हे रमे !' रूप सिद्ध हुआ।

सम्बोधन के द्विवचन और बहुवचन में प्रथमा के समान प्रक्रिया होती है—हे रमे !, हे रमाः !।

ध्यान रहे कि सम्बोधन के एकवचन और द्विवचन में एक समान रूप बनने पर भी प्रक्रिया में बड़ा अन्तर होता है।

'रमा + अम्' इस अवस्था में 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप एकादेश हो कर 'रमाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में प्रथमावत् 'रमे' रूप बनता है।

द्वितीया के बहुवचन में 'रमा + अस्' (शस्)। इस स्थिति में दीर्घ से परे जस् व इच् वर्त्तमान न होने से 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध न हुआ। अतः पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर रुँत्व विसर्ग करने से—'रमाः' प्रयोग सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) सूत्र पुँल्लिङ्ग में ही शस् के सकार को नकार आदेश करता है अन्यत्र नहीं अत एव यहां स्त्रीलिङ्ग में उस की प्रवृत्ति न होगी। एवम् आगे भी इस प्रकरण में सर्वत्र जान लेना चाहिये।

'रमा + आ' (टा) यहां सवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१८ आङि चापः ।७।३।१०५॥

आङि ओसि चाप एकारः। रमया। रमाभ्याम्। रमाभिः।

अर्थः—आङ् अथवा ओस् परे हो तो 'आप्' को 'ए' आदेश हो।

व्याख्या—आङि ।७।१। ओसि ।७।१। ['ओसि च' से] च इत्यव्ययपदम्। आपः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] एत् ।१। 'बहुवचने झल्येत्' से] आपः' यह 'अङ्गस्य' पद का विशेषण है, अतः तदन्तविधि हो कर 'आबन्तस्य अङ्गस्य' बन जायगा। अर्थः—(आङि) आङ् (च) अथवा (ओसि) ओस् परे होने पर (आपः=आबन्तस्य) आबन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) एकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य आकार के स्थान पर ही एकार आदेश होगा।

'टा' विभक्ति को ही पूर्वाचार्य 'आङ्' कहते हैं—यह पीछे (१७१ सूत्र पर) स्पष्ट हो चुका है।

'रमा + आ' इस दशा में आङ् परे रहने पर आबन्त अङ्ग 'रमा' के अन्त्य आकार को एकार हुआ। तब 'एचोऽयवायावः' (२२) सूत्र से एकार को 'अय्' हो कर 'रमया' रूप सिद्ध हुआ।

'रमा + भ्याम्'=रमाभ्याम। 'रमा + भिस्=रमाभिः। यहां ह्रस्व अकार से परे न होने के कारण 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं हुआ।

'रमा + ए' (ङे) यहां वृद्धि एकादेश के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१६ याडापः ।७।३।११३॥

आपो ङितो याट्। वृद्धिः—रमायै। रमाभ्याम् २। रमाभ्यः २। रमायाः २। रमयोः २। रमाणाम्। रमायाम्। रमासु।

अर्थः—आबन्त अङ्ग से परे ङित् वचनों को 'याट्' आगम हो।

व्याख्या—याट् ।१।१। आपः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' इस अधिकृति का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है।] ङितः ।६।१। ['घेर्ङिति' से] अर्थः—(आपः=आबन्तात्) आबन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ङितः) ङिद्वचन का अवयव (याट्) याट् हो। याट् में टकार इत्सञ्ज्ञक है, अतः उस का लोप हो जाता है। टित् होने से याट् ङिद्वचनों का आद्यवयव होता है।

'रमा + ए' इस अवस्था में आबन्त अङ्ग 'रमा' से परे ङित् प्रत्यय 'ङे' को 'याट्' आगम हुआ। तब 'रमा+या ए' इस स्थिति में 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'रमायै' रूप सिद्ध हुआ।*

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'रमा+अस्' इस अवस्था में प्रकृतसूत्र से याट् आगम हो 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'रमायाः' रूप बनता है।

षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में 'रमा + ओस्' इस दशा में 'आङि चापः' (२१८) सूत्र से मकारोत्तर आकार को एकार हो अय् आदेश करने से 'रमयोः' प्रयोग सिद्ध होता है।

षष्ठी के बहुवचन में 'रमा + आम्' इस अवस्था में आबन्त होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से नुट् आगम तथा 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से नकार को णकार हो कर 'रमाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।†

---

* ध्यान रहे कि यहां आगम 'याट्' है; आट् नहीं, अतः 'आटश्च' (१९७) प्रवृत्त न होगा। 'समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः'।

† 'रमा+नाम्' इत्यत्र 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' इतिपरिभाषया दीर्घस्यापि दीर्घ इति केचिदाहुः। वस्तुतस्तु नैतादृशेषु मुधा सूत्रप्रवृत्तिः। अत्र विस्तरभियाऽस्माभिर्नैतत् प्रपञ्च्यते। सिद्धान्तकौमुदी-व्याख्यावसरे स्फुटीकरिष्यते।

सप्तमी के एकवचन में 'रमा+ङि' इस अवस्था में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (१९८) सूत्र से 'ङि' को 'आम्' आदेश हो आम् में स्थानिवद्भाव से ङित्व ला कर 'याडापः' (२१९) से याट् का आगम हो जाता है। तब 'रमा + या आम्' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ करने से 'रमायाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के बहुवचन में 'रमा + सु' इस दशा में इण् व कवर्ग न होने से षत्व नहीं होता—रमासु। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	रमा	रमे	रमाः	पं०	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
द्वि०	रमाम्	,,	,,	ष०	,,	रमयोः	रमाणाम्
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः	स०	रमायाम्	,,	रमासु
च०	रमायै	,,	रमाभ्यः	सं०	हे रमे !	हे रमे !	हे रमाः !

[लघु०] एवं दुर्गाम्बिकादयः।

अर्थः—इसी प्रकार सभी आकारान्त स्त्रीलिङ्ग—दुर्गा, अम्बिका आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

व्याख्या—हम बालकों के लिये अत्यन्त उपयोगी कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं। इन का उच्चारण रमावत् होता है। इन में भी पूर्ववत् '*' इस चिह्न वाले स्थानों में णत्वविधि जान लेनी चाहिये—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१अङ्गना	स्त्री	अर्चा	पूजा, मूर्त्ति	आशा	दिशा, उम्मेद
अचला	पृथ्वी	अवस्था	हालत	आस्था	पूज्यबुद्धि
अजा	बकरी	अविद्या	अज्ञान	इच्छा	चाह
अट्टालिका	अटारी	असूया	परगुणों में दोष	२५इज्या	यज्ञ
५अधित्यका	पर्वत के ऊपर		लगाना	इन्दिरा*	लक्ष्मी
	की भूमि	१५अहिंसा	हिंसा न करना	ईप्सा	पाने की इच्छा
अनामिका	कनिष्ठा के साथ	आकाङ्क्षा*	इच्छा	ईर्ष्या*	डाह
	वाली अङ्गुली	आख्या	नाम	ईहा	इच्छा, चेष्टा
अनित्यता	नश्वरता	आज्ञा	हुक्म	३०उग्रता	भयानकता
अनुज्ञा	आज्ञा	आत्मजा	पुत्री	उत्कण्ठा	प्रबल इच्छा
अमावस्या	अमावस	२०आपगा	नदी	उपकार्या*	तम्बू
१०अयोध्या	प्रसिद्ध नगर	आशङ्का	शक	उपमा	सादृश्य

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
उपत्यका	पर्वत के समीप	६०क्षुधा	भूख	छाया	छाया
	की भूमि	खेला	खेल	छिक्का	छींक
३५उपेक्षा*	लापरवाही	गङ्गा	प्रसिद्ध नदी	छुरिका*	छुरी
उमा	पार्वती	गदा	गदा	९०जटा	जटा
उर्वरा*	उपजाऊ भूमि	गवेषणा	खोज, तलाश	जडता	मूर्खता
उषा*	प्रभात	६५गुञ्जा	रत्ती	जनता	पब्लिक
एला	इलायची	गुटिका	गोली	जलौका	जोंक
४०कथा	कहानी	गुडाका	निद्रा	जाया	स्त्री
कनीनिका	नेत्र-पुतली	गुहा	गुफा	९५जिज्ञासा	ज्ञान की इच्छा
कन्था	गोदड़ी	गोशाला	गौओं का स्थान	जिह्वा	जीभ
कन्या	क्वारी लड़की	७०ग्रीवा*	गर्दन	जीविका	गुजारा
कपर्दिका	कौड़ी	घटा	मेघों व हाथियों	जुगुप्सा	निन्दा
४५कला	चन्द्रकला आदि		का समूह	ज्या	धनुष-डोरी
कल्पना	रचना	घण्टिका	छोटी घण्टी	१००झञ्झा	तूफ़ान
कशा	चाबुक	घृणा	दया, अरुचि	तन्द्रा*	ऊंघना
कस्तूरिका*	कस्तूरी	घोषणा	ढिंढोरा	तनया	पुत्री
कान्ता	मनोहरा	७५चन्द्रिका*	चान्दनी	तपस्या	तपस्या
५०काष्ठा	दिशा, चरम	चपला	विद्युत्	तमिस्रा*	अन्धेरी रात
	सीमा	चर्चा	लेप, विचार	१०५तारा	बाली की पत्नी
कुत्सा	निन्दा	चर्या*	चालचलन	तितिक्षा*	सहनशीलता
कुलटा	व्यभिचारिणी	चिकित्सा	इलाज	तुला	तराजू
कुल्या	नहर	८०चिकीर्षा*	करने की इच्छा	त्रिपथगा	गङ्गा
कृपा*	दया	चिता	चिता	त्रियामा*	रात्रि
५५केका	मयूर-वाणी	चिन्ता	फ़िकर	११०त्रेता	त्रेतायुग
कौशल्या	राममाता	चूडा	चोटी	दक्षिणा‡	यज्ञान्त में देय
क्षपा*	रात्रि	चेतना	समझ, ज्ञान	दया	रहम
क्षमा*	माफ़ी	८५चेष्टा	हरकत	दशा	हालत
क्ष्मा*	पृथ्वी	छटा	चमक	दंष्ट्रा*	दाढ़

‡ दिशावाची दक्षिणा शब्द का उच्चारण तो 'सर्वा' शब्दवत् होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
११५दारा*	स्त्री†	निष्ठा	स्थिति, विश्वास	प्रतिभा	प्रत्युत्पन्न बुद्धि
दीर्घिका*	बावली	नौका	किश्ती	प्रतिमा	मूर्त्ति, सदृशता
दुर्गा*	पार्वती	पताका	झण्डी	प्रतिष्ठा	इज़्ज़त
दूषिका*	नेत्रों का मल	पतिव्रता	पतिव्रता	१५०प्रभा*	दीप्ति
देवता	इन्द्र आदि	१३५पद्मा	लक्ष्मी	प्रसन्नता	खुशी
१२०दोला	पालकी, पींग	परम्परा*	सिलसला	प्रसूता	प्रसूत हुई
धरा*	पृथ्वी	परिचर्या*	सेवा	प्रहेलिका	पहेली
धारणा	विचार	परीक्षा*	जाञ्च	बाधा	रुकावट
धारा*	धार	पाठशाला	विद्यालय	१५५भाषा*	बोली
ध्वजा‡	ध्वजवती सेना	१४०पिङ्गला	एक नाड़ी	भुजा+	बाहु
१२५नवोढा	नवविवाहिता	पिपासा	प्यास	भ्रातृजाया	भाई की पत्नी
नासा	नासिका	पिपीलिका	च्योंटी	मज्जा	हड्डियों का सार
नित्यता	सदा होना	पीडा	दुःख	मञ्जूषा*	पेटी, सन्दूक
निद्रा*	नींद	पूर्णिमा	पूर्णमासी	१६०मथुरा*	प्रसिद्ध नगरी
निन्दा	शिकायत	१४५प्रतिज्ञा	प्रण	मदिरा*	शराब
१३ निशा	रात्रि, हल्दी	प्रतिपदा	परवा तिथि	मन्दुरा*	अश्वशाला

† संस्कृतसाहित्य में स्त्रीवाची 'दार' शब्द ही बहुधा प्रयुक्त होता है। तब यह अदन्त पुंलिङ्ग तथा नित्यबहुवचनान्त ही हुआ करता है। यथा—

"आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि। आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥"
[महाभारत १।१५६।२७।]

"दशरथदारानधिष्ठाय भगवान् वसिष्ठः प्राप्तः।" [उत्तररामचरित ४ अङ्क]

"एते वयममी दाराः।" [कुमार० ६।६३।]

परन्तु यह कहीं २ आबन्त भी मिलता है। तब यह बहुवचनान्त नहीं होता। यथा—

"क्रोडा हारा तथा दारा अग एते यथाक्रमम्। क्रोडे हारे च दारेषु शब्दाः प्रोक्ता मनीषिभिः॥"

श्रीमद्भागवत ७. १४. ११ में एकवचनान्त दारा शब्द प्रयुक्त भी हुआ है। यथा—

"अप्येकाम् आत्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यथा।"

श्रीहेमचन्द्राचार्य 'दार' शब्द को भी एकवचनान्त मानते हैं। उन्हों ने किसी ग्रन्थ का प्रयोग भी उद्धृत किया है। यथा—

"धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यं कुर्वीत" इति।

‡ पताका अर्थ में 'ध्वज' शब्द अदन्त होता है और तब वह प्रायः पुंलिङ्ग होता है।

+ यह शब्द प्रायः अदन्त पुंलिङ्ग ही प्रयुक्त होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
मरुमरीचिका	मृगतृष्णा	१९०लालसा	अभिलाषा	शकुन्तला	दुष्यन्त-पत्नी
माया	प्रकृति, छल	लाला	लार	२२०शङ्का	शक
१६५माला	माला	लिप्सा	लाभेच्छा	शय्या	शयनस्थान
मुद्रा*	मोहर	लीला	क्रीडा	शर्करा*	शक्कर
मूषा*	कुठाली	लेखा	रेखा	शलाका	सलाई
मृत्सा	अच्छी मट्टी	१९५वडवा	घोड़ी	शाखा	टहनी
मृत्स्ना	अच्छी मट्टी	वनिता	स्त्री	२२५शारदा	सरस्वती
१७०मृद्वीका	द्राक्षा	वन्ध्या	बा ·ँ	शाला	घर
मेखला	कमरबन्द	वरटा	हंस का मादा	शिक्षा*	उपदेश
मेना	हिमाचल-पत्नी	वर्त्तिका	बटेर	शिखा	चोटी
यवनिका	पर्दा	२००वसा	चर्बी	शिञ्जा	भूषणों का शब्द
यातना	तीव्र वेदना	वसुधा	पृथ्वी	२३०शिला	पत्थर
१७५यात्रा*	प्रस्थान	वाटिका	फुलबगिया	शिवा	दुर्गा, गीदड़ी
रक्षा*	पालना	वात्या	आंधी	शिविका	पालकी
रचना	बनाना, कृति	वामा	सुन्दरी	शोभा	चमक
रजस्वला	मासिक धर्म-वती स्त्री	२०५वाराङ्गना	वेश्या	श्रद्धा	विश्वास
		वार्त्ता	व्यापार, संवाद	२३५श्लाघा	प्रशंसा
रथ्या	गली	वालुका	रेत	सङ्ख्या	सङ्ख्या
१८०रसना	जीभ	विचिकित्सा	संशय	सञ्ज्ञा	नाम
राका*	पूर्णमासी	विजया	भांग	सटा	सिंह की ग्रीवा के बाल
राजिका	राई	२१०विद्या	विद्या		
राधा	प्रसिद्ध गोपी	विधवा	पतिरहित।	सत्क्रिया*	सत्कार
रुजा	रोग, पीडा	विसूचिका	हैज़ा रोग	२४०सधवा	जीवितभर्तृका
१८५रेखा*	लकीर	विष्ठा	टट्टी, मल	सन्ध्या	सान्झ
रेणुका	परशुराममाता	वीणा	वाद्यविशेष	सपर्या*	सेवा
लक्षणा	शब्द शक्ति विशेष	२१५वेदना	दुःख	सभा	सभा
		वेश्या	पण्य स्त्री	समज्ञा	यश
लता	बेल	व्यथा	दुःख	२४५समस्या	समस्यापूर्त्यर्थ श्लोकपाद
लाक्षा*	लाख	व्यवस्था	नियम		

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
सरघा*	मधुमक्खी	सुधा	अमृत	२६०स्वतंत्रता	आज़ादी
सरटा	छिपकली	सुरा*	शराब	हरिद्रा*	हल्दी
सहायता	मदद	२५५सुषमा*	बहुत शोभा	हिक्का	हिचकी
सहिष्णुता	सहनशीलता	सेना	फ़ौज	हिमाद्रिजा	पार्वती
२५०सास्ना	गलकम्बल	सेवा	सेवा	हिमाद्रि-	
सीमा †	हद	सोदर्या*	सगी बहिन	तनया	पार्वती
सुता	लड़की	स्पर्धा	बराबरी करना	२६५हेषा*	हिनहिनाहट

२६६—होरा*=एक घण्टा।

आकारान्त स्त्रीलिङ्ग में 'रमा' शब्द की अपेक्षा सर्वनामशब्दों तथा कुछ अन्य शब्दों में थोड़ा अन्तर पड़ता है; अब वह बताया जाता है। प्रथम सर्वनामशब्दों का वर्णन करते हैं।

'सर्व' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय करने से 'सर्वा' शब्द निष्पन्न होता है। लिङ्गविशिष्टपरिभाषा × से इस की भी सर्वत्र सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है।

ङित् विभक्तियों और आम् को छोड़ कर शेष सब विभक्तियों में इस का 'रमा' शब्द-वत् उच्चारण होता है।

'सर्वा + ए' (ङे)। यहां 'याडापः' (२१६) द्वारा याट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२२० सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ।७।३।११४॥

---

† यह शब्द नकारान्त स्त्रीलिङ्ग भी होता है।

× 'युवा खलति-पलित-वलिन-जरतीभिः' (२।१।६७) इस सूत्र द्वारा 'युवन्' शब्द का 'खलति, पलित, वलिन, जरती' इन समानाधिकरण शब्दों के साथ कर्मधारयसमास बताया गया है। इन शब्दों में 'जरती' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। 'जरती' शब्द का 'युवन्' इस पुंलिङ्ग के साथ तब तक समानाधिकरण नहीं हो सकता जब तक 'युवन्' को 'युवति' न बना दिया जाय। इस प्रकार 'जरती' शब्द के ग्रहण से यह प्रतीत होता है कि महामुनि पाणिनि—'युवन्' के ग्रहण से 'युवति' आदि स्त्रीलिङ्गों का भी ग्रहण चाहते हैं। अतएव परिभाषा निष्पन्न होती है—

"प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्।"

अर्थात् प्रातिपदिक के ग्रहण होने पर उस प्रातिपदिक के विशेष लिङ्गों का भी ग्रहण हो जाता है। यथा—'युवन्' के ग्रहण से 'युवति' का ग्रहण होता है। इसी प्रकार सर्वनामसञ्ज्ञा करते समय सर्वादिगण में सर्वा आदि स्त्रीलिङ्गों का भी समावेश समझ लेना चाहिए। इस परिभाषा का सङ्क्षिप्त नाम 'लिङ्गविशिष्टपरिभाषा' है।

आबन्तात् सर्वनाम्नो ङितः स्याट् स्याद्, आपश्च ह्रस्वः । सर्वस्यै । सर्वस्याः २ । सर्वासाम् । सर्वस्याम् । शेषं रमावत् ।

अर्थः—आबन्त सर्वनाम से परे ङित् प्रत्ययों को 'स्याट्' का आगम हो और साथ ही आबन्त अङ्ग के आप् को ह्रस्व भी हो ।

व्याख्या—आपः ।५।१। ['याडापः' से] सर्वनाम्नः ।५।१। ङितः ।६।१। ['घेर्ङिति' से विभक्तिविपरिणाम कर के] स्याट् ।१।१। ह्रस्वः ।१।१। [सूत्रपाठे तु—'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वे 'झयो होऽन्यतरस्याम्' इति पूर्वसवर्णत्वे च कृते 'स्याड्ढ्रस्वः' इति प्रयोगः प्रयुज्यते ।] च इत्यव्ययपदम् । 'सर्वनाम्नः' का विशेषण होने से 'आपः' से तदन्तविधि हो कर 'आबन्तात्' बन जाता है । अर्थ करते समय इस की आवृत्ति की जाती है । अर्थः—(आपः = आबन्तात्) आबन्त (सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (ङितः) ङित् वचनों का अवयव (स्याट्) 'स्याट्' हो जाता है (च) और साथ ही (आपः = आबन्तस्य) आबन्त के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है ।

ङे, ङसि, ङस्, ङि—ये चार ङित् विभक्तियां हैं; इन में याट् का आगम प्राप्त था, इस सूत्र से स्याट् का आगम विधान किया जाता है । अतः यह सूत्र 'याडापः' (२१६) सूत्र का अपवाद है । 'स्याट्' में टकार इत्सञ्ज्ञक है, अतः टित् होने से ङित् प्रत्यय का आद्यवयव होता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से आबन्त के अन्त्य आकार को ह्रस्व होता है ।

'सर्वा+ए' (ङे) यहां प्रकृतसूत्र से 'स्याट्' का आगम तथा आप को ह्रस्व हो कर 'सर्व + स्या ए' हुआ । अब 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर 'सर्वस्यै' प्रयोग सिद्ध होता है ।

पञ्चमी व षष्ठी के एकवचन में 'सर्वा + अस्' (ङसि व ङस्) इस अवस्था में स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व हो जाता है । तब सवर्णदीर्घ करने पर 'सर्वस्याः' प्रयोग निष्पन्न होता है ।

षष्ठी के बहुवचन में 'सर्वा + आम्' इस स्थिति में 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५) से सुट् आगम हो कर अनुबन्धलोप करने से 'सर्वासाम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'ङि' में 'सर्वा + ङि' इस दशा में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (१६८) से ङि को आम् आदेश और प्रकृतसूत्र से 'स्याट्' का आगम और आप् को ह्रस्व हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'सर्वस्याम्' रूप बनता है ।

'सर्वा' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वाः	प०	सर्वस्याः	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
द्वि०	सर्वाम्	,,	,,	ष०	,,	सर्वयोः	सर्वासाम्
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः	स०	सर्वस्याम्	,,	सर्वासु
च०	सर्वस्यै	,,	सर्वाभ्यः	सं०	हे सर्वे !	हे सर्वे !	हे सर्वाः !

[लघु०] एवं विश्वादय आबन्ताः ।

अर्थः—इसी प्रकार 'विश्वा' आदि आबन्त सर्वनामों की प्रक्रिया भी जान लेनी चाहिये।

व्याख्या—निम्नलिखित आबन्त सर्वनामों के रूप 'सर्वा' शब्दवत् होते हैं—

१. विश्वा। २. उभा*। ३. कतरा†। ४ कतमा। ५. यतरा। ६. यतमा। ७. ततरा। ८. ततमा। ९. एकतरा। १०. एकतमा। ११. अन्या। १२. अन्यतरा‡। १३. इतरा। १४. त्वा। १५. नेमा×। १६. समा+। १७. सिमा। १८ पूर्वा÷। १९ परा। २०. अवरा।

---

* 'उभा' शब्द सदा द्विवचनान्त ही प्रयुक्त होता है। अतः यहां इस में कोई सर्वनामकार्य नहीं होता। "अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्"।

'उभय' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय नहीं होता किन्तु गौरादिगण में पाठ होने के कारण अथवा तयप्प्रत्ययान्त होने से 'टिड्ढाणञ्—' (१२१७) सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय हो कर 'उभयी' शब्द निष्पन्न होता है। इस का द्विवचन में प्रयोग नहीं होता. उच्चारण 'नदी' शब्दवत् होता है। "उभयीं सिद्धिमुभाववापतुः" रघुवंश ८. २३.)।

† 'कतरा' आदि आठ शब्द डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त हैं। इन का पीछे (१५१) सूत्र पर स्पष्टीकरण कर चुके हैं।

‡ इसे डतरप्रत्ययान्त नहीं समझना चाहिए। 'अन्य' शब्द से डतर और डतम प्रत्ययों का विधान नहीं। अन्यतर और अन्यतम शब्द स्वतन्त्र अव्युत्पन्न हैं। इन में से प्रथम 'अन्यतर' शब्द सर्वादिगण में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है, दूसरा नहीं। अतः 'अन्यतमा' शब्द का 'रमा' शब्दवत् उच्चारण होता है।

× 'अर्ध' अर्थ में ही इस की सर्वनामता इष्ट है, अन्यथा 'रमा' शब्दवत् उच्चारण होगा। 'प्रथमचरम—' (१६०) सूत्र का स्त्रीलिङ्ग में कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

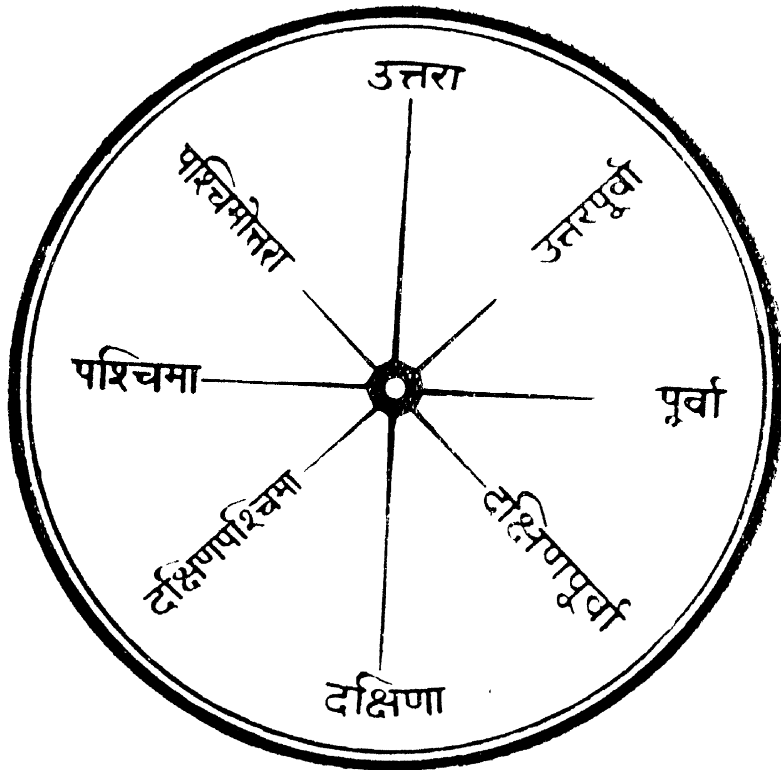
+ 'सर्व' अर्थ में ही सर्वनामता इष्ट है। 'तुल्य' अर्थ में तो 'रमा' शब्दवत् उच्चारण होगा।

÷ 'पूर्वा' आदि नौ शब्दों का उच्चारण सर्वावत् ही होता है, कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। यद्यपि जस् में इन की सर्वनामसञ्ज्ञा १५६, १५७, १५८ सूत्रों से विकल्प कर के होती है, तथापि इस से यहां स्त्रीलिङ्ग में कोई भेद नहीं पड़ता; क्योंकि यहां अदन्त न होने से 'जसः शी' (१५२) सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। ध्यान रहे कि 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' (१५९) सूत्र ङसि और ङि में सर्वनामसञ्ज्ञा का विकल्प नहीं करता किन्तु स्मात् और स्मिन् आदेशों का ही विकल्प करता है। सर्वनामसञ्ज्ञा तो

२१. दक्षिणा। २२. उत्तरा। २३. अपरा। २४. अधरा। २५. स्वा। २६. अन्तरा। २७. एका *।

उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर् अन्तराला दिक्=उत्तरपूर्वा‡। 'दिङ्नामान्यन्तराले' (२.२.२६) इति बहुव्रीहिसमासः, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति पुंवद्भावः।

१. पूर्व, २. पश्चिम, ३. उत्तर और ४. दक्षिण ये चार दिशाएं होती हैं। दो दिशाओं के बीच में आने वाला कोना 'उपदिशा' कहलाता है। इस प्रकार उपदिशाएं भी चार हो जाती हैं। यथा—



उत्तर और पूर्व दिशा की मध्यवर्ती उपदिशा 'उत्तरपूर्वा' कहलाती है। 'उत्तरपूर्वा' शब्द की प्रथम तीन विभक्तियों में रमावत् प्रक्रिया होती है।

—इन में भी नित्य बनी रहती है। अतएव 'पूर्वस्याः, पूर्वस्याम्' आदि प्रयोगों में सर्वनामतामूलक स्याट् आदि कार्य करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। पाणिनि की बुद्धिमत्ता का यह ज्वलन्त प्रमाण है।

* सङ्ख्यावाची 'एका' शब्द एकवचनान्त ही प्रयुक्त होगा। अन्य, मुख्य आदि अर्थों में इस का सब वचनों में उच्चारण होगा।

‡ प्रायः सब वैयाकरण यहां 'उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालम्' इस प्रकार विग्रह करते हैं। परन्तु बालकों के लिए यह विग्रह कुछ कठिन है, क्योंकि वे 'यद् अन्तरालम्' इस नपुंसक का 'उत्तरपूर्वा' इस स्त्रीलिङ्ग के साथ सम्बन्ध नहीं समझ सकते। अतः उन के सौकर्यार्थ उपर्युक्त नवीन विग्रह रखा गया है।

चतुर्थी के एकवचन में 'उत्तरपूर्वा+ए' (ङे) इस स्थिति में 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) सूत्र से नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा होने के कारण 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२०) से स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व नित्य प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से सर्वनामसञ्ज्ञा का विकल्प किया जाता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२२१ विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ।१।१।२७॥

सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै।

अर्थः—दिशाओं के बहुव्रीहिसमास में सर्वादि विकल्प कर के सर्वनामसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—दिक्समासे ।७।१। बहुव्रीहौ ।७।१। सर्वादीनि ।१।३। विभाषा ।१।१। सर्वनामानि ।१।३। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से] समासः—दिशां समासः = दिक्समासः, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः— (दिक्समासे बहुव्रीहौ) दिशाओं के बहुव्रीहिसमास में (सर्वादीनि) सर्वादिगणपठित शब्द (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

दिशाओं का बहुव्रीहिसमास 'दिङ्नामान्यन्तराले' (२.२.२६) सूत्र से विधान किया जाता है। यहां उसी का ग्रहण अभीष्ट है।

'उत्तरपूर्वा' शब्द में दिशाओं का बहुव्रीहिसमास हुआ है, अतः प्रकृतसूत्र से इस की विकल्प कर के सर्वनामसञ्ज्ञा होगी। सर्वनामसञ्ज्ञापक्ष में सर्वावत् स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व आदि कार्य होंगे। सर्वनामसञ्ज्ञा के अभाव में रमावत् याट् का आगम आदि कार्य होंगे। आम् में सर्वनामपक्ष में सुट् आगम और तदभावपक्ष में नुट् आगम विशेष होगा। रूपमाला यथा—

प्रथमा	उत्तरपूर्वा	उत्तरपूर्वे	उत्तरपूर्वाः
द्वितीया	उत्तरपूर्वाम्	,,	,,
तृतीया	उत्तरपूर्वया	उत्तरपूर्वाभ्याम्	उत्तरपूर्वाभिः
चतुर्थी	उत्तरपूर्वस्यै—पूर्वायै	,,	उत्तरपूर्वाभ्यः
पञ्चमी	उत्तरपूर्वस्याः—पूर्वायाः	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	उत्तरपूर्वयोः	उत्तरपूर्वासाम्—पूर्वाणाम्
सप्तमी	उत्तरपूर्वस्याम्—पूर्वायाम्	,,	उत्तरपूर्वासु
सम्बोधन	हे उत्तरपूर्वे !	हे उत्तरपूर्वे !	हे उत्तरपूर्वाः !

इसी प्रकार—दक्षिणपूर्वा, पूर्वोत्तरा, पश्चिमोत्तरा, पश्चिमदक्षिणा, पूर्वदक्षिणा आदि शब्दों के उच्चारण होते हैं* ।

[लघु०] तीयस्येति वा सञ्ज्ञा । द्वितीयस्यै, द्वितीयायै । एवं तृतीया ।

व्याख्या—'तीयस्य ङित्सु वा' (वा० १६) द्वारा तीयप्रत्ययान्त द्वितीया (दूसरी) और तृतीया (तीसरी) शब्द केवल ङित् वचनों में ही विकल्प से सर्वनाम-सञ्ज्ञक होते हैं । अतः 'ङे, ङसि, ङस्, ङि' इन चार विभक्तियों में दो २ रूप बनते हैं; अर्थात् जहां सर्वनामसञ्ज्ञा होती है वहां 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२०) से स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व हो जाता है । सर्वनामसञ्ज्ञा के अभाव में 'याडापः' (२१६) से याट् का आगम हो जाता है । इस प्रकार ङिद्वचनों में दो २ रूप बनते हैं । रूपमाला यथा—

प्र०	द्वितीया	द्वितीये	द्वितीयाः
द्वि०	द्वितीयाम्	,,	,,
तृ०	द्वितीयया	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयाभिः
च०	द्वितीयस्यै, द्वितीयायै	,,	द्वितीयाभ्यः
प०	द्वितीयस्याः, द्वितीयायाः	,,	,,
ष०	,, ,,	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
स०	द्वितीयस्याम्, द्वितीयायाम्	,,	द्वितीयासु
सं०	हे द्वितीये !	हे द्वितीये !	हे द्वितीयाः !

इसी प्रकार 'तृतीया' शब्द का उच्चारण होता है ।

ध्यान रहे कि 'तीयस्य ङित्सु वा' द्वारा आम् में सर्वनामता नहीं होती; अतः पक्ष में सुट् का आगम नहीं होता । उत्तरपूर्वा और द्वितीया के उच्चारण में यही अन्तर है ।

[लघु०] 'अम्बार्थे'ति ह्रस्वः—हे अम्ब !, हे अक्क !, हे अल्ल ! ।

व्याख्या—अम्बा, अक्का, अल्ला आदि शब्दों का अर्थ 'माता=पार्वती' है । इन की प्रक्रिया रमाशब्दवत् होती है; केवल सम्बुद्धि में ही कुछ विशेष है । सम्बुद्धि में 'अम्बार्थ-नद्योः—' (१९५) से ह्रस्व हो कर 'एङ्ह्रस्वात्—' (१३४) से सुलोप हो जाता है । इस प्रकार 'हे अम्ब !, हे अक्क !, हे अल्ल !' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

---

* 'दिङ्नामान्यन्तराले' सूत्र द्वारा होने वाले बहुव्रीहिसमास में पूर्वनिपात का कोई नियम नहीं होता । अतएव—"दक्षिणपूर्वा, पूर्वदक्षिणा । पश्चिमदक्षिणा, दक्षिणपश्चिमा । पश्चिमोत्तरा, उत्तरपश्चिमा । उत्तरपूर्वा, पूर्वोत्तरा ।" इत्यादि रूप काशिका (२.२.२६) में दिए गये हैं । "नक्षत्रत्रितयं पादमाश्रितं पूर्वदक्षिणम् " इत्यादि मार्कण्डेयपुराण (५८.२०) आदि के वचन भी इस में प्रमाण हैं ।

सूचना—ध्यान रहे कि महाभाष्य में दो अच् वाले अम्बार्थकों को ही ह्रस्व करना बताया है। अम्बाडा, अम्बाला, अम्बिका आदि शब्द दो अच् वाले नहीं अपितु दो से अधिक अचों वाले हैं; अतः अम्बार्थक होने पर भी इन को ह्रस्व न होगा। हे अम्बाडे !, हे अम्बाले !, हे अम्बिके ! इत्यादिप्रकारेण रूप बनेंगे। दृश्यतां (७.३.१०७) सूत्रस्थं महाभाष्यम्—'अम्बार्थं द्व्यक्षरं यदि' इति। सिद्धान्तकौमुद्यान्तु 'असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न' इति वार्त्तिकमपठितम्, तदपि भाष्यानुसारि। परं सरलः पन्थास्तु भाष्योक्त एव।

'अम्बा' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	अम्बा	अम्बे	अम्बाः	प०	अम्बायाः	अम्बाभ्याम्	अम्बाभ्यः
द्वि०	अम्बाम्	,,	,,	ष०	,,	अम्बयोः	अम्बानाम्
तृ०	अम्बया	अम्बाभ्याम्	अम्बाभिः	स०	अम्बायाम्	,,	अम्बासु
च०	अम्बायै	,,	अम्बाभ्यः	सं०	हे अम्ब !	हे अम्बे !	हे अम्बाः !

इसी प्रकार—अक्का, अल्ला आदि शब्दों के रूप बनते हैं।

नोट—'अल्ला' शब्द मुसलमानों ने बेतरह पकड़ रक्खा है; अम्बा अल्ला आदि शब्द दुर्गा (शक्ति) के माने जाते हैं। इसलिये सम्भव है कि मुसलमान शाक्त हिन्दुओं से निकले हों और कालक्रम से आचारादिभिन्नता के कारण हम से पृथक् हो गये हों—इस में आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार ईसाइयों का 'गिर्जाघर' भी शायद 'गिरिजा-गृह' ही हो; वे भी शाक्तों से निकले हों।

[लघु०] जरा, जरसौ इत्यादि। पक्षे हलादौ च रमावत्।

व्याख्या—'जॄष् वयोहानौ' (दिवा० परस्मै०) धातु से 'स्त्रियाम्' (३.३.९४) के अधिकार में 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३.३.१०४) सूत्र से अङ् प्रत्यय तथा 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७.४.१६) से अर् गुण हो कर टाप् प्रत्यय करने से 'जरा' शब्द सिद्ध होता है। 'जरा' शब्द का अर्थ 'बुढ़ापा' है।

अजादि विभक्तियों में सर्वत्र सर्वप्रथम 'जराया जरसन्यतरस्याम्' (१६१) सूत्र से 'जरा' के स्थान पर 'जरस्' आदेश हो जाता है। जरस् के अभाव में रमावत् प्रक्रिया होगी। रूपमाला यथा—

प्र०	जरा	जरसौ, जरे	जरसः, जराः
द्वि०	जरसम्, जराम्	,, ,,	,, ,,
तृ०	जरसा, जरया	जराभ्याम्	जराभिः
च०	जरसे, जरायै	,,	जराभ्यः

प०	जरसः, जरायाः	जराभ्याम्	जराभ्यः
ष०	,, ,,	जरसोः, जरयोः	जरसाम्, जराणाम्
स०	जरसि, जरायाम्	,, ,,	जरासु
सं०	हे जरे !	हे जरसौ !, हे जरे !	हे जरसः !, हे जराः !

नोट—'जरा + औ' यहां परत्व के कारण शी आदेश से पूर्व जरस् आदेश हो जाता है; यदि प्रथम शी आदेश होता तो 'जरसी' यह अनिष्ट रूप बन जाता। एवम् आगे भी जान लेना चाहिये।

[लघु०] गोपा विश्वपावत् ।

व्याख्या—गां पाति=रक्षतीति गोपाः। 'गो'कर्मोपपदात् 'पा रक्षणे' (अदा० प०) इत्यस्माद्धातोः क्विपि लौकिके वा विचि 'गोपा'शब्दो निष्पद्यते। गौओं की रक्षा करने वाली स्त्री 'गोपा' कहाती है।

'गोपा + सुँ'। गोपाशब्द के अन्त में 'पा' धातु है 'आप्' नहीं, अतः 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७६) से सुँलोप नहीं होता। सकार को रुँत्व विसर्ग हो कर 'गोपाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'गोपा + औ' यहां भी आबन्त न होने से 'औङ आपः' (२१६) से शी आदेश नहीं होता। पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उस का भी 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध हो जाता है। अब 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'गोपौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'गोपा + अस्' (जस्) यहां भी पूर्ववत् पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो जाता है। तब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर—'गोपाः' रूप बनता है।

गोपा+अम्=गोपाम्। [अमि पूर्वः (१३५)]

'गोपा+अस्' (शस्) यहां भसञ्ज्ञक आकार का 'आतो धातोः' (१६७) से लोप हो कर 'गोपः' बनता है।

इसी प्रकार आगे सर्वत्र भसञ्ज्ञकों में आकार का लोप होता जाता है। रूपमाला यथा—

प्र०	गोपाः	गोपौ	गोपाः
द्वि०	गोपाम्	,,	गोपः *
तृ०	गोपा *	गोपाभ्याम्	गोपाभिः
च०	गोपे *	,,	गोपाभ्यः
प०	गोपः *	गोपाभ्याम्	गोपाभ्यः
ष०	,, *	गोपोः *	गोपाम् *
स०	गोपि *	,, *	गोपासु
सं०	हे गोपाः !	हे गोपौ !	हे गोपाः !

* इन स्थानों पर भसञ्ज्ञा हो कर आकार का लोप हो जाता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'विश्वपा' शब्द के समान होती है।

नोट—'क' प्रत्यय से सिद्ध 'गोप' शब्द से स्त्रीत्वविवक्षा में 'जातेरस्त्री—' (१२६१) सूत्र से ङीष् प्रत्यय कर 'गोपी' शब्द बनता है। इस का अर्थ है—गोप जाति की स्त्री। इस का उच्चारण आगे आने वाले 'नदी' शब्द के समान होता है।

(यहां आकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

———•:※:•———

अब ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] मतिः। मत्या।

व्याख्या—'मनँ ज्ञाने' (दिवा०, आत्मने०) धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'मति' शब्द सिद्ध होता है। मन्यतेऽनयेति मतिः। मननं वा मतिः। बुद्धि और ज्ञान को 'मति' कहते हैं।

इस का उच्चारण ङिद्वचनों से अन्यत्र प्रायः 'हरि' शब्द के समान होता है। तथाहि—

मति + सुँ = मतिः। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

मति + औ = मती। 'प्रथमयोः—' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ हो जाता है।

'मति + अस्' (जस्) इस स्थिति में 'जसि च' (१६८) से गुण हो कर अय् आदेश करने से 'मतयः' रूप सिद्ध होता है।

द्वितीया के बहुवचन में 'मति + अस्' (शस्) इस दशा में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं—मतीः। ध्यान रहे कि 'तस्माच्छसः—' (१३७) सूत्र में 'पुंसि' कहने से यहां स्त्रीलिङ्ग में नकार आदेश नहीं होता।

'मति + आ' (टा) यहां घिसञ्ज्ञा रहने पर भी 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) द्वारा टा को ना नहीं होता; क्योंकि 'अस्त्रियाम्' कथन के कारण उस की स्त्रीलिङ्ग में प्रवृत्ति नहीं होती। अब 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर 'मत्या' प्रयोग सिद्ध होता है।

'मति + ए' (ङे) यहां घिसञ्ज्ञा होने से 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण प्राप्त होता है। अब अग्रिम सूत्र द्वारा पक्ष में नदीसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२२२ ङिति ह्रस्वश्च।१।४।६॥

इयँङुवँङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसञ्ज्ञौ स्तो ङिति। मत्यै, मतये। मत्याः २, मतेः २।

अर्थः—'स्त्री'शब्द को छोड़ कर इयँङुवँङ्स्थानी नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार ऊकार ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक होते हैं। किञ्च—स्त्रीलिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द भी ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—ङिति ।७।१। ह्रस्वः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । इस सूत्र के दो खण्ड हैं। प्रथम यथा—अस्त्री ।१।१। इयँङुवँङ्स्थानौ ।१।२। ['नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री' से] स्त्र्याख्यौ ।१।२। यू ।१।२। नदी ।१।१। ['यू स्त्र्याख्यौ नदी' से] वा इत्यव्ययपदम् । ['वाऽऽमि' से] समासः—न स्त्री=अस्त्री, नञ्तत्पुरुषः । स्त्रीशब्दं वर्जयित्वेत्यर्थः । इयँङ् च उवँङ् च= इयँङुवँङौ, इतरेतरद्वन्द्वः । इयँङुवँङोः स्थानं-स्थितिर्ययोस्तौ इयँङुवँङ्स्थानौ, बहुव्रीहि-समासः । स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ, नित्यस्त्रीलिङ्गावित्यर्थः । ई च ऊ च=यू, इतरेतर-द्वन्द्वः । अर्थः—(अस्त्री) 'स्त्री'शब्द को छोड़ कर (इयँङुवँङ्स्थानौ) जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं ऐसे (स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्गी (यू) ईकार ऊकार (ङिति) ङिद्वचनों में (वा) विकल्प कर के (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

भावः—जिस नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द के ईकार ऊकार के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश हों उस की ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। परन्तु यह नियम 'स्त्री'शब्द पर लागू नहीं होता। उदाहरण यथा—'श्री, भ्रू' यहां क्रमशः ईकार ऊकार नित्यस्त्रीलिङ्गी हैं; इन के स्थान पर क्रमशः इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं, अतः ङित् विभ-क्तियों में इन की विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा होगी।

सूत्र के इस प्रथम खण्ड का उपयोग आगे इसी प्रकरण में 'श्री' आदि शब्दों में किया जाएगा। अब 'मति' शब्दोपयोगी द्वितीय खण्ड की व्याख्या करते हैं—

स्त्र्याख्यौ ।१।२। ह्रस्वः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । यू ।१।२। वा इत्यव्ययपदम् । नदी ।१।१। ङिति ।७।१। समासः—स्त्रियम् आचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ, स्त्रीलिङ्गावित्यर्थः । अत्र नित्यस्त्रीत्वमविवक्षितम् । 'ह्रस्व' इति 'यू' इत्यनेन सम्बध्यते । इश्च उश्च=यू । ह्रस्वौ इदुतावित्यर्थः । अर्थः—(स्त्र्याख्यौ) स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान (ह्रस्वः=ह्रस्वौ) ह्रस्व (यू) इकार उकार (च) भी (ङिति) ङित् परे होने पर (वा) विकल्प कर के (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

भावः—यदि स्त्रीलिङ्ग में इकारान्त या उकारान्त शब्द आएगा तो ङिद्वचनों में उस की विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जायगी। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि इकारान्त और उकारान्त शब्द चाहे नित्यस्त्रीलिङ्ग हों या न हों, केवल स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान होने से ही उन की नदीसञ्ज्ञा हो जायगी।

इस नियम के प्रभाव से स्त्रीलिङ्ग में प्रत्येक ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक हो जाता है। नदीत्वपक्ष में आट् आदि नदी-कार्य्य और तदभावपक्ष में 'शेषो घ्यसखि' (१७०) से घिसञ्ज्ञा हो कर गुण आदि घिकार्य होते हैं।

'मति + ए' इस दशा में ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग मति शब्द से परे ङित् प्रत्यय ङे होने से वैकल्पिक नदीसञ्ज्ञा हुई। नदीत्वपक्ष में 'आण्नद्याः' (१९६) द्वारा ङित् को आट् आगम, 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि तथा इकार को यण् करने से 'मत्यै' रूप बनता है। नदीसञ्ज्ञा के अभाव में घिसञ्ज्ञा हो जाती है। और तब 'घेर्ङिति' (१७२) से इकार को एकार गुण हो कर अय् आदेश करने पर 'मतये' रूप बनता है।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'मति+अस्' इस अवस्था में नदीसञ्ज्ञा, आट् आगम, वृद्धि, यण् और सकार को रुँत्व विसर्ग हो कर 'मत्याः' रूप सिद्ध होता है। नदी-सञ्ज्ञा के अभाव में घिसञ्ज्ञा, गुण और 'ङसिङसोश्च' (१७३) से पूर्वरूप हो कर 'मतेः' रूप निष्पन्न होता है।

षष्ठी के बहुवचन में 'मति + आम्' इस दशा में 'ह्रस्वनद्यापः—' (१४८) से ह्रस्वमूलक नुट् आगम हो कर 'नामि' (१४९) से दीर्घ करने पर 'मतीनाम्' रूप सिद्ध होता है।

'मति + इ' (ङि) यहां नदीसञ्ज्ञा के पक्ष में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (१९८) से ङि को आम् तथा 'औत' (१८४) सूत्र द्वारा ङि को औकार युगपत् प्राप्त होते हैं। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) के अनुसार पर कार्य औकार ही उचित प्रतीत होता है। इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा पुनः आम् आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२२३ इदुद्भ्याम् ।७।३।११७॥

इदुद्भ्यां नदीसञ्ज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्।

अर्थः—नदीसञ्ज्ञक ह्रस्व इकार और उकार से परे ङि को आम् आदेश हो।

व्याख्या—नदीभ्याम् ।५।२। ['ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से वचनविपरिणाम कर के] इदुद्भ्याम् ।५।२। ङेः ।६।१। आम् ।१।१। ['ङेराम्—' से] समासः—इच्च उच्च = इदुतौ, ताभ्याम् = इदुद्भ्याम्। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(नदीभ्याम्) नदीसञ्ज्ञक (इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (आम्) आम् आदेश हो जाता है। यह सूत्र 'औत्' (१८४) सूत्र का अपवाद है।

'मति + ङि' यहां प्रकृतसूत्र से ङि को आम् हो कर 'मति + आम्' हुआ। अब 'आण्नद्याः' (१९६) से आट् आगम और 'ह्रस्वनद्यापः—' (१४८) से नुट् आगम दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु परत्व के कारण आट् का आगम हो जाता है—मति + आट् आम्। 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि और इकार को यण् करने पर 'मत्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है। नदीसञ्ज्ञा के अभाव में घिसञ्ज्ञा हो कर 'अच्च घे.' (१७४) से ङि को औकार और घि को अकार अन्त्यादेश हो कर वृद्धि एकादेश करने से 'मतौ' रूप सिद्ध होता है।

हे मति + सुँ। यहां 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६६) से इकार गुण और 'एङ्ह्रस्वात्—' (१३४) से सम्बुद्धि का लोप हो कर 'हे मते !' रूप सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	मतिः	मती	मतयः	प०	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
द्वि०	मतिम्	,,	मतीः	ष०	,, ,,	मत्योः	मतीनाम्
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः	स०	मत्याम्, मतौ	,,	मतिषु
च०	मत्यै, मतये	,,	मतिभ्यः	सं०	हे मते !	हे मती !	हे मतयः !

[लघु०] एवं बुद्ध्यादयः।

अर्थः—इसी प्रकार बुद्धि आदि शब्दों की प्रक्रिया होती है।

व्याख्या—बालकों की ज्ञानविवृद्धि के लिये मतिवत् शब्दों का कुछ उपयोगी सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं। '*' इस चिह्न वाले स्थानों में पूर्ववत् णत्व जान लेना चाहिये।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१अङ्गुलि	अङ्गुल	आवृत्ति	दुहराना	२०उपलब्धि	प्राप्ति, ज्ञान
अपकृति	अपकार	आहति	आघात	ओषधि	दवाई
अवनि	पृथ्वी	आहुति	आहुति	कण्डूति	खुजली
आकृति	आकार	इष्टि	इच्छा	कान्ति	सौन्दर्य
५आकृष्टि	आकर्षण	१५उक्ति	वचन	कृति	कार्य, प्रयत्न
आक्रान्ति	आक्रमण	उत्क्रान्ति	बाहर निकलना	२५कृत्ति	चमड़ा
आर्ति	दुःख	उन्नति	उन्नति	कृषि*	खेती
आलि	पङ्क्ति	उपकृति	उपकार	केलि	हंसी, ठट्ठा
आवलि	,,	उपपत्ति	तर्क, उपपन्नता, हेतु	कोटि	धनुष का कोना, करोड़ ‡
१०आवसति	वास, घर				

‡ करोड़ अर्थ में 'कोटि' शब्द एकवचनान्त होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
क्रान्ति	आक्रमण	प्रसृति	प्रसार, वृद्धि	वमि	वमन
३०ख्याति	प्रसिद्धि	६०प्रहेलि	पहेली	वल्लरि*	मञ्जरी
गति	चाल, गमन	प्राप्ति	मिलन	९०वल्लि	लता
गीति	गान, छन्दोभेद	प्लुति	छलांग	वसति	वास, घर
गुप्ति	छिपाना	बुद्धि	अक्ल	वस्ति	मूत्राशय
च्युति	गिरना	भक्ति	श्रद्धा, भिक्षा	वान्ति	वमन
३५छर्दि	वमन रोग	६५भणिति	कथन	विकृति	विकार
छवि	कान्ति, चमक	भित्ति	दीवार	९५विगीति	निन्दा
जग्धि	सहभोज	भीति	डर	विच्छित्ति	विच्छेद,चमत्कार
जनि	उत्पत्ति	भुक्ति	भोजन, खाना	विज्ञप्ति	प्रार्थना, घोषणा
जाति	मनुष्यत्व आदि	भुशुण्डि	बन्दूक	वित्ति	ज्ञान, विवेक
४०तमि	अन्धेरी रात	७०भूति	कल्याण	विधुति	कम्पन
तिथि	तारीख	भूमि	पृथ्वी	१००विनति	नम्रता, प्रार्थना
दृष्टि	नज़र	भृति	मज़दूरी	विपत्ति	आपत्ति
द्युति	चमक, आभा	भेरि*	नगारा	विरति	हटना, समाप्ति
धूलि	धूल	भ्रान्ति	भ्रम	विवृति	टीका, व्याख्या
४५निकृति	छल	७५भ्रुकुटि	भौंह चढ़ाना	विशुद्धि	विशेष शुद्धि
नियति	भाग्य, क़िस्मत	मुक्ति	छुटकारा	१०५विस्मृति	भूलना
निराकृति	खण्डन	मूर्त्ति	प्रतिमा	विहति	मारना
नीति	नीति, चालाकी	यष्टि	छड़ी	वीचि	तरङ्ग
पङ्क्ति	कतार	युक्ति	उपाय	वृत्ति	जीविका
५०पद्धति	मार्ग	८०युवति	जवान स्त्री	वृष्टि	वर्षा
पर्याप्ति	पूर्णता	योनि	उत्पत्तिस्थान	११०वेणि	केशों की चोटी
प्रतिपत्ति	ज्ञान, प्राप्ति	रजनि	रात्रि	व्यक्ति	पृथगात्मक जन
प्रतीति	विश्वास	राजनीति	राजनीति (Politics)	व्याकृति	व्याकरण
प्रत्यासत्ति	समीपता			व्रतति	लता
५५प्रत्युक्ति	उत्तर	रीति	चाल, रिवाज	शक्ति	ताकत
प्रशस्ति	प्रशंसा	८५रुचि	अनुराग	११५शुक्ति	सीपी
प्रसुप्ति	निद्रा	रूढि	प्रसिद्धि	शान्ति	शान्ति
प्रसूति	प्रसव, सन्तान	लिपि	वर्णमाला	शुद्धि	सफ़ाई

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
श्रुति	वेद, सुनना	सूक्ति	सुन्दर वचन	स्फूर्त्ति	फुर्ती
सम्पत्ति	धन दौलत	संवित्ति	ज्ञान	स्मृति	यादाश्त,
१२०सम्भूति	उत्पत्ति	१२५संहति	समूह		धर्मशास्त्र
समष्टि	सम्पूर्णता	स्तुति	प्रशंसा	१३०स्वाति	नक्षत्रविशेष
सिद्धि	सिद्ध होना	स्थिति	ठहरना, मर्यादा		

—०:❀:०—

अब स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' (तीन) शब्द के रूप दिखलाते हैं। त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः—यह पीछे (२६४) पृष्ठ पर स्पष्ट कर चुके हैं।

'त्रि + अस्' (जस्) इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२२४ त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ-चतसृ।७।२।९९॥

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' शब्द को 'तिसृ' और 'चतुर्' शब्द को 'चतसृ' आदेश होता है।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] त्रिचतुरोः ।६।२। स्त्रियाम् ।७।१। तिसृचतसृ ।१।१। समासः—तिसृ च चतसृ च = तिसृचतसृ, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में (त्रिचतुरोः) त्रि और चतुर् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ आदेश होते हैं।

'त्रि+अस्' (जस्) यहां जस् विभक्ति परे है अतः प्रकृतसूत्र से 'त्रि' शब्द के स्थान पर 'तिसृ' आदेश हो गया। 'तिसृ+अस्' इस स्थिति में पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (२०४) से गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२२५ अचि र ऋतः* ।७।२।१००॥

तिसृ चतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि। गुणदीर्घोत्वानामपवादः। तिस्रः २। तिसृभिः। तिसृभ्यः २। आमि नुट्।

अर्थः—अच् परे होने पर तिसृ और चतसृ शब्दों के ऋकार को रेफ आदेश हो जाता है।

---

* अलोऽन्त्यपरिभाषयैव सिद्धे 'ऋत' इति अनुवर्तमान—'तिसृचतसृ' इत्यस्य षष्ठ्यन्तत्वकल्पनाय। अन्यथा त्रिचतुरोरित्यस्यैवानुवृत्त्यापत्तौ रादेशेन तिसृचतस्रोर्विधापत्तेरिति शेखरे नागेशः। वस्तुतस्तु तत्रैव स्वरितत्वं न तत्र। अन्यथा 'अचि रश्चे' त्येव वदेत्। योग्यतयैव तत्कल्पनासंभवात् तदृष्टार्थमेवेति बोध्यम्।

व्याख्या—अचि ।७।१। रः ।१।१। ऋतः ।६।१। तिसृचतस्रोः ।६।२। ['त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' से विभक्ति-विपरिणाम करके] **अर्थः**— (अचि) अच् परे होने पर (तिसृचतस्रोः) तिसृ और चतसृ शब्दों के (ऋतः) ऋकार को (रः) रेफ आदेश होता है।

प्रश्न:—अच् परे होने पर ऋकार को रेफ आदेश तो 'इको यणचि' (१५) से ही सिद्ध है; पुनः इस सूत्र की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—'गुणदीर्घोत्वानाम् अपवाद.' अर्थात् 'तिसृ + अस्' यहां जस् में 'ऋतो ङि—' (२०४) से प्राप्त होने वाले गुण को; 'तिसृ + अस्' यहां शस् में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) द्वारा प्राप्त होने वाले पूर्वसवर्णदीर्घ को तथा 'प्रियचतसृ + अस्' यहां ङसिँ और ङस् में 'ऋत उत्' (२०८) से प्राप्त होने वाले उत्व को बान्धने के लिये इस सूत्र से ऋकार के स्थान पर रेफ आदेश किया गया है। इस प्रकार यह सूत्र गुण, दीर्घ और उत्व का अपवाद है।

'तिसृ + अस्' यहां गुण को बान्ध कर रेफ आदेश कर सकार को रुँत्व विसर्ग करने से—'तिस्रः' रूप बना।

'त्रि + अस्' (शस्) यहां तिसृ आदेश हो कर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है; पुनः उसे बान्ध कर प्रकृत-सूत्र से रेफ आदेश हो जाता है—'तिस्रः'।

त्रि + भिस् = तिसृ+भिस् = तिसृभिः। तिसृभ्यः।

'त्रि+आम्' यहां 'त्रेस्त्रयः' (१६२) से प्राप्त त्रय आदेश को बान्ध कर 'त्रिचतुरोः—' (२२४) से तिसृ आदेश हो जाता है। 'तिसृ+आम्' इस स्थिति में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से नुट् आगम और 'अचि र ऋतः' (२२५) से रेफ आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) के अनुसार परकार्य रेफ आदेश होना चाहिये। परन्तु 'नुम्-अचिर-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' (वा० १८) इस कात्यायनवचन से यहां पूर्वविप्रतिषेध मान कर पूर्व कार्य नुट् आगम हो जाता है। अब 'तिसृ+नाम्' इस दशा में 'नामि' (१४९) से दीर्घ प्राप्त होता है; इस पर अग्रिमसूत्र से उसका निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—२२६ न तिसृचतसृ ।६।४।४॥

एतयोर्नामि दीर्घो न। तिसृणाम्। तिसृषु।

अर्थः—नाम् परे होने पर तिसृ और चतसृ शब्दों को दीर्घ नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । तिसृ-चतसृ ।६।१। ['छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इस परिभाषा के बल से यहां 'सुपां सुलुक्—' सूत्र द्वारा षष्ठी का लुक् समझना चाहिये ।] नामि ।७।१। ['नामि से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] अर्थः—(नामि) नाम् परे होने पर (तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ शब्दों को (दीर्घः) दीर्घ (न) नहीं होता ।

'तिसृ+नाम्' यहां दीर्घ का निषेध हो कर 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा २०) इस कात्यायनवचन से नकार को णकार करने पर 'तिसृणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	तिस्रः	प०	०	०	तिसृभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	तिसृणाम्
तृ०	०	०	तिसृभिः	स०	०	०	तिसृषु
च०	०	०	तिसृभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

इसी प्रकार चतुर् (चार) शब्द के स्त्रीलिङ्ग में रूप बनते हैं—चतस्रः २, चतसृभिः, चतसृभ्यः २, चतसृणाम्, चतसृषु । इसका वर्णन हलन्तस्त्रीलिङ्ग में यथा-स्थान ग्रन्थकार स्वयं करेंगे ।

[लघु०] द्वे २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ ।

व्याख्या—'द्वि' (दो) शब्द द्वित्व का वाचक होने से सदा द्विवचनान्त प्रयुक्त होता है । अब स्त्रीलिङ्ग में इस की प्रक्रिया दिखलाई जाती है ।

द्वि शब्द से प्रथमा के द्विवचन में 'द्वि+औ' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र से विभक्ति परे होने के कारण इकार को अकार हुआ । तब 'द्व + औ' इस दशा में स्त्रीत्वविवक्षा में अकारान्त होने के कारण 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४९) सूत्र से टाप् प्रत्यय हुआ । टाप् के टकार और पकार इत्सञ्ज्ञक होने से लुप्त हो जाते हैं । 'द्व आ+औ' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ और 'औङ आपः' (२१६) से औ को शी आदेश और गुण होकर 'द्वे' रूप सिद्ध होता है ।

भ्याम् में त्यदाद्यत्व होने पर अकारान्त हो जाने से टाप्, सवर्णदीर्घ हो कर 'द्वाभ्याम्' प्रयोग बनता है ।

ओस् में, त्यदाद्यत्व, टाप्, सवर्णदीर्घ, आकार को 'आङि चापः' (२१८) से एकार, अय् आदेश और सकार को रुँत्व विसर्ग हो कर 'द्वयोः' रूप सिद्ध होता है ।*
रूपमाला यथा—

* ध्यान रहे कि पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के 'द्वाभ्याम्' और 'द्वयोः' प्रयोगों में महान् अन्तर है ।

प्र०	०	द्वे	०	प०	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि०	०	,,	०	ष०	०	द्वयोः	०
तृ०	०	द्वाभ्याम्	०	स०	०	,,	०
च०	०	,,	०	सम्बोधन नहीं होता ।			

(यहां पर ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

——०:*:०——

[लघु०] गौरी । गौर्यौ । गौर्यः । हे गौरि ! । गौर्यै इत्यादि ।

व्याख्या—गौर शब्द से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (१२५१) सूत्र द्वारा ङीष् प्रत्यय करने पर भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो कर 'गौरी' शब्द निष्पन्न होता है। गौरी का अर्थ 'पार्वती' है। नित्यस्त्रीलिङ्ग होने से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) द्वारा इस की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है।

प्रथमा के एकवचन में 'गौरी + स्' इस अवस्था में ङ्यन्त होने से 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७६) सूत्र से अपृक्त सकार का लोप हो कर 'गौरी' रूप बनता है।

औ में पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, उसका 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र से निषेध हो जाता है। तब 'इको यणचि' (१५) से यण् आदेश हो कर 'गौर्यौ' रूप बनता है। ध्यान रहे कि 'गौर्यौ' आदि में 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) सूत्र द्वारा यकार यर् को द्वित्व हो कर पक्ष में 'गौर्य्यौ' प्रभृति रूप भी बनते हैं।

जस् में भी पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर यण्—यकार करने पर 'गौर्यः' रूप बनता है।

'गौरी + अम् = गौरीम्। 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो जाता है।

'गौरी + अस्' यहां शस् में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'गौरीः' रूप बनता है।

टा में 'इको यणचि (१५) से यण् हो कर 'गौर्या' रूप सिद्ध होता है।

'गौरी + ए' (ङे)। यहां 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) से नदीसञ्ज्ञा हो कर 'आण्नद्याः' (१६६) से आट् आगम, 'आटश्च' (१६७) से वृद्धि और 'इको यणचि' (१५) से यण् यकार करने से 'गौर्यै' रूप बनता है।

'गौरी+अस्' (ङसि व ङस्) इस दशा में नदीसञ्ज्ञा, आट् आगम, वृद्धि और यण् यकार हो कर 'गौर्याः' रूप सिद्ध होता है।

ओस् में यण् हो कर 'गौर्योः' बनता है।

षष्ठी के बहुवचन आम् में नदीसञ्ज्ञा हो कर नदीमूलक नुट्, अनुबन्धलोप और नकार को णकार करने से 'गौरीणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन ङि में 'गौरी + ङि' इस दशा में 'ङेराम्—' (१६८) से ङि को आम्, 'आण्नद्याः' (१९६) से आट् आगम, 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि तथा 'इको यणचि' (१५) से यकार आदेश करने पर 'गौर्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सम्बुद्धि में नदीसञ्ज्ञा होने से 'अम्बार्थ—' (१९५) से ह्रस्व हो कर 'एङ्ह्रस्वात्०' (१३४) से सकार का लोप हो जाता है—हे गौरि ! । रूपमाला यथा—

प्र०	गौरी	गौर्यौ	गौर्यः	प०	गौर्याः	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
द्वि०	गौरीम्	,,	गौरीः	ष०	,,	गौर्योः	गौरीणाम्
तृ०	गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभिः	स०	गौर्याम्	,,	गौरीषु
च०	गौर्यै	,,	गौरीभ्यः	सं०	हे गौरि !	हे गौर्यौ !	हे गौर्यः !

[लघु०] एवं नद्यादयः ।

अर्थः—इसी प्रकार नदी (दरिया) आदि ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बनते हैं।

व्याख्या—हम बालकों के लिए अत्यन्त उपयोगी कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहाँ दे रहे हैं। इन का उच्चारण गौरीवत् होता है। इन में भी पूर्ववत् '*' इस चिह्न वाले शब्दों में णत्वप्रक्रिया जान लेनी चाहिये—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१अक्षौहिणी	विशेष परिमाण वाली सेना	आनुपूर्वी*	क्रम, सिलसिला	एकादशी	एकादशी
		आन्वीक्षिकी*	तर्कशास्त्र	कटी	कमर, नितम्ब
अङ्गुली	अङ्गुल			कठिनी	खड़िया मिट्टी
अटवी	जङ्गल	आमलकी	आँवला	कदली	केले का पेड़
अनीकिनी	सेना	इङ्गुदी	गोंदी	२५कबरी*	गुत्त
५अनुक्रमणी	सूची	१५इन्द्राणी	इन्द्र की स्त्री	कमठी	कछुई
अनुचरी*	दासी	उज्जयिनी	उज्जैन नगर	करिणी	हथिनी
अमरावती	इन्द्र की नगरी	उदीची	उत्तर दिशा	कर्त्तनी	कैंची
अरण्यानी	बड़ा जङ्गल	उर्वशी	एक अप्सरा	कस्तूरी*	कस्तूरी
अवाची	दक्षिण दिशा	उर्वी*	पृथ्वी	३०काकमाची	मकोय
१०अश्मरी*	पथरी रोग	२०ऋतुमती	रजस्वला	काकली	धीमी मधुर ध्वनि

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
काकिणी	कौड़ी	६०गुडूची	गिलोय	८९दैनन्दिनी	प्रतिदिन होने
काकी	कौआ की मादा	गुर्वी*	भारी		वाली, डायरी
कादम्बरी*	मदिरा	गृध्रसी	एक रोग	दोहदवती	अभिलाषवती
३५कादम्बिनी	मेघमाला	गृहिणी	भार्या		गर्भिणी
कामिनी	स्त्री	गोष्ठी	सभा, मजलिस	द्रौपदी	द्रुपद-कन्या
कामुकी	ऐयाश स्त्री	६५गोस्तनी	द्राक्षा विशेष	धमनी	नाडी, शिरा
कालिन्दी	यमुना नदी	घृतचौरी*	कचौरी	धरित्री*	पृथ्वी
काली	देवी विशेष	छागी	बकरी	९०नगरी*	नगर
४०कावेरी*	एक नदी	जगती	पृथ्वी, एक छन्द	नटी	नट की स्त्री
काशी	बनारस	जननी	माता	नदी	दरिया
किङ्किणी	घुंघरू	७०जीवनी	जीवन शक्ति	नन्दिनी	पुत्री, सुरभि की
किंवदन्ती	अफ़वाह		देने वाली		लड़की
कुटी	झोंपड़ी	ज्योत्स्नी	चान्दनी रात	नलिनी	कमलिनी
४५कुट्टनी	दलाला स्त्री	टिप्पणी	नोट	९५नागवल्ली	पान की बेल
कुटुम्बिनी	भार्या	तटिनी	नदी	नाडी	शिरा
कुमारी*	क्वारी लड़की	तपस्विनी	तपस्या करने	नान्दी	नाटक के आरम्भ
कुवेणी	मच्छलियों की		वाली		का मङ्गल
	टोकरी	७५तमी	अन्धेरी रात	नारी*	स्त्री
केतकी	केवड़ा (क्षुप)	तरङ्गिणी	नदी	निशीथिनी	रात्रि
५०कोकी	चकवी	तरुणी	जवान स्त्री	१००पञ्चवटी	एक स्थान
कौमुदी	चान्दनी	तामसी	तमोगुणवती	पतिवत्नी	सधवा
कौमोदकी	विष्णु की गदा	तिरस्करिणी	परदा, घूंघट	पत्नी	भार्या
कौशाम्बी	एक नगर	८०त्रयी*	ऋग्यजुःसाम	पदवी	मार्ग, पद
क्षत्रियाणी	क्षत्रिय की स्त्री	दासी	नौकरानी	पद्मिनी	कमलों का समूह
५५गर्दभी	गधी	दूती	संदेश ले जाने	१०५परिपाटी	सिलसला
गर्भिणी	गर्भवती		वाली	पाञ्चाली	द्रौपदी, एक
गायत्री*	एक छन्द	देवकी	श्रीकृष्णमाता		शैली
गाली	अपशब्द	देवी	दुर्गा, देवपत्नी	पार्वती	दुर्गा
गुटी	गोली			पितामही	दादी

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
पिप्पली	पिपली	मन्त्रिणी	मन्त्री स्त्री	राजधानी	राजधानी
११०पुत्री*	बेटी	मन्दाकिनी	स्वर्गङ्गा	राज्ञी	रानी
पुरन्ध्री*	पति-पुत्रवती	मर्कटी	वानरी	१६५रुक्मिणी	कृष्ण की पटरानी
पुरी*	नगरी	१४०मसी	स्याही	रुद्राणी	पार्वती
पुंश्चली	व्यभिचारिणी	महती	बड़ी	रेवती	बलराम पत्नी
पुष्करिणी	हथिनी	महामारी*	प्लेग आदि	रोहिणी	एक नक्षत्र
११५पुष्पवती	रजस्वला	महिषी*	भैंस, पटरानी	लेखनी	कलम
पृथिवी	भूमि	मही	पृथ्वी	१७०लेखिनी	कलम
पृथ्वी	भूमि	१४५माता-		वरूथिनी	सेना
पेषणी	पीसने की शिला	मही	नानी	वसुमती	पृथ्वी
पौर्णमासी	पूर्णिमा	मातुलानी	मामी, भांग	वंशी	बांसुरी
१२०प्रणाली	तरीका	मातुली	मामी	वाणी	वाणी
प्रतीची	पश्चिम दिशा	मालती	चम्बेली की	१७५वापी	बावड़ी
प्रतोली	गली		लता	वामी	घोड़ी
प्रसाधनी	कङ्घी	मुम्बापुरी*	बम्बई नगर	वायसी	कव्वी
प्राची	पूर्व दिशा	१५०मुरली	बांसुरी	वाराणसी	बनारस
१२५बदरी*	बेर का वृक्ष	मृडानी	पार्वती	वारुणी	मद्य, पश्चिम
बिसिनी	कमल का पौदा	मेदिनी	पृथिवी	१८० वाहिनी	सेना, नदी
भट्टिनी	महारानी	मैत्री*	मित्रता	विदुषी*	पढ़ी लिखी स्त्री
भवती	आप (स्त्री)	मोहमयी	बम्बई, मोह	विभावरी*	रात्रि
भवानी	दुर्गा		वाली	विष्णुपदी	गङ्गा
१३०भागीरथी	गङ्गा	१५५मौर्वी*	धनुष की डोरी	वीथी	रास्ता, गली
भामिनी	कोपशीला, स्त्री	यक्षी*	कुबेर की स्त्री	१८५वैजयन्ती	पताका
भारती	संस्कृत भाषा	यवनानी	यवनों की लिपि	वैतरणी	नरक की नदी
भ्रुकुटी	भौंहों का	याज्ञसेनी	द्रौपदी	वैदेही	सीता
	तिरछा करना	यामिनी	रात्रि	वैयासिकी	व्यास-रचना
भेरी*	बड़ा नगारा	१६०युवती	जवान स्त्री	व्याघ्री*	मादा बाघ
१३५भ्रुकुटी	भृकुटी	रजनी	रात	१९०शतघ्नी	तोप
मञ्जरी*	कोंपल	राक्षसी	राक्षस स्त्री	शतपदी	कानखजूरा

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
शफरी*	विशेष मछली	सपत्नी	सौकन	सूरी*	कुन्ती
शमी	जण्डी का वृक्ष	सरस्वती	वाग्देवी	सैरन्ध्री*	दासी
शर्वरी*	रात्रि	सरोजिनी	कमल-समूह	सौदामनी	विद्युत्
१६५शाटी	वस्त्र, साड़ी	२०५साध्वी	पतिव्रता	२१५स्रोतस्वती	नदी
शुण्ठी	सोंठ	सामग्री*	सम्पूर्णता, द्रव्य	हसन्ती	अंगीठी
शुनी	कुतिया	सिंहवाहिनी	भगवती दुर्गा	हरिणी	हरिन की मादा
शैली	रीति	सिंही	शेरनी	हरीतकी	हरड़
श्रेणी	पंक्ति, किसम	सीमन्तिनी	स्त्री	हिमानी	बरफ़-समूह
२००सखी	सहेली	२१०सुन्दरी*	रूपवती	ह्लादिनी	वज्र, विद्युत्
सङ्ग्रहणी	एक रोग	सूची	सूई, नोक	—:*:—	

[लघु०] लक्ष्मीः । शेषं गौरीवत् ।

व्याख्या—'लक्ष दर्शनाङ्कनयोः' (चुरा०उ०) धातु से 'लक्षेर्मुट् च' (उणा० ४४०) सूत्र द्वारा ई प्रत्यय और मुट् का आगम करने से 'लक्ष्मी' शब्द निष्पन्न होता है। लक्ष्मी शब्द ङ्यन्त नहीं अतः इस से परे 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) सूत्र द्वारा सुलोप नहीं होता। शेष सब विभक्तियों में गौरीशब्दवत् प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	लक्ष्मीः	लक्ष्म्यौ	लक्ष्म्यः
द्वि०	लक्ष्मीम्	,,	लक्ष्मीः
तृ०	लक्ष्म्या	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभिः
च०	लक्ष्म्यै*	,,	लक्ष्मीभ्यः
पं०	लक्ष्म्याः*	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभ्यः
ष०	,, *	लक्ष्म्योः	लक्ष्मीणाम्*
स०	लक्ष्म्याम्*	,,	लक्ष्मीषु
सं०	हे लक्ष्मि !*	हे लक्ष्म्यौ !	हे लक्ष्म्यः !

*इन स्थानों पर नदीसञ्ज्ञा हो कर आट् आदि नदीकार्य होते हैं।

[लघु०] एवं तरी-तन्त्र्यादयः ।

अर्थः—तरी, तन्त्री आदि अन्य औणादिक ईप्रत्ययान्त शब्दों के रूप भी लक्ष्मी-शब्द के समान होते हैं।

व्याख्या—'अवि-तॄ-स्तॄ-तन्त्रिभ्य ईः' (उणा० ४३८) इस औणादिक सूत्र से "१. अवी (रजस्वला स्त्री), २. तरी (नौका), ३. स्तरी (धूम), ४. तन्त्री (वीणा)" इन चार ईप्रत्ययान्त शब्दों की निष्पत्ति होती है। इन का उच्चारण भी लक्ष्मीवत् होता है। ङ्यन्त न होने से इन में भी सुँलोप नहीं होता। इस विषय पर एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु ।
सप्तस्त्रीलिङ्गशब्दानां सुलोपो न कदाचन ॥"

परन्तु इन में स्तरी शब्द नहीं आता; अतः यह श्लोक इस प्रकार पढ़ना चाहिये—

"अवी-तन्त्री-स्तरी-लक्ष्म्यः, तरी-धी-ह्री-श्रियस्तथा ।
उणादावष्ट निष्पन्ना न सुलोपस्य भागिनः ॥"

[लघु०] स्त्री । हे स्त्रि ! ।

व्याख्या—'स्त्यै शब्द-सङ्घातयोः' (भ्वा० प०) धातु से 'स्त्यायतेड्ँट्' (उणा० ६०५) सूत्र द्वारा ड्रट् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, टिलोप, 'लोपो व्योर्वलि' (४२१) से यकारलोप, 'टिड्ढाणञ्—' (१२४७) से ङीप् प्रत्यय और 'यस्येति च' (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'स्त्री' शब्द निष्पन्न होता है । स्त्री शब्द ङ्यन्त है ।

'स्त्री + सुँ' यहां ङ्यन्त होने से 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७१) सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो जाता है—स्त्री ।

सम्बुद्धि में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) सूत्र द्वारा स्त्रीशब्द की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है । तब 'अम्बार्थ—' (१९५) सूत्र से ह्रस्व और 'एङ्ह्रस्वात्—' (१३४) सूत्र से सकार-लोप हो कर 'हे स्त्रि !' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'स्त्री + औ' यहां धातु का ईकार न होने से इयँङ् प्राप्त नहीं होता । पूर्वसवर्णदीर्घ का भी 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध हो जाता है । 'इको यणचि' (१५) से ही केवल यण् प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२२७ स्त्रियाः ।६।४।७९॥

अस्येयँङ् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे । स्त्रियौ । स्त्रियः ।

अर्थः—अजादि प्रत्यय परे होने पर स्त्री शब्द के ईकार को इयँङ् आदेश हो ।

व्याख्या—स्त्रियाः ।६।१। इयँङ् ।१।१। अचि ।७।१। ['अचि श्नुधातु......' से] 'प्रत्यये' का अध्याहार कर 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादिविधि हो कर 'अजादौ प्रत्यये' बन जाता है । अर्थः—(अचि = अजादौ) अजादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (स्त्रियाः) स्त्रीशब्द के स्थान पर (इयँङ्) इयँङ् आदेश हो । अलोऽन्त्य-परिभाषा से स्त्रीशब्द के अन्त्य ईकार के स्थान पर इयँङ् आदेश होगा ।

'स्त्री + औ' यहां 'औ' यह अजादि प्रत्यय परे होने से प्रकृतसूत्र द्वारा इयँङ् आदेश हो कर 'स्त्रियौ' बना।

'स्त्री + अस्' (जस्) यहां भी इयँङ् हो कर 'स्त्रियः' बनता है।

'स्त्री + अम्' यहां 'अमि पूर्वः' (१३५) को बान्ध कर प्रकृत-सूत्र से नित्य इयँङ् प्राप्त होता है; इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२२८ वाऽम्शसोः ।६।४।८०॥

अमि शसि च स्त्रिया इयँङ् वा स्यात्। स्त्रियम्, स्त्रीम्। स्त्रियः, स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः २। परत्वान्नुट्—स्त्रीणाम्। स्त्रीषु।

अर्थः—अम् व शस् परे होने पर स्त्रीशब्द को विकल्प कर के इयँङ् हो।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। अम्शसोः ।७।२। स्त्रियाः ।६।१। ['स्त्रियाः' से] इयँङ् ।१।१। ['अचि श्नु··' से] अर्थः—(अम्शसोः) अम् और शस् परे होने पर (स्त्रियाः) स्त्रीशब्द के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (इयँङ्) इयँङ् होता है।

'स्त्री + अम्' यहां प्रकृतसूत्र से ईकार को विकल्प करके इयँङ् हो गया। इयँङ्पक्ष में अनुबन्धों का लोप हो कर—स्त्रियम्। इयँङ् के अभाव में 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो कर—स्त्रीम्। इस प्रकार अम् में 'स्त्रियम्, स्त्रीम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

'स्त्री + अस्' (शस्) यहां भी 'वाऽम्शसोः' सूत्र से इयँङ् हो कर—स्त्रियः। पक्ष में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर—स्त्रीः। इस प्रकार शस् में 'स्त्रियः, स्त्रीः' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

तृतीया के एकवचन में 'स्त्री + आ' इस अवस्था में 'स्त्रियाः' (२२७) सूत्र से इयँङ् हो कर 'स्त्रिया' रूप बनता है।

चतुर्थी के एकवचन में 'स्त्री + ए' इस दशा में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) सूत्र से नित्य नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। यद्यपि स्त्रीशब्द के स्थान पर इयँङ् होता है, तथापि स्त्रीशब्द का वर्जन होने से 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से ङित् प्रत्ययों में नदीसञ्ज्ञा का विकल्प नहीं होता। नदीसञ्ज्ञक होने से 'आण्नद्याः' (१९६) से आट् का आगम और 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि होने के अनन्तर 'स्त्री + ऐ' इस स्थिति में 'स्त्रियाः' (२२७) सूत्र से इयँङ् हो कर 'स्त्रियै' प्रयोग निष्पन्न होता है।

'स्त्री+अस्' (ङसिँ व ङस्) यहां भी पूर्ववत् नदीसञ्ज्ञा होने से आट्, वृद्धि और इयँङ् हो कर—'स्त्रियाः' बना।

ओस् में 'स्त्रियाः' (२२७) से इयँङ् हो कर 'स्त्रियोः' बना।

षष्ठी के बहुवचन में 'स्त्री + आम्' इस दशा में इयँङ् और नुट् दोनों की युगपत् प्राप्ति होने पर परत्व के कारण नुट् का आगम हो जाता है। अब 'अट्कुप्वाङ्……' (१३८) से नकार को णकार हो कर 'स्त्रीणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'स्त्री+ङि' यहां पर नदीसञ्ज्ञा होने से 'ङेराम्—' (१९८) सूत्र से ङि को आम्, आट् का आगम, वृद्धि और 'स्त्रियाः' (२२७) से इयँङ् हो कर 'स्त्रियाम्' प्रयोग बनता है। रूपमाला यथा—

प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः	प०	स्त्रियाः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
द्वि०	स्त्रियम् / स्त्रीम्	,,	स्त्रियः / स्त्रीः	ष०	,,	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः	स०	स्त्रियाम्	,,	स्त्रीषु
च०	स्त्रियै	,,	स्त्रीभ्यः	सं०	हे स्त्रि !	हे स्त्रियौ !	हे स्त्रियः !

—:❀:—

नोट—स्त्रीशब्द अपने ढङ्ग का अकेला ही है। इस प्रकार के उच्चारण वाला स्त्रीलिङ्ग में अन्य कोई शब्द नहीं है।

[लघु०] श्रीः। श्रियौ। श्रियः।

व्याख्या—श्रयति हरिम् इति श्रीः। लक्ष्मी व शोभा को 'श्री' कहते हैं। 'श्रिञ् सेवायाम्' (भ्वा० उभ०) धातु से 'क्विब्वचि-प्रच्छि-श्रि-स्रु-द्रु-प्रु-ज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च' (उणा० २१५) सूत्र द्वारा क्विप् प्रत्यय तथा प्रकृति को दीर्घ करने से 'श्री' शब्द निष्पन्न होता है। श्रीशब्द ङ्यन्त नहीं, इस में ईकार धातु का अवयव है। अतः 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सुँ लोप नहीं होता—श्रीः।

'श्री+औ' यहां धातु के अवयव ईकार से पूर्व धातु का अवयव 'श्र्' यह संयोग वर्त्तमान है; अनेकाच् भी नहीं, अतः 'एरनेकाचः—' (२००) से यण् नहीं होता। 'अचि श्नु ……' (१९९) से ईकार को इयँङ् आदेश हो कर 'श्रियौ' प्रयोग बनता है।

श्री + अस् (जस्) = श्रियः। यहां भी 'अचि श्नु ……' (१९९) से इयँङ् हो जाता है।

'हे श्री + स्' यहां सम्बुद्धि में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) से नित्यनदीसञ्ज्ञा होने के कारण 'अम्बार्थनद्योः—' (१९५) द्वारा ह्रस्व प्राप्त होता है। परन्तु यह अनिष्ट है, अतः इस के वारण के लिये नदीसञ्ज्ञा का निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—२२९ नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री।१।४।४॥

इयँङुवँङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसञ्ज्ञौ न स्तः, न तु स्त्री।
हे श्रीः !। श्रियै, श्रिये। श्रियाः २, श्रियः २।

अर्थः—जिन ईकार ऊकार के स्थान पर इयँङ् उवँङ् होते हैं उन की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती। परन्तु स्त्रीशब्द की तो होती ही है।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। इयँङुवँङ्स्थानौ ।१।२। यू ।१।२। नदी। १।१। ['यू स्त्र्याख्यौ नदी' से] अस्त्री ।१।१। समासः—इयँङ् च उवँङ् च = इयँङुवँङौ, इतरेतरद्वन्द्वः। इयँङुवँङोः स्थानं (स्थितिः) ययोस्तौ = इयँङुवँङ्स्थानौ, बहुव्रीहिसमासः। ई च ऊ च = यू, इतरेतरद्वन्द्वः। न स्त्री = अस्त्री, नञ्समासः। अर्थः—(इयँङुवँङ्स्थानौ) जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं ऐसे (यू) ईकार ऊकार (नदी) नदीसञ्ज्ञक (न) नहीं होते। (अस्त्री) परन्तु स्त्रीशब्द पर यह नियम लागू नहीं होता।

श्रीशब्द के ईकार के स्थान पर अजादि प्रत्ययों में 'अचि श्नु……' (१९९) सूत्र द्वारा इयँङ् आदेश होता है, अतः प्रकृतसूत्र द्वारा अजादिप्रत्ययों में तथा अन्यत्र * भी इस में नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जायगा।

'हे श्री+स्' यहां नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जाने से नदीमूलक ह्रस्व नहीं होता। सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग आदेश करने से—'हे श्रीः !' प्रयोग सिद्ध होता है।

श्री+अम् = श्रियम्। श्री + अस् (शस्) = श्रियः। श्री + आ (टा) = श्रिया। सर्वत्र 'अचि श्नु—' (१९९) से इयँङ् हो जाता है।

चतुर्थी के एकवचन में 'श्री + ए' इस दशा में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) सूत्र से प्राप्त नदीसञ्ज्ञा का 'नेयँङुवँङ्—' (२२१) से निषेध हो जाता है। पुनः 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) सूत्र से विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। नदीसञ्ज्ञा के पक्ष में आट् का आगम, वृद्धि और इयँङ् हो कर 'श्रियै' बनता है। इस प्रकार ङे में 'श्रियै, श्रिये' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

पञ्चमी व षष्ठी के एकवचन में 'श्री+अस्' इस स्थिति में पूर्ववत् नदीसञ्ज्ञा का विकल्प हो जाता है। नदीपक्ष में आट्, वृद्धि और इयँङ् हो कर 'श्रियाः' बनता है। नदी के अभाव में केवल इयँङ् हो कर 'श्रियः' सिद्ध होता है। इस प्रकार ङसि और ङस् में 'श्रियाः, श्रियः' ये दो रूप निष्पन्न होते हैं।

---

* ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा का निषेध केवल वहां ही नहीं होता जहां इयँङ् उवँङ् होते हैं। किन्तु इयँङुवङ्स्थानी शब्द में अन्यत्र भी—जहां इयँङ् उवँङ् नहीं होते—निषेध हो जाता है। यथा—'श्री' शब्द में इयँङ् तो अजादि विभक्तियों में ही होता है परन्तु नदीसञ्ज्ञा का निषेध अजादियों में तथा अन्यत्र सम्बुद्धि में भी हो जाता है।

षष्ठी के बहुवचन में 'श्री+आम्' इस स्थिति में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) से प्राप्त नित्यनदीत्व का 'नेयँङुवँङ्—' (२२६) से निषेध हो जाता है। आम् के ङित् न होने से 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) द्वारा नदीत्व का विकल्प नहीं हो सकता। इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा नदीसञ्ज्ञा का विकल्प करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२३० वाऽऽमि ।१।४।५॥

इयँङुवँङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसञ्ज्ञौ स्तः, न तु स्त्री। श्रीणाम्, श्रियाम्। श्रियाम्, श्रियि।

अर्थः—जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् होते हैं, ऐसे नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार ऊकार आम् परे होने पर विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक हों। परन्तु यह विकल्प स्त्रीशब्द में प्रवृत्त नहीं होता।

व्याख्या—इयँङुवँङ्स्थानौ।१।२। ['नेयँङुवँङ्—' से] स्त्र्याख्यौ।१।२। यू।१।२। नदी।१।१। ['यू स्त्र्याख्यौ नदी' से] वा इत्यव्ययपदम्। आमि।७।१। अर्थः—(इयँङुवँङ्-स्थानौ) जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं, ऐसे (स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्ग (यू) ईकार ऊकार (आमि) आम् परे होने पर (वा) विकल्प कर के (नदी) नदी-सञ्ज्ञक होते हैं।

'श्री + आम्' यहां इयँङ्स्थानी नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार की आम् परे रहते प्रकृतसूत्र से विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। नदीसञ्ज्ञापक्ष में नद्यन्त होने से 'ह्रस्वनद्यापः—' (१४८) से नुट् और 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से नकार को णकार होने से 'श्रीणाम्' और अभावपक्ष में 'अचि श्नु—' (१६६) से इयँङ् हो कर 'श्रियाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'श्री + इ' इस दशा में 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से नदी-सञ्ज्ञा के विकल्प होने से नदीत्वपक्ष में 'ङेराम्—' (१६८) सूत्र से ङि को आम् आदेश हो कर आट् का आगम, वृद्धि और इयँङ् आदेश करने से 'श्रियाम्' रूप बनता है। नदीत्वा-भाव में केवल इयँङ् आदेश हो कर 'श्रियि' रूप निष्पन्न होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	श्रीः	श्रियौ	श्रियः
द्वि०	श्रियम्	,,	,,
तृ०	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः
च०	श्रियै, श्रिये	,,	श्रीभ्यः
प०	श्रियाः, श्रियः	,,	,,

ष०	श्रियाः, श्रियः	श्रियोः	श्रीणाम्, श्रियाम्
स०	श्रियाम्, श्रियि	,,	श्रीषु
सं०	हे श्रीः !	हे श्रियौ !	हे श्रियः !

इसी प्रकार धी (बुद्धि), ह्री (लज्जा), भी (डर) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं ।

* विशेष ध्यातव्य *

(१) ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा का उपयोग केवल 'ङे, ङसिँ, ङस्, ङि, आम् और सम्बुद्धि' इन छः स्थानों पर ही होता है ।

(२) जिस शब्द में इयँङ् उवँङ् आदेश होते हों उस शब्द की प्रथम 'नेयँङुवँङ्—' (२२१) सूत्र से सर्वत्र छः स्थानों पर नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जाता है ।

(३) नदीत्व के निषेध के बाद ङिद्वचनों तथा आम् में क्रमश· 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) और 'वाऽऽमि' (२३०) से नदीत्व का विकल्प हो जाता है ।

(४) शेष सम्बुद्धि ही बच रहती है जिसमें वैसे का वैसा नदीत्वनिषेध बना रहता है । इस प्रकार 'नेयँङुवँङ्—' (२२१) सूत्र केवल सम्बुद्धि में ही चरितार्थ होता है ।

(५) उपर्युक्त किसी नियम से स्त्रीशब्द प्रभावित नहीं होता; क्योंकि सर्वत्र 'अस्त्री' कहा गया है । अतः स्त्रीशब्द की 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) से नित्य ही नदी-सञ्ज्ञा होती है ।

(यहां ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

—०:*:०—

अब उकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'धेनु' (गाय) शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] धेनुर्मतिवत् ।

व्याख्या—'धेनु' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'मति'शब्दवत् होती है । रूपमाला यथा—

प्र०	धेनुः	धेनू	धेनवः
द्वि०	धेनुम्	,,	धेनूः
तृ०	धेन्वा†	धेनुभ्याम्	धेनुभिः
च०	धेन्वै, धेनवे*	,,	धेनुभ्यः
पं०	धेन्वाः, धेनोः*	धेनुभ्याम्	धेनुभ्यः
ष०	,, ,,	* धेन्वोः	धेनूनाम्
स०	धेन्वाम्, धेनौ*	,,	धेनुषु
सं०	हे धेनो !	हे धेनू !	हे धेनवः !

† स्त्रीलिङ्ग होने के कारण घिसञ्ज्ञा होने पर भी 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) द्वारा टा को ना नहीं होता ।

* ङिद्वचनों में 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) द्वारा नदीसञ्ज्ञा का विकल्प हो जाता

हैं। नदीपक्ष में नदीकार्य होते हैं। यथा—ङे में आट् का आगम और वृद्धि हो कर यण् हो जाता है। ङसि और ङस् में भी ऐसा ही होता है। ङि में 'इदुद्भ्याम्' (२२३) से ङि को आम् आदेश, आट् और वृद्धि होकर यण् हो जाता है। नदीत्वाभाव में ङिद्वचनों की प्रक्रिया 'शम्भु' शब्द के समान होती है।

संस्कृतसाहित्य में उदन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द बहुत कम हैं। फिर भी हम बालोपयोगी कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१अचिरांशु	बिजली	१०काकु	शोक व भय से विकृतस्वर	रेणु	धूल
अभ्रमु*	ऐरावत हाथी की स्त्री	कुहु	कोकिलालाप	२०वार्त्ताकु	बैंगन
अलाबु	लताविशेष	खर्जु	खुजली	वितद्रु*	एक नदी
इर्वारु*	ककड़ी	गण्डु	तकिया, गांठ	सरयु*	,, ,,
५उडु†	नक्षत्र, तारा	चञ्चु‡	चोंच	सिन्धु	,, ,,
कच्छु	रोग-विशेष	१५जम्बु	जामुन	स्नायु	नस
कण्डु	खुजली	तनु	शरीर	२५हनु	कपोलों का उपरला भाग
कन्दु‡	कड़ाही	दनु	दैत्यों की माता		
करेणु	हथिनी	रज्जु	रस्सी		

—:०:—

उकारान्त स्त्रीलिङ्गों में 'क्रोष्टु' (गीदड़ी) शब्द में अन्तर पड़ता है। अब वह बताया जाता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—२३१ स्त्रियाञ्च ।७।१।९६॥

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते।

अर्थः—स्त्रीवाची क्रोष्टु शब्द तृजन्त के सदृश रूप को प्राप्त होता है अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो जाता है।

व्याख्या—स्त्रियाम् ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। क्रोष्टुः ।१।१। तृज्वत् इत्यव्ययपदम्। ['तृज्वत्क्रोष्टुः' से]। तृचा तुल्यम् = तृज्वत्, तृजन्तवदित्यर्थः। अर्थः—(स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में (च) भी (क्रोष्टुः) क्रोष्टु शब्द (तृज्वत्) तृजन्त के समान होता है।

अर्थकृत आन्तर्य (सादृश्य) द्वारा क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश ही होता है।

क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो जाने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

† अस्य क्लीबत्वमपीष्टम्।

‡ अस्य पुंस्त्वमपीष्टम्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२३२ ऋन्नेभ्यो ङीप् ।४।१।५॥

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् । क्रोष्ट्री गौरीवत् ।

अर्थः—स्त्रीलिङ्ग में ऋदन्त और नकारान्त शब्दों से ङीप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—स्त्रियाम् । ७ । १ । [यह अधिकृत है ।] प्रातिपदिकेभ्यः । ५ । ३ । ['ङ्याप्प्रातिपदिकात्' से वचनविपरिणाम कर के] ऋन्नेभ्यः ।५।३। ङीप् ।१।१। समासः— ऋतश्च नाश्च = ऋन्नाः, तेभ्यः = ऋन्नेभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वः । 'ऋन्नेभ्यः' से तदन्तविधि हो जाने से 'ऋदन्तनान्तेभ्यः' बन जाता है । अर्थः—(ऋन्नेभ्यः) ऋदन्त और नान्त (प्रातिपदिकेभ्यः)प्रातिपदिकों से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीप्) ङीप् प्रत्यय हो जाता है ।

ऋदन्त प्रातिपदिकों से यथा—

कर्तृ + ङीप्=कर्तृ + ई=कर्त्री । हर्तृ + ङीप् = हर्तृ + ई=हर्त्री । नान्त प्रातिपदिकों से यथा—

दण्डिन् + ङीप्=दण्डिन्+ई=दण्डिनी । योगिन्+ङीप्=योगिन् + ई=योगिनी ।

'क्रोष्टृ' शब्द ऋदन्त है, अतः ङीप् प्रत्यय हो गया । 'ङीप्' का 'ई' बच रहता है । ङकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से और पकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । तब 'क्रोष्टृ + ई' इस स्थिति में यण् आदेश हो कर 'क्रोष्ट्री' यह ईकारान्त शब्द बन जाता है ।

ङ्यन्त होने से क्रोष्ट्री शब्द के रूप गौरी शब्द के समान होते हैं । रूपमाला यथा—

प्र०	क्रोष्ट्री	क्रोष्ट्र्यौ	क्रोष्ट्र्यः
द्वि०	क्रोष्ट्रीम्	,,	क्रोष्ट्रीः
तृ०	क्रोष्ट्र्या	क्रोष्ट्रीभ्याम्	क्रोष्ट्रीभिः
च०	क्रोष्ट्र्यै	,,	क्रोष्ट्रीभ्यः
प०	क्रोष्ट्र्याः	क्रोष्ट्रीभ्याम्	क्रोष्ट्रीभ्यः
ष०	,,	क्रोष्ट्र्योः	क्रोष्ट्रीणाम्
स०	क्रोष्ट्र्याम्	,,	क्रोष्ट्रीषु
सं०	हे क्रोष्ट्रि !	हे क्रोष्ट्र्यौ !	हे क्रोष्ट्र्यः !

इसी प्रकार—कर्त्री (करने वाली), धात्री (धारण करने वाली), पात्री (पालन करने वाली) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं ।

(यहां ऋकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

———०:०:०———

[लघु०] भ्रूः श्रीवत् ।

व्याख्या—'भ्रमु अनवस्थाने' (दिवा० परस्मै०) धातु से 'भ्रमेश्च डूः'

(उणा० २२६) सूत्र द्वारा डू प्रत्यय कर टिलोप करने से 'भ्रू' (भौं) शब्द निष्पन्न होता है। भ्रू शब्द के रूप श्री शब्द के समान बनेंगे। इस में 'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्—' (१९९) से उवँङ् आदेश होता है। अतः उवँङ् की स्थिति इस में होने से 'नेयँङुवँङ्—' (२२१) से नदीसञ्ज्ञा का निषेध और ङिद्वचनों में 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से तथा आम् में 'वाऽऽमि' (२३०) से विकल्प 'श्री' शब्द के समान ही होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	भ्रूः	भ्रुवौ	भ्रुवः
द्वि०	भ्रुवम्	,,	,,
तृ०	भ्रुवा	भ्रूभ्याम्	भ्रूभिः
च०	भ्रुवै, भ्रुवे	,,	भ्रूभ्यः
प०	भ्रुवाः, भ्रुवः	,,	,,
ष	,, ,,	भ्रुवोः	भ्रूणाम्, भ्रुवाम्
स०	भ्रुवाम्, भ्रुवि	,,	भ्रूषु
सं०	हे भ्रूः !	हे भ्रुवौ !	हे भ्रुवः !

इसी प्रकार भू (पृथ्वी) शब्द के रूप होते हैं।

[लघु०] स्वयम्भूः पुंवत्।

अर्थः—स्वयम्भू शब्द का उच्चारण पुंलिङ्गप्रोक्त 'स्वयम्भू' शब्द के समान होता है।

व्याख्या—स्वयम्भू शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं, किन्तु विशेष्यलिङ्ग के आश्रित है। अतः इस की 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) से नदीसञ्ज्ञा नहीं होती। 'ओः सुपि' (२१०) से प्राप्त होने वाले यण् का 'न भूसुधियोः' (२०२) से निषेध हो जाता है। पुनः 'अचि श्नु—' (१९९) से उवँङ् हो जाता है।

स्वयम्भू (दैवी, आदि शक्ति) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	स्वयम्भूः	स्वयम्भुवौ	स्वयम्भुवः
द्वि०	स्वयम्भुवम्	,,	,,
तृ	स्वयम्भुवा	स्वयम्भूभ्याम्	स्वयम्भूभिः
च०	स्वयम्भुवे	,,	स्वयम्भूभ्यः
प०	स्वयम्भुवः	स्वयम्भूभ्याम्	स्वयम्भूभ्यः
ष०	,,	स्वयम्भुवोः	स्वयम्भुवाम्
स०	स्वयम्भुवि	,,	स्वयम्भूषु
सं०	हे स्वयम्भूः !	हे स्वयम्भुवौ !	हे स्वयम्भुवः

नोट—वधू, जम्बू, चमू, गुग्गुलू, श्वश्रू, कमण्डलू, संहितोरू, वामोरू, शफोरू, कद्रू आदि शब्दों के रूप 'गौरी' शब्दवत् होते हैं। केवल ङ्यन्त न होने से सुलोप नहीं होता। निदर्शनार्थ 'वधू' शब्द का उच्चारण यथा—

प्र०	वधूः	वध्वौ	वध्वः	पं०	वध्वाः	वधूभ्याम्	वधूभ्यः
द्वि०	वधूम्	,,	वधूः	ष०	,,	वध्वोः	वधूनाम्
तृ०	वध्वा	वधूभ्याम्	वधूभिः	स०	वध्वाम्	,,	वधूषु
च०	वध्वै	,,	वधूभ्यः	सं०	हे वधु !	हे वध्वौ !	हे वध्वः !

(यहां ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

—•:※:•—

अब ऋदन्त स्त्रीलिङ्गों का वर्णन करते हैं । स्वसृ (बहिन) आदि ऋदन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (२३२) से ङीप् प्राप्त होता है । इस का अग्रिम-सूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—२३१ न षट्-स्वस्रादिभ्यः ।४।१।१०।।

ङीप्टापौ न स्तः ।

> स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
> याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ।।

स्वसा । स्वसारौ ।

अर्थः—षट्सञ्ज्ञकों तथा स्वसृ आदियों से परे ङीप् और टाप् नहीं हुआ करते ।

स्वसृ आदियों का कारिका में परिगणन करते हैं—१. स्वसृ (बहिन), २. तिसृ (त्रि को स्त्रीलिङ्ग में हुआ आदेश), ३. चतसृ (चतुर् को स्त्रीलिङ्ग में हुआ आदेश) ४.ननान्दृ (पति की बहिन, ननन्द), ५. दुहितृ (लड़की), ६. यातृ (पति के भाई की पत्नी), ७. मातृ (माता)। ये सात शब्द स्वस्रादि कहे गये हैं ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । षट्स्वस्रादिभ्यः ।५।३। ङीप् ।१।१। ['ऋन्नेभ्यो ङीप्' से] टाप् ।१।१। ['अजाद्यतष्टाप्' से] समासः—षट् च स्वस्रादयश्च=षट्स्वस्रादयः, तेभ्यः,=षट्स्वस्रादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः— (षट्स्वस्रादिभ्यः) षट्सञ्ज्ञकों तथा स्वस्रादि शब्दों से परे (ङीप्) ङीप् और (टाप्) टाप् (न) नहीं होते ।

स्वस्रादिगण मूल में श्लोकबद्ध दे दिया गया है । षट्सञ्ज्ञा पीछे (१८७) सूत्र द्वारा षष्, पञ्चन्, सप्तन् आदि शब्दों की कही गई है ।

'स्वसृ' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'धातृ' शब्द के समान होती है । केवल शस् में ही सकार को नकार न हो कर 'स्वसॄः' बनता है । रूपमाला यथा-

प्र०	स्वसा ❀	स्वसारौ†	स्वसारः†	पं०	स्वसुः‡	स्वसृभ्याम्	स्वसृभ्यः
द्वि०	स्वसारम्†	,, †	स्वसॄः	ष०	,, ‡	स्वस्रोः	स्वसॄणाम्
तृ०	स्वस्रा	स्वसृभ्याम्	स्वसृभिः	स०	स्वसरि×	,,	स्वसृषु
च०	स्वस्रे	,,	स्वसृभ्यः	सं०	हे स्वसः!*	हे स्वसारौ!	हे स्वसारः!

❀ "ऋदुशनस्— (२०५), अप्तृन्तृच्— (२०६), हल्ङ्याब्भ्यः— (१७९), नलोपः— (१८०)"।

† "ऋतो ङि—(२०४), अप्तृन्—(२०६)"।

‡ "ऋत उत् (२०८), रात्सस्य (२०९)"।

× "ऋतो ङि— (२०४)"।

* "ऋतो ङि—(२०४), हल्ङ्याब्भ्यः—(१७९

[लघु०] माता पितृवत् । शसि—मातॄः ।

व्याख्या—मातृ (माता) शब्द की प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गप्रोक्त 'पितृ' शब्दवत् होती है। केवल शस् में नत्व न होने से 'मातॄः' यह विशेष है। रूपमाला यथा—

प्र०	माता	मातरौ	मातरः	पं०	मातुः	मातृभ्याम्	मातृभ्यः
द्वि०	मातरम्	,,	मातॄः	ष०	,,	मात्रोः	मातॄणाम्
तृ०	मात्रा	मातृभ्याम्	मातृभिः	स०	मातरि	,,	मातृषु
च०	मात्रे	,,	मातृभ्यः	सं०	हे मातः !	हे मातरौ !	हे मातरः !

इसी प्रकार—ननान्दृ, दुहितृ और यातृ शब्दों के उच्चारण होते हैं।

(यहां ऋदन्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—०:❀:०—

[लघु०] द्यौर्गोवत् ।

व्याख्या—'द्यो' शब्द का अर्थ आकाश व स्वर्ग है। 'द्यौः स्त्री स्वर्गान्तरिक्षयोः' इत्यौणादिकपदार्णवे श्रीपेरुसूरयः। 'द्युत—दीप्तौ' (भ्वा० आत्मने०) धातु से बहुल के कारण औणादिक 'डो' प्रत्यय करने से 'द्यो' शब्द निष्पन्न होता है। इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'गो' (पृष्ठ ३११) शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	द्यौः†	द्यावौ†	द्यावः†	प०	द्योः*	द्योभ्याम्	द्योभ्यः
द्वि०	द्याम्‡	,,	द्याः‡	ष०	,, *	द्यवोः	द्यवाम्
तृ०	द्यवा	द्योभ्याम्	द्योभिः	स०	द्यवि	,,	द्योषु
च०	द्यवे	,,	द्योभ्यः	सं०	हे द्यौः !	हे द्यावौ !	हे द्यावः !

† ओतो णिदिति वाच्यम्, अचो ञ्णिति (१८१)।

‡ औतोऽम्शसोः (२१४)।

* 'ङसि-ङसोश्च' (१७३)।

इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग गो (गाय) शब्द का उच्चारण होता है।

(यहां ओकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—०:❀:०—

[लघु०] राः पुंवत्।

व्याख्या—'रै' शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों प्रकार का होता है। स्त्रीलिङ्ग में भी उच्चारण पुंलिङ्ग के समान होता है, किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं होता। रूपमाला यथा—

प्र०	राः	रायौ	रायः	प०	रायः	राभ्याम्	राभ्यः
द्वि०	रायम्	,,	,,	ष०	,,	रायोः	रायाम्
तृ०	राया	राभ्याम्	राभिः	स०	रायि	,,	रासु
च०	राये	,,	राभ्यः	सं०	हे राः !	हे रायौ !	हे रायः

हलादि विभक्तियों मे 'रायो हलि' (२१५) से आकार आदेश तथा अजादि विभक्तियों में आय् आदेश हो जाता है।

[लघु०] नौग्लौवत्।

व्याख्या—'णुद प्रेरणे' (तुदा० प०) धातु से 'ग्ला-नुदिभ्यां डौ' (उणा० २२२) सूत्र द्वारा डौ प्रत्यय हो कर टि का लोप करने से 'नौ' (नौका) शब्द निष्पन्न होता है। इस की समग्र प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'ग्लौ' (पृ० २१३) शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	नौः	नावौ	नावः	प०	नावः	नौभ्याम्	नौभ्यः
द्वि०	नावम्	,,	,,	ष०	,,	नावोः	नावाम्
तृ०	नावा	नौभ्याम्	नौभिः	स०	नावि	,,	नौषु
च०	नावे	,,	नौभ्यः	सं०	हे नौः !	हे नावौ !	हे नावः !

सर्वत्र अजादि विभक्तियों में 'एचोऽयवायावः' (२२) से औकार को आव् आदेश हो जाता है।

[लघु०] इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः [शब्दाः]।

अर्थः—यहां 'अजन्तस्त्रीलिङ्ग' शब्द समाप्त हैं।

अभ्यास (३४)

(१) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) क्या कारण है कि इयङ्स्थानी होने पर भी 'स्त्री' शब्द में नदीसञ्ज्ञा का निषेध नहीं होता ?

(ख) 'रमायै' में 'आटश्च' सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?

(ग) क्या कारण है कि अजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरण में ह्रस्व अकारान्त शब्दों का वर्णन नहीं किया गया ?

(घ) 'औङ्' किसे कहते हैं और उस का किस सूत्र में व्यवहार किया गया है ?

(२) लिङ्गविशिष्टपरिभाषा का सोदाहरण विवेचन करें।

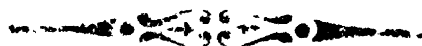
(३) 'गुणदीर्घोत्वानामपवादः' का तात्पर्य उदाहरणप्रदर्शनपूर्वक व्यक्त करें।

(४) निम्नलिखित रूपों की सिद्धि करते हुए यथासम्भव वैकल्पिक रूपों का भी प्रदर्शन करें।

१. तिस्रः। २. मातॄः। ३. द्यौः। ४. अक्क !। ५. रमयोः। ६. स्त्रियम्। ७. श्रीणाम्। ८. मतौ। ९. द्वे। १०. स्त्रि !। ११. मत्यै। १२. उत्तरपूर्वायाम्। १३. श्रीः !। १४. रमायाम्। १५. स्त्रियौ।

(५) 'हे श्रीः !' यहां इयङ् आदेश न होने पर भी कैसे 'नेयँङुवँङ्—' सूत्र प्रवृत्त हो जाता है ?।

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां
लघुसिद्धान्तकौमुद्याम्
अजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणं
समाप्तम्।



अथाजन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणम्

अब क्रमप्राप्त अजन्तनपुंसक शब्दों का विवेचन करते हैं। सर्वप्रथम अदन्त शब्दों का नम्बर आता है।

'ज्ञा अवबोधने' (क्र्या० परस्मै०) धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'ज्ञान' शब्द सिद्ध होता है।

'ज्ञान + स्' (सुँ)। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२३४ अतोऽम् ।७।१।२४॥

अतोऽङ्गात् क्लीबात् स्वमोरम् । अमि पूर्वः—ज्ञानम् । 'एङ्ह्रस्वाद्—' इति हल्लोपः—हे ज्ञान ! ।

अर्थः—अदन्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे सुँ और अम् को अम् आदेश हो ‡।

व्याख्या—अतः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' इस अधिकृति का वचन-विपरिणाम हो जाता है।] नपुंसकात् ।५।१। स्वमोः ।६।२। ['स्वमोर्नपुंसकात्' से] अम् ।१।१। समासः—सुश्च अम् च=स्वमौ, तयोः=स्वमोः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि हो कर 'अदन्ताद् अङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (नपुंसकात्) नपुंसक (अङ्गात्) अङ्ग से परे (स्वमोः) सुँ और अम् के स्थान पर (अम्) अम् आदेश हो। अनेकाल् होने से अम् आदेश सर्वादेश होगा।

---

‡ कई लोग 'अतोम्' सूत्र का "अतः ।६।१। म ।१।१।" इस प्रकार पदच्छेद करते हुए—"अदन्त नपुंसक अङ्ग से परे सु और अम को 'म्' आदेश हो" ऐसा अर्थ करते हैं। इस प्रकार से सु के सकार को 'म्' आदेश हो कर—'ज्ञानम्' प्रयोग ठीक सिद्ध हो जाता है। अम् के विषय में 'आदेः परस्य' परिभाषा द्वारा अम् के आदि अकार को मकार आदेश हो कर संयोगान्त लोप करने से 'ज्ञानम्' भी सिद्ध हो जाता है। किञ्च सम्बुद्धि में प्रक्रिया अतीव सरल हो जाती है अर्थात् ज्योंही सम्बुद्धि के सकार को मकार करते हैं त्योंही 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से उस का लोप हो जाता है, 'अतो दीर्घो यञि' ... 'अन्तादिवच्च' से पूर्वान्त-कल्पना का कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

शेखरकार आदियों ने इस मत की खूब आलोचना की है। उन का कथन है कि 'म' आदेश मानने पर 'ज्ञानम्' आदियों में 'सुपि च' से दीर्घ प्राप्त होगा जो अनिष्ट है। किञ्च 'एङ्ह्रस्वात्—' के भाष्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार अम् आदेश ही मानते हैं म् आदेश नहीं।

'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) सूत्र से सुँ और अम् का लुक् प्राप्त था; ह्रस्व अकारान्त शब्दों में यह सूत्र उस का बाध करता है। अम् को अम् इसीलिए विधान किया गया है। "द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति"।

'ज्ञान + स्' यहां प्रकृतसूत्र से सुँ को अम् आदेश हो कर 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर ज्ञान् अम् = 'ज्ञानम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि 'सुँ' विभक्तिसञ्ज्ञक है अतः इस के स्थान पर आदेश होने वाला अम् भी विभक्तिसञ्ज्ञक होगा। अत एव 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा प्राप्त अम् के मकार की इत्सञ्ज्ञा का 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) से निषेध हो जायगा।

सम्बुद्धि में 'हे ज्ञान+स्' इस स्थिति में परत्व के कारण सम्बुद्धिलोप को बाध कर प्रकृतसूत्र से सुँ को अम् आदेश हो कर 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'ज्ञानम्' हुआ। पुनः 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' (१३४) से सम्बुद्धि के हल्—मकार का लोप करने पर 'हे ज्ञान' प्रयोग सिद्ध होता है*।

प्रथमा के द्विवचन में 'ज्ञान + औ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२३५ नपुंसकाच्च ।७।१।१९॥

क्लीबाद् औङः शी स्यात्। भसञ्ज्ञायाम्—

अर्थः— नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे 'औ' को 'शी' आदेश हो जाता है। भसञ्ज्ञा करने पर (अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।)

व्याख्या—नपुंसकात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' इस अधिकृति का वचनविपरिणाम हो जाता है।] औङः ।६।१। ['औङ आपः' से] शी ।१।१। ['जसः शी' से] अर्थः—(नपुंसकात्) नपुंसक (अङ्गात) अङ्ग से परे (औङः) औङ् के स्थान पर (शी) शी आदेश हो। प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन की औङ् सञ्ज्ञा है—यह पीछे 'औङ आपः' (२१६) सूत्र पर लिख चुके हैं।

'ज्ञान + औ' यहां शी आदेश होकर अनुबन्धलोप करने से 'ज्ञान+ई' हुआ। अब 'ई' यह 'औ' के स्थान पर आदेश होने के कारण स्थानिवत्त्वेन स्वादि है। 'सुडनपुंसकस्य' (१६३) में नपुंसक का वर्जन होने से सर्वनामस्थान भी नहीं। किञ्च यह अजादि भी है अतः इस के परे होने पर 'यचि भम्' (१६५) से ज्ञानशब्द की भसञ्ज्ञा हो जाती है। भसञ्ज्ञा होने से अग्रिमसूत्र द्वारा नकारोत्तर अकार का लोप प्राप्त होता है। तथाहि—

---

* हे ज्ञान+स्=हे ज्ञान+अम=हे ज्ञान+म । यहां पूर्वरूप अकार को 'अन्तादिवच्च' से पूर्व का अन्त मान लेने से 'ज्ञान' यह ह्रस्वान्त अङ्ग हो जाता है। तब इससे परे सम्बुद्धिहल्=मकार का लोप हो जाता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२३६ यस्येति च ।६।४।१४८॥

ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः । इत्यलोपे प्राप्ते—

अर्थः—ईकार या तद्धित परे होने पर भसञ्ज्ञक इवर्ण अवर्ण का लोप हो जाता है।

व्याख्या—यस्य ।६।१। भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] ईति ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । तद्धिते ।७।१। ['नस्तद्धिते' से] लोपः ।१।१। ['अल्लोपोऽनः' से] समासः—इश्च अश्च=यम्, तस्य=यस्य, समाहारद्वन्द्वः । अर्थ—(ईति) ईकार (च) अथवा (तद्धिते) तद्धित परे होने पर (भस्य) भसञ्ज्ञक (यस्य) इवर्ण अवर्ण का (लोपः) लोप हो जाता है।

इस सूत्र के उदाहरण आगे यथास्थान बहुत आएंगे।

'ज्ञान + ई' यहां ईकार परे है अतः भसञ्ज्ञक अकार का लोप प्राप्त होता है, पर यह अनिष्ट है। अतः इस के निषेध के लिये अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(२२) औङः श्यां प्रतिषेधः ।

ज्ञाने ।

अर्थः—औङ् के स्थान पर आदेश हुए 'शी' के परे होने पर 'यस्येति च' सूत्र का निषेध हो जाता है।

व्याख्या—यह वार्त्तिक 'यस्येति च' सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है, अतः इस से उसी का निषेध होता है। औङः ।६।१। श्याम् ।७।१। प्रतिषेधः ।१।१। अर्थः—(औङः) औङ् के स्थान पर हुए (श्याम्) शी के परे होने पर (प्रतिषेधः) 'यस्येति च' सूत्र का निषेध हो जाता है।

'ज्ञान + ई' यहां प्रकृत वार्त्तिक से 'यस्येति च' (२३६) द्वारा प्राप्त अकारलोप का निषेध हो जाता है। अब 'आद् गुणः' (२७) से एकार गुण हो कर 'ज्ञाने' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमा के बहुवचन में 'ज्ञान+जस्' इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२३७ जश्शसोः शिः ।७।१।२०॥

क्लीबाद् अनयोः शिः स्यात् ।

अर्थः—नपुंसकलिङ्ग से परे जस् और शस् को 'शि' आदेश हो।

व्याख्या—नपुंसकात् ।५।१। ['स्वमोर्नपुंसकात्' से] जश्शसोः ।६।२। शिः ।१।१। समासः—जश्च शश्च=जश्शसौ, तयोः=जश्शसोः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(नपुंसकात्) नपुंसकलिङ्ग से परे (जश्शसोः) जस् और शस् के स्थान पर (शिः) शि आदेश हो।

जस् और शस् प्रत्यय हैं अतः स्थानिवद्भाव से 'शि' भी प्रत्यय है। प्रत्यय होने से इस के शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से इत्संज्ञा हो जाती है। शेष 'इ' ही बच रहता है।

ज्ञान+शि=ज्ञान+इ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२३८ शि सर्वनामस्थानम् ।१।४।४१॥

'शि' इत्येतद् उक्तसञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः—'शि' यह सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—शि ।१।१। सर्वनामस्थानम् ।१।१। अर्थः—(शि) शि (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक हो

नपुंसकलिङ्ग में जस् की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा नहीं होती—यह पीछे 'सुडनपुंसकस्य' (१६३) सूत्र पर बताया जा चुका है। और शस् की तो सुट् न होने से किसी भी लिङ्ग में सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा नहीं होती। तो यहां नपुंसक में जस् और शस् के स्थान पर होने वाला 'शि' आदेश स्थानिवद्भाव से किसी भी प्रकार सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक नहीं हो सकता; परन्तु इस की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा करनी इष्ट है। अतः इस सूत्र से उस का विधान किया गया है।

'ज्ञान+इ' यहां शि की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा हो गई। अब इस का उपयोग दिखलाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२३९ नपुंसकस्य झलचः ।७।१।७२॥

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने ।

अर्थः—सर्वनामस्थान परे होने पर झलन्त और अजन्त नपुंसक को नुम् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—नपुंसकस्य ।६।१। झलचः ।६।१। नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] सर्वनामस्थाने ।७।१। ['उगिदचां सर्वनामस्थाने—' से] समासः—झल् च अच् च=झलच्, समासान्तविधेरनित्यत्वाद् 'द्वन्द्वाच्चुद—' इति न टच्। तस्य=झलचः, समाहारद्वन्द्वः। 'नपुंसकस्य' का विशेषण होने से 'झलचः' से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (झलचः) झलन्त और अजन्त* (नपुंसकस्य) नपुंसकलिङ्ग का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है ‡।

---

* 'अन्तः परस्यैव झलो नुम्विधानम्' इस भाष्य के नियम से 'मांसि (मांस्+जस्), गवाञ्चि (पूजार्थक)' आदि में नुम् न होगा।

‡ यहां हम 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) परिभाषा का किञ्चित् आश्रय ले कर ही अर्थ कर रहे हैं। 'नपुंसकस्य' में अवयवषष्ठी है—इस का निर्णय परिभाषा से ही होता है।

'ज्ञान + इ' यहां 'ज्ञान' यह अजन्तनपुंसक है; इस से परे 'इ' यह सर्वनामस्थान विद्यमान है। अतः 'नपुंसकस्य झलचः' से 'ज्ञान' को नुम् का आगम प्राप्त होता है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह नुम् आगम नपुंसक का कौन सा अवयव हो? क्या आद्य अवयव हो या अन्त अवयव? अथवा और ही कुछ हो?। इस की अग्रिम परिभाषा से व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—२४० मिदचोऽन्त्यात् परः ।१।१।४६॥

अचां मध्ये योऽन्त्यः, तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्। उपधादीर्घः—ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्।

अर्थः—समुदाय के अचों में जो अन्त्य अच्, उस से परे मित् का आगम होता है। किञ्च वह उस समुदाय का अन्तावयव माना जाता है।

व्याख्या—मित् ।१।१। अचः ।६।१। अन्त्यात् ।५।१। परः ।१।१। अन्तः ।१।१। ['आद्यन्तौ टकितौ' से] समासः—म् इत् यस्य स मित्, बहुव्रीहिसमासः। अच इति निर्धारणे षष्ठी, सौत्रमेकवचनं जात्यभिप्रायेण। यस्य समुदायस्य मिद् विहितं तस्य समुदायस्य अचाम्मध्य इत्यर्थः। अर्थः—(मित्) मित् आगम (अचः) जिस समुदाय को विधान किया गया हो उस समुदाय के अचों के मध्य में (अन्त्यात्) जो अन्त्य अच्, उस से (परः) परे होता है। किञ्च वह उसी समुदाय का (अन्तः) अन्त अवयव समझा जाता है ×।

भावः—जिस समुदाय को मित् (म् इत् वाला—नुम् आदि) कहा जाय उस समुदाय में जितने अच् हों, उन में से अन्तिम अच् से परे मित् रखा जाना चाहिये, तथा उस मित् को उस समुदाय का अन्तिम अवयव समझना चाहिये।

× यदि मित् समुदायभक्त=समुदाय का अवयव न माना जाय तो 'वहंलिहः' आदि प्रयोगों में पदमूलक अनुस्वार न हो सकेगा। तथाहि—वहं लेढीति वहंलिहः। 'वह' कर्म उपपद रहते 'लिह्' धातु से 'वहाभ्रे लिहः' (३.२.३२) से खश् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'वहलिह' होता है। अब 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (७६७) से 'वह' को मुम् का आगम हो कर 'वहम्+लिह' बनता है। 'वह' पदसञ्ज्ञक था; अब यदि मुम् को उसका अवयव नहीं मानते तो 'वहम्' यह मान्त पद नहीं हो सकता—जो अनिष्ट है। अब मित् के अन्तावयव स्वीकृत होने से मान्त पद हो जाता है और इस प्रकार अनुस्वार सिद्ध हो जाता है।

ध्यान रहे कि सूत्र का यह अंश जहां उपयोगी होगा वहीं प्रवृत्त होगा; प्रयोजनाभाव में इस का उपयोग न होगा। [देखो शेखर और चिदस्थिमाला]

'ज्ञान+इ' यहां 'ज्ञान' इस समुदाय को मित्-नुम् विधान किया गया है। 'ज्ञान' में दो अच् हैं; एक जकारोत्तर आकार और दूसरा नकारोत्तर अकार। तो अन्त्य अच् नकारोत्तर अकार से परे 'नुम्' रखा जायगा और यह ज्ञानशब्द का अन्तावयव समझा जायगा।

'ज्ञाननुम्+इ' यहां नुम् के उम् का लोप हो कर 'ज्ञानन्+इ' हुआ। नुम् करने से पूर्व 'ज्ञान' अङ्ग था; परन्तु अब नुम् के अन्तावयव हो जाने से 'ज्ञानन्' यह नान्त अङ्ग हो गया है। नान्त हो जाने पर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उस की उपधा को दीर्घ हो कर ज्ञानान् + इ = 'ज्ञानानि' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के एकवचन में 'ज्ञान + अम्' इस स्थिति में 'अतोऽम्' (२३४) से अम् को अम् आदेश हो जाता है। इस का लाभ 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से अम् का लुक् नहीं होता। पुनः 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो कर 'ज्ञानम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में 'ज्ञान + औ' (औट्) इस स्थिति में पूर्ववत् 'नपुंसकाच्च' (२३५) से औ को शी आदेश हो कर अनुबन्ध-लोप और गुण करने से 'ज्ञाने' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां भी पूर्ववत् भसञ्ज्ञा, भसञ्ज्ञक अकार के लोप की प्राप्ति तथा उस का वारण कर लेना चाहिये।

द्वितीया के बहुवचन में 'ज्ञान + शस्' इस स्थिति में पूर्ववत् 'जश्शसोः शिः' (२३७) से शि आदेश, अनुबन्धलोप, 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) से सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् आगम तथा नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो कर 'ज्ञानानि' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—नपुंसकलिङ्ग में प्रायः प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूप तथा उन की प्रक्रिया एक समान हुआ करती है। हम आगे प्रथमा विभक्ति की ही सिद्धि करेंगे, उस से द्वितीया की भी सिद्धि समझ लेनी चाहिये।

नपुंसक में प्रायः तृतीयादि विभक्तियों के रूप पुंलिङ्ग के समान होते हैं; अतः यहां उन की भी सिद्धि नहीं करेंगे। हां जहां कुछ विशेष होगा वहां पूरी २ प्रक्रिया लिखेंगे। ज्ञान शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानैः
च०	ज्ञानाय	,,	ज्ञानेभ्यः
पं०	ज्ञानात्	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः
ष०	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्
स०	ज्ञाने	,,	ज्ञानेषु
सं०	हे ज्ञान !	हे ज्ञाने !	हे ज्ञानानि !

[लघु०] एवं धन-वन-फलादयः ।

अर्थः – इसी तरह धन, वन, फल आदि ह्रस्व अकारान्त नपुंसक शब्दों के रूप बनते हैं ।

व्याख्या—बालकों की ज्ञानविवृद्धि के लिये ज्ञानवत शब्दों का कुछ उपयोगी सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं । '*' इस चिह्न वाले स्थानों में पूर्ववत् णत्वप्रक्रिया जान लेनी चाहिये । अनुवाद के जिज्ञासु छात्रों को 'क्रियाशब्द' विशेष देखने चाहियें ।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१अक्षर*	अकारादि वर्ण	आर्द्रक	अदरक	क्षेत्र*	खेत
अगार*	गृह	आसन	आसन	गवेषण	खोज
अग्निकोण	दक्षिणपूर्वीकोना	२५आस्तिक्य	परलोक स्वीकार	४५गौरव*	गुरुत्व, प्रतिष्ठा
अग्निहोत्र*	होम		करना	चन्दन	चन्दन
५अघ	पाप	आस्य	मुख	चरण	(पुं० न०) पैर
अङ्ग	काय का अवयव	उदर*	पेट	चरित	चालचलन
अञ्जन	सुरमा	ऋत	मानसिक सत्य	चाञ्चल्य	चञ्चलता
अनृत	झूठ	ऐक्य	एकता	५०चातुर्य*	निपुणता
अन्तरिक्ष*	आकाश	३०ओदन	भात	चामीकर*	सुवर्ण
१०अन्तःपुर*	रनवास	औत्सुक्य	उत्कण्ठा	चिबुक	ठोडी
अभ्र*	बादल	कङ्कण	कंगन	चिह्न	निशान
अभ्रक*	अभ्रक	कज्जल	काजल	चौर्य*	चोरी
अमृत	जल, अमृत	कनक	सुवर्ण, धतूरा	५५जठर*	पेट
अम्भोज	पद्म	३५कमल	कमल	जल	पानी
१५अम्ल	छाछ, खट्टा	कव्य	पितरों के लिये	जाड्य	मूर्खता
अरविन्द	पद्म		दिया गया अन्न	जातिफल	जयफल
अवसान	विराम, समाप्ति	काञ्चन	सुवर्ण	जाम्बूनद	सोना
अस्त्र*	फेंकने योग्य	कार्य*	काम	६०टङ्कण	सुहागा
	बाण आदि	कुण्ड	हाण्डी	तत्त्व	यथार्थ रूप
अहिफेन	अफीम	४०कुमुद	रात में खिलने	तथ्य	सत्य
२०अंशुक	महीन वस्त्र		वाला श्वेत कमल	तन्त्र*	शास्त्रविशेष
आधिक्य	ज्यादती	कौटिल्य	कुटिलता	तर्पण	देवता ऋषि और
आर्जव	सिधाई	क्षीर*	दूध		पितरों को जलदान

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
६५ताम्बूल	पान	बाल्य	लड़कपन	लवित्र*	दरांती, चाकू
तारुण्य	जवानी	बीज	कारण	लशुन	लहसुन
तिमिर*	अन्धकार	९५भय	डर	लाङ्गल	हल
तुत्थ	नीला थोथा	भुवन	लोक	लाङ्गूल	पूंछ
तृण	तिनका	भोजन	खुराक	१२५लाघव	हलकापन,
७०तैल	तेल	मनोमालिन्य	रंजीदगी		तन्दुरुस्ती
तोक	सन्तान	मार्दव	कोमलता	लालन	लाड करना
तोय	पानी	१००मित्र*	दोस्त	लालित्य	सौन्दर्य
दाक्षिण्य	चतुरता	मुख	मुँह	लेख्य	दस्तावेज़
दास्य	दासता	मूल्य	दाम, कीमत	वक्त्र*	मुख
७५दुःख	दुःख	मौन	चुप्पी	१३०वङ्ग	रांगा, कली
दुर्भिक्ष*	अकाल	यन्त्र*	कल व औज़ार	वचन	कथन
दैव	भाग्य	१०५यवस	घास, तृण	वज्र*	इन्द्र का अस्त्र,
द्वार*	दरवाज़ा	युद्ध	लड़ाई		हीरा
धन	धन	योजन	चार कोस	वन	जंगल
८०नयन	आंख	यौतक	दहेज़ का धन	वसन	वस्त्र
नवनीत	माखन	यौतुक	दहेज़ का धन	१३५वाक्य	वाक्य
नास्तिक्य	परलोक स्वीकार	११०यौवन	जवानी	वाङ्मय	शास्त्र
	न करना	रत्न	मणि	वाद्य	बाजा
नेत्र*	आंख	रसायन	जरा-व्याधि	वार्त्त	तन्दुरुस्ती
नैपुण्य	निपुणता		नाशक औषध	वार्धक्य	बुढ़ापा
८५पङ्कज	कमल	रहस्य	पोशीदा	१४०वासर*	(पुं० नं०) दिन
पत्र*	पत्ता	राज्य	राज	वाहन	सवारी
पाण्डित्य	विद्वत्ता	११५रामठ	हींग	वितुन्नक	धनियां
पार्थक्य	जुदाई	लक्षण	भेददर्शक चिह्न	विवर*	छिद्र, बिल
पुष्प*	फूल	ललाट	माथा	विश्वभेषज	सोंठ
९०पैशुन्य	चुगलखोरी	ललाम	प्रधान, सुन्दर	१४५विष*	ज़हर
फल	फल	लवङ्ग	लौंग	वीर्य*	बल, पराक्रम
फेन	झाग	१२०लवण	नमक	वृत्त	सदाचार

शब्द	अर्थ
वृन्त	जिस से फल बन्धे रहते हैं
वृन्द	समूह
१५०वेतन	तनख़्वाह
वैचित्र्य*	विचित्रता
वैद्यक	हिकमत
वैधव्य	विधवापन
वैर*	दुश्मनी
१५५व्यलीक	अपकार, अप्रिय
व्यसन	विपत्ति, कामज व क्रोधज दोष
व्रण	(पुं० नं०) क्षत, घाव
शस्त्र*	हथियार
शास्त्र*	धर्मग्रन्थ
१६०शूल	दर्द, एक अस्त्र
शैथिल्य	शिथिलता।
शैशव	लड़कपन
सख्य	मित्रता।
सङ्गीत	नाचना, गाना, बजाना तीनों
१६५सत्य	सच
सत्र*	यज्ञ
सदन	घर
सरसिज	कमल
सरसिरुह*	कमल, पद्म
१७०साक्ष्य*	गवाही
सादृश्य	सदृशता
साधन	उपकरण

शब्द	अर्थ
साध्वस	डर
सान्त्वन	दिलासा देना
१७५सामर्थ्य	ताकत
साहस	ज़बरदस्ती
साहाय्य	सहयोग, सहायता
सिक्थ	मोम
सिन्दूर*	सिन्दूर
१८०सिंहासन	राजा का तख़्त
सुकृत	पुण्य
सुख	सुख
सुदर्शन	विष्णु का चक्र
सुवर्ण	सोना।
१८५सोपान	सीढ़ी
सौकर्य*	आसानी
सौभाग्य	खुशनसीबी
स्तेय	चोरी
स्तोत्र*	स्तुतिग्रन्थ
१९०स्थण्डिल	यज्ञार्थ संस्कृत भूमि
स्थान	जगह
स्थाविर*	बुढ़ापा
स्थैर्य*	स्थिरता
स्फुलिङ्ग	(त्रि०) अग्निकण
१९५स्यन्दन	रथ
स्वस्तिक	गणेशचिह्न
हरिताल	हड़ताल
हर्म्य*	धनियों का घर, महल
हल	हल

शब्द	अर्थ
२००हवन	होम
हव्य	देवयोग्य अन्न
हाटक	सुवर्ण
हालाहल	विषविशेष
हास्तिक	हाथियों का टोला।
२०५हास्य	हँसी
हित	भलाई
हिम	बरफ़
हिरण्य	सुवर्ण
हृदय	दिल
२१०हैयङ्गवीन	माखन

—:❀:—

अथ क्रिया-शब्दाः ।

शब्द	अर्थ
१अन्वेषण	ढूंढना
अपक्षेपण	नीचे फेंकना
अर्चन	पूजना
अवरोहण	उतरना
५आक्रमण	हमला करना
आचमन	आचमन करना
आदान	लेना।
आनयन	लाना
आरोहण	चढ़ना
१०आवरण	ढांपना
आश्रयण	आश्रय करना
उत्क्षेपण	ऊपर फेंकना
उत्थान	उठना
उद्घाटन	खोलना
१५उन्मज्जन	जल से निकलना
उपवेशन	बैठना

शब्द	अर्थ
उपार्जन	कमाना
कथन	कहना
कम्पन	कांपना
२०करण	करना
कर्त्तन	काटना
क्रन्दन	रोना, पीटना
क्रयण	खरीदना
क्रीडन	खेलना
२५क्षरण	झरना
खण्डन	तोड़ना, निषेध करना
खादन	खाना
खेलन	खेलना
गणन	गिनना
३०गन्धन	सूंघना, सूचन
गमन	जाना
गर्जन	गरजना
गर्हण	निन्दा करना
गवेषण	ढूंढना
३५गान	गाना
गुञ्जन	गूंजना
ग्रसन	ग्रसना
ग्रहण	ग्रहण करना
घर्षण	घिसना
४०घोषण	घोषणा करना
चयन	चुनना
चरण	खाना, घूमना
चर्वण	चबाना
चलन	चलना

शब्द	अर्थ
४५चिन्तन	चिन्ता करना
चुम्बन	चूमना
चूर्णन	चूर्ण करना
चोरण	चुराना
छेदन	छेदन करना
५०जपन	जप करना
जल्पन	बकवाद करना
जागरण	जागना
जीवन	जीना
ज्ञान	जानना
५५ज्वलन	जलना
डयन	उड़ना
तपन	तपना
तरण	तैरना
ताडन	ताडना करना
६०तोलन	तोलना
तोषण	खुश होना
त्यजन	छोडना
त्रोटन	तोडना
दहन	जलाना
६५दर्शन	देखना
दान	देना
दोहन	दोहना
ध्यान	चिन्तन करना
नमन	झुकना
७०नर्त्तन	नाचना
निगरण	निगलना
निन्दन	निन्दा करना
निमज्जन	डुबकी लगाना

शब्द	अर्थ
निरीक्षण	देख भाल करना
७५निवसन	निवास करना
निष्कासन	निकालना
निष्पीडन	निचोडना
पचन	पकाना
पठन	पढना
८०पतन	गिरना
पलायन	भागना
पान	पीना
पालन	पालना
पिधान	ढांपना
८५पूजन	पूजना
पेषण	पीसना
पोषण	पालना, पोसना
प्रक्षालन	धोना
प्रक्षेपण	फेंकना
९०प्रशंसन	प्रशंसा करना
प्रसारण	फैलाना
प्रेषण	भेजना
प्रोञ्छन	पोंछना
बन्धन	बान्धना
९५बोधन	जानना
भक्षण	खाना
भरण	पालना
भर्जन	भूनना
भर्त्सन	झिड़कना
१००भाषण	बोलना
भिक्षण	भीख मांगना
भेदन	तोडना

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
भ्रमण	घूमना	लेखन	लिखना	शयन	सोना
मण्डन	सजाना, पुष्ट करना	१२०लेपन	लीपना	शिक्षण	शिक्षा देना
१०५मथन	मथना	लेहन	चाटना	१४०श्रवण	सुनना, कान
मरण	मरना	वञ्चन	ठगना	ष्ठीवन	थूकना
मान	मापना	वन्दन	नमस्कार करना	सङ्ग्रहण	सङ्ग्रह करना
मार्गण	ढूंढना	वपन	बोना, मूंडना	संयोजन	जोड़ना
मिश्रण	मिलाना	१२५वमन	वमन करना	सान्त्वन	दिलासा देना
११०मेलन	मिलना	वयन	बुनना	१४५सीवन	सीना
मोचन	छोड़ना	वरण	वरना	सूचन	सूचित करना
यजन	यज्ञ करना	वर्षण	बरसना	सेवन	सेवा करना व इस्तमाल करना
याचन	मांगना	वादन	बजाना	स्तवन	स्तुति करना
रक्षण	रक्षा करना	१३०विक्रयण	बेचना	स्पर्शन	छूना
११५रचन	रचना, बनाना	विक्षेपण	बिखेरना	१५०स्मरण	याद करना
रञ्जन	रंगना, प्रसन्न करना	विखनन	गाड़ना	स्वीकरण	स्वीकार करना
रोदन	रोना	विलेखन	खरोचना	हनन	मारना
लङ्घन	लांघना, उपवास करना	विसर्जन	छोड़ना	हरण	हरना
		१३५विस्मरण	भूलना	हसन	हँसना
		वेष्टन	घेरना	१५५हिंसन	हिंसा करना
		व्रजन	जाना		

कतर (दो मे कौन) शब्द अजन्तपुंलिङ्ग में डतरप्रत्ययान्त बताया जा चुका है। यह शब्द विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। यहां नपुंसक में इस की प्रक्रिया दिखाते हैं—

कतर + स् (सुँ)। यहां 'अतोऽम्' (२३४) से अम् आदेश प्राप्त होता है; इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४१ अद्ड्* डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः। ७।१।२५॥

* 'अद्ड् डतरादिभ्यः०' यहां 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से दकार को डकार हो कर 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से संयोगान्तलोप करने पर 'अड् डतरादिभ्य०' हो जाना चाहिए था; परन्तु ऐसा नहीं किया गया। इस का कारण यह है कि वैसा करने से 'अड्' आदेश है या 'अद्ड्' इस का पता नहीं चल सकता था। अतः स्पष्टप्रतिपत्ति के लिए मुनि ने सन्धि नहीं की है।

एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्ड् आदेशः स्यात् ।

अर्थः—डतर आदि पाञ्च नपुंसक शब्दों से परे सुँ और अम् को अद्ड् आदेश हो।

व्याख्या—डतरादिभ्यः ।५।३। पञ्चभ्यः ।५।३। नपुंसकेभ्यः ।५।३। ['स्वमोर्नपुं-सकात्' से वचनविपरिणाम कर के] स्वमोः ।६।२। अद्ड् ।१।१। समासः—डतर आदिर्येषां ते डतरादयः, तेभ्यः = डतरादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । डतरादि पाञ्च शब्द सर्वादिगण के अन्तर्गत आते है । १. डतर, २. डतम, ३. अन्य, ४. अन्यतर, ५. इतर—ये पाञ्च डतरादि कहाते हैं । इन मे डतर और डतम प्रत्यय हैं ; अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्त-ग्रहणम्' परिभाषा द्वारा डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होगा । अर्थः—(डतरादिभ्यः) डतरप्रत्ययान्त, डतमप्रत्ययान्त, अन्य, अन्यतर और इतर (पञ्चभ्यः) इन पाञ्च (नपुंसकेभ्यः) नपुंसक शब्दों से परे (स्वमोः) सुँ और अम् को (अद्ड्) अद्ड् आदेश हो ।

यह सूत्र 'अतोऽम्' (२३४) का अपवाद है ।

'कतर + स्' यहां सकार को अद्ड् आदेश हो कर—'कतर + अद्ड्' । 'हलन्त्यम्' (१) से अन्त्य हल्=डकार की इत्सञ्ज्ञा होने से लोप हो कर—'कतर + अद्' । अब यहां 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, परन्तु यह अनिष्ट है ; टिलोप ही इष्ट है । अतः इस का अग्रिमसूत्र से विधान करते है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४२ टेः ।६।४।१४३॥

डिति भस्य टेर्लोपः । कतरत्, कतरद् । कतरे । कतराणि । हे कतरत् । शेषं पुंवत् । एवं कतमत्, इतरत्, अन्यत्, अन्यतरत् । अन्यतमस्य त्वन्यतममित्येव ।

अर्थः—डित् परे होने पर भसञ्ज्ञक टि का लोप हो ।

व्याख्या—डिति ।७।१। ('तिविंशतेर्डिति' से) भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) टेः ।६।१। लोपः ।१।१। ('अल्लोपोऽनः' से) अर्थः—(डिति) डित् परे होने पर (भस्य) भसञ्ज्ञक (टेः) टि का (लोपः) लोप होता है ।

'कतर + अद्' यहां स्थानिवद्भाव से 'अद्' स्वादि है । तथा अजादि और असर्व-नामस्थान भी है ; अतः इस के परे होने से 'यचि भम्' (१६५) द्वारा पूर्व की भसञ्ज्ञा हो जाती है । भसञ्ज्ञा होने से 'अद्ड्' इस डित् के परे होने पर भसञ्ज्ञक टि = अकार का

प्रकृतसूत्र से लोप हो—कतर्+अद्=कतरद् । तब 'वाऽवसाने' (१४९) से दकार को विकल्प करके चर् = तकार हो कर—'१. कतरत्, २. कतरद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

'कतर + औ' यहां 'नपुंसकाच्च' (२३) से 'औ' को 'शी' आदेश, अनुबन्ध-लोप और गुण करने से 'कतरे' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'कतर+अस्' (जस्) यहां 'जश्शसोः शिः' (३७) से अस् को शि आदेश हो कर 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) से इसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा हो जाती है । पुनः 'नपुं-सकस्य झलचः' (२३९) से नुम् का आगम हो 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' (१७७) से दीर्घ कर-नकार को णकार करने से—'कतराणि' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'हे कतर+स्' (सु) यहां भी पूर्ववत् सकार को अद्ड् आदेश हो कर भसञ्ज्ञक टि का लोप कर चर्त्व करने से—'हे कतरत्, हे कतरद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । ध्यान रहे कि यहां 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (१३४) से तकार का लोप नहीं होता, क्योंकि 'कतर' यह ह्रस्वान्त अङ्ग नहीं; अन्त का अकार तो प्रत्यय का अवयव है प्रकृति का नहीं ।

प्रश्न—'अद्ड्' आदेश को डित् न करके केवल 'अद्' आदेश का ही विधान क्यों न किया जाय ? ।

उत्तर—यदि केवल 'अद्' आदेश का विधान करते तो 'अम्' में तो कुछ अन्तर न होता क्योंकि अम् के स्थान पर हुए 'अद्' को स्थानिवत् मानने से 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो कर 'कतरत्' सिद्ध हो जाता । परन्तु 'सु' में 'अद्' आदेश होने पर 'अतो गुणे' (२७४) को बाध कर पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'हे कतरात्!, हे कतराद्' ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते । अतः इसे डित् करना ही युक्त है ।

प्रश्न—यदि पूर्वसवर्णदीर्घ का निवारण ही अभीष्ट है तो केवल 'द्' या 'त्' आदेश का ही विधान क्यों नहीं करते ? ।

उत्तर—यदि केवल दकार व तकार आदेश ही विधान करते हैं तो प्रथमा और द्वितीया में तो कोई दोष नहीं आता किन्तु सम्बुद्धि में 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' (१३४) से उसका लोप हो कर 'हे कतर' यह अनिष्ट रूप बन जाता है । अतः 'अद्ड्' आदेश ही ठीक है ।

> डित्त्वाभावेऽमि सिद्धेऽपि सावनिष्टं प्रसज्यते ।
> दाऽऽदेशे तु कृते शुद्धे सम्बुद्धौ तत्स्थितिः कुतः ॥

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमा विभक्तिवत् प्रक्रिया होती है । तृतीयादि विभक्तियों में पुंल्लिङ्गवत् प्रक्रिया जाननी चाहिए । रूपमाला यथा—

प्र०	कतरत्-द्	कतरे	कतराणि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः
च०	कतरस्मै ×	,,	कतरेभ्यः
पं०	कतरस्मात्*	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः
ष०	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्†
स०	कतरस्मिन्*	,,	कतरेषु
सं०	हे कतरत्-द्!	हे कतरे!	हे कतराणि!

× सर्वनाम्नः स्मै (१५३)।

* ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४)।

† आमि सर्वनाम्नः सुट् (१५५), बहुवचने झल्येत् (१४५)।

इसी प्रकार—१. यतर (दो में जो), २. ततर (दो में वह), ३. कतम (बहुतों में कौन), ५. ततम (बहुतों में वह) ६. एकतम (बहुतों में एक), ७. अन्य (दूसरा), ८. अन्यतर (दो में एक), ९. इतर (भिन्न) शब्दों के उच्चारण होते हैं। ध्यान रहे कि ये सब शब्द त्रिलिङ्गी हैं विशेष्यलिङ्ग के आश्रित रहते हैं। इनका विशेष्य नपुंसक होगा तो ये नपुंसक में प्रयुक्त होंगे।

नोट—अन्यतर और अन्यतम ये दोनों शब्द अव्युत्पन्न हैं, डतरान्त व डतमान्त नहीं। इनमें प्रथम तो सर्वादिगण में पढ़ा गया है और डतरादि पाञ्चों में भी आता है अतः इसका उच्चारण कतरवत् होता है। परन्तु अन्यतम शब्द सर्वादिगण में नहीं आता अतः इसका उच्चारण ज्ञानवत् होता है। अद्ड् आदेश नहीं होता। तथा स्मै, स्मात्, सुट् और स्मिन् भी नहीं होते।

एकतर (दो में एक) शब्द डतर प्रत्ययान्त है; अतः इसकी प्रक्रिया 'कतर' शब्दवत् प्राप्त होती है; परन्तु यह अनिष्ट है। इसके प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में ज्ञानवत् रूप ही इष्ट हैं, अतः अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(२३) एकतरात् प्रतिषेधः।

एकतरम्।

अर्थः—नपुंसकलिङ्ग में एकतर शब्द से परे सुँ और अम् को अद्ड् आदेश नहीं होता।

व्याख्या—एकतरात् ।५।१। प्रतिषेधः ।१।१। यह वार्त्तिक भाष्य में अद्ड् आदेश के प्रकरण में पढ़ा गया है अतः यह उसी का निषेध करता है। अर्थः—(एकतरात्) एकतर शब्द से परे (प्रतिषेधः) सुँ और अम् को अद्ड् आदेश नहीं होता।

अद्ड् आदेश न होने से 'ज्ञान' शब्दवत् प्रक्रिया होगी। रूपमाला यथा—

प्र०	एकतरम्	एकतरे	एकतराणि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	एकतरेण	एकतराभ्याम्	एकतरैः
च०	एकतरस्मै*	,,	एकतरेभ्यः
पं०	एकतरस्मात्*	एकतराभ्याम्	एकतरेभ्यः
ष०	एकतरस्य	एकतरयोः	एकतरेषाम्*
स०	एकतरस्मिन्*	,,	एकतरेषु
सं०	हे एकतर !	हे एकतरे !	हे एकतराणि !

ध्यान रहे कि * इन स्थानों पर सर्वनामकार्य निर्बाध हो जाते हैं।

अभ्यास (३५)

(१) नपुंसकलिङ्ग में अम् को पुनः अम् विधान करने का क्या प्रयोजन है ?

(२) यदि 'मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा न होती तो क्या २ दोष उत्पन्न हो जाते—सोदाहरण विवेचन करें।

(३) 'अद्ड्' आदेश को डित् करने का क्या प्रयोजन है ?

(४) क्या 'एकतर' शब्द डतरप्रत्ययान्त है यदि है तो किस सूत्र (?) से अद्ड् आदेश किया जाता है ?

(५) क्या 'अन्यतम शब्द का उच्चारण 'कतम' शब्द की तरह होता है ? यदि नहीं तो क्यों ? क्या यह डतमप्रत्ययान्त नहीं ?

(६) 'ज्ञाने' आदि प्रयोगों में औङ्स्थानिक 'शी' को दीर्घ करने का क्या प्रयोजन है ?

(७) 'शि' की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा क्यों विधान की गई है ? क्या जस्स्थानिक होने से उस की वह सञ्ज्ञा स्वतः ही प्राप्त नहीं हो सकती थी ?

(८) सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—

१. कतरत् । २. अन्यतमम् । ३. ज्ञानानि । ४. ज्ञाने । ५. एकतरम् । ६. अन्यतमात् ।

(९) 'अतोऽम्' सूत्र में अम् का छेद करें या म् का ? अपने विचार प्रकट करें।

(यहां ह्रस्व अकारान्त नपुंसक समाप्त होते हैं।)

—०:❀:०—

श्रियम्पातीति = श्रीपम् (कुलम्)। जो कुल आदि, लक्ष्मी की रक्षा करे उसे 'श्रीपा' कहते हैं। यह शब्द विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में इसका उच्चारण 'विश्वपा' शब्दवत् होता है। नपुंसकलिङ्ग में इसके उच्चारण में कुछ विशेष है—यह अग्रिम सूत्र द्वारा दर्शाया जाता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४३ ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य। १।२।४७॥

अजन्तस्येत्येव । श्रीपम् । ज्ञानवत् ।

अर्थः—नपुंसकलिङ्ग में अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है ।

व्याख्या—ह्रस्वः ।१।१। नपुंसके ।७।१। प्रातिपदिकस्य ।६।१। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत सदा अच् के स्थान पर ही हुआ करते हैं । जहां इनका विधान होता है वहां 'अचः' (अच् के स्थान पर) यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है । [यह 'अचश्च' परिभाषा का तात्पर्य है ।] यहां भी 'अचः' पद उपस्थित हो कर 'प्रातिपदिकस्य' का विशेषण बन जायगा । तब 'येन विधिस्तदन्तस्य' द्वारा इससे तदन्तविधि हो कर—'अजन्तस्य प्रातिपदिकस्य' बन जायगा । अर्थः—(नपुंसके) नपुंसकलिङ्ग में (अचः) अजन्त (प्रातिपदिकस्य) प्रातिपदिक के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अच् के स्थान पर ही ह्रस्व होता है ।

'श्रीपा' यहां अन्त्य आकार को ह्रस्व हो कर 'श्रीप' शब्द बन जाता है । अब इस से स्वादिप्रत्यय उत्पन्न हो कर सम्पूर्ण प्रक्रिया 'ज्ञान' शब्दवत् होती चली जाती है । रूपमाला यथा—

प्र०	श्रीपम्	श्रीपे	श्रीपाणि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	श्रीपेण	श्रीपाभ्याम्	श्रीपैः
च०	श्रीपाय	,,	श्रीपेभ्यः
पं०	श्रीपात्	श्रीपाभ्याम्	श्रीपेभ्यः
ष०	श्रीपस्य	श्रीपयोः	श्रीपाणाम्
स०	श्रीपे	,,	श्रीपेषु
सं०	हे श्रीप !	हे श्रीपे !	हे श्रीपाणि !

नोट—'श्रीपाणि' आदि प्रयोगों में 'एकाजुत्तरपदे णः' (२८६) से ही णत्व होता है । भिन्न २ पद होने के कारण 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से णत्व नहीं हो सकता ।

इसी प्रकार विशेष्य के नपुंसक होने पर—विश्वपा, गोपा, कीलालपा, सोमपा आदि धात्वन्त आकारान्त शब्दों के उच्चारण होते हैं ।

(यहां आकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं)

—०॥०—

[लघु०] द्वे २ ।

व्याख्या—'द्वि' (दो) शब्द त्रिलिङ्गी है । विशेष्य के नपुंसक होने पर यह भी नपुंसक हो जाता है ।

'द्वि+औ' यहां 'त्यदादीनामः' (१९३) से इकार को अकार, 'नपुंसकाच्च' (२३५) से 'औ' को 'शी' आदेश, अनुबन्धलोप तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश करने से 'द्वे' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'द्वि + भ्याम्'। त्यदाद्यत्व हो कर 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ करने पर 'द्वाभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

'द्वि+ओस्'। त्यदाद्यत्व, 'ओसि च' (१४७) से अकार को एकार तथा 'एचोऽयवा-यावः' (२२) से अय् आदेश करने पर सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग हो कर 'द्वयोः' प्रयोग सिद्ध होता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	०	द्वे	०	पं०	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि०	०	,,	०	ष०	०	द्वयोः	०
तृ०	०	द्वाभ्याम्	०	स०	०	,,	०
च०	०	,,	०	सम्बोधन नहीं होता।			

नोट—ध्यान रहे कि यद्यपि स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में 'द्वि' शब्द के एक समान रूप होते हैं। तथापि इन दोनों में प्रक्रिया का महान् अन्तर है।

[लघु०] त्रीणि २।

व्याख्या—त्रि (तीन) शब्द भी विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी होता है। यह सदा बहुवचनान्त होता है। नपुंसकलिङ्ग में इस की प्रक्रिया यथा—

'त्रि + अस्' (जस् व शस्) इस स्थिति में शि आदेश, सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, नुम् आगम और 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ हो कर 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से नकार को णकार आदेश करने से 'त्रीणि' प्रयोग सिद्ध होता है।

त्रि + भिस् = त्रिभिः। त्रि + भ्यस् = त्रिभ्यः।

षष्ठी के बहुवचन में 'त्रि + आम्' इस दशा में 'त्रेस्त्रयः' (१६२) से त्रय आदेश, ह्रस्वमूलक नुट् आगम तथा 'नामि' (१४९) से दीर्घ कर नकार को णकार करने से 'त्रयाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

त्रि + सु (सुप्) = त्रिषु। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	त्रीणि	पं०	०	०	त्रिभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	त्रयाणाम्
तृ०	०	०	त्रिभिः	स०	०	०	त्रिषु
च०	०	०	त्रिभ्यः	सम्बोधन नहीं होता।			

'वृञ् वरणे' (स्वा० उभ०) धातु से औणादिक 'इञ्' प्रत्यय करने से 'वारि' शब्द सिद्ध होता है। यद्यपि सरस्वती अर्थ में 'वारि' शब्द स्त्रीलिङ्ग भी होता है यथा— '......वारिस्तु सरस्वत्यां स्त्रियां मता' (इत्यौणादिकपदार्णवे श्रीपेरुसूरिमहोदयाः); तथापि 'जल' अर्थ में नित्यनपुंसक ही हुआ करता है।

वारि + स् (सुँ)। यहां अदन्त न होने से 'अतोऽम्' (२३४) द्वारा सकार को अम् आदेश नहीं होता। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४४ स्वमोर्नपुंसकात् ।७।१।२३॥

लुक् स्यात्। वारि।

अर्थः—नपुंसकलिङ्ग से परे सुँ और अम् का लुक् हो।

व्याख्या—स्वमोः ।६।२। नपुंसकात् ।५।१। ['षड्भ्यो लुक्' से] समासः—सुश्च अम् च = स्वमौ, तयोः = स्वमोः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(नपुंसकात्) नपुंसक से परे (स्वमोः) सुँ और अम् का लुक् हो जाता है।

यह उत्सर्गसूत्र है। इसका अपवाद 'अतोऽम्' (२३४) सूत्र और उस का भी 'अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' (२४१) सूत्र पीछे लिख चुके हैं। यह लुक् सुँ और अम् के सम्पूर्ण स्थान पर प्रवृत्त होता है।

प्रश्न—'आदेः परस्य' (७२) द्वारा यह लुक् अम् के आदि अकार के स्थान पर क्यों न हो जाय?

उत्तर—'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१८९) सूत्र में बताया जा चुका है कि लुक्, प्रत्यय के अदर्शन को कहते हैं। यहां अम् का लुक् करना है। अम् का अकार या मकार प्रत्यय नहीं, किन्तु सम्पूर्ण समुदाय 'अम्' ही प्रत्यय है। अतः यदि सम्पूर्ण अम् का अदर्शन करेंगे तो तभी लुक् सार्थक होगा, अन्यथा नहीं। इस से सम्पूर्ण अम् का लुक् होता है, केवल आदि अकार का नहीं।

वारि + म्। यहां प्रकृतसूत्र से मकार का लुक् हो कर 'वारि' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमा के द्विवचन में 'वारि + औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' (२३५) से 'औ' को 'शी' हो कर अनुबन्धलोप करने से 'वारि + ई' हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४५ इकोऽचि विभक्तौ* ।७।१।७३॥

इगन्तस्य क्लीबस्य नुम् अचि विभक्तौ। वारिणी। वारीणि।

अर्थः—अजादि विभक्ति परे होने पर इगन्त नपुंसक को नुम् का आगम हो।

* 'इकोऽचि सुपि' इत्येव सूत्रम् इति नागेशो मन्यते।

व्याख्या—इकः ।६।१। नपुंसकस्य ।६।१। ['नपुंसकस्य झलचः' से] नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] अचि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। 'नपुंसकस्य' का विशेषण होने से 'इकः' से तदन्तविधि हो कर 'इगन्तस्य नपुंसकस्य' बन जाता है। 'अचि' से तदादिविधि हो कर 'अजादौ विभक्तौ' बन जाता है। अर्थः—(अचि=अजादौ) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (इकः=इगन्तस्य) इगन्त (नपुंसकस्य) नपुंसक का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है। मित होने से यह नुम् का आगम अन्त्य अच् से परे होता है।

'वारि + ई' यहां 'वारि' यह इगन्त नपुंसक है। इस से परे 'ई' यह अजादि विभक्ति वर्त्तमान है। अतः प्रकृतसूत्र से इगन्त को नुम् का आगम हो कर अनुबन्धलोप और नकार को णकार करने से 'वारिणी' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमा के बहुवचन में 'वारि + अस्' (जस्) इस स्थिति में पूर्ववत् शि आदेश, उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, नुम् आगम, अनुबन्धलोप, उपधादीर्घ तथा नकार को णकार आदेश हो कर 'वारीणि' प्रयोग सिद्ध होता है।

हे वारि + स्। यहां 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२२४) से सुँ का लुक् हो कर 'हे वारि !' हुआ। अब यहां 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) से सम्बुद्धि को निमित्त मान कर 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६६) से गुण प्राप्त होता है। परन्तु 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) के निषेध के कारण प्रत्ययलक्षण नहीं हो सकता। हमें यहां पाक्षिक गुण करना अभीष्ट है। अतः 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) की अनित्यता सिद्ध करते हैं—

[लघु०] 'न लुमता—' इत्यस्यानित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः—हे वारे । हे वारि ! । आङो ना—वारिणा । 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते—

अर्थः—'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) यह निषेध अनित्य है। अतः पक्ष में 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६६) से सम्बुद्धिनिमित्तक गुण भी हो जाता है। गुणपक्ष में—हे वारे ! और गुणाभाव में—हे वारि !।

व्याख्या—'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) सूत्र अनित्य है। इस में ज्ञापक 'इकोऽचि विभक्तौ' (२४९) सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण है। हम इसे समझाने के लिये पक्षात्मक ढंग से विचार करते हैं। तथाहि—

पूर्वपक्षी—'इकोऽचि विभक्तौ' सूत्र में 'अचि' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

उत्तरपक्षी—'वारि + भ्याम्' इत्यादि रूपों में भ्याम् आदि हलादि विभक्तियों में नुम् न हो जाय, इसलिये सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण किया गया है ।

पूर्वपक्षी—'वारिभ्याम्' आदि रूपों में यदि नुम् हो भी जाय तो भी उस का 'न लोपः—' (१८०) द्वारा लोप हो जाने से कोई दोष नहीं आएगा । अतः 'अचि' पद का ग्रहण व्यर्थ है ।

उत्तरपक्षी—तो 'हे वारि !' यहां लुक् हुए सम्बुद्धि को निमित्त मान कर नुम् न हो जाय, इसलिये 'अचि' पद का ग्रहण किया है ।

पूर्वपक्षी—सम्बुद्धि में भी 'न लोपः—' से नकार का लोप हो जायगा ।

उत्तरपक्षी—ऐसा नहीं हो सकता ; क्योंकि सम्बुद्धि में 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (२८१) सूत्र नकार का लोप नहीं करने देता । अतः 'हे वारिन् !' आदि अनिष्ट प्रयोगों की निवृत्ति के लिये 'अचि' पद का ग्रहण करना आवश्यक है ।

पूर्वपक्षी—ओहो ! सम्बुद्धि में तो नुम् प्राप्त ही नहीं हो सकता; क्योंकि विभक्ति का लुक् होने से 'न लुमताङ्गस्य' (१६१) से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाता है । अतः 'अचि' पद का ग्रहण व्यर्थ है ।

उत्तरपक्षी—आप का कथन सत्य है । इस प्रकार 'अचि' पद के विना भी 'वारिभ्याम्, हे वारि' आदि प्रयोगों के सिद्ध हो जाने पर आचार्य के पुनः 'अचि' पद के ग्रहण से 'न लुमताङ्गस्य' (१६१) सूत्र की अनित्यता स्पष्ट प्रतीत होती है ।

पूर्वपक्षी—'अचि' पद के ग्रहण से भला आप कैसे 'न लुमताङ्गस्य' (१६१) सूत्र की अनित्यता का अनुमान करते हैं ?

उत्तरपक्षी—यदि 'न लुमताङ्गस्य' (१६१) निषेध नित्य होता, तो सम्बुद्धि में उस का आश्रय कर के नुम् ही प्राप्त न हो सकता । पुनः उस के निषेध के लिये 'अचि' पद की कोई आवश्यकता ही न होती । परन्तु आचार्य का उस के निषेध के लिये यत्न करना सिद्ध करता है कि आचार्य 'न लुमताङ्गस्य' (१६१) निषेध को नित्य नहीं मानते ।

'हे वारि' यहां सम्बुद्धि में 'न लुमताङ्गस्य' (१६१) निषेध के अनित्य होने से अनित्यपक्ष में 'ह्रस्वस्य गुणः' (१२६) से गुण हो कर—'हे वारे !' और नित्यपक्ष में गुण न होने से—'हे वारि !' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं* ।

---

* यद्यपि 'इकोऽचि विभक्तौ' के भाष्य में 'हे त्रपो !' और 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' के भाष्य में 'हे त्रपु !' ऐसे दो प्रयोग पाये जाते हैं ; तथापि हमारा मन प्रत्येक इगन्त नपुंसक के सम्बुद्धि में दो दो

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है।

तृतीया के एकवचन में 'वारि+आ' (टा) इस स्थिति में 'इकोऽचि—' (७.१.७३) की अपेक्षा पर होने के कारण 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (७.३.१२०) से टा को ना आदेश हो कर नकार को णकार करने से 'वारिणा' प्रयोग सिद्ध होता है।

वारि + भ्याम् = वारिभ्याम्। वारि+भिस् = वारिभिः।

चतुर्थी के एकवचन में 'वारि + ए' इस अवस्था में घिसञ्ज्ञा हो कर नुम् की अपेक्षा पर होने के कारण 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण प्राप्त होता है। परन्तु यहां नुम् करना ही अभीष्ट है। अतः अग्रिम वार्त्तिक से पूर्वविप्रतिषेध का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(२४) वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन॥

वारिणे। वारिणः २। वारिणोः २। 'नुमचिर—' (वा० १६) इति नुट्—वारीणाम्। वारिणि। हलादौ हरिवत्।

अर्थः—वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुण इन के साथ विप्रतिषेध होने पर, पूर्व भी नुम् प्रवृत्त हो जाता है।

व्याख्या—'अचो ञ्णिति' (७.२.११५) से प्राप्त वृद्धि, 'अच्च घेः' (७.३.११६) से प्राप्त औत्व, 'तृज्वत्क्रोष्टुः' (७.१.९५) और 'विभाषा तृतीया—' (७.१.९७) से प्राप्त तृज्वद्भाव तथा 'घेर्ङिति' (७.३.१११) से प्राप्त गुण यद्यपि नुम् (७.१.७३) से पर हैं और 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) के अनुसार इन की ही प्रवृत्ति उचित है; तथापि नुम् की प्रवृत्ति पूर्वविप्रतिषेध से हो जाती है। अर्थात् इन के साथ नुम् का विप्रतिषेध होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) का दूसरा अर्थ—'अपरं कार्यम्' मान कर नुम् की प्रवृत्ति हो जाती है।*

—रूप बनाना स्वीकार नहीं करता। 'न लुमताङ्गस्य' निषेध के अनित्य होने से केवल कहीं २ 'अपो!' आदि पूर्वमहानुभावों के लिखे रूपों में ही गुण का समाधान करना चाहिये, न कि सर्वत्र विकल्प: नहीं तो फिर अव्यवस्था हो जायगी। कैयट ने 'इकोऽचि विभक्तौ' सूत्र के प्रदीप में इस का उल्लेख भी किया है।

* इन के उदाहरण भाष्य में अतीव सरल उपाय से समझाए गये हैं। तद्यथा—

"गुणवृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषिद्धम्। तत्र गुणस्यावकाशः—अग्नये, वायवे। नुमोऽवकाशः—त्रपुणी, जतुनी। इहोभयं प्राप्नोति—त्रपुणे, जतुने। वृद्धेरवकाशः—सखायौ, सखायः। नुमः

'वारि + ए' यहां पूर्वविप्रतिषेध के कारण गुण को बान्ध कर 'इकोऽचि विभक्तौ' (२४५) से नुम् का आगम हो कर नकार को णकार करने से 'वारिणे' प्रयोग सिद्ध होता है।

'वारि + अस्' (ङसि व ङस्) यहां भी 'घेर्ङिति' (१७२) से प्राप्त गुण को पूर्वविप्रतिषेध के कारण नुम् बान्ध लेता है—वारिणः।

'वारि + ओस्' यहां परत्व के कारण 'इको यणचि' (१५) को बान्ध कर नुम् प्रवृत्त हो जाता है—वारिणोः।

षष्ठी के बहुवचन में 'वारि + आम्' इस दशा में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से आम् को नुट् का और 'इकोऽचि विभक्तौ' (२४५) से अङ्ग को नुम् का आगम प्राप्त हुआ। 'नुमचिर—' (वा० १६) वार्त्तिक के द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से नुट् हो गया। तब 'नामि' (१४६) से दीर्घ और नकार को णकार करने पर 'वारीणाम्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

नोट—यदि नुम् हो जाता तो वह 'वारि' का ही अवयव होता, आम् का नहीं। तब 'नाम्' परे न रहने से 'नामि' द्वारा दीर्घ न हो सकता। किञ्च तब अङ्ग के अजन्त न होकर नान्त हो जाने से 'वारिणाम्' ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जाता।

सप्तमी के एकवचन में 'वारि+इ' इस अवस्था में 'अच्च घेः' (१७४) से ङि को औत्व और 'इकोऽचि विभक्तौ' (२४५) से अङ्ग को नुम् प्राप्त होने पर 'वृद्ध्यौत्व———' (वा० २४) वार्त्तिक से पूर्वविप्रतिषेध के कारण नुम् हो जाता है। तब नकार को णकार होकर—'वारिणि' प्रयोग सिद्ध होता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	वारि	वारिणी	वारीणि	प०	वारिणः	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	वारिणोः	वारीणाम्
तृ०	वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः	स०	वारिणि	,,	वारिषु
च०	वारिणे	,,	वारिभ्यः	सं०	हे वारि !, वारे !	हे वारिणी !	हे वारीणि !

नोट—'वारि' शब्द की तरह उच्चारण वाले शब्द संस्कृत-साहित्य में शायद ही कुछ हों। नपुंसक में इदन्त शब्द प्रायः भाषितपुंस्क ही मिलते हैं। उन का उच्चारण आगे आने वाले 'सुधि' शब्द की तरह होता है।

—स एव। इहोभयं प्राप्नोति—अतिसखीनि ब्राह्मणकुलानि। औत्वस्यावकाशः—अग्नौ, वायौ। नुमः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—त्रपुणि, जतुनि। तृज्वद्भावस्यावकाशः—क्रोष्टा, क्रोष्टुना। नुमः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—कृशक्रोष्टुनेऽरण्याय, हितक्रोष्टुने वृषलकुलाय। नुम् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन।

[महाभाष्ये 'स्त्रियाश्च' इत्यत्र द्रष्टव्यम्]

'दधि' (दही) शब्द के उच्चारण में वारि की अपेक्षा कुछ अन्तर पड़ता है। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति की प्रक्रिया तो वारिशब्द के समान ही होती है, कुछ विशेष नहीं होता; परन्तु तृतीया आदि अजादि विभक्तियों में निम्नप्रकारेण प्रक्रिया होती है।

'दधि + आ' (टा) यहां घिसञ्ज्ञा होने से 'आङो ना—' (१७१) द्वारा टा को ना आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४६ अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः। ७।१।७५॥

एषामनङ् स्यात् टादावचि।

अर्थः—तृतीयादि अजादि विभक्ति परे होने पर अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि शब्दों के स्थान पर उदात्त* अनङ् आदेश हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। विभक्तिषु ।७।३। ['इकोऽचि विभक्तौ' से वचनविपरिणाम कर के] तृतीयादिषु ।७।३। ['तृतीयादिषु भाषित—' से] अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् ।६।३। अनङ् ।१।१। उदात्तः ।१।१। समासः—अस्थि च दधि च सक्थि च अक्षि च = अस्थिदधिसक्थ्यक्षीणि, तेषाम् = अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्। 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' इति परिभाषयात्राप्यक्षिशब्दस्यानङ्। 'अचि' से तदादिविधि हो कर 'अजादिषु तृतीयादिषु विभक्तिषु' बन जाता है। अर्थः—(अचि) अजादि (तृतीयादिषु) तृतीया आदि (विभक्तिषु) विभक्तियों के परे होने पर (अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्) अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि शब्दों के स्थान पर (अनङ्) अनङ् आदेश हो जाता है और वह (उदात्त) उदात्त होता है।

अनङ् आदेश में ङकार इत्सञ्ज्ञक है। अतः 'ङिच्च' (४६) सूत्र द्वारा यह अन्त्य इकार के स्थान पर आदेश होगा। अनङ् में नकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। इस की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती।†

टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि और ओस् ये आठ तृतीयादि अजादि विभक्तियां हैं।

'दधि+आ' यहां प्रकृतसूत्र से अन्त्य इकार को अनङ् आदेश होकर—दधन्+आ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

* लघुकौमुदी में स्वरप्रकरण नहीं है, अतः हम स्वरप्रक्रिया पर विचार नहीं कर रहे; विशेषजिज्ञासु काशिका आदि का अवलोकन करें।

† उच्चारणार्थकों की स्थिति उच्चारण के अनन्तर नहीं रहती अर्थात् प्रक्रियाकाल में वे नहीं लिखे जाते। यथा यहां उच्चारण करते समय तो 'अनङ्' कहेंगे परन्तु प्रक्रिया के समय 'अन्ङ्' रखेंगे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४७ अल्लोपोऽनः ।६।४।१३४॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याकारस्य लोपः। दध्ना । दध्ने । दध्नः २ । दध्नोः २ ।

अर्थः—अङ्ग के अवयव अन् शब्द के अकार का लोप हो जाता है यदि सर्वनामस्थान भिन्न यकारादि अजादि स्वादि प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—अत् ।६।१। [यहां 'सुपां सुलुक्…' से षष्ठी का लुक् हुआ है ।] लोपः ।१।१। अनः ।६।१। भस्य ।६।१ [यह अधिकृत है] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] जिससे परे सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि व अजादि प्रत्यय हों उसे 'भ' कहते हैं—यह पीछे (पृष्ठ २३१) स्पष्ट कर चुके हैं । अर्थः—(अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव, (भस्य) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययों से भिन्न यकारादि व अजादि स्वादि प्रत्यय परे वाले (अनः) अन् के (अतः) अत का (लोपः) लोप हो जाता है ।*

'दधन्+आ' यहां सर्वनामस्थानभिन्न अजादि प्रत्यय टा परे होने से अङ्ग के अवयव अन् के अकार का लोप हो कर 'दध्ना' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'दधि+ए' (ङे) यहां अनङ् आदेश होने पर प्रकृतसूत्र से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर 'दध्ने' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'दधि + अस्' (ङसि व ङस्) यहां भी पूर्ववत् अनङ् आदेश हो कर भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप करने से 'दध्नः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

ओस् में 'दध्नोः' और आम् में 'दध्नाम्' भी पूर्वोक्त-प्रकारेण बनते हैं ।

ङि में 'दधि+इ' इस अवस्था में अनङ् आदेश होकर 'दधन्+इ' हुआ । अब

---

* यहां 'भस्य' और 'अङ्गस्य' ये दो अधिकार आ रहे हैं । "भसञ्ज्ञक अङ्ग के अवयव अन् के अकार का लोप हो" इस प्रकार यदि अर्थ करें तो—अनसा, मनसा आदियों में आदि अकार का भी लोप हो जायगा । यदि—"अन्नन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अकार का लोप हो" इस प्रकार अर्थ करें तो—तक्ष्णा आदियों में तकारोत्तर अकार के लोप की भी प्राप्ति आएगी । यदि—"अन्नन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अन् के अकार का लोप हो" इस प्रकार अर्थ करें तो—अनस्तक्ष्णा इत्यादियों में भी आदि अकार का लोप प्राप्त होगा । अतः इन सब दोषों से बचने का उपाय केवल यही है कि उपर्युक्त अर्थ किया जाय । यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि मूलगत अर्थ और इन अर्थों में केवल यही भेद है कि मूलगत अर्थ में 'भस्य' का सम्बन्ध 'अनः' से किया गया है और इन सब अर्थों में उस का सम्बन्ध 'अङ्गस्य' के साथ किया गया है । इस विषय पर विस्तृत विचार प्रौढमनोरमा शब्दरत्न आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखना चाहिये । यहां इतना जानना ही पर्याप्त है ।

'अल्लोपोऽनः' (२४७) से अन् के अकार का नित्यलोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र से विकल्प करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४८ विभाषा ङिश्योः ।६।४।१३६॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याकारस्य लोपो वा स्याद् ङिश्योः परयोः। दध्नि, दधनि । शेषं वारिवत् । एवम् अस्थि-सक्थ्यक्षि ।

अर्थः—अङ्ग के अवयव अन् शब्द के अकार का विकल्प करके लोप हो जाता है यदि सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि व अजादि स्वादि प्रत्ययों में से केवल 'ङि' व 'शी' परे हो तो।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। ङिश्योः ।७।२। अत् ।६।१। लोपः ।१।१। अनः ।६।१। ['अल्लोपोऽनः' से] भस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [ये दोनों अधिकृत हैं।] समासः—ङिश्च शी च=ङिश्यौ, तयोः=ङिश्योः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (भस्य) सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि व अजादि स्वादि प्रत्यय परे वाले (अनः) अन् के (अत्) अकार का (विभाषा) विकल्प करके (लोपः) लोप हो जाता है (ङिश्योः) ङि अथवा शी परे होने पर।

यहां 'शी' यह नपुंसकलिङ्ग वाला दीर्घ ही लिया जाता है। ह्रस्व 'शि' तो 'शि सर्वनामस्थानम्' (२१८) से सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है; इसके परे होने पर भसञ्ज्ञा का होना ही असम्भव है।

'दधन् + इ' यहां ङि परे है, अतः प्रकृतसूत्र से अन् के अकार का विकल्प कर के लोप हो गया। लोपपक्ष में—'दध्नि' और लोपाभावपक्ष में—'दधनि' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः
च०	दध्ने	,,	दधिभ्यः
पं०	दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
ष०	,,	दध्नोः	दध्नाम्
स०	दध्नि, दधनि	,,	दधिषु
सं०	हे दधे !, दधि !	हे दधिनी !	हे दधीनि !

इसी प्रकार—अस्थि (हड्डी), सक्थि (ऊरु, जङ्घा) और अक्षि (आँख) शब्दों के रूप बनते हैं।

[लघु०] सुधि । सुधिनी । सुधीनि । हे सुधे !, हे सुधि ! ।

व्याख्या—'सुधी' शब्द विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। 'कुलम्' आदि के विशेष्य होने पर यह नपुंसक हो जाता है। नपुंसक में 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (२४३) से ह्रस्व हो कर 'सुधि' शब्द बन जाता है। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में इस की प्रक्रिया वारिशब्दवत होती है। तृतीयादि विभक्तियों में कुछ विशेष होता है। वह अग्रिमसूत्र द्वारा बतलाया जाता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—२४६ तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ।७।१।७४॥

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कम् इगन्तं क्लीबं पुंवद्वा टादावचि। सुधिया, सुधिनेत्यादि।

अर्थः—यदि प्रवृत्तिनिमित्त एक हो तो इगन्त नपुंसक भाषितपुंस्क शब्द अजादि तृतीयादि विभक्तियों के परे होने पर विकल्प कर के पुंवत् होता है।

व्याख्या—तृतीयादिषु ।७।३। अचि ।७।३। विभक्तिषु ।७।३। इक् ।१।१। ['इकोऽचि विभक्तौ' से वचन और विभक्ति का विपरिणाम कर के] नपुंसकम् ।१।१। ['नपुंसकस्य झलचः' से] भाषितपुंस्कम् ।१।१। पुंवत् इत्यव्ययपदम्। गालवस्य ।६।१। 'अचि' से तदादिविधि तथा 'इक्' से तदन्तविधि हो जाती है। समासः—भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तत् भाषितपुंस्कम्, बहुव्रीहिसमासः। तद् अस्यास्तीति—भाषितपुंस्कम्। 'अर्श आदिभ्योऽच्' इति मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः। 'शब्दस्वरूपम्' इति विशेष्यमध्याहार्यम्। अर्थः—(तृतीयादिषु) तृतीयादि (अचि = अजादौ) अजादि (विभक्तिषु) विभक्तियों के परे होने पर (इक्=इगन्तम्) इगन्त (नपुंसकम्) नपुंसक शब्द (भाषितपुंस्कम्) जो पुल्लिङ्ग में भी उसी प्रवृत्तिनिमित्त से भाषित हुआ हो, (गालवस्य) गालव आचार्य के मत में (पुंवत्) पुंलिङ्गवत् होता है।

गालव के मत में पुंवत् और अन्यआचार्यों के मत में पुंवत न होनेसे पुंवद्भाव का विकल्प हो जायगा। पुंवद्भाव का अभिप्राय यह है कि जो २ कार्य पुंलिङ्ग में होते हैं, वे यहां नपुंसक में भी हो जाएं।

('प्रवृत्तिनिमित्त' किसे कहते हैं ?)

प्रत्येक शब्द का अपने वाच्य को बोधन कराने का कोई न कोई निमित्त अवश्य हुआ करता है। इस निमित्त को ही प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। यथा—'घट' शब्द का घड़े को बोध कराने का निमित्त 'घटत्व' है, अर्थात् घट को घट इसीलिये कहते हैं क्योंकि इस में

घटत्व पाया जाता है। यदि घटत्व न पाया जाए तो उसे कोई भी घट न कहे। तो यहां 'घटत्व' प्रवृत्तिनिमित्त हुआ। शुक्ल को शुक्ल कहने का प्रवृत्तिनिमित्त 'शुक्लत्व' है। यदि शुक्ल में शुक्लत्व न पाया जाए तो उसे कोई भी शुक्ल न कहे। 'पाचक' को पाचक कहने का प्रवृत्तिनिमित्त 'पाककर्तृत्व' अर्थात् पकाने की क्रिया को करना है। यदि रसोइये में पकाना न पाया जाय तो उसे कोई भी पाचक न कहे। इसी प्रकार 'देवदत्त' आदि शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त तत्तद् विशेष आकृति ही होती है। सार यह है कि जिस विशेषता के कारण कोई शब्द अपने अर्थ को जनाता है; उस शब्द की वह विशेषता ही उस का प्रवृत्तिनिमित्त होता है। तथाहि—

१	'घट'	शब्द की विशेषता	"घटत्व"	ही प्रवृत्तिनिमित्त है।
२	'पट'	,, ,, ,,	"पटत्व"	,, ,, ,,।
३	'यज्ञदत्त'	,, ,, ,,	"आकृति विशेष"	,, ,, ,,।
४	'सुधी'	,, ,, ,,	"शोभनध्यानवत्त्व"	,, ,, ,,।
५	'सुलू'	,, ,, ,,	"शोभनलवनकर्तृत्व"	,, ,, ,,।
६	'धातृ'	,, ,, ,,	"धारणकर्तृत्व"	,, ,, ,,।
७	'अनादि'	,, ,, ,,	"आदिहीनता"	,, ,, ,,।
८	'ज्ञातृ'	,, ,, ,,	"ज्ञानकर्तृत्व"	,, ,, ,,।
९	'प्रद्यु'	,, ,, ,,	"निर्मलाकाशवत्त्व"	,, ,, ,,।
१०	'प्ररि'	,, ,, ,,	"प्रकृष्टधनवत्त्व"	,, ,, ,,।
११	'सुनु'	,, ,, ,,	"शोभननौकावत्त्व"	,, ,, ,,।*

सूत्र का भावार्थ—जिस इगन्त नपुंसकलिङ्गी शब्द का जो प्रवृत्तिनिमित्त नपुंसक में हो यदि वही प्रवृत्तिनिमित्त उस का पुंलिङ्ग में भी हो तो तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे होने पर उस में विकल्प कर के पुंलिङ्गवत् कार्य होते हैं।

'सुधि' शब्द इगन्त नपुंसक है। इस का प्रवृत्तिनिमित्त 'शोभनध्यानकर्तृत्व' है। पुल्लिङ्ग में भी इस का वही प्रवृत्तिनिमित्त होता है। अतः तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इसे विकल्प कर के पुंवत्कार्य होंगे। पुंवत्पक्ष में पुनः वही दीर्घान्त 'सुधी' शब्द आ जायगा। तब 'न भूसुधियोः' (२०२) से यण् का निषेध हो कर 'अचि श्नु—' (१९९) से

*प्रवृत्तिनिमित्तम्पदशक्यतावच्छेदकम्। यथा घटत्वं घटपदस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। एवं शुक्लादिपदस्य शुक्लत्वम्, पाचकादेः पाकः, देवदत्तादेस्तत्तत्पिण्डादौ प्रवृत्तिनिमित्तम्भवति। प्रवृत्तिनिमित्तशब्दस्य व्युत्पत्तिः—प्रवृत्तेः=शब्दानामर्थबोधनशक्तेः निमित्तम्=प्रयोजकम् इति। तच्च शक्यतावच्छेदकम्भवतीति ज्ञेयम्। तल्लक्षणञ्च प्रकारतया शक्तिग्रहविषयत्वम्—इति तत्त्वचिन्तामणौ श्रीगङ्गेशोपाध्यायाः।

इयँङ् करने पर 'सुधिया' आदि रूप बनेंगे। जिस पक्ष में पुंवत् न होगा उस पक्ष में वारि-शब्दवत् प्रक्रिया हो कर 'सुधिना' आदि रूप सिद्ध होंगे। इस की रूपमाला यथा—

प्रथमा	सुधि	सुधिनी	सुधीनि
द्वितीया	,,	,,	,,
तृतीया	सुधिया, सुधिना	सुधिभ्याम्	सुधिभिः
चतुर्थी	सुधिये, सुधिने	,,	सुधिभ्यः
पञ्चमी	सुधियः, सुधिनः	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	सुधियोः, सुधिनोः	सुधियाम्, सुधीनाम्
सप्तमी	सुधियि, सुधिनि	,, ,,	सुधिषु
सम्बोधन	हे सुधे !, हे सुधि !	हे सुधिनी !	हे सुधीनि !

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्द भी भाषितपुंस्क हैं। इन में भी वैकल्पिक पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में 'हरि' शब्द की तरह तथा उस के अभाव में 'वारि' शब्द की तरह प्रक्रिया होती है।

१ अनादि = जिस का आदि न हो (ब्रह्म)।
२ सादि = जिस का आदि हो (कार्यम्)।
३ सुकवि = अच्छे कवि वाला (कुलम्)।
४ सुमुनि = अच्छे मुनियों वाला (वनम्)।
५ सुनिधि = अच्छे खज़ाने वाला (राष्ट्रम्)।
६ सुमणि = अच्छे मणियों वाला (भूषणम्)।
७ सुध्वनि = अच्छी आवाज़ वाला (वाद्यम्)।
८ निरादि = आदिहीन (ब्रह्म)।
९ सुसूरि = अच्छे विद्वानों वाला (कुलम्)।
१० अतिकवि = कवियों का उल्लङ्घन करने वाला (कुलम्)।
११ अतिमुनि = मुनियों का उल्लङ्घन करने वाला (कुलम्)।
१२ अतिनिधि = निधि का उल्लङ्घन करने वाला (कुलम्)।
१३ अतिमणि = मणियों का उल्लङ्घन कर्ता (कुलम्)।
१४ अतिध्वनि = ध्वनि को लांघा हुआ (वनम्)।

[लघु०] मधु। मधुनी। मधूनि। हे मधो !, हे मधु !।

व्याख्या—'मधु' शब्द पुन्नपुंसक होता है। पुंलिङ्ग में इस का अर्थ '१. वसन्त ऋतु, २. चैत्रमास, ३. दैत्यविशेष' आदि होता है। नपुंसक में इस का अर्थ '१. शहद, २. मद्य' आदि होता है। अत एव प्रवृत्तिनिमित्त के एक न होने से यह भाषितपुंस्क नहीं होता। नपुंसक में इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया वारिशब्दवत् होती है; किञ्चित् भी अन्तर नहीं होता। रूपमाला यथा—(मधु = शहद)

प्र० मधु	मधुनी	मधूनि		प० मधुनः	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
द्वि० ,,	,,	,,		ष० ,,	मधुनोः	मधूनाम्
तृ० मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः		स० मधुनि	,,	मधुषु
च० मधुने	,,	मधुभ्यः		सं० हे मधो !, मधु !	हे मधुनी !	हे मधूनि !

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों का उच्चारण होता है। '*' यह चिह्न षत्व-प्रक्रिया का द्योतक है—

१. वसु=धन। २. वस्तु=पदार्थ, चीज। ३. अम्बु=जल। ४. जतु=लाख। ५. अश्रु*=आंसु। ६. श्मश्रु*=दाढ़ी, मूंछ। ७ तालु= दान्तों के पीछे कठिन मुख की छत। ८. हिङ्गु=हींङ्ग। ९. शिलाजतु= शिलाजीत। १०. जत्रु*= गले के नीचे की दो हड्डियाँ, स्कन्धसन्धि। ११. पीलु†=पीलु का फल। १२. उडु‡=नक्षत्र, तारा। १३. दारु*=लकड़ी×। १४. त्रपु*=जो अग्नि को पा कर मानो लज्जा से पिघल जाता है—सीसा व रांगा।

† 'पीलु' शब्द पुंलिंग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। परन्तु इसका पुंलिङ्ग में 'पीलु-वृक्ष' और नपुंसक में 'पीलु-फल' अर्थ होता है। अतः प्रवृत्ति-निमित्त के एक न होने के कारण यह भाषितपुंस्क नहीं होता। इस विषय पर एक श्लोक प्रसिद्ध है—

> "पीलुर्वृक्षः फलं पीलु पीलुने न तु पीलवे।
> वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः॥"

‡ 'उडु' शब्द स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिंग दोनों में प्रयुक्त होता है; अतः यह भाषितपुंस्क नहीं होता।

× कुछ लोगों के मत में 'दारु' शब्द पुंलिङ्ग भी माना जाता है। तब यह भाषितपुंस्क भी हो जायगा। इसी प्रकार 'देवदारु' शब्द के विषय में भी समझना चाहिये। "अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्" रघुवंश—२. ३६।

नोट—ध्यान रहे कि विशुद्ध उदन्त नपुंसक शब्द संस्कृतसाहित्य में बहुत थोड़े हैं। हाँ! भाषितपुंस्क पर्याप्त मिल सकते हैं। इनका वर्णन आगे देखें।

[लघु०] सुलु। सुलुनी। सुलूनि। सुल्वा, सुलुनेत्यादि।

व्याख्या—सुष्ठु लुनातीति सुलु (शस्त्रम्)। जो भली प्रकार काटता है उसे 'सुलू' कहते हैं। विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से यह शब्द त्रिलिङ्गी है। नपुंसक में पूर्ववत् (२४३) सूत्र से ह्रस्व होकर सुधीशब्दवत् प्रक्रिया होती है। प्रवृत्तिनिमित्त के

एक होने से तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इसे भी वैकल्पिक पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में 'ओः सुपि' (२१०) से यण् होता है। रूपमाला यथा—

प्रथमा	सुलु	सुलुनी	सुलूनि
द्वितीया	,,	,,	,,
तृतीया	सुल्वा, सुलुना	सुलुभ्याम्	सुलुभिः
चतुर्थी	सुल्वे, सुलुने	,,	सुलुभ्यः
पञ्चमी	सुल्वः, सुलुनः	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	सुल्वोः, सुलुनोः	सुल्वाम्, सुलूनाम्
सप्तमी	सुल्वि, सुलुनि	,, ,,	सुलुषु
सम्बोधन	हे सुलो !, हे सुलु !	हे सुलुनी !	हे सुलूनि !

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्द भी भाषितपुंस्क हैं। पुंवत्पक्ष में इनका उच्चारण भानुवत् तथा पुंवद्भाव के अभाव में मधुवत् होता है—

१. गुरु=बड़ा
२. लघु=छोटा
३. साधु=सरल, सूधा
४. पटु=चतुर
५. विभु=व्यापक
६. व्यसु=मरा हुआ
७. जिज्ञासु=जानने की इच्छा वाला
८. पिपासु=पीने की इच्छा वाला
९. श्रद्धालु=श्रद्धा करने वाला
१०. सहिष्णु=सहन करने वाला
११. वन्दारु=वन्दनशील
१२. ऋजु=सरल
१३. दयालु=दया करने वाला
१४. दिदृक्षु=देखने का इच्छुक
१५. चिकीर्षु=करने का इच्छुक
१६. स्वादु=स्वादिष्ट
१७. सञ्ज्ञु=मिले हुए घुटनों वाला
१८. प्रज्ञु=टेढ़े घुटनों वाला
१९. तनु=सूक्ष्म
२०. वर्तिष्णु=वर्त्तनशील, होने वाला
२१. विजिगीषु=जीतने का इच्छुक
२२. वर्धिष्णु=वृद्धिशील
२३. कटु=तीखा (मरिचवत्)
२४. स्पृहयालु=इच्छा करने वाला
२५. संशयालु=संशयशील
२६. कमण्डलु*=सन्न्यासियों का जलपात्र
२७. कम्बु×=शंख
२८. शीधु‡=गन्ने से निर्मित शराब
२९. जीवातु‡=जीवन औषध
३०. जानु†=घुटना
३१. सानु+=पहाड़ की चोटी
३२. मृदु=कोमल

* 'अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी' इत्यमरप्रामाण्याद्भाषितपुंस्कोऽयम्।

× 'शङ्खः स्यात्कम्बुरस्त्रियौ' इत्यमरप्रामाण्याद्भाषितपुंस्कोऽयम्।

‡ 'पुंनपुंसकयोर्दारु जीवातु-स्थाणु-शीधवः' इति त्रिकाण्डशेषः। 'जीवातुरस्त्रियां भक्ते जीविते जीवनौषधे' इति मेदिनी।

† जानुशब्दोऽर्धर्चादिः। + 'स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्' इत्यमरप्रामाण्यादस्य पुन्नपुंसकता। अत्र विशेषस्तु सिद्धान्तकौमुद्यामवसेयः।

इसी प्रकार—सुशिशु, सुतरु, सुवायु, सुगुरु, सुप्रभु, सुक्रतु, सुपरशु, सुबाहु, सुधातु, सुबन्धु, सुकेतु, सुजन्तु, सुतन्तु, सुपांशु, सुलघु, सुपटु—प्रभृति शब्द होते हैं।

नोट—भाषितपुंस्क शब्द प्रायः विशेषणवाची ही होते हैं; विशुद्ध भाषितपुंस्कों की गणना तो नगण्य सी है। [विशुद्ध यथा— कमण्डलु, कम्बु, शीधु, जीवातु आदि] विशेष्य के नपुंसक होने पर ही ये नपुंसक होते हैं।

अब ऋकारान्त नपुंसक शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] धातृ। धातृणी। धातॄणि। हे धातः!, हे धातृ। धात्रा। धातृणा। धातॄणाम्। एवं ज्ञात्रादयः।

व्याख्या—दधातीति धातृ (कुलम्)। जो धारण करे उसे 'धातृ' कहते हैं। यह शब्द भी विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। विशेष्य के नपुंसक होने पर इसके नपुंसक में रूप बनते हैं। इसकी रूपमाला यथा—

प्रथमा	धातृ	धातृणी	धातॄणि
द्वितीया	,,	,,	,,
तृतीया	धात्रा, धातृणा×	धातृभ्याम्	धातृभिः
चतुर्थी	धात्रे, धातृणे×	,,	,,
पञ्चमी	धातुः, धातृणः×	,,	,,
षष्ठी	,, ,, ×	धात्रोः, धातृणोः×	धातॄणाम्×
सप्तमी	धातरि, धातृणि×	,, ,,	धातृषु
सम्बोधन	हे धातृ!, हे धातः!	हे धातृणी!	हे धातॄणि!

×इन तृतीयादि अजादि विभक्तियों में 'तृतीयादिषु भाषित—' (२४१) सूत्र से वैकल्पिक पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'धातृ' शब्द के समान प्रक्रिया होती है। पुंवद्भाव के अभाव में 'वारि' शब्दवत् कार्य होते हैं। किन्तु टा में ना आदेश न हो कर नुम् ही होता है। ध्यान रहे कि 'धातृ' शब्द की घिसञ्ज्ञा नहीं है अतः ङे, ङसिँ, ङस्, ङि विभक्तियों में 'घेर्ङिति' (१७२) और 'अच्च घेः' (१७४) के साथ नुम् को झगड़ना नहीं पड़ता।

आम् में यद्यपि दोनों पक्षों में एक जैसे रूप बनते हैं तथापि पुंवद्भाव के अभाव में प्रक्रिया में कुछ अन्तर होता है। अर्थात् नुट् का आगम पूर्वविप्रतिषेध से नुम् को बाध लेता है।

'हे धातृ, हे धातः' में 'न लुमताङ्गस्य' की अनित्यता के कारण दो रूप बनते हैं।

अनित्यतापक्ष में सर्वनामस्थानता न होने से 'ऋतो ङि—' से गुण न हो कर 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण होगा।

इसी प्रकार ज्ञातृ आदि शब्दों के नपुंसकलिङ्ग में रूप होते हैं—

१ ज्ञातृ = जानने वाला कुल आदि		६ छेत्तृ = काटने वाला कुल आदि		
२ कर्तृ = करने वाला	,, ,,	७ दातृ = देने वाला	,, ,,	
३ कथयितृ = कहने वाला	,, ,,	८ वक्तृ = बोलने वाला	,, ,,	
४ गणयितृ = गिनने वाला	,, ,,	९ श्रोतृ = सुनने वाला	,, ,,	
५ जेतृ = जीतने वाला	,, ,,	१० हर्तृ = हरने वाला	,, ,,	

ध्यातृ, गन्तृ, रचयितृ, पाठतृ प्रभृति शब्दों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये।

नोट—ऋदन्त विशुद्ध नपुंसक शब्दों का संस्कृत-साहित्य में प्रायः अभाव ही है। सब के सब ऋदन्त शब्द नपुंसक में प्रायः भाषितपुंस्क ही मिलते हैं।

अब ओकारान्त 'प्रद्यो' शब्द का वर्णन करते हैं—

'प्रकृष्टा द्यौर्यस्य यस्मिन् वा तत्=प्रद्यु (दिनम्)। प्रकृष्ट अर्थात् सुन्दर व निर्मल आकाश वाले दिन को 'प्रद्यो' कहते हैं। प्रद्यो शब्द में 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (२४३) से ह्रस्व करना है, परन्तु ओकार के स्थान पर स्थानकृत आन्तर्य से अकार और उकार दोनों प्राप्त होते हैं। इनमें से कौन सा ह्रस्व किया जाय? इसका निर्णय अग्रिमसूत्र करता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—२५० एच इग्घ्रस्वादेशे ।१।१।४७॥

आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु (मध्ये*) एच इगेव स्यात्। प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि। प्रद्युनेत्यादि।

अर्थः—जब ह्रस्व आदेश का विधान हो तब एचों के स्थान पर इक् ही ह्रस्व हो।

व्याख्या—एचः ६।१। इक् ।१।१। ह्रस्वादेशे ।७।१। समासः—ह्रस्वस्य आदेशः= ह्रस्वादेशः, तस्मिन्=ह्रस्वादेशे, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(एचः) एच् के स्थान पर (ह्रस्वादेशे) ह्रस्व आदेश विधान करने पर (इक्) इक् ह्रस्व होता है। यद्यपि एच् और इक् दोनों चार २ हैं; तथापि यहां यथासङ्ख्यविधि नहीं होती। यथासङ्ख्यविधि अपूर्वविधि में ही प्रवृत्त हुआ करती है, नियमविधि में नहीं। अतः 'स्थानेऽन्तरतमः'

* मध्य इत्यपपाठः, नयोगे षष्ठ्या एवौचित्याद्—इति शेखरे नागेशः।

(१७) से यहां एकार और ऐकार के स्थान पर इकार तथा ओकार और औकार के स्थान पर उकार हो जायगा।

ध्यान रहे कि एचों के अपने ह्रस्व नहीं होते, 'एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्' यह पीछे कहा जा चुका है। एच् संयुक्तस्वर हैं अर्थात् दो दो स्वर मिलकर बने हैं। अकार और इकार के संयोग से एकार ऐकार तथा अकार और उकार के संयोग से ओकार औकार की उत्पत्ति हुई है। इस अवस्था में एचों को अकार और इकार तथा उकार प्राप्त होते हैं। अब इस सूत्र के नियम से इकार और उकार ही ह्रस्व होंगे अवर्ण नहीं।

'प्रद्यो' यहां ओकार को उकार ह्रस्व होकर 'प्रद्यु' हुआ। अब इस की रूपमाला मधुशब्दवत् होती है—

प्र०	प्रद्यु	प्रद्युनी	प्रद्यूनि	प०	प्रद्युनः	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	प्रद्युनोः	प्रद्यूनाम्
तृ०	प्रद्युना	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभिः	स०	प्रद्युनि	,,	प्रद्युषु
च०	प्रद्युने	,,	प्रद्युभ्यः	सं०	हे प्रद्यो !, प्रद्यु !	हे प्रद्युनी !	हे प्रद्यूनि !

यहां पर धातुवृत्तिकार श्रीमाधव जी लिखते हैं कि तृतीयादि विभक्तियों में पुंवद्भाव नहीं होता। क्योंकि नपुंसक में—प्रद्यु और पुंलिङ्ग में—प्रद्यो शब्द होने से दोनों इगन्त नहीं रहते। इगन्त शब्दों की ही 'तृतीयादिषु भाषित—' (२४६) सूत्र में भाषितपुंस्कता कही गई है। परन्तु अन्य कई लोग इसे स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं कि पुंलिङ्गगत 'प्रद्यो' शब्द ही नपुंसक में 'प्रद्यु' शब्द बना है अतः एकदेशविकृतन्याय से दोनों एक ही हैं। नपुंसकगत इगन्त प्रद्यु शब्द पुंलिङ्ग में भी वर्त्तमान होने से पुंवद्भाव हो जायगा। ऐसा मानने वालों के मत में—प्रद्यवा, प्रद्युना (टा); प्रद्यवे, प्रद्युने (ङे); प्रद्योः, प्रद्युनः (ङसि व ङस्); प्रद्यवोः, प्रद्युनोः (ओस्); प्रद्यवाम्, प्रद्यूनाम् (आम्); प्रद्यवि, प्रद्युनि (ङि)—इस प्रकार दो २ रूप बनेंगे।

अब ऐकारान्त 'प्रै' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] प्रि। प्रिणी। प्रीणि। एकदेशविकृतमनन्यवत्—प्राभ्याम्।

व्याख्या—प्रकृष्टो राः = धनं यस्य तत् = प्रि (कुलम्)। जिसका विपुल धन हो उसे 'प्रै' कहते हैं। नपुंसक में 'एच इग्घ्रस्वादेशे' (२५०) की सहायता से 'ह्रस्वो नपुंसके—' (२४३) द्वारा ह्रस्व—इकार हो कर 'प्रि' शब्द बन जाता है। अब इसका उच्चारण 'वारि' शब्दवत् होता है।

प्र०	प्ररि	प्ररिणी	प्ररीणि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	प्ररिणा	प्रराभ्याम्	प्रराभिः
च०	प्ररिणे	,,	प्रराभ्यः
पं०	प्ररिणः	प्रराभ्याम्	प्रराभ्यः
ष०	,,	प्ररिणोः	प्ररीणाम्
स०	प्ररिणि	,,	प्ररासु
सं०	हे प्ररि !, प्ररे !	हे प्ररिणी !	हे प्ररीणि !

१ नोट—भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' (पृष्ठ २३५) की सहायता से पुनः वही रै शब्द माना जाने से 'रायो हलि' (२१५) द्वारा इकार को आकार होकर 'प्रराभ्याम्' आदि रूप सिद्ध होते हैं।

२ नोट—यहां भी पूर्वोक्त 'प्रधी' शब्द की तरह श्रीमाधव के मत में पुंवद्भाव नहीं होता। अन्यों के मत में हो जाता है। पुंवद्भाव में—प्रराया, प्ररिणा इत्यादिप्रकारेण दो २ रूप बनते हैं।

३ नोट—'प्ररि + आम्' यहां 'नुमचिर···' (वा० ११) से नुम् को बान्ध कर नुट् हो जाता है। पुनः 'नामि' (१४९) से दीर्घ तथा 'एकाजुत्तरपदे णः' (२८६) से णत्व हो कर 'प्ररीणाम्' बनता है। ध्यान रहे कि 'प्ररि + नाम्' यहां नुट् हो चुकने पर 'रायो हलि' (२१५) से आत्व नहीं होगा, क्योंकि तब सन्निपात परिभाषा (देखो पृष्ठ २३६) विरोध करेगी। 'नामि' यह दीर्घ तो आरम्भसामर्थ्य से ही सन्निपात-परिभाषा की सर्वत्र अवहेलना किया करता है।

अब औकारान्त 'सुनौ' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुनेत्यादि।

व्याख्या—सु = शोभना नौर्यस्य तत् = सुनु (कुलम्)। जिस की सुन्दर नौका हो उसे 'सुनौ' कहते हैं। नपुंसक में 'एच इग्घ्रस्वादेशे' (२५०) के नियमानुसार 'ह्रस्वो नपुंसके—' (२४३) से औकार को उकार ह्रस्व हो कर 'सुनु' शब्द बन जाता है। इसका उच्चारण 'मधु' शब्दवत् होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	सुनु	सुनुनी	सुनूनि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	सुनुना	सुनुभ्याम्	सुनुभिः
च०	सुनुने	,,	सुनुभ्यः
पं०	सुनुनः	सुनुभ्याम्	सुनुभ्यः
ष०	,,	सुनुनोः	सुनूनाम्
स०	सुनुनि	,,	सुनुषु
सं०	हे सुनो !, सुनु !	हे सुनुनी !	हे सुनूनि !

यहां भी पूर्ववत् श्रीमाधव के मतानुरोध से पुंवद्भाव नहीं किया गया। वस्तुतः यहां भी पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में ह्रस्व का पुनः औकार बन जाता है। तब

आदि आदेश करने से— सुनावा, सुनावे, सुनावः २, सुनावोः २, सुनावाम्, सुनावि— ये भी पक्ष में बन जाते हैं।

[लघु०] इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः [शब्दाः]।

अर्थः—यहां अजन्तनपुंसकलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

अभ्यास (३६)

(१) 'न लुमताऽङ्गस्य' सूत्र की अनित्यता कैसे और क्यों सिद्ध की जाती है? सप्रमाण सोदाहरण व्याख्यान करें।

(२) 'वारीणाम्' में नुट् होता है या नुम्? दोनों में क्या अन्तर है? सहेतुक प्रतिपादन करें।

(३) 'प्रवृत्तिनिमित्त' किसे कहते हैं? पीलु शब्द पर उसे घटाएं।

(४) 'ग्रामणी' शब्द नपुंसक में भाषितपुंस्क मानना चाहिये या नहीं? सहेतुक दोनों पक्षों का प्रतिपादन कर अपनी सम्मति बताओ।

(५) 'एच इग्घ्रस्वादेशे' सूत्र की व्याख्या करते हुए इस की आवश्यकता पर एक विस्तृत नोट लिखो।

(६) निम्नलिखित सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करें—

१. तृतीयादिषु····। २. अल्लोपोऽनः। ३. अस्थिदधि····। ४. विभाषा ङिश्योः। ५. स्वमोर्नपुंसकात्।

(७) सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—

१ अक्ष्णा। २ प्रराभ्याम्। ३ वारिणो। ४ हे धातः! ५ सुल्वा। ६ श्रीणि। ७ दधानि। ८ द्रु।

(८) सक्थि, सुनौ, पीलु—शब्दों का उच्चारण लिखें।

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याम्
अजन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणं
पूर्त्तिमगात्।



❀ अथ हलन्त-पुंल्लिङ्ग-प्रकरणम् ❀

अब क्रमप्राप्त हलन्तपुंलिङ्ग शब्दों का विवेचन करते हैं। 'ह य व र ट्' (प्रत्याहार-सूत्र ५) के क्रमानुसार सर्वप्रथम हकारान्त शब्दों का नम्बर आता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५१ हो ढः । ८ । २ । ३१ ॥

हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु, लिट्सु।

अर्थः—झल् परे होने पर या पदान्त में हकार के स्थान पर ढकार हो जाता है।

व्याख्या—झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योर् अन्ते च' से] हः ।६।१। ढः ।१।१। अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (हः) ह् के स्थान पर (ढः) ढ् हो जाता है। सूत्र में ढकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है।

लेढीति—लिट्। चाटने वाले को 'लिह्' कहते हैं। 'लिह आस्वादने' (अदा० उभ०) धातु से कर्त्ता में 'क्विप् च' (८०२) सूत्र द्वारा क्विप् प्रत्यय हो उस का सर्वापहारी लोप* करने से 'लिह्' शब्द सिद्ध होता है। लिह् के कृदन्त होने से 'कृत्तद्धित—' (११७) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

लिह्+स् (सुँ)। इस दशा में 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से अपृक्त सकार का लोप हो जाता है। तब 'प्रत्ययलोपे—' (१९०) सूत्र की सहायता से 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र द्वारा 'लिह्' की पदसञ्ज्ञा होने से पद के अन्त में हकार के स्थान पर 'हो ढः' (२५१) सूत्र से ढकार हो जाता है। पुनः 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ढकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक टकार करने से—'लिट्, लिड्' ये दो रूप बनते हैं।

लिह् + औ=लिहौ। लिह् + अस् (जस्)=लिहः।

लिह् + अम्=लिहम्। लिह् + औ (औट्)=लिहौ।

लिह्+अस् (शस्)=लिहः। लिह् + आ (टा)=लिहा।

---

* जो लोप सम्पूर्ण प्रत्यय आदि का अदर्शन कर देता है उसे 'सर्वापहारी लोप' कहते हैं। क्विन्, क्विप्, विट्, विच् आदि प्रत्ययों का सर्वापहारी लोप होता है।

'लिह् + भ्याम्' यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) सूत्र से 'लिह्' की पदसञ्ज्ञा है, हकार पदान्त में स्थित है। अतः 'हो ढः' (२५१) से हकार को ढकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ढकार को डकार हो कर 'लिड्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है। भिस् और भ्यस् में भी इसी प्रकार 'लिड्भिः' और 'लिड्भ्यः' रूप बनते हैं।

लिह् + ए (ङे) = लिहे। लिह्+अस् (ङसि व ङस्) = लिहः।

लिह् + ओस् = लिहोः। लिह् + आम्=लिहाम्। लिह् + इ (ङि)=लिहि।

सप्तमी के बहुवचन में 'लिह्+सु' (सुप्) इस स्थिति में 'हो ढः' (२५१) सूत्र से पदान्त हकार को ढकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) सूत्र से उसे जश्त्व–डकार हो कर 'लिड्+सु' बना। अब 'खरि च' (८.४.५५) सूत्र के असिद्ध होने से 'डः सि धुट्' (८.३.२९) सूत्र द्वारा वैकल्पिक धुट् करने से अनुबन्धों के चले जाने पर—'१. लिड् धसु, २. लिड्-सु' हुआ। अब यहां 'ष्टुना ष्टुः' (६४) सूत्र द्वारा प्रथम रूप में धकार को ढकार और दूसरे रूप में सकार को षकार प्राप्त होता है। इस का 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) से निषेध हो जाता है। पुनः 'खरि च' (७४) सूत्र द्वारा प्रथम रूप में धकार को तकार और उस तकार का खर् मान कर डकार को टकार करने से—'लिट्त्सु'। दूसरे रूप में डकार को टकार करने पर—'लिट्सु'। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

ध्यातव्य—'लिट्त्सु, लिट्सु' इन दोनों रूपों में 'खरि च' (७४) द्वारा किया चर्त्व असिद्ध है; अतः 'चयो द्वितीयाः—' (वा० १४) से प्रथम रूप में तकार को थकार तथा दूसरे रूप में टकार को ठकार नहीं होता।

झल् परे होने पर 'हो ढः' (२५१) सूत्र के उदाहरण 'वोढा' आदि हैं, जो आगे मूल में ही स्पष्ट हो जाएंगे।

'लिह्' (चाटने वाला) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	लिट्-ड्	लिहौ	लिहः	प०	लिहः	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
द्वि०	लिहम्	,,	,,	ष०	,,	लिहोः	लिहाम्
तृ०	लिहा	लिड्भ्याम्	लिड्भिः	स०	लिहि	,,	लिट्त्सु-ट्सु
च०	लिहे	,,	लिड्भ्यः	सं०	हे लिट्-ड्!	हे लिहौ!	हे लिहः!

इसी प्रकार—मधुलिह् (भ्रमर), पुष्पलिह् (भ्रमर), कुसुमलिह् (भ्रमर), गुडलिह् (गुड़ चाटने वाला), शिरोरुह् (केश), भूरुह् (वृक्ष), सरोरुह् (कमल), सरसीरुह् (कमल), पर्णरुह् (बसन्त ऋतु)—प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

नोट—हलन्त शब्दों की अजादि विभक्तियों में प्रायः कोई कार्य विशेष नहीं करना पड़ता। व्यञ्जनों को स्वरों के साथ मिलाना मात्र ही कार्य होता है। हलादि विभक्तियों में

कुछ कार्य होता है। अर्थात् सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् इन पांच स्थलों में ही रूप बनाने पड़ते हैं। हम आगे प्रायः इन में ही सिद्धि करेंगे।

दुह्=दोहने वाला (दोग्धीति धुक्)।

'दुह प्रपूरणे' (अदा० उभ०) धातु से कर्त्ता में 'क्विप् च' (८०२) सूत्र से क्विप् प्रत्यय करने पर उस का सर्वापहारी लोप हो कर 'दुह्' शब्द निष्पन्न होता है। अब इस से स्वादियों की उत्पत्ति होती है—

'दुह् + स्' (सुँ)—यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकार का लोप हो 'दुह्' इस अवस्था में 'हो ढः' (२५१) सूत्र प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५२ दादेर्धातोर्घः ।८।२।३२॥

झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्यात्।

अर्थः—उपदेश में जो दकारादि धातु, उस के हकार को घकार हो जाता है झल् परे होने पर या पदान्त में।

व्याख्या—दादेः ।६।१। धातोः ।६।१। हः ।६।१। ['हो ढः' से] घः ।१।१। झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। ['स्कोः—' से] यहां भाष्यकार के व्याख्यान से उपदेश में ही 'दादि' ग्रहण किया जाता है। समासः—दः=दकारः, आदौ आदिर्वा यस्य स दादिस्तस्य दादेः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (दादेः) उपदेश में दकार आदि वाली (धातोः) धातु के (हः) हकार के स्थान पर (घः) घ् आदेश हो जाता है। घकार में अकार उच्चारणार्थ है। यह सूत्र यद्यपि 'हो ढः' (८.२.३१) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है; तथापि वचनसामर्थ्य से यह उस का अपवाद है—'अपवादो वचनप्रामाण्यात्'।

'उपदेश' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'अधोक्' यहां दुह् के अजादि होने पर भी घत्व हो जाए और 'दामलिट्' यहां दादि धातु होने पर भी घत्व न हो*।

---

* 'अधोक्' यह 'दुह्' धातु के लङ् लकार के प्रथम व मध्यमपुरुष का एकवचन है। 'दादेर्धातोर्घः' में 'उपदेश' ग्रहण न करने से 'अदोह्' इस स्थिति में हकार को घकार नहीं हो सकता; क्योंकि 'दुह्' धातु को अट् का आगम होने से 'यदागमाः—' (देखो पृष्ठ २१५) परिभाषा के अनुसार वह अजादि हो गई है, दादि नहीं रही पुनः यदि वहां 'उपदेश' ग्रहण करते हैं तो हकार को घकार हो जाता है; क्योंकि उपदेश=आद्योच्चारण में तो यह दादि ही थी, अजादि तो बाद=दूसरे उच्चारण में बनी है। घकार करने पर 'एकाचः—' सूत्र से दकार को धकार हो जश्त्व चर्त्व करने से—'अधोक्-ग' ये दो रूप सिद्ध हो जाते

'दुह्' यह उपदेश में दादि धातु‡ है। अतः इस सूत्र से पदान्त में हकार को घकार हो कर—'दुघ्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

*[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५३ एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः। ८।२।३७॥

धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष् स्यात्, से ध्वे पदान्ते च। धुक्, धुग्। दुहौ। दुहः। धुग्भ्याम्। धुक्षु।

अर्थः—धातु का अवयव जो झषन्त एकाच्, उस के बश् को भष् हो, सकार अथवा ध्व परे होने पर या पदान्त में।

व्याख्या—धातोः।६।१। ['दादेर्धातोर्घः' से] एकाचः।६।१। बशः।६।१। भष्।१।१। झषन्तस्य।६।१। स्ध्वोः।७।२। पदस्य।६।१। [अधिकृत है] अन्ते।७।१। ['स्कोः—' से] अन्वयः—धातोर् (अवयवस्य) एकाचो झषन्तस्य बशो भष् (स्यात) स्ध्वोः पदस्य अन्ते (च)। अर्थः—(धातोः) धातु के अवयव (एकाचः) एक अच् वाले (झषन्तस्य) झषन्त भाग के (बशः) बश् अर्थात् ब्, ग्, ड्, द् वर्णों के स्थान पर (भष्) भष् अर्थात भ्, घ्, ढ्, ध् वर्ण हो जाते हैं (स्ध्वोः) सकार अथवा ध्व शब्द परे हो या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में।

इस सूत्र के अर्थ में हम ने अनुवृत्तिलब्ध 'धातोः' पद का 'एकाचः झषन्तस्य' के साथ सामानाधिकरण्य नहीं किया। अर्थात् 'एक अच् वाली झषन्त धातु के बश् को भष् हो' इस प्रकार का अर्थ नहीं किया। ऐसा अर्थ करने से यह दोष प्राप्त होता था कि जहां एक अच् वाली धातु न होती वहां भष् प्राप्त न होता*। यथा—'गर्दभ' शब्द से 'तत्करोति तदाचष्टे' (चुरा० ग० सू०) द्वारा णिच् प्रत्यय करने पर 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से धातुसञ्ज्ञा हो कर कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने से 'गर्दभ्' शब्द निष्पन्न होता है। यहां एक

—हैं। इसी प्रकार—'दामलिह्' शब्द में उपदेश में धातु के दादि न होकर लकारादि होने से घत्व नहीं होता। 'हो ढः' (२५१) से ढत्व हो जश्त्व चर्त्व करने पर—'दामलिट्-ड्' सिद्ध होते हैं। दाम लेढीति दामलिट्, दामलिहमात्मन इच्छतीति-दामलिट्। इस की विशेष प्रक्रिया सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

‡ 'क्विबन्ता विडन्ता विजन्ताः शब्दा धातुत्वं न जहति' (क्विबन्त, विडन्त और विजन्त शब्दों की धातुसञ्ज्ञा बनी रहती है) इस परिभाषानुसार यहां 'दुह्' की धातुसञ्ज्ञा पूर्ववद् अक्षुण्ण है।

* यदि एकाच् अनेकाच् सब धातुओं में भष्भाव करना है तो 'एकाचः' की क्या आवश्यकता है? यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'एकाचः' ग्रहण न करने से ढत्व कर चुकने पर 'दामलिढ्' में भी अनिष्ट भष्भाव प्राप्त होगा।

अच् वाली धातु न होने से भष्भाव प्राप्त नहीं होता। परन्तु हमें भष्भाव कर 'गर्धप्' रूप बनाना अभीष्ट है। अतः यहां 'धातोः' पद का 'एकाचः झषन्तस्य' इस के साथ अवयव—अवयवी सम्बन्ध करना ही युक्त है। अर्थात् 'धातु का अवयव जो एकाच् झषन्त, उस के बश् को भष् हो' ऐसा अर्थ करना चाहिये। ऐसा करने से – 'गर्दभ्' इस धातु का अवयव एकाच् झषन्त 'दभ्' हो जाता है। इस से उस के दकार को धकार सिद्ध हो जाता है।

'दुघ्' यह व्यपदेशिवद्भाव‡ से धातु का अवयव है और एकाच् झषन्त भी है, अतः इस के बश्—दकार को स्थानकृत आन्तर्य से धकार हो कर 'धुघ्' हुआ। अब जश्त्व और वैकल्पिक चर्त्व करने से—'धुक्, धुग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

भ्याम् में—'दुह् + भ्याम्' इस स्थिति में पदान्त में हकार को घकार, 'एकाचः—' (२५३) से दकार को धकार तथा जश्त्व—गकार हो कर 'धुग्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार भिस् में 'धुग्भिः' और भ्यस् में 'धुग्भ्यः' सिद्ध होते हैं।

दुह्+सु (सुप्)। यहां भी पदान्त में घकारादेश, भष्त्व से दकार को धकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व—गकार और 'खरि च' (७४) से चर्त्व—ककार कर षत्व करने से 'धुक्षु' सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	धुक्-ग्	दुहौ	दुहः	प०	दुहः	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
द्वि०	दुहम्	,,	,,	ष०	,,	दुहोः	दुहाम्
तृ०	दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भिः	स०	दुहि	,,	धुक्षु
च०	दुहे	,,	धुग्भ्यः	सं०	हे धुक्-ग्!	हे दुहौ!	हे दुहः!

इसी प्रकार—गोदुह् (गौ दोहने वाला = ग्वाला), अजादुह् (बकरी दोहने वाला), दह् (जलाने वाली = अग्नि), आश्रयदह् (अग्नि), काष्ठदह् (अग्नि) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५४ वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्। ८।२।३३॥

एषां हस्य वा घः स्याज्झलि पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु। एवम्—मुक्, मुग्, मुट्, मुड् इत्यादयः।

‡ इसे 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (२७८) सूत्र पर देखें।

अर्थः—द्रुह्, मुह्, ष्णुह्, ष्णिह्—इन धातुओं के हकार को झल् परे होने पर या पदान्त में विकल्प कर के घकार हो जाता है।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। द्रुह्-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम् ।६।३। हः ।६।१। ['हो ढः' से] घः ।१।१। ['दादेर्धातोर्घः' से] झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। ['स्कोः—' से] समासः—द्रुहश्च मुहश्च ष्णुहश्च ष्णिट् च= द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहः, तेषाम्=द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्। इतरेतरद्वन्द्वः। द्रुहादिषु त्रिषु अकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्) द्रुह्, मुह्, ष्णुह् और ष्णिह् धातुओं के (हः) हकार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (घः) घकार आदेश होता है (झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में।

'द्रुह्' में 'दादेर्धातोर्घः' (२५१) द्वारा घत्व के नित्य प्राप्त होने पर तथा अन्यों के दादि न होने से घत्व के अप्राप्त होने पर इस सूत्र से वैकल्पिक घत्व किया जाता है; अतः यह प्राप्ताप्राप्तविभाषा है।

द्रुह्=द्रोह करने वाला [द्रुह्यतीति ध्रुक्]।

'द्रुह जिघांसायाम्' (दिवा० प० रधादित्वाद्वेट्) धातु से कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारी लोप करने से 'द्रुह्' शब्द निष्पन्न होता है।

द्रुह् + स् (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) सूत्र से सकारलोप हो कर पदान्त में हकार को 'वा द्रुह—' (२५४) सूत्र द्वारा वैकल्पिक घकार तथा घकाराभावपक्ष में 'हो ढः' (२५१) सूत्र से ढकार कर दोनों पक्षों में 'एकाचः—' (२५३) सूत्र से दकार को धकार हो गया तो—ध्रुघ्, ध्रुढ्। अब 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व तथा 'वाऽवसाने' (४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व करने से—'१. ध्रुक्, २. ध्रुग्, ३. ध्रुट्, ४. ध्रुड्' ये चार रूप सिद्ध होते हैं।

'द्रुह् + भ्याम्' यहां पदान्त हकार को घकार तथा पक्ष में ढकार हो कर दोनों पक्षों में 'एकाचः—' (२५३) से दकार को धकार हो जाता है। पुनः 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से दोनों पक्षों में जश्त्व हो कर—'१. ध्रुग्भ्याम्, २. ध्रुड्भ्याम्' ये दो रूप बनते हैं। इसी प्रकार भिस् और भ्यस् में भी दो २ रूप होते हैं।

द्रुह्+सु (सुप्)। यहां 'वा द्रुह—' (२५४) से पदान्त हकार को वैकल्पिक घकार हो कर 'एकाचो बशः—' (२५३) सूत्र से दकार को धकार, जश्त्व से घकार को गकार, षत्व तथा चर्त्व से गकार को ककार करने से—ध्रुक्षु='ध्रुक्षु' रूप सिद्ध होता है। घत्वाभाव में—पदान्त हकार को 'हो ढः' (२५१) से ढकार, भष्त्व से दकार को धकार,

जश्त्व से ढकार को डकार, 'ङः सि धुट्' (८४) से वैकल्पिक धुट् आगम, अनुबन्धलोप तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर—'१. ध्रुट्त्सु, २. ध्रुट्सु' ये दो रूप बनते हैं। तो इस प्रकार कुल मिला कर—"१. ध्रुक्षु, २. ध्रुट्त्सु, ३. ध्रुट्सु" ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्रथमा	ध्रुक्–ग्, ध्रुट्–ड्	द्रुहौ	द्रुहः
द्वितीया	द्रुहम्	,,	,,
तृतीया	द्रुहा	ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भिः, ध्रुड्भिः
चतुर्थी	द्रुहे	,, ,,	ध्रुग्भ्यः, ध्रुड्भ्यः
पञ्चमी	द्रुहः	,, ,,	,, ,,
षष्ठी	,,	द्रुहोः	द्रुहाम्
सप्तमी	द्रुहि	,,	ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु
सम्बोधन	हे ध्रुक्-ग्, ध्रुट्-ड् !	हे द्रुहौ !	हे द्रुहः !

इसी प्रकार—मित्रद्रुह् (मित्राय द्रुह्यति=मित्रद्रोही) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

'मुहँ वैचित्त्ये' (दिवा० प० रधादित्वाद्वेट्) धातु से क्विप् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारी लोप करने से 'मुह्' (मुह्यतीति मुक्=मोह करने वाला) शब्द निष्पन्न होता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'द्रुह्' शब्दवत् होती है, केवल भष्भाव नहीं होता। रूपमाला यथा—

प्रथमा	मुक्-ग्, मुट्-ड्	मुहौ	मुहः
द्वितीया	मुहम्	,,	,,
तृतीया	मुहा	मुग्भ्याम्, मुड्भ्याम्	मुग्भिः, मुड्भिः
चतुर्थी	मुहे	,, ,,	मुग्भ्यः, मुड्भ्यः
पञ्चमी	मुहः	,, ,,	,, ,,
षष्ठी	,,	मुहोः	मुहाम्
सप्तमी	मुहि	,,	मुक्षु, मुट्त्सु, मुट्सु
सम्बोधन	हे मुक्-ग्, मुट्-ड् !	हे मुहौ !	हे मुहः !

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५५ धात्वादेः षः सः ।६।१।६२॥

[धातोरादेः षस्य सः स्यात् ।] स्नुक्, स्नुग्, स्नुट्, स्नुड् । एवं स्निक् इत्यादि ।

अर्थः—धातु के आदि षकार के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—धात्वादेः ।६।१। षः ।६।१। सः ।१।१। समासः—धातोर् आदिः = धात्वादिः, तस्य=धात्वादेः, षष्ठीतत्पुरुषः । स इत्यत्र अकार उच्चारणार्थः । अर्थः—(धात्वादेः) धातु के आदि (षः) ष् के स्थान पर (सः) स् आदेश होता है ।

'धातु' कहने से 'षोडशः, षट्' आदि में षकार को सकार नहीं होता तथा 'आदि' कथन से 'कर्षति' आदियों में धातु के अन्त्य षकार को सकार नहीं होता ।

'ष्णुह उद्गिरणे' (दिवा० प० वेट्) 'ष्णिह प्रीतौ' (दिवा० प० वेट्) इन धातुओं के आदि षकार को प्रकृतसूत्र से सकार हो कर णकार को भी नकार हो जाता है । क्योंकि यह नियम है कि—"**निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः**" अर्थात् (निमित्त+अपाये) निमित्त=कारण के नाश होने पर (नैमित्तिकस्य) नैमित्तिक—उस निमित्त से उत्पन्न हुए कार्य का भी (अपायः) नाश हो जाता है* । यहां षकार से परे होने के कारण ही नकार को 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (२६७) से णकार हुआ था । जब निमित्त षकार ही न रहा तब नैमित्तिक कार्य णकार भी न रहा ।

स्नुह्, स्निह्—दोनों से कर्ता में क्विप् हो कर उस का सर्वापहारीलोप करने से 'स्नुह्, स्निह्' शब्द सिद्ध होते हैं । इन दोनों की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'द्रुह्' शब्द के समान होती है । केवल 'एकाचो बशः—' (२५३) से भष्भाव नहीं होता । स्नुह् [स्नुह्यतीति स्नुक्=वमन करने वाला] शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	स्नुक्-ग्, स्नुट्-ड्	स्नुहौ	स्नुहः
द्वितीया	स्नुहम्	,,	,,
तृतीया	स्नुहा	स्नुग्भ्याम्, स्नुड्भ्याम्	स्नुग्भिः, स्नुड्भिः
चतुर्थी	स्नुहे	,, ,,	स्नुग्भ्यः, स्नुड्भ्यः
पञ्चमी	स्नुहः	,, ,,	,, ,,
षष्ठी	,,	स्नुहोः	स्नुहाम्
सप्तमी	स्नुहि	,,	स्नुक्षु, स्नुट्त्सु, स्नुट्सु
सम्बोधन	हे स्नुक्-ग्-ट्-ड् !	हे स्नुहौ !	हे स्नुहः !

इसी प्रकार स्निह् (स्निह्यतीति स्निक्=स्नेह करने वाला) शब्द के रूप चलते हैं ।

विश्ववाह् (जगत् को चलाने वाले=भगवान्)

विश्वं वहतीति विश्ववाट् । विश्वकर्मोपपद 'वह प्रापणे' (भ्वा० उ० अनिट्) धातु से कर्ता में 'वहश्च' (३.२.६४) सूत्र द्वारा ण्वि प्रत्यय, णित्व के कारण उपधावृद्धि तथा ण्वि के चले जाने पर उपपदसमास करने से 'विश्ववाह्' शब्द निष्पन्न होता है ।

---

* यहां नाश से तात्पर्य पुनः पूर्वावस्था में आ जाना है; लोप नहीं ।

'विश्ववाह्' शब्द के सर्वनामस्थान प्रत्ययों में 'लिह्' शब्दवत् रूप बनते हैं। भसञ्ज्ञकों में कुछ विशेष होता है। वह अग्रिम-सूत्रों में बताया जाता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२५६ इग्यणः सम्प्रसारणम् ।१।१।४४।

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक्, स सम्प्रसारणसञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थः—यण् के स्थान पर विधान किया इक् सम्प्रसारणसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—इक् ।१।१। यणः ।६।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। अर्थः—(यणः) यण् के स्थान पर विधान किया (इक्) इक् (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारणसञ्ज्ञक होता है। यहां यथासङ्ख्य अथवा स्थानकृत आन्तर्य से यकारस्थानिक इवर्ण, वकारस्थानिक उवर्ण, रेफस्थानिक ऋवर्ण तथा लकारस्थानिक लृवर्ण सम्प्रसारणसञ्ज्ञक होगा।

इस शास्त्र में सम्प्रसारण का दो प्रकार के स्थानों पर उपयोग किया जाता है। एक विधिसूत्रों में और दूसरा अनुवादसूत्रों में। जिन सूत्रों में सम्प्रसारण का साक्षात् विधान किया जाता है वे विधिसूत्र कहाते हैं। यथा—'वाह ऊठ्' (२५७) भसञ्ज्ञक वाह् के स्थान पर सम्प्रसारण ऊठ् हो। 'वचिस्वपि—' (५४७) वच्, स्वप् और यजादि धातुओं को कित् परे होने पर सम्प्रसारण हो। इत्यादि। जहां सम्प्रसारण का नाम ले कर कोई अन्य कार्य किया जाता है वहां सम्प्रसारण का अनुवाद होता है। यथा—'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो। 'हलः' (८१६) हल् से परे सम्प्रसारण को दीर्घ हो। इत्यादि।

यणस्थानिक इक् की सम्प्रसारणसञ्ज्ञा होने से अनुवादस्थलों में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती; क्योंकि सर्वत्र सम्प्रसारण विद्यमान रहने से अन्य कार्य अबाध हो जाते हैं। परन्तु विधिस्थलों में महान् झगड़ा उपस्थित हो जाता है; क्योंकि सदैव यह नियम होता है कि प्रथम सञ्ज्ञी वर्त्तमान रहता है और बाद में उस की सञ्ज्ञा की जाती है। इस नियमानुसार पहले यणस्थानिक इक् वर्त्तमान होना चाहिये और पीछे सम्प्रसारणसञ्ज्ञा का विधान करना चाहिये। इस प्रकार 'वाह ऊठ्' (२५७) द्वारा वाह् में तब सम्प्रसारण होगा जब यणस्थानिक इक् होगा। परन्तु यणस्थानिक इक् तब हो सकता है जब कि 'वाह ऊठ्' (२५७) सूत्र प्रवृत्त हो कर सम्प्रसारण कर दे। इस प्रकार यहां अन्योऽन्याश्रय दोष आ कर महान् झगड़ा उपस्थित हो जाता है। क्योंकि अन्योऽन्याश्रय कार्य हो नहीं सकते। जब पहला हो तब उस का आश्रित दूसरा हो और जब दूसरा हो तब उस का आश्रित पहला हो। इस दशा में कोई भी नहीं हो सकता। भाष्यकार ने भी कहा है—"अन्योऽन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते"।

इस झगड़े को उपस्थित देख भाष्यकार सूत्रशाटकन्याय के आश्रय से इस का समाधान करते हैं। उन का कथन है कि जैसे कोई पुरुष सूत ले कर जुलाहे के पास जा कर कहता है कि 'अस्य सूत्रस्य शाटकं वय' इस सूत का वस्त्र बुन। अब यहां 'वस्त्र बुन' पर यह सन्देह होता है कि यदि यह वस्त्र है तो बुनना कैसे? क्योंकि वस्त्र बुना नहीं जा सकता। और यदि यह बुनने योग्य है तो वस्त्र कैसा? क्योंकि बुनना वस्त्र में सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार विरोध आने पर लोक में भावी सञ्ज्ञा का आश्रय किया जाता है। अर्थात् उस पुरुष का यह आशय समझा जाता है कि 'इस को ऐसा बुन जिस से यह वस्त्र हो जाय'। इसी प्रकार यहां विधिप्रदेशों में भी भाविसञ्ज्ञा का आश्रयण करना चाहिये। यथा—'वाह ऊठ्' (२५७) भसञ्ज्ञक वाह् के स्थान पर ऐसा करो कि जिस से किया हुआ कार्य सम्प्रसारणसञ्ज्ञक हो जावे। तो इस प्रकार विधिप्रदेशों में दोष का परिहार हो जाता है।

अथ इस प्रकरण में सम्प्रसारणसञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५७ वाह ऊठ् ।६।४।१३२॥

भस्य वाहः सम्प्रसारणम् ऊठ् ।

अर्थः—भसञ्ज्ञक 'वाह्' के स्थान पर सम्प्रसारण ऊठ् हो।

व्याख्या—भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] वाहः ।६।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। ['वसोः सम्प्रसारणम्' से] ऊठ् ।१।१। अर्थः—(भस्य) भसञ्ज्ञक (वाहः) वाह् के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (ऊठ्) ऊठ् हो। पूर्वसूत्रानुसार वाह् के वकार को ही ऊठ् होगा।

विश्ववाह् + अस् (शस्)। यहां 'यचि भम्' (१६५) से वाह् की भसञ्ज्ञा है; अतः प्रकृतसूत्र से इस के वकार को ऊठ् हो जाता है। ऊठ् के ठकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो कर 'विश्व ऊ आह् + अस्' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५८ सम्प्रसारणाच्च ।६।१।१०५॥

सम्प्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः। वृद्धिः—विश्वौहः। इत्यादि।

अर्थः—सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—सम्प्रसारणात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। अचि ।७।१। ['इको यणचि'

से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] पूर्वः ।१।१। ['अमि पूर्वः' से] अर्थः—(सम्प्रसारणात्) सम्प्रसारण से (अचि) अच् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्वरूप आदेश हो ।

'विश्व ऊ आह्+अस्' यहां 'ऊ' यह सम्प्रसारण है, इस से परे 'आ' यह अच् है; अतः पूर्व (ऊ) और पर (आ) के स्थान पर एक पूर्वरूप 'ऊ' हो कर 'विश्व ऊ ह्+अस्' हुआ । अब 'एत्येधत्यूठ्सु' (३४) सूत्र से वकारोत्तर अकार और ऊठ् के ऊकार के स्थान पर 'औ' वृद्धि हो कर—सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने से 'विश्वौहः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

इसी प्रकार आगे सर्वत्र भसञ्ज्ञकों में प्रक्रिया होती चली जाती है । 'विश्ववाह्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	विश्ववाट्-ड्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः
द्वितीया	विश्ववाहम्	,,	विश्वौहः
तृतीया	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः
चतुर्थी	विश्वौहे	,,	विश्ववाड्भ्यः
पञ्चमी	विश्वौहः	,,	,,
षष्ठी	,,	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
सप्तमी	विश्वौहि	,,	विश्ववाट्त्सु-टसु
सम्बोधन	हे विश्ववाट्-ड् !	हे विश्ववाहौ !	हे विश्ववाहः !

इसी प्रकार—१. रथवाह् (रथ हांकने वाला), २. शकटवाह् (छकड़ा हांकने वाला), ३. भारवाह् (भार उठाने वाला), ४. उष्ट्रवाह् (ऊँट हांकने वाला), ५. प्रष्ठवाह् (सिखाने के लिये जोते हुए बैल आदि) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं* ।

अनडुह्—बैल [अनः = शकटं वहतीत्यनड्वान्]।

अनडुह् शब्द पाणिनीयगणपाठ में पाञ्च बार प्रयुक्त हुआ है [१. उरःप्रभृति, २. ऋश्यादि, ३. कुलालादि, ४. गर्गादि, ५. शरत्प्रभृति] । शाकटायन के उणादिसूत्रों में इस की सिद्धि नहीं की गई । महाराज-भोजप्रणीत सरस्वतीकण्ठाभरण के "अनसि वहेः क्विप् डश्चानसः" (अ० २ पा० १ सू० ३४१) इस औणादिक-सूत्र द्वारा अनस्कर्मोपपद 'वह्' धातु से क्विप् प्रत्यय, अनस् के सकार को डकारादेश, क्विब्लोप, 'वचिस्वपि—' (५४७) द्वारा सम्प्रसारण तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप करने पर 'अनडुह्' शब्द निष्पन्न होता है।

* कई लोग—वारिवाह्, भूवाह् प्रभृति अनकारान्तोपपद शब्दों की कल्पना करते हैं; परन्तु महाभाष्य पढ़ने से वह अप्रामाणिक प्रतीत होती है [देखो—६.४.१३२ पर भाष्य, प्रदीप, तत्त्वबोधिनी]।

अनडुह् + स् (सुँ) । यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५९ चतुरनडुहोरामुदात्तः ।७।१।९८॥

अनयोराम् स्यात्सर्वनामस्थाने परे ।

अर्थः—सर्वनामस्थान परे होने पर चतुर् और अनडुह् शब्दों का अवयव आम् हो जाता है ।

व्याख्या—चतुरनडुहोः ।६।२। आम् ।१।१। उदात्तः ।१।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। ['इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से] अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (चतुरनडुहोः) चतुर् और अनडुह् शब्दों का अवयव (उदात्तः) उदात्त (आम्) आम् हो जाता है । 'आम्' मित् है, क्योंकि 'हलन्त्यम्' (१) से इस के मकार की इत्सञ्ज्ञा होती है । अतः यह 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) के अनुसार चतुर् और अनडुह् शब्दों के अन्त्य अच् से परे होगा ।

ग्रन्थकार ने 'उदात्त' शब्द स्वरप्रकरणोपयोगी जान कर वृत्ति में छोड़ दिया है । लघुकौमुदी में स्वरप्रकरण नहीं है ।

'अनडुह्+स्' यहां 'सुँ' यह सर्वनामस्थान परे है अतः अनडुह् शब्द के अन्त्य अच्=उकार से परे आम् का आगम हो कर—'अनडु आम् ह्+स्' हुआ । अब अनुबन्ध मकार का लोप हो कर 'इको यणचि' (१५) से यण् हो जाता है । तब 'अनड्वाह्+स्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६० सावनडुहः ।७।१।८२॥

अस्य नुम् स्यात्सौ परे । अनड्वान् ।

अर्थः—सुँ परे हो तो अनडुह् शब्द का अवयव नुम् हो जाता है ।

व्याख्या—सौ ।७।१। अनडुहः ।६।१। नुम् ।१।१। ['आच्छीनद्योर्नुम्' से] अर्थः—(सौ) सुँ परे होने पर (अनडुहः) अनडुह् शब्द का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है ।

यहां यह सन्देह होता है कि 'चतुरनडुहोः—' (२५९) सूत्र का 'सावनडुहः' (२६०) सूत्र अपवाद है । क्योंकि दोनों का विषय एक है अर्थात् दोनों अनडुह् शब्द को आगम करते हैं । इन में से प्रथम (चतुरनडुहोः—) सम्पूर्ण सर्वनामस्थान में विहित होने से उत्सर्ग और दूसरा (सावनडुहः) केवल सर्वनामस्थानान्तर्गत 'सुँ' में विहित होने से उस का अपवाद होने योग्य है । अतः सुँ में 'सावनडुहः' (२६०) सूत्र ही प्रवृत्त होना चाहिये,

'चतुरनडुहोः—' (२५६) नहीं। क्योंकि उत्सर्ग की प्रवृत्ति अपवादविषय को छोड़ कर ही हुआ करती है—"प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते"।

इस का उत्तर यह है कि 'आच्छीनद्योर्नुम्' (३६५) सूत्र से यहाँ 'आत्' की अनुवृत्ति आती है। जिस से— सुँ परे होने पर अनडुह् को नुम् का आगम होता है परन्तु वह अवर्ण से परे होता है'—ऐसा अर्थ हो जाता है। तो अब यदि आम् का आगम नहीं करते तो अनडुह् शब्द में अवर्ण नहीं आ सकता; और यदि अवर्ण नहीं आता तो नुम् प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः नुम् को अपनी प्रवृत्ति के लिये विवश हो कर आम् को छूट देनी पड़ती है। अतः प्रथम आम् होकर पश्चात् नुम् होता है। इन में उत्सर्ग—अपवादभाव नहीं होता।

'अनड्वाह् + स्' यहां आकार से परे नुम् हो कर अनुबन्धों (उकार, मकार) के चले जाने पर—'अनड्वान् ह् + स्' हुआ। अब 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) सूत्र से सकार का तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र से हकार का लोप हो कर 'अनड्वान्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि संयोगान्तलोप (८.२.२३) असिद्ध है अतः 'न लोपः—' (८.२.७) सूत्र से नकार का लोप नहीं होगा।

हे अनडुह् + स् (सुँ)। यहां सम्बुद्धि में आम् (२५६) प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६१ अम् सम्बुद्धौ ।७।१।९९॥

चतुरनडुहोरम् स्यात्सम्बुद्धौ। हे अनड्वन्!। हे अनड्वाहौ। हे अनड्वाहः। अनडुहः। अनडुहा।

अर्थः—सम्बुद्धि परे हो तो चतुर् और अनडुह् शब्दों का अवयव अम् हो जाता है।

व्याख्या—चतुरनडुहोः ।६।२। [चतुरनडुहोरामुदात्तः' से] अम् ।१।१। सम्बुद्धौ ।७।१। अर्थः—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (चतुरनडुहोः) चतुर् और अनडुह् का अवयव (अम्) अम् हो जाता है।

यह सूत्र 'चतुरनडुहोः—' (२५६) सूत्र का अपवाद है। इस के प्रवृत्त होने पर भी 'सावनडुहः' (२६०) द्वारा नुम् हो जाता है। क्योंकि वहां 'आत्' की अनुवृत्ति आने से वह अवर्ण से परे होता है।

'हे अनडुह् + स्' यहां सम्बुद्धि परे है अतः 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) के नियमानुसार 'अम्सम्बुद्धौ' (२६१) द्वारा अनडुह् के अन्त्य अच्-उकार से परे अम् का

आगम हो कर यण् करने से 'अनड्वह् + स्' हुआ। पुनः 'सावनडुहः' (२६०) सूत्र से नुम् का आगम कर सकारलोप और संयोगान्तलोप करने से— 'हे अनड्वन्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अनडुह् + औ = अनडु आम् ह् + औ = अनड्वाहौ । अनड्वाहः । अनड्वाहम् । अनड्वाहौ । शस् में सर्वनामस्थान परे न होने के कारण आम् का आगम नहीं होता— अनडुहः ।

'अनडुह् + भ्याम्' यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) सूत्र से अनडुह् की पदसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६२ वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ।८।२।७२॥

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्याम् इत्यादि । सान्तेति किम् ? विद्वान् । पदान्तेति किम् ? स्रस्तम्, ध्वस्तम् ।

अर्थः—पद के अन्त में सान्त वसुप्रत्ययान्त को तथा स्रंसु, ध्वंसु और अनडुह् शब्दों को दकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—सः ।६।१। ['ससजुषो रुः' का एक अंश] वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम् ।६।३। पदानाम् ।६।३। ['पदस्य' इस अधिकृति का यहां वचनविपरिणाम हो जाता है] दः ।१।१। समासः—वसुश्च स्रंसुश्च ध्वंसुश्च अनड्वान् च = वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहः, तेषाम्=वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। 'सः' यह 'वसु' अंश का ही विशेषण है। स्रंसु और ध्वंसु में किसी प्रकार का दोष न आने से तथा अनडुह् का असम्भव होने से विशेषण नहीं बन सकता। विशेषण होने से 'सः' से तदन्तविधि हो जाती है। शतृ के स्थान पर आदेश होने से स्थानिवद्भाव से 'वसु' भी प्रत्ययसञ्ज्ञक है अतः प्रत्यय होने से उस से भी तदन्त-विधि हो जाती है। स्रंसु आदि भी 'पद' के विशेषण होने से तदन्तविधि को प्राप्त होते हैं। अर्थः—(सः) सान्त (वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम्) वसुप्रत्ययान्त और स्रंसु ध्वंसु तथा अनडुह् अन्त वाले (पदानाम्) पदों को (दः) दकार आदेश होता है। दकार में अकार उच्चारणार्थ है, आदेश 'द्' ही होता है। 'अलोऽन्त्यपरिभाषा' से यह दकारादेश पद के अन्त को ही होता है।

'अनडुह् + भ्याम्' यहां व्यपदेशिवद्भाव से अथवा 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्त-स्य च' (पृष्ठ २३३) के अनुसार अनडुह् के अन्त्य हकार को प्रकृत सूत्र से दकार आदेश होकर 'अनडुद्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार भिस् में 'अनडुद्भिः' तथा

भ्यस् में 'अनडुद्भ्यः' रूप बनता है। सुप् में दकारादेश हो कर 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है— अनडुत्सु। अनडुह् शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
द्वितीया	अनड्वाहम्	,,	अनडुहः
तृतीया	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
चतुर्थी	अनडुहे	,,	अनडुद्भ्यः
पञ्चमी	अनडुहः	,,	,,
षष्ठी	,,	अनडुहोः	अनडुहाम्
सप्तमी	अनडुहि	,,	अनडुत्सु
सम्बोधन	हे अनड्वान्!	हे अनड्वाहौ!	हे अनड्वाहः!

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'ससजुषो रुः' (१०५) सूत्र से 'सः' पद की अनुवृत्ति ला कर 'वसु' का विशेषण बना कर तदन्तविधि कर 'सान्त वस्वन्त' क्यों कहा गया है? जब कि वह है ही सकारान्त? इसका उत्तर यह है कि यदि 'सान्त' न कहते, केवल वस्वन्त को ही दकारादेश करते तो 'विद्वान्' यहां पर भी नकार को दकार आदेश हो जाता; क्योंकि यह भी वस्वन्त है। अब सूत्र में 'सान्त' कथन से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि 'विद्वान्' यह सान्त नहीं किन्तु नान्त वस्वन्त है। 'विद्वान्' कैसे वस्वन्त है? यह आगे 'विद्वस्' शब्द पर इसी प्रकरण में स्पष्ट हो जायगा।

पदान्त अर्थात् पद के अन्त को आदेश कहने से 'स्रस्+तम् = स्रस्तम्, ध्वस्+तम् = ध्वस्तम्' यहां अपदान्त सकार को दकार आदेश नहीं होता। ध्यान रहे कि यहां क्रमशः स्रंसु ध्वंसु धातुओं से 'क्त' प्रत्यय हो कर अनुनासिक का लोप हुआ है।

वस्वन्तों में दकारादेश के उदाहरण 'विद्वद्भ्याम्' आदि आगे आएंगे। स्रंसु, ध्वंसु दोनों भ्वादिगणीय सेट् आत्मनेपदी धातु हैं। एक का अर्थ 'गिरना' और दूसरे का अर्थ ध्वंस होना = नाश होना है। इन के उदाहरण उखास्रस् और पर्णध्वस् शब्द हैं। यथा—

> उखास्रस् = बटलोई से गिरने वाला धान्यकण आदि। उखायाः स्रंस्त इत्युखास्रत्। कर्तरि क्विप्, उपपदसमासः।

प्र०	उखास्रत्-द्	उखास्रसौ	उखास्रसः	पं०	उखास्रसः	उखास्रद्भ्याम् उखास्रद्भ्यः
द्वि०	उखास्रसम्	,,	,,	ष०	,,	उखास्रसोः उखास्रसाम्
तृ०	उखास्रसा	उखास्रद्भ्याम्	उखास्रद्भिः	स०	उखास्रसि	,, उखास्रत्सु
च०	उखास्रसे	,,	उखास्रद्भ्यः	सं०	हे उखास्रत्-द्!	हे उखास्रसौ! हे उखास्रसः!

यहां सर्वत्र पदान्त में 'वसु-स्रंसु—' (२६२) से दत्व हो जाता है।

पर्णध्वस्=पत्तों का नाश करने वाला। पर्णानि ध्वंसत इति पर्णध्वत्। क्विप्, उपपदसमासः।

प्रथमा	पर्णध्वत्—द्	पर्णध्वसौ	पर्णध्वसः
द्वितीया	पर्णध्वसम्	,,	,,
तृतीया	पर्णध्वसा	पर्णध्वद्भ्याम्	पर्णध्वद्भिः
चतुर्थी	पर्णध्वसे	,,	पर्णध्वद्भ्यः
पञ्चमी	पर्णध्वसः	,,	,,
षष्ठी	,,	पर्णध्वसोः	पर्णध्वसाम्
सप्तमी	पर्णध्वसि	,,	पर्णध्वत्सु
सम्बोधन	हे पर्णध्वत्—द् !	हे पर्णध्वसौ !	हे पर्णध्वसः !

यहां भी सर्वत्र पदान्त में पूर्ववत् दत्व हो जाता है।

तुरासाह्=इन्द्र।

[तुरम्=वेगवन्तं साहयति=अभिभवति इति तुराषाट्। तुरकर्मोपपदात् 'षह मर्षणे' (भ्वा० आ०) इत्यस्माद्धातोः 'क्विप् च' (८०२) इति क्विप्। उपपदसमासः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६.३.११६) इति दीर्घः। जो वेग वाले को दबा लेता है उसे 'तुरासाह्' कहते हैं। यह इन्द्र का नाम है।]

तुरासाह्+स् (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकारलोप हो कर 'हो ढः' (२५१) सूत्र द्वारा हकार को ढकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ढकार को डकार करने पर—'तुरासाड्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६३ सहेः साडः सः।८।३।५६॥

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। तुराषाट्, तुराषाड्। तुरासाहौ। तुरासाहः। तुराषाड्भ्याम् इत्यादि।

अर्थः—सह् धातु से बने 'साड्' शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश हो।

व्याख्या—सहेः।६।१। साडः।६।१। सः।६।१। मूर्धन्यः।१।१। ['अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से] मूर्ध्नि भवः=मूर्धन्यः। शरीरावयवाच्चेति यत्। अर्थः—(सहेः) सह् धातु का जो (साडः) साड् उस के (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धा स्थान वाला वर्ण हो जाता है। सकार के स्थान पर आन्तर्य से ईषद्विवृत प्रयत्न वाला षकार ही मूर्धन्य होता है।

सह् का साड् रूप पदान्त में ही बनता है अतः पदान्त में सह् के सकार को मूर्धन्य आदेश हो यह फलितार्थ हुआ।

'तुरासाड्' यहां 'साड्' यह रूप सह् धातु से बना है। अतः प्रकृतसूत्र से इस के सकार को मूर्धन्य षकार हो कर 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर—'तुराषाट्, तुराषाड्' ये दो रूप बनते हैं। "तमभ्यनन्दत्प्रथमं लवणान्तकमग्रजः। कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम्" (रघु० १५.४०)। 'तुरासाह्' की रूपमाला यथा—

प्र०	तुराषाट्-ड्	तुरासाहौ	तुरासाहः
द्वि०	तुरासाहम्	,,	,,
तृ०	तुरासाहा	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भिः
च०	तुरासाहे	,,	तुराषाड्भ्यः
पं०	तुरासाहः	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भ्यः
ष०	,,	तुरासाहोः	तुरासाहाम्
स०	तुरासाहि	,,	तुराषाट्त्सु, ट्सु
सं०	हे तुराषाट्-ड्!	हे तुरासाहौ!	हे तुरासाहः!

इसी प्रकार—पृतनासाह् प्रभृति शब्दों के रूप जानने चाहियें।

(यहां हकारान्त पुँल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—:०:—

यद्यपि हकारान्त शब्दों के अनन्तर प्रत्याहारक्रम से यकारान्त शब्द आने चाहियें थे तथापि इन का विरलप्रयोग* तथा उन में किसी प्रकार का विशेषकार्य्य न देख कर ग्रन्थकार उन्हें छोड़ कर वकारान्त शब्दों का निरूपण करते हैं।

सुदिव्=अच्छे अर्थात् निर्मल आकाश वाला दिवस (दिन) आदि या अच्छे स्वर्ग वाला पुरुष आदि। 'दिव्' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है। इस का अर्थ आकाश व स्वर्ग है। 'द्यो-दिवौ द्वे स्त्रियाम्' इत्यमरः। सु=शोभना द्यौः=आकाशो नाको वा यस्य स सुद्यौः। इस प्रकार बहुव्रीहि-समास में 'सुदिव्' शब्द पुँल्लिङ्ग हो जाता है। प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर इस से स्वादि उत्पन्न होते हैं—

सुदिव् + स् (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकारलोप प्राप्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६४ दिव औत् ।७।१।८४॥

दिव् इति प्रातिपदिकस्य औत् स्यात् सौ। सुद्यौः। सुदिवौ।

अर्थः—सुँ परे होने पर दिव् इस प्रातिपदिक को औकार हो जाता है।

व्याख्या—दिवः ।६।१। औत् ।१।१। सौ ।७।१। ['सावनडुहः' से] संस्कृत में दो 'दिव्' शब्द हैं। एक अव्युत्पन्न प्रातिपदिक और दूसरा 'दिवुँ क्रीडा-विजिगीषा——' (दिवा० प० सेट्) यह धातु। इस सूत्र में 'दिव्' इस अव्युत्पन्न प्रातिपदिक का ही ग्रहण

* यथा व्याकरण में अय्, आय्, दय्, चय्, तय् आदि।

होता है 'दिवुँ' धातु का नहीं। इस में कारण यह है कि—"निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य" (परिभाषा) अर्थात् यदि निरनुबन्ध (अनुबन्धहीन) का ग्रहण सम्भव हो सके तो सानुबन्ध (अनुबन्धसहित) का ग्रहण नहीं करना चाहिये। यहां सूत्र में 'दिवः' में उकारानुबन्धरहित 'दिव्' का ग्रहण किया है; अतः 'दिव्' इस प्रातिपदिक निरनुबन्ध का ही ग्रहण होगा, सानुबन्ध 'दिवुँ' का नहीं। 'औत्' में तकार उच्चारणार्थ है, आदेश 'औ' ही होता है। प्रयोजनाभाव से तकार की इत्सञ्ज्ञादि न होगी। यदि तकार भी साथ आदेश होता तो अनेकाल् होने से सर्वादेश हो जाता। अर्थः—(दिवः) दिव् इस प्रातिपदिक के स्थान पर (औत्) 'औ' आदेश हो (सौ) सुँ परे होने पर।

यह सूत्र अङ्गाधिकार में पढ़ा गया है अतः दिव् और दिव्शब्दान्त दोनों को औकार आदेश होगा। ध्यान रहे कि अलोऽन्त्यपरिभाषा से दिव् के वकार को ही औकार आदेश होगा।

'सुदिव्+स्' यहां 'सुँ' परे है अतः प्रकृत-सूत्र से वकार को औकार करने पर 'इको यणचि' (१५) से इकार को यकार हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'सुद्यौः' प्रयोग सिद्ध होता है *।

सुदिव् + औ=सुदिवौ। सुदिव् + अस् (जस्) = सुदिवः। सुदिवम्। सुदिवौ। सुदिव् + अस् (शस्) = सुदिवः।

'सुदिव्+भ्याम्' यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६५ दिव उत् ।६।१।१२८॥

दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात्पदान्ते। सुद्युभ्याम् इत्यादि।

अर्थः—पद के अन्त में दिव् को उकार अन्तादेश हो।

व्याख्या—दिवः ।६।१। उत् ।१।१। पदान्ते ।७।१। ['एङः पदान्तादति' से विभक्तिविपरिणाम करके] अर्थः—(पदान्ते) पदान्त में (दिवः) दिव् शब्द के स्थान

---

* 'सुदिव्+स्' में औकारादेश तथा सुलोप युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु औकारादेश नित्य और सुलोप अनित्य होने से प्रथम औकारादेश हो जाता है। जो विधि दूसरे के प्रवृत्त होने या न होने पर समानरूप से प्रसक्त हो वह दूसरे की अपेक्षा नित्य होती है। जैसा कि कहा भी है—

"कृताकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः" (परि०)।

यहां सुलोप कर देने पर भी प्रत्ययलक्षण द्वारा सु को मान कर औकारादेश हो सकता है अतः औकारादेश नित्य है। परन्तु औकारादेश कर देने पर हल् न होने से सुलोप नहीं हो सकता अतः सुलोप अनित्य है। नित्य और अनित्य में नित्य ही बलवान् होता है।

पर (उत्) ह्रस्व उकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से दिव् के अन्त्य अल्—वकार को ही उकार आदेश होगा। ध्यान रहे कि यहां भी पूर्ववत् दिव् प्रातिपदिक का ही ग्रहण किया जाता है।

'सुदिव् + भ्याम्' यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) द्वारा पदसञ्ज्ञा होने से पदान्त में वकार को उकारादेश तथा 'इको यणचि' (१५) सूत्र से यण् करने पर 'सुद्युभ्याम्' रूप बनता है। इसी प्रकार भिस्, भ्यस् और सुप् में भी समझ लेना चाहिये। रूपमाला यथा—

प्र०	सुद्यौः	सुदिवौ	सुदिवः	पं०	सुदिवः	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
द्वि०	सुदिवम्	,,	,,	ष०	,,	सुदिवोः	सुदिवाम्
तृ०	सुदिवा	सुद्युभ्याम्	सुद्युभिः	स०	सुदिवि	,,	सुद्युषु
च०	सुदिवे	,,	सुद्युभ्यः	सं०	हे सुद्यौः!	हे सुदिवौ!	हे सुदिवः!

इसी प्रकार—प्रियदिव्, अतिदिव्, शुभदिव्, दुर्दिव् प्रभृति शब्दों के रूप जानने चाहियें।

(यहाँ वकारान्त पुँल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—ॐ—

अभ्यास (३७)

(१) अनडुह् और विश्ववाह् शब्द के जस् और शस् में सदृश (?) रूप क्यों बनते हैं ? कारण बताओ। यदि नहीं तो भी कारण लिखो।

(२) अनड्वान् और अनड्वन् में, सुदिवोः और सुद्यौः में, लिट् और स्निट् में, सुड्भ्याम् और धुग्भ्याम् में ससूत्र प्रक्रिया सम्बन्धी अन्तर बताओ।

(३) 'सूत्रशाटकन्याय' किसे कहते हैं और व्याकरण में इस का कहां और कैसा उपयोग होता है ?

(४) निम्नलिखित वचनों का जहां तक हो सके सोदाहरण विवेचन करो—

१ निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः। २ प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते। ३ निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य। ४ अपवादो वचनप्रामाण्यात्। ५ अन्योऽन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते। ६ कृताकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः।

(५) तुराषाट्, सुद्युभ्याम्, धुक्षु, विश्वौहि, उख्रास्रद्भ्याम्, स्निक्—इन रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करो।

(६) (क) 'चतुरनडुहोः—' और 'सावनडुहः' में उत्सर्ग-अपवादभाव क्यों नहीं होता ?

(ख) 'लिट्सु' में किस प्रकार तकार को थकार प्राप्त होता है और किस प्रकार उस की निवृत्ति होती है ?

(ग) 'सुद्यौः' में औकारादेश करने से पूर्व सुँलोप क्यों नहीं हो जाता ?

(घ) 'दिव औत्' में 'दिवुँ' धातु का ग्रहण क्यों नहीं होता ?

(ङ) मूर्धन्य' शब्द का क्या विग्रह और क्या अर्थ है ?

(७) निम्नलिखित सूत्रों की व्याख्या करें—

१ एकाचो बशो भष्—। २ दादेर्धातोर्घः । ३ सम्प्रसारणाच्च । ४ वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ।

—:※:—

अब रेफान्त पुल्लिङ्ग 'चतुर्' (चार, सङ्ख्येयपरार्थी) शब्द का वर्णन करते हैं । 'चतेरुरन्' (उणा० ७३६) सूत्र से चतुर् शब्द की निष्पत्ति होती है । 'चतुर्' शब्द नित्यबहुवचनान्त होता है ।

चतुर् + अस् (जस्) । यहां 'जस्' यह सर्वनामस्थान परे है, अतः 'चतुरनडुहोः–' (२५१) सूत्रसे आम् का आगम हो कर 'इको यणचि' (१५) से यण् करने पर 'चत्वारः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

चतुर् + अस् (शस्)=चतुरः । शस् के सर्वनामस्थान न होने से आम् का आगम नहीं होता ।

चतुर् + भिस् = चतुर्भिः । चतुर् + भ्यस् = चतुर्भ्यः ।

चतुर्+आम् । यहां ह्रस्वादि न होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) द्वारा नुट् प्राप्त नहीं हो सकता, अतः उस की सिद्धि के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६५ षट्चतुर्भ्यश्च ।७।१।५५॥

षट्सञ्ज्ञकेभ्यश्चतुरश्चामो नुडागमः स्यात् ।

अर्थः—षट्सञ्ज्ञकों से तथा चतुर् शब्द से परे आम् को नुट् का आगम हो जाता है ।

व्याख्या—षट्चतुर्भ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । आमः ।६।१। ['आमि सर्वनाम्नः सुट्' से । यहां 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' के अनुसार षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है ।] नुट् ।१।१। ['ह्रस्वनद्यापो नुट्' से] अर्थः—(षट्चतुर्भ्यः) षट्सञ्ज्ञकों से तथा चतुर् शब्द से परे (च) भी (आमः) आम् का अवयव (नुट्) नुट् हो जाता है ।

इसी प्रकरण में आगे (२६७) सूत्र से षट्सञ्ज्ञा की जाएगी; यहाँ उसी का ग्रहण है। चतुर् शब्द की षट्सञ्ज्ञा नहीं होती अतः इसका पृथक् ग्रहण किया है।

चतुर् + आम्। यहां प्रकृत-सूत्र से नुट् का आगम हो कर 'चतुर् + नाम्' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६६ रषाभ्यां नो णः समानपदे।८।४।१।

एकपदस्थाभ्यां रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्। 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्।

अर्थः—एक पद में स्थित रेफ व षकार से परे नकार को णकार आदेश हो।

व्याख्या—रषाभ्याम्।५।२। नः।६।१। णः।१।१। समानपदे।७।१। समानञ्चाद: पदं च=समानपदम्। कर्मधारयसमासः। रश्च षश्च=रषौ, ताभ्याम्=रषाभ्याम्। इतरेतरद्वन्द्वः। रेफादकारः षकाराच्चाकारश्चोच्चारणार्थः। 'णः' इत्यत्राप्यकार उच्चारणार्थो बोध्यः। अर्थः—(समानपदे) एक पद में (रषाभ्याम्) रेफ व षकार से परे (नः) न् के स्थान पर (णः) ण आदेश हो। [र्+न=र्ण, ष् + न = ष्ण]

'समानपद' कथन से पूर्वोक्तरीत्या अखण्डपद का ही ग्रहण होता है। अतः—अग्निर्नयति, वायुर्नयति, चतुर्नवतिः' इत्यादियों में रेफ से परे नकार को णकारादेश नहीं होता।

इस सूत्र के उदाहरण—आस्तीर्णम्, अवगीर्णम्, कृष्णाति, पुष्णाति आदि हैं।

'अप्तृन्—प्रशास्तॄणाम्' (२०६) इत्यादि प्रयोगों* तथा क्षुभ्नादिगण (८.४.३९) में 'नृनमन, तृप्नु' को णत्व निषेध करने से यहां रेफ और षकार की तरह ऋवर्ण को भी णत्व का निमित्त मानना चाहिये। इसके उदाहरण—मातॄणाम्, पितॄणाम्, नृणाम् आदि हैं।

'चतुर्+नाम्' यहां प्रकृतसूत्र से नकार को णकारादेश हो कर 'चतुर्णाम्' हुआ। अब 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) से णकार को वैकल्पिक द्वित्व करने से—'चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—यहां णत्व करते समय प्रायः सुबोध विद्यार्थियों को सन्देह हुआ करता है कि 'चतुर्णाम्' में तो 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से ही णत्व हो सकता है, क्योंकि वहां 'व्यवधानेऽपि णत्वं स्यात्' कहा है। अर्थात् व्यवधान होने पर भी णत्व हो जाता है। इस

---

* 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२. ३. ६९) इत्यादिषु तु तृन् इति प्रत्याहारस्येष्टत्वाद् णत्वाभावो जिघृक्षितरूपविनाशभियेति बोध्यम्।

से यह विदित होता है कि यदि व्यवधान न होगा तब तो अवश्य ही हो जायगा। 'पुष्णाति, मुष्णाति' आदियों में भी ष्टुत्व से णत्व सिद्ध हो सकता है। अतः यह सूत्र निरर्थक है।

परन्तु तनिक ध्यान देने पर इस की उपयोगिता स्पष्ट समझ में आ जाती है। अष्टाध्यायी में प्रथम यह सूत्र और तदनन्तर 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) सूत्र पढ़ा गया है। 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) सूत्र में पूर्णरूपेण यह सूत्र अनुवर्त्तित होता है। यदि यह सूत्र न बनाते तो उस में अनुवृत्ति कहां से आती ?। 'पुष्णाति, मुष्णाति' आदियों में यद्यपि ष्टुत्व से सिद्धि हो सकती है; तथापि अट् आदि के व्यवधान में णत्वसिद्धि के लिये उस का ग्रहण अवश्य प्रयोजनीय है। अन्यथा 'पुरुषेण, पुरुषाणाम्' आदि सिद्ध न हो सकेंगे।

सप्तमी के बहुवचन में 'चतुर्+सु' इस स्थिति में सकार—खर् परे होने से 'खरवसानयोः—' (९३) द्वारा रेफ को विसर्ग आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—२६८ रोः सुपि ।८।३।१६॥

रोरेव विसर्जनीयः सुपि। षत्वम्। षस्य द्वित्वे प्राप्ते—

अर्थः—सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' के परे होने पर रुँ के स्थान पर ही विसर्ग आदेश हो। (अन्य रेफ के स्थान पर न हो)

व्याख्या—रोः ।६।१। सुपि ।७।१। विसर्जनीयः ।१।१। ['खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से] अर्थः—(सुपि) सप्तमी का बहुवचन 'सुप्' प्रत्यय परे होने पर (रोः) रुँ के स्थान पर (विसर्जनीय) विसर्जनीय आदेश हो। सुप् परे होने पर रुँ (र्) के स्थान पर विसर्गादेश 'खरवसानयोः—' (९३) सूत्र से ही सिद्ध है, पुनः इस का आरम्भ नियमार्थ ही है—"सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः"। अर्थात् सुप् परे होने पर रुँ के रेफ को ही विसर्ग आदेश हो अन्य रेफ को न हो।

'चतुर्+सु' यहां 'रुँ' का रेफ नहीं अतः इसे विसर्ग आदेश न हुआ। 'आदेश-प्रत्यययोः' (१५०) द्वारा सकार को षकार करने से—'चतुर्षु' प्रयोग सिद्ध हुआ। अब यहां 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) सूत्र द्वारा षकार को वैकल्पिक द्वित्व प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—२६९ शरोऽचि ।८।४।४९॥

अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु।

अर्थः—अच् परे हो तो शर् को द्वित्व नहीं होता।

व्याख्या—अचि ।७।१। शरः ।६।१। न इत्यव्ययपदम्। ['नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य' से] द्वे ।१।२। ['अचो रहाभ्यां द्वे' से] अर्थः—(अचि) अच् परे होने पर (शरः) शर् के स्थान पर (द्वे) दो शब्दस्वरूप (न) न हों।

'चतुर्षु' यहां उकार-अच् परे है अतः षकार-शर् को द्वित्व नहीं होता। इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१. दर्शनम्। २. स्पर्शनम्। ३. आर्षम्। ४. वर्षणम्। ५. चिकीर्षा। ६. जिहीर्षा। ७. मुमूर्षा। ८. कार्श्यम्। ९. अर्शः। १०. घर्षणम्। ११. कर्षकः। १२. वर्षुकः। १३. कार्षापणम्। १४. वर्षा। १५. हर्षः। इत्यादि।*

निम्नलिखित स्थलों में अच् परे न होने से निषेध नहीं होता। 'अनचि च' (१८) अथवा 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) से द्वित्व हो जाता है—

१. कृष्णः। २. कार्ष्णिः। ३. दश्श्यते। ४. भीष्मः। ५. यष्टिः। ६. अश्श्वः। ७. अश्श्मरी। ८. अश्श्नाति। ९. श्मश्श्रु। १०. अशिश्श्वी। ११. अष्टौ। १२. विश्श्रान्तः। १३. ईर्ष्ष्यति। इत्यादि।

अच् परे होने पर भी शर् से अतिरिक्त वर्ण (यर्) को द्वित्व हो ही जायगा—

१. अर्क्कः। २. अर्त्थः। ३. निर्ज्झरः। ४. दुर्ग्गः। ५. कवर्ग्गः। ६. मूर्क्खः। ७. निर्ब्भरः। ८. मूर्च्छना। ९. ऊर्म्मिः। १०. आह्ह्वानम्। ११. नह्ह्यस्ति। १२. उर्व्वी। १३. आर्य्यः। १४. आह्ह्लादः। १५. अपह्ह्नुते। इत्यादि।

'चतुर्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	चत्वारः	पं०	०	०	चतुर्भ्यः
द्वि०	०	०	चतुरः	ष०	०	०	चतुर्णाम् चतुर्ण्णाम्
तृ०	०	०	चतुर्भिः	स०	०	०	चतुर्षु
च०	०	०	चतुर्भ्यः	सम्बोधन सङ्ख्यावाचकों का नहीं होता।			

इसी प्रकार 'परमचतुर्' आदि शब्दों के रूप होते हैं।

(यहां रेफान्त पुँल्लिङ्ग समाप्त होते हैं)

—————:०:—————

अब मकारान्तों का वर्णन किया जाता है—

* इस सूत्र का निषेध शकार और षकार तक ही सीमित रहता है। सकार के द्वित्व का प्रसङ्ग कहीं नहीं प्राप्त होता। [विशेष स्वयं विचार करें]

प्रपूर्वक 'शमुँ उपशमे' (दिवा० प० सेट्) धातु से क्विप्, 'अनुनासिकस्य—' (७२७) से दीर्घ करने पर 'प्रशाम्' (शान्त) शब्द निष्पन्न होता है।

प्रशाम् + स् (सुँ)। यहां सकारलोप हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७० मो नो धातोः ।८।२।६४॥

धातोर्मस्य नः स्यात् पदान्ते । प्रशान् । प्रशान्भ्याम् इत्यादि ।

अर्थः—पदान्त में धातु के मकार को नकार आदेश हो।

व्याख्या—धातोः ।६।१। मः ।६।१। नः ।१।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७। । ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] अर्थः—(पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (धातोः) धातु के (मः) मकार के स्थान पर (नः) न् आदेश होता है।*

'प्रशाम्' यहां 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' (पृष्ठ २३५) के अनुसार 'शम्' धातु का मकार है अतः प्रकृत-सूत्र से इसे नकार आदेश हो कर—'प्रशान्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यह नकारादेश (८.२.६४) 'न लोपः—' (८.२.७) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है अतः उसे तो यहां मकार ही दिखाई देता है। इस से नकार का लोप नहीं होता।

'प्रशाम्' (शान्त) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	प्रशान्	प्रशामौ	प्रशामः	प०	प्रशामः	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भ्यः
द्वि०	प्रशामम्	,,	,,	ष०	,,	प्रशामोः	प्रशामाम्
तृ०	प्रशामा	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भिः	स०	प्रशामि	,,	प्रशान्त्सु,-न्सु‡
च०	प्रशामे	,,	प्रशान्भ्यः	सं०	हे प्रशान्!	हे प्रशामौ!	हे प्रशामः!

‡ यहां 'मो नो धातोः' सूत्र द्वारा नकार आदेश हो कर 'नश्च' (८७) सूत्र से वैकल्पिक धुट् का आगम हो जाता है। धुट्पक्ष में 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो कर 'प्रशान्त्सु' और धुट् के अभाव में 'प्रशान्सु' बन जाता है।

इसी प्रकार—प्रदाम्, प्रताम्, प्रकाम् प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

किम् (कौन । 'कायतेर्डिमिः' इत्युणादिसूत्रेण साधुः)

'किम्' शब्द सर्वादिगणपठित है, अतः 'सर्वादीनि—' (१५१) सूत्र से इस की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। यह शब्द त्रिलिङ्गी है। यहां पुंल्लिङ्ग का प्रकरण होने से पुंल्लिङ्ग में रूप दिखाए जाएंगे।

---

* 'मः' इति 'धातोः' इत्यस्य विशेषणत्वे तु तदन्तविधिना 'मकारान्तस्य धातोर्नकारादेशः स्यात्पदान्ते' इत्यर्थो निष्पद्यते। तदाऽलोऽन्त्यविधिनाऽन्त्यमकारस्य नकारादेश उन्नेतव्यः।

'किम्+स्' (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकार का लोप प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७१ किमः कः ।७।२।१०३॥

किमः कः स्याद्विभक्तौ । कः । कौ । के । इत्यादि सर्ववत् ।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर किम् को 'क' आदेश हो ।

व्याख्या—किमः ।६।१। कः ।१।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] अर्थः—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (किमः) 'किम्' शब्द के स्थान पर (कः) 'क' आदेश हो । 'क' आदेश सस्वर होने से अनेकाल् है अतः अनेकाल्परिभाषा से सम्पूर्ण किम् के स्थान पर होगा ।

इस सूत्र से सर्वत्र स्वादियों में किम् को 'क' आदेश हो जाता है । तदनन्तर सर्वशब्द के समान प्रक्रिया होती है । ध्यान रहे कि 'क' आदेश स्थानिवद्भाव से सर्वनामसञ्ज्ञक होता है । रूपमाला यथा—

प्र०	कः	कौ	के‡
द्वि०	कम्	,,	कान्
तृ०	केन	काभ्याम्	कैः
च०	कस्मै†	,,	केभ्यः
पं०	कस्मात्❀	काभ्याम्	केभ्यः
ष०	कस्य	कयोः	केषाम्×
स०	कस्मिन्❀	,,	केषु

सम्बोधन नहीं होता ।

‡'जसः शी' (१५२) । †'सर्वनाम्नः स्मै' (१५३) । ❀'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५४) । ×'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५) ।

इदम्=यह (निकटतम *)

'इदम्' ‡ शब्द भी सर्वादिगण में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है । यह त्रिलिङ्गी है । यहां पुंल्लिङ्ग का प्रकरण होने से पुंल्लिङ्ग में रूप दिखाए जाते हैं—

'इदम्+स्' (सुँ) । यहां 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र से मकार को अकार प्राप्त होता है । इस पर अग्रिम-सूत्र निषेध करता है—

---

* "इदमस्तु सन्निकृष्टे, समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टे, तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥"

अर्थः—इदम् शब्द का प्रयोग निकटतम—अर्थात् जिसे अङ्गुली से बताया जा सके—के लिये, एतद् का निकटतर के लिये, अदस् का दूरस्थ के लिये और तद् का परोक्ष—जो दिखाई न दे रहा हो—के लिये होता है ।

‡ 'इन्देः कमिन्नलोपश्च' (उणा० ५९६) इति सिध्यति ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७२ इदमो मः ।७।२।१०८॥

इदमो मस्य मः स्यात्सौ परे । त्यदाद्यत्वापवादः ।

अर्थः—सुँ परे होने पर इदम् शब्द के मकार को मकार आदेश हो। यह सूत्र त्यदादियों के स्थान पर होने वाले अत्व का अपवाद है।

व्याख्या—इदमः ।६।१। मः ।१।१। सौ ।७।१। ['तदोः सः सावनन्त्ययोः' से] अर्थः—(इदमः) इदम् शब्द के स्थान पर (मः) म् आदेश हो (सौ) सुँ परे होने पर। यह मकारादेश अलोऽन्त्यपरिभाषा से इदम् शब्द के अन्त्य अल्—मकार के स्थान पर ही होता है। मकार को पुनः मकार आदेश करने का तात्पर्य 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र द्वारा प्राप्त अकारादेश का निषेध करना है, अर्थात् इदम् का मकार मकाररूपेण ही स्थित रहता है, सुँ परे होने पर उस के स्थान पर अन्य कुछ आदेश नहीं होता।

इस सूत्र से 'इदम्+स्' यहां अत्व नहीं होता। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७३ इदोऽय् पुंसि ।७।२।१११॥

इदम इदोऽय् स्यात्सौ पुंसि । सोर्लोपः । अयम् । त्यदाद्यत्वे—

अर्थः—सुँ परे होने पर पुंल्लिङ्ग में इदम् शब्द के 'इद्' भाग को 'अय्' आदेश हो।

व्याख्या—इदमः ।६।१। ['इदमो मः' से] इदः ।६।१। अय् ।१।१। पुंसि ।७।१। सौ ।७।१। ['यः सौ' से] अर्थः—(सौ) सुँ परे होने पर (पुंसि) पुंल्लिङ्ग में (इदमः) इदम् शब्द के अवयव (इदः) इद् के स्थान पर (अय्) अय् आदेश हो। अनेकाल्परिभाषा द्वारा अय् आदेश सम्पूर्ण इद् के स्थान पर होगा। ग्रहणसामर्थ्य से यकार का लोप न होगा, किञ्च प्रयोजनाभाव से इत्सञ्ज्ञा भी न होगी।*

'इदम् + स्' यहां पुंल्लिङ्ग में प्रकृतसूत्र से इद् को अय् आदेश हो कर 'अय् अम् + स्' हुआ। अब 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकार का लोप करने पर 'अयम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'इदम् + औ' यहां सुँ परे नहीं है अतः 'इदमो मः' प्रवृत्त न होगा, 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र से मकार को अकार आदेश हो कर 'इद अ + औ' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७४ अतो गुणे ।६।१।९५॥

* पुंसीति किम् ? इयं ब्राह्मणी। साविति किम् ? इमौ पुत्रौ।

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः ।

अर्थः—अपदान्त अत् से गुण परे होने पर पूर्व-पर के स्थान पर पररूप एकादेश हो।

व्याख्या—अपदान्तात् ।५।१। ['उस्यपदान्तात' से] अतः ।५।१। गुणे ।७।१। पूर्वपरयोः ।६।२। एकम् ।१।१। ['एकः पूर्व-परयोः' यह अधिकृत है] पररूपम् ।१।१। ['एङि पररूपम्' से] अर्थः—(अपदान्तात) अपदान्त (अतः) अत् से परे (गुणे) गुणसञ्ज्ञक वर्ण हो तो (पूर्व-परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकम्) एक (पररूपम्) पररूप आदेश हो। 'अदेङ् गुणः' (२५) के अनुसार 'अ, ए, ओ' ये तीन वर्ण गुणसञ्ज्ञक हैं। यह सूत्र सवर्णदीर्घ तथा वृद्धि आदि का अपवाद है। उदाहरण यथा—

पच + अन्ति = पच् 'अ' न्ति = पचन्ति । यज + अन्ति=यज् अ न्ति=यजन्ति । एध+ए = एध् 'ए'=एधे । इत्यादि ।

'इद अ + औ' यहां दकारोत्तर अपदान्त अत् से परे 'अ' यह गुण विद्यमान है; अतः पूर्व (अ) और पर (अ) दोनों के स्थान पर एक पररूप 'अ' हो कर 'इद + औ' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**२७५ दश्च ।७।२।१०९॥**

इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ । इमौ । इमे । त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः ।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर इदम् शब्द के दकार को मकार आदेश हो। त्यदादेरिति—सामान्यतया त्यद् आदि शब्दों का सम्बोधन नहीं होता।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] इदमः ।६।१। मः ।१।१। ['इदमो मः' से । मकारादकार उच्चारणार्थः ।] दः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (इदमः) इदम् शब्द के (दः) द् के स्थान पर (मः) म् आदेश हो।

'इद + औ' यहां विभक्ति 'औ' परे है अतः प्रकृतसूत्र से दकार को मकार हो कर 'इम + औ' हुआ। अब रामशब्दवत् पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर 'नादिचि' (१२७) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है। पुनः 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर 'इमौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'इदम् + अस्' (जस्)। यहां त्यदाद्यत्व, पररूप तथा 'दश्च' सूत्र से दकार को

मकार आदेश हो कर 'इम + अस्' हुआ। अब एकदेशविकृतन्याय से 'इम' शब्द की भी 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) से सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। तब 'जसः शी' (१५२) से जस् को शी आदेश हो कर अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश करने पर—'इमे' प्रयोग सिद्ध होता है।

त्यदादियों [त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्] का सम्बोधन प्रायः नहीं हुआ करता। 'प्रायः' इसलिये कहा है कि भाष्य में कहीं २ 'हे स' आदि प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। मूल का अक्षरार्थ यह है—(त्यदादेः) त्यदादिगण का (सम्बोधनम्) सम्बोधन (नास्ति) नहीं होता (इति) यह (उत्सर्गः) सामान्यनियम है।

'इदम्' शब्द के सम्बोधन में भी वही रूप बनते हैं जो उस के प्रथमा में बनते हैं। परन्तु लोक में इन का प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता।

'इदम् + अम्' यहां त्यदाद्यत्व, पररूप, 'दश्च' (२७८) से दकार को मकारादेश तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'इमम्' सिद्ध होता है।

'इदम् + अस्' (शस्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, दकार को मकारादेश तथा पूर्वसवर्ण-दीर्घ कर सकार को नकारादेश करने से 'इमान्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'इदम् + आ' (टा)। यहां त्यदाद्यत्व तथा पररूप हो कर 'इद + आ' इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७९ अनाप्यकः ।७।२।११२॥

अककारस्येदम इदोऽन् आपि विभक्तौ। आप् इति प्रत्याहारः। अनेन।

अर्थः—ककाररहित इदम् शब्द के 'इद्' भाग को 'अन्' आदेश हो तृतीयादि विभक्ति परे हो तो।

व्याख्या—अकः ।६।१। इदमः ।६।१। ['इदमो मः' से] इदः ।६।१। ['इदोऽय् पुंसि' से] अन् ।१।१। आपि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] यहां 'आप्' यह 'टा' के आकार से 'सुप्' के पकार तक प्रत्याहार समझना चाहिये। नास्ति क् (ककारः) यस्मिन् सः = अक्, तस्य=अकः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(अकः) ककार रहित (इदमः) इदम् शब्द के (इदः) इद् भाग के स्थान पर (अन्) अन् आदेश हो (आपि) तृतीयादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो। 'इदम्' शब्द में जब 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः' (१२२९) सूत्र से अकच् प्रत्यय किया जाता है तब वह 'इदकम्' इस प्रकार ककारसहित

हो जाता है। तब 'अन्' आदेश के निषेध के लिये सूत्र में 'अकः' अर्थात् ककाररहित कहा है। यह विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी में स्पष्ट किया जाएगा।

ध्यान रहे कि 'अन्' आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'इद्' भाग के स्थान पर होता है।

'इद + आ' यहां प्रकृत-सूत्र से इद् भाग को अन् आदेश हो कर 'अन् अ + आ' हुआ। पुनः 'टा-ङसि-ङसाम्—' (१४०) सूत्र से आ को इन आदेश तथा 'आद् गुणः' (२७) द्वारा गुण एकादेश करने पर 'अनेन' प्रयोग सिद्ध होता है।

'इदम्+भ्याम्' यहां त्यदाद्यत्व तथा पररूप हो कर 'इद+भ्याम्' इस स्थिति में 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र से अन् आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७७ हलि लोपः ।७।२।११३॥

अककारस्येदम इदो लोपः स्यादापि हलादौ। "नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे" (प०)।

अर्थः—तृतीयादि हलादि विभक्ति परे हो तो ककाररहित इदम् शब्द के इद् भाग का लोप हो जाता है। **नानर्थक इति**—अभ्यासविकार को छोड़ कर अन्यत्र अनर्थकों में 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

व्याख्या—अकः ।६।१। ['अनाप्यकः' से] इदमः ।६।१। ['इदमो मः' से] इदः ।६।१। ['इदोऽय् पुंसि' से] लोपः ।१।१। आपि ।७।१। ['अनाप्यक' से] हलि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] 'हलि' यह 'विभक्तौ' पद का विशेषण है और साथ ही सप्तम्यन्त अल् भी है अतः 'यस्मिन्विधिः—' से तदादिविधि हो जाती है। अर्थः—(अकः) ककाररहित (इदमः) इदम् शब्द के अवयव (इदः) इद् का (लोपः) लोप हो जाता है। (हलि=हलादौ) हलादि (आपि) तृतीयादि विभक्ति परे हो तो। यह सूत्र पिछले 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र का अपवाद है।

'इद+भ्याम्' यहां 'भ्याम्' यह तृतीयादि हलादि विभक्ति परे है अतः यहां 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र को बाध कर 'हलि लोपः' (२७७) सूत्र से 'इद्' का लोप प्राप्त होता है। परन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र से इद् के अन्त्य दकार का लोप होना चाहिये। इस पर—

"नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे"

यह परिभाषा प्रवृत्त हो कर कहती है कि अनर्थक में 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र प्रवृत्त नहीं

हुआ करता ; हां ! यदि अभ्यास का विकार अनर्थक भी हो तो भी यह (अलोऽन्त्यस्य) प्रवृत्त हो जाता है* । कौन अनर्थक और कौन सार्थक होता है ? इस का निर्णय निम्न परिभाषा से होता है—

"समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः"

अर्थात् समुदाय सार्थक और उस का एक भाग निरर्थक हुआ करता है। तो इस प्रकार 'इद' यह सम्पूर्ण समुदाय सार्थक और इस का 'इद्' यह अवयव निरर्थक है। अनर्थक में अलोऽन्त्यविधि नहीं हुआ करती अतः यहां भी दकार का लोप न हो कर सम्पूर्ण इद् भाग का ही लोप हो जायगा—'अ + भ्याम्'। अब यहां 'सुपि च' (१४१) सूत्र से हमें दीर्घ करना अभीष्ट है, परन्तु उस से वह हो नहीं सकता, क्योंकि उस के अर्थ में अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो' ऐसा लिखा है। यहां अत् अङ्ग तो है पर अदन्त अङ्ग नहीं। अतः इस की सिद्धि के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—२७८ आद्यन्तवदेकस्मिन् ।१।१।२०॥

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविव अन्त इव च स्यात्। सुपि चेति दीर्घः। आभ्याम्।

अर्थः—जैसे आदि और अन्त में कार्य्य होते हैं वैसे एक वर्ण में भी कार्य हों।

व्याख्या—आद्यन्तवत् इत्यव्ययपदम्। एकस्मिन् ।७।१। समासः—आदिश्च अन्तश्च=आद्यन्तौ, इतरेतरद्वन्द्वः। तयोरिव=आद्यन्तवत्। 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः। अर्थः—(आद्यन्तवत्) आदि और अन्त में जैसे कार्य होते हैं वैसे (एकस्मिन्) एक वर्ण में भी हों।

आदि और अन्त शब्द सापेक्ष अर्थात् दूसरे की अपेक्षा-आश्रय करने वाले हैं। जब तक अन्य वर्ण न हों, आदि और अन्त नहीं बन सकते। जैसा कि भाष्य में कहा है—

"यस्मात्पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते।
यस्मात्पूर्वमस्ति परञ्च नास्ति सोऽन्त इत्युच्यते।"

अर्थात् जिस से पूर्व कोई नहीं, परे है वह—'आदि' तथा जिस के पूर्व तो है, परे नहीं वह—'अन्त' कहाता है। इस प्रकार आदि और अन्त में विधान किये गये कार्य केवल एक वर्ण में प्राप्त नहीं हो सकते। अतः उनकी एक-असहाय वर्ण में भी प्रवृत्ति कराने के

---

* यथा—बिभर्ति, पिपर्ति आदियों में अभ्यास के अन्त्य ऋकार को इकार आदेश हो जाता है। अन्यथा यहां भी सम्पूर्ण अभ्यास के स्थान पर आदेश होता।

लिये यह सूत्र आरम्भ किया गया है । उदाहरण यथा—जैसे 'रामाभ्याम् पुरुषाभ्याम्' यहां अदन्त अङ्ग को 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ होता है वैसे—'अ + भ्याम्' यहां केवल अत् को भी दीर्घ हो कर 'आभ्याम्' बनेगा । आदि का उदाहरण—जैसे 'भविष्यति' यहां वलादि स्य को 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) से इट् का आगम होता है वैसे 'आतिष्टाम्, आतिषुः' इत्यादियों में केवल 'स्' को भी होगा ।

नोट—भाष्यकार ने इस सूत्र को और अधिक विस्तृत करने के लिये 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' ऐसा लिखा है । मुख्यव्यवहार को 'व्यपदेश' कहते हैं । सोऽस्यास्तीति व्यपदेशी, उस वाले का नाम 'व्यपदेशी' हुआ । अर्थात् मुख्य का नाम 'व्यपदेशी' है । इस मुख्य के समान एक में भी कार्य हो जाते हैं । यथा—'एकाचो बशो भष् ' (२५३) का मुख्य उदाहरण 'गर्धप्' है । यहां 'गर्दभ्' धातु का अवयव एकाच् झषन्त 'दभ्' है । परन्तु 'धुक्' यहां ऐसा नहीं । यहां धातु भी वही है और एकाच् झषन्त भी वही है, अर्थात् दोनों अभिन्न हैं, इसमें भी मुख्य के समान कार्य हो जाएंगे । ये उदाहरण पाणिनि के 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र से सिद्ध नहीं हो सकते थे अतः भाष्यकार को "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" इस प्रकार रचना पड़ा । शास्त्र में इसे ही व्यपदेशिवद्भाव कहा गया है । व्यपदेशिवद्भाव का अर्थ गौण को भी मुख्य के समान मानना है ।

'इदम् + भिस्' यहां त्यदाद्यत्व, पररूप, 'हलि लोपः' (२७७) से इद् भाग का लोप हो जाता है । तब 'अ + भिस्' इस स्थिति में व्यपदेशिवद्भाव से 'अतो भिस ऐस्' (१४२) द्वारा भिस् को ऐस् प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—२७६ नेदमदसोरकोः ।७।१।११॥

अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न । एभिः । अस्मै । एभ्यः । अस्मात् । अस्य । अनयोः २ । एषाम् । अस्मिन् । एषु ।

अर्थः—ककाररहित इदम् और अदस् शब्द के भिस् को ऐस् नहीं होता ।

व्याख्या—अकोः ।६।२। इदमदसोः ।६।२। भिसः ।६।१। ऐस् ।१।१। [' अतो भिस ऐस्' से] न इत्यव्ययपदम् । नास्ति क् ययोस्तौ = अकौ, तयोः=अकोः, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(अकोः) ककाररहित (इदमदसोः) इदम् और अदस् शब्द के (भिसः) भिस् के स्थान पर (ऐस्) ऐस् (न) न हो ।

'अ + भिस्' यहां प्रकृतसूत्र से भिस् को ऐस् न हुआ । तब 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) सूत्र से एत्व होकर सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने से—'एभिः' रूप सिद्ध हुआ ।

चतुर्थी के एकवचन में 'इदम्+ए' (ङे) इस अवस्था में 'सर्वनाम्नः स्मै' (१४३) सूत्र से एकार को स्मै आदेश तथा 'अनाप्यकः' (२७६) से इद् को अन् आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं। विप्रतिषेधपरिभाषा से परकार्य अन् आदेश होने योग्य है। परन्तु यह अनिष्ट है। इसके लिये निम्न परिभाषा प्रवृत्त होती है—

"पूर्व पर-नित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः" (प०)

अर्थात् पूर्व से पर, पर से नित्य, नित्य से अन्तरङ्ग और अन्तरङ्ग से अपवाद बलवान् होता है। नित्य उसे कहते हैं कि जो अपने विरोधी के प्रवृत्त होने पर भी प्रवृत्त हो सके। यथा—यहाँ 'स्मै' आदेश नित्य है क्योंकि वह अपने विरोधी अन् आदेश के प्रवृत्त हो जाने पर भी प्रवृत्त हो सकता है। पर से नित्य बलवान् होता है अतः 'अनाप्यकः' (७.२.११२) के पर होने पर भी 'सर्वनाम्नः स्मै' (७.१.१४) सूत्र के नित्य होने से स्मै आदेश हो जायगा। 'इद+स्मै' इस स्थिति में 'हलि लोपः' (२७७) से इद् भाग का लोप हो कर 'अस्मै' प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम् + अस् (ङसिँ) = इद + अस्। यहाँ भी पूर्ववत् नित्य होने से अन् आदेश को बान्ध कर 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१४४) सूत्र से स्मात् आदेश हो जाता है। तब 'हलि लोपः' (२७७) से इद् का लोप करने से 'अस्मात्' रूप बनता है।

इदम्+अस् (ङस्)=इद + अस्। नित्य होने से प्रथम 'टाङसिङसाम्—' (१४०) सूत्र से स्य आदेश हो जाता है। तब इद् भाग का लोप हो कर 'अस्य' प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम् + ओस् = इद + ओस्। यहाँ 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र से अन् आदेश, 'ओसि च' (१४७) से एत्व तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से अय् आदेश करने पर 'अनयोः' रूप बनता है।

इदम् + आम्। त्यदाद्यत्व, पररूप, नित्य होने से 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५) से सुट्, इद् भाग का लोप और 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) से एत्व करने पर—एसाम्= 'एषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम्+इ (ङि) = इद+इ। यहां प्रथम स्मिन् आदेश हो कर तदनन्तर इद् भाग का लोप हो जाता है—'अस्मिन्'।

इदम्+सु (सुप्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, इद् का लोप, एत्व और षत्व करने पर 'एषु' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	अयम्	इमौ	इमे	प०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि०	इमम्	,,	इमान्	ष०	अस्य	अनयोः	एषाम्
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभिः	स०	अस्मिन्	,,	एषु
च०	अस्मै	,,	एभ्यः		सम्बोधनं नास्तीति प्रायोवादः ।		

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२८० द्वितीयाटौस्स्वेनः ।२।४।३४॥

इदमेतदोरन्वादेशे । किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः । यथा—अनेन व्याकरणमधीतमेनं छन्दोऽध्यापयेति । अनयोः पवित्रं कुलम् एनयोः प्रभूतं स्वम् इति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः २ ।

अर्थः—द्वितीया, टा और ओस् विभक्तियों के परे होने पर अन्वादेश में इदम् और एतद् शब्द को 'एन' आदेश हो । **किञ्चित् इति**—किसी कार्य को विधान करने के लिये ग्रहण किये हुए का पुनः दूसरे कार्य को विधान करने के लिये ग्रहण करना 'अन्वादेश' कहाता है ।

व्याख्या—इदमः ।६।१। ['इदमोऽन्वादेशे—' से] एतदः ।६।१। ['एतदस्त्रतसो—' से] अन्वादेशे ।७।१। ['इदमोऽन्वादेशे—' से] द्वितीयाटौस्सु ।७।३। एनः ।१।१। समासः—द्वितीया च टा च ओस् च=द्वितीयाटौसः, तेषु=द्वितीयाटौस्सु, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(अन्वादेशे) अन्वादेश में (इदमः) इदम् शब्द के स्थान पर तथा (एतदः) एतद् शब्द के स्थान पर (एनः) एन आदेश हो (द्वितीयाटौस्सु) द्वितीया, टा और ओस् विभक्ति परे होने पर ।

अन्वादेश किसे कहते हैं ?

किसी अपूर्व कार्य को जनाने या विधान करने के लिये जिस का प्रथम एक बार ग्रहण हो चुका हो; यदि पुनः दूसरे कार्य को जनाने या विधान करने के लिये उस का पुनः ग्रहण किया जावे तो वह पुनर्ग्रहण 'अन्वादेश' कहाता है । यथा—१. अनेन व्याकरणम् अधीतम् एनं छन्दोऽध्यापय । इस ने व्याकरण पढ़ लिया है अब इसे छन्दश्शास्त्र पढ़ाओ । यहां 'व्याकरण पढ़ लिया है' इस कार्य के लिये 'अनेन=इस ने' का ग्रहण किया गया है । पुनः छन्दोऽध्यापन के लिये भी उस का ग्रहण किया गया है अतः दूसरी बार उस का ग्रहण 'अन्वादेश' हुआ । २. अनयोः पवित्रं कुलम् एनयोः प्रभूतं स्वम् । इन दोनों का पवित्र कुल है तथा इन का धन भी बहुत है । यहां प्रथम पवित्र कुल कहने के लिये ग्रहण किये हुए

इन दोनों का पुनः बहुत धन कहने के लिये दोबारा ग्रहण किया गया है अतः यह दूसरी बार वाला ग्रहण 'अन्वादेश' है। इसी प्रकार—इम बालकं शिक्षामध्यापठः, अथो एनं वेद-मध्यापय। इस बालक को तुम शिक्षा पढ़ा चुके हो अब इसे वेद पढ़ाओ। यहां वेद पढ़ाने के लिये पुनः उस का ग्रहण 'अन्वादेश' है। अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्, अथो एनयोः कुशाग्रा मेधा। ये दोनों छात्र अच्छे आचार वाले हैं और इन की बुद्धि भी तीक्ष्ण है। यहां 'बुद्धि तीक्ष्ण है' यह जनाने के लिये पुनः उन का ग्रहण 'अन्वादेश' है।

अन्वादेश में द्वितीया=अम्, औट्, शस् तथा टा और ओस् [षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का] इन पाञ्च प्रत्ययों के परे होने पर इदम् और एतद् शब्द को 'एन' आदेश हो जाता है। अन्य विभक्तियों में अनन्वादेश की भान्ति रूप चलते हैं*। 'एतद्' शब्द का वर्णन आगे आएगा यहां अब 'इदम्' शब्द प्रस्तुत है—

१. इदम्+अम्=एन+अम्=एनम्। २. इदम्+औट्=एन+औ=एनौ। ३. इदम्+शस्=एन+अस्=एनान्। ४. इदम्+टा=एन+आ=एन+इन=एनेन। ५. इदम्+ओस्=एन+ओस्=एनयोः।

नोट—'एन' आदेश अनेकाल् होने से अनेकाल्परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण 'इदम्' के स्थान पर होता है।

इन सब का दो श्लोकों में उदाहरण यथा—

"इमं विद्धि हरेर्भक्तं, विद्ध्यथैनं शिवार्चकम्।
इमाविमान् वित्त शैवान्, एनावेनांस्तु वैष्णवान्॥१॥
अनेन पूजितः कृष्णोऽथैनेन गिरिशोऽर्चितः।
अनयोः केशवः स्वामी, शिवः स्वामी ह्यथैनयोः॥२॥"

(यहां मकारान्त पुल्ँलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—०:※:०—

अभ्यास (३८)

(१) [क] 'किम्' शब्द ही सर्वनामों में पढ़ा गया है 'क' शब्द नहीं; पुनः 'के, कस्मै' आदियों में क्यों सर्वनामकार्य हो जाते हैं?

---

* यद्यपि अन्य विभक्तियों में रूप अनन्वादेश की भान्ति होते हैं तो भी प्रक्रिया में बड़ा अन्तर होता है। अन्वादेश में इदम् शब्द के स्थान पर 'अश्' आदेश हो कर शकार का लोप करने पर अदन्त सर्वनाम की तरह कार्य होने हैं। यह सब सप्रयोजन विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

[ख] 'इदम्' शब्द में स्वतः ही ककार का श्रवण नहीं होता, पुनः उस के निषेध के लिये 'अनाप्यकः' आदि में यत्न क्यों किया गया है ?

[ग] 'अयम्' में त्यदाद्यत्व क्यों नहीं होता ? यदि उस के प्रवृत्त्यभाव का कोई कारण है तो वह 'इमौ, इमे' आदि में क्यों नहीं ?

[घ] 'अग्निर्नयति' में णत्व क्यों नहीं होता ?

[ङ] 'पुष्+नाति = पुष्णाति' यहां ष्टुत्व होता है या णत्व ? अन्यतर की प्रवृत्ति का सहेतुक विवेचन करो ।

(२) [क] आदि और अन्त का लक्षण लिख कर व्यपदेशिवद्भाव का सोदाहरण विवेचन करें ।

[ख] अन्वादेश का लक्षण लिख कर उस का सोदाहरण स्पष्टीकरण करो, किञ्च यह भी लिखो कि अन्वादेश में 'इदम्' के स्थान पर क्या क्या परिवर्त्तन होते हैं ।

[ग] 'नानर्थके—' परिभाषा की आवश्यकता पर टिप्पण लिखें ।

[घ] 'प्रशान्' यहां नकार का लोप क्यों नहीं होता ?

[ङ] 'चतुर्षु' में रेफ को विसर्गादेश क्यों नहीं होता ?

(३) चत्वारः, केषाम्, प्रशान्त्सु, चतुर्णाम्, अयम्, अनयोः, अस्मै, एषु—इन सूत्रों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करो ।

(४) 'अनाप्यकः, दश्च, शरोऽचि, रषाभ्यां नो णः समानपदे, आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्रों की व्याख्या करें ।

—•:❀:•—

अब नकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन करते हैं—

[लघु०] राजा ।

राजन् = राजा ('राजृ दीप्तौ' इत्यस्मात् 'कनिन् युवृषि—' इत्यौणादिके कनिनि साधुः) ।

'राजन् + स्' (सुँ) यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) सूत्र से सुलोप तथा 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ युगपत् प्राप्त होते हैं । परन्तु परत्व के कारण प्रथम उपधादीर्घ हो कर पश्चात् सुलोप हो जाता है—राजान् + स् = राजान् । अब 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो कर 'राजा' रूप सिद्ध होता है ।

'राजन् + औ' यहां 'सर्वनामस्थाने—' (१७७) से उपधादीर्घ हो कर 'राजानौ'

बनता है। इसी प्रकार आगे भी सर्वनामस्थानों में उपधादीर्घ हो जाता है—राजानः, राजानम्, राजानौ।

हे राजन्+सु। यहां 'एकवचनं सम्बुद्धिः' (१३२) से 'सुँ' की सम्बुद्धि सञ्ज्ञा है, अतः 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ नहीं होता। 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सुँलोप हो कर 'हे राजन्!' हुआ। अब यहां 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप प्राप्त होता है, परन्तु यह अनिष्ट है। अतः इस का अग्रिम-सूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—२८१ न ङिसम्बुद्ध्योः।८।२।८॥

नस्य लोपो न, ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्!।

अर्थः—ङि अथवा सम्बुद्धि परे होने पर नकार का लोप नहीं होता।

व्याख्या—न।६।१। लोपः।१।१। ['न लोपः—' से] न इत्यव्ययपदम्। ङि-सम्बुद्ध्योः।७।२। समासः—ङिश्च सम्बुद्धिश्च = ङिसम्बुद्धी, तयोः=ङिसम्बुद्ध्योः, इतरेतर-द्वन्द्वः। अर्थः—(ङिसम्बुद्ध्योः) ङि अथवा सम्बुद्धि परे हो तो (न) नकार का (लोपः) लोप (न) नहीं होता*।

'हे राजन्' यहां सम्बुद्धि का लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण परिभाषा द्वारा सम्बुद्धि को मान कर नकारलोप का निषेध हो जाता है। हे राजन्!। हे राजानौ!। हे राजानः!।

[लघु०] वा०—(२५) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः।

ब्रह्मनिष्ठः।

अर्थः—उत्तरपदपरक 'ङि' के परे होने पर 'न ङिसम्बुद्ध्योः' सूत्र का निषेध कहना चाहिये।

व्याख्या—ङौ।७।१। उत्तरपदे।७।१। प्रतिषेधः।१।१। वक्तव्यः।१।१। अर्थः—(उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (ङौ) जो ङि, उस के परे होने पर (प्रतिषेधः) निषेध (वक्तव्यः) कहना चाहिये। किस का निषेध कहना चाहिये? इस का उत्तर यह है कि जिस सूत्र पर जो वार्त्तिक पढ़ा जाता है वह तत्सूत्रविषयक समझा जाता है। यहां यह वार्त्तिक 'न ङिसम्बुद्ध्योः' सूत्र पर पढ़ा गया है अतः यह 'न ङिसम्बुद्ध्योः' द्वारा प्राप्त नकार लोप के निषेध का ही निषेध करेगा।×

---

* ङि का उदाहरण वेद में आता है—परमे व्योमन् (ऋ० १. १६४. ३९)

× यदि 'ङावुत्तरपदेऽप्रतिषेधो वक्तव्यः' कहीं पाठ मिले तो उस का भाव यह होगा कि 'न ङिसम्बुद्ध्योः' वाले निषेध को मत करो अर्थात् वहां पर 'न' का लोप कर दो।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि व्याकरण में समास के अन्तिम पद को उत्तरपद तथा आदिम पद को पूर्वपद कहते हैं। यथा—राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः। यहां 'राजन्' यह षष्ठ्यन्त पूर्वपद तथा 'पुरुषः' यह प्रथमान्त उत्तरपद है।

ब्रह्मनिष्ठः। ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठः। ब्रह्म में स्थिति या विश्राम रखने वाला 'ब्रह्मनिष्ठ' कहाता है। 'ब्रह्मन्ङि निष्ठा सुँ' यहां बहुव्रीहिसमास में 'सुपो धातु—' (७२१) सूत्र से नकार का लोप प्राप्त होता है, परन्तु 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (२८१) सूत्र उस लोप का निषेध कर देता है क्योंकि प्रत्ययलक्षणपरिभाषा से 'ङि' परे स्थित है। अब 'ङावुत्तरपदे—' वार्त्तिक से उस निषेध का निषेध हो कर पुनः 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) से नकारलोप हो जाता है। यहां 'ङि' से परे 'निष्ठा' यह उत्तरपद विद्यमान है। 'ब्रह्मनिष्ठा' ऐसा होने पर 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (९५२) सूत्र द्वारा ह्रस्व हो कर विभक्ति लाने से 'ब्रह्मनिष्ठः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—'आत्मविश्रामः, चर्मतिलः' आदि प्रयोग जानने चाहियें।

'राजन्+अस्' (शस्) यहां 'अल्लोपोऽनः' (२४७) सूत्र से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर—'राज्न् + अस्' हुआ। अब 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) सूत्र से नकार को ञकार करने पर—राज्ञ् + अस्='राज्ञः' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—'ज्ञ' यह संयुक्त व्यञ्जन है। ज् और ञ् के संयोग से इस की निष्पत्ति होती है। लिखने की सुविधा के लिये इस का ऐसा स्वरूप माना गया प्रतीत होता है। 'ज्ञ' को पृथक् वर्ण मान कर इस का 'ग्य' वा 'ज्य, ग्न, ज्न' आदि उच्चारण करना नितान्त अशुद्ध और शास्त्रविरुद्ध है। यदि यह अपूर्व वर्ण बन जाता तो शिक्षाकार इस के उच्चारण का भी कहीं निर्देश करते; परन्तु उन्हों ने ऐसा कहीं नहीं किया। इस को अपूर्व वर्ण मानने से 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) द्वारा श्चुत्व भी न हो सकेगा। यथा—'तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्' 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' 'यज्ज्ञात्वा मुच्यतेऽशुभात्' इत्यादि। सिद्धान्तकौमुदी के 'जज्ञोर्ज्ञः' पर शेखरकार का वक्तव्य भी द्रष्टव्य है—"जञयोगे लोकवेदसिद्धतादृशध्वनेर्लिपिविशेषस्य चानुवादकमभियुक्तवचनं न त्विदं वर्णान्तरम्, शिक्षादावपरिगणितत्वेन तत्सत्त्वे मानाभावात्। अत एव 'तज्ज्ञानम्' इत्यादौ श्चुत्वसिद्धिः"। किञ्च यदि इस का उच्चारण 'ग्य' आदि होता तो प्राकृत में—मणोज्ज (मनोज्ञ), जण्ण (यज्ञ), अहिज्जो (अभिज्ञ), सव्वज्जो (सर्वज्ञ) इत्यादियों में इस प्रकार आदि में जकार व णकार न होता। अतः 'ज्ञ' कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'क्ष' के विषय में भी समझना चाहिये। यह भी 'क्+ष' के संयोग से उत्पन्न होता है।

राजन्+आ (टा) भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर श्चुत्व करने से—राज् ञ्+आ='राज्ञा' प्रयोग सिद्ध होता है।

'राजन् + भ्याम्' इस स्थिति में 'न लोपः—' (१८०) से पदान्त नकार का लोप हो जाता है। तब 'राज + भ्याम्' इस अवस्था में 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—२८२ नलोपः सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिषु कृति। ८।२।२॥

सुब्विधौ स्वरविधौ सञ्ज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र 'राजाश्व' इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वाद् आत्वमेत्वमैस्त्वं च न। राजभ्याम्। राजभिः। राजभ्यः २। राजनि, राज्ञि। राजसु।

अर्थः—सुब्विधि, स्वरविधि, सञ्ज्ञाविधि तथा कृत्प्रत्ययपरक तुग्विधि करने में ही नकार का लोप असिद्ध होता है अन्यत्र नहीं। यथा—'राजाश्वः' इत्यादियों में असिद्ध नहीं होता। इस सूत्र से यहां नकारलोप के असिद्ध होने से आ-भाव, ए-भाव, ऐस्-भाव नहीं होता।

व्याख्या—नलोपः।१।१। सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिषु।७।३। कृति।७।१। असिद्धः।१।१। ['पूर्वत्राऽसिद्धम्' से लिङ्गविपरिणाम कर के] समासः—नस्य लोपः = नलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। सुप् च स्वरश्च सञ्ज्ञा च तुक् च = सुप्स्वरसञ्ज्ञातुकः, इतरेतरद्वन्द्वः। तेषां विधयः = सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधयः, तेषु = सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिषु, षष्ठीतत्पुरुषः। विधिशब्दोऽत्र भावसाधनः। विधानं विधिः। यहां सुबादिगत शेषषष्ठी के साथ विधिशब्द का समास हुआ जानना चाहिये। सुब्विधिः—सुपो विधिः। यहां शेष में षष्ठी होने के कारण 'सुप्सम्बन्धी विधि' ऐसा अर्थ हो जाता है। सुप्सम्बन्धी विधि दो प्रकार की हो सकती है; एक तो सुप् के स्थान पर, यथा—राजभिः। यहां 'अतो भिस ऐस्' (१४२) सूत्र से भिस्-सुप् के स्थान पर ऐस् प्राप्त होता है। दूसरी सुप् परे होने पर, यथा—राजभ्याम्, राजभ्यः। यहां सुप् परे होने पर आत्व तथा एत्व प्राप्त होता है। स्वरविधिः=स्वरस्य विधिः। यहां स्वर कर्म में शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी विभक्ति हुई है। 'स्वर को विधान करना' यह अर्थ यहां अभिप्रेत है। सञ्ज्ञाविधिः=सञ्ज्ञाया विधिः। यहां भी कर्म में शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी विभक्ति हुई है। 'सञ्ज्ञा को विधान करना' यह अर्थ यहां अभिप्रेत है। तुग्विधिः= तुको विधिः। यहां भी तुक्-कर्म में शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी विभक्ति जाननी चाहिये। 'कृति' यह 'तुग्विधि' के साथ ही सम्बन्ध रखता है, असम्भव होने से अन्यों के साथ नहीं।

अतः 'कृत् परे होने पर तुक् का विधान करना' यह अर्थ निष्पन्न होता है। अर्थः—(सुप्स्वर-सञ्ज्ञातुग्विधिषु) सुप्सम्बन्धी विधान, स्वरविधान, सञ्ज्ञाविधान तथा कृत प्रत्यय परे होने पर तुग्विधान करने में (नलोपः) नकार का लोप (असिद्धः) असिद्ध होता है।

ये जितनी विधियां गिनाई गई हैं सब सवा सात अध्यायों में स्थित हैं। अतः इन विधियों के प्रति नकार का लोप त्रिपादीस्थ होने से ही 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) द्वारा असिद्ध है, पुनः यहां इन विधियों में नकारलोप को असिद्ध कहना नियमार्थ है—'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः'। अर्थात् इन विधियों में ही नकार का लोप असिद्ध हो अन्य विधियों में न हो। यथा—राज्ञोऽश्वः = राजाश्वः। 'राजन् ङस् अश्व सुँ' यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास में 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' (७२१) सूत्र से ङस् और सुँ का लुक् हो—राजन् अश्व। 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो—राज अश्व। अब यहां नलोप के असिद्ध होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ नहीं हो सकता। पुनः इस उपर्युक्त नियम से नकारलोप के सिद्ध हो जाने से वह हो जाता है। तो इस प्रकार—'राजाश्वः' रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार—दण्डयश्वः, योग्यात्मा, मन्त्र्याज्ञा आदि प्रयोगों में नकारलोप के सिद्ध होने से यण्, 'राजेश्वरः' आदि प्रयोगों में गुण, तथा 'राजीयति, राजायते' में क्रमशः 'क्यचि च' (७२२) से ईत्व और 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (४८३) से दीर्घ हो जाता है। इस सूत्र का यही प्रयोजन है।

'राज + भ्याम्' यहां 'सुपि च' (१४१) से आत्व, 'राज+भिस्' यहां 'अतो भिस ऐस्' (१४२) से भिस् को ऐस्, 'राज + भ्यस्' यहां 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) से एत्व ये सुब्विधियां प्राप्त होती हैं। इन के प्रति नकारलोप असिद्ध ही है अतः इन में से कोई भी कार्य न होगा। राजभ्याम्, राजभिः, राजभ्यः।

राजन्+इ (ङि)। यहां 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) सूत्र से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है। लोपपक्ष में श्चुत्व हो कर—'राज्ञि'। लोपाभाव में—'राजनि'। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	राजा	राजानौ	राजानः	पं०	राज्ञः	राजभ्याम्	राजभ्यः
द्वि०	राजानम्	,,	राज्ञः	ष०	,,	राज्ञोः	राज्ञाम्
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः	स०	राज्ञि, राजनि	,,	राजसु
च०	राज्ञे	,,	राजभ्यः	सं०	हे राजन्!	हे राजानौ!	हे राजानः!

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप होते हैं—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अकिञ्चनिमन्	= आकिञ्चन्य, निर्धनता	३ आशिमन्	= आशुता, शीघ्रता
२ अणिमन्	= अणुत्व, अणुपन	४ ऋजिमन्	= आर्जव, सरलता

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
५ कालिमन्	= कालत्व, कृष्णता	१६ भूमन्	= बहुत्व, बहुतायत
६ क्षेपिमन्	= क्षिप्रत्व, शीघ्रता	१७ महिमन्	= महत्त्व, बड़प्पन
७ क्षोदिमन्	= क्षुद्रत्व, क्षुद्रता	१८ लघिमन्	= लघुत्व, हलकापन
८ खण्डिमन्	= खण्डत्व, टुकड़ापन	१९ वरिमन्	= उरुत्व, महत्ता
९ गरिमन्	= गुरुत्व, भारीपन	२० वर्षिमन्	= वृद्धत्व, बुढ़ापा
१० चारिमन्	= चारुत्व, सुन्दरता	२१ वृषिमन्	= वृषत्व, वीर्यवत्ता
११ तनिमन्	= तनुत्व, पतलापन	२२ साधिमन्	= साधुत्व, सज्जनता
१२ नेदिमन्	= अन्तकत्व, निकटता	२३ स्वादिमन्	= स्वादुत्व, स्वादुपन
१३ पटिमन्	= पटुत्व, पटुता	२४ ह्रसिमन्*	= ह्रस्वत्व, छुटप्पन
१४ पाण्डिमन्	= पाण्डुत्व, पीलापन		एवम्—ब्रह्मन्—मूर्धन्—वृषन्,
१५ प्रेमन्	= प्रियत्व, प्यार, स्नेह		अश्वत्थामन् आदि ।

[लघु०] यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः ।

व्याख्या—'यज्' (भ्वा० उभ०) धातु से 'सुयजोर्ङ्वनिप्' (३।२।१०३) सूत्र द्वारा भूतकालिक 'ङ्वनिप्' प्रत्यय हो कर 'यज्वन्' शब्द सिद्ध होता है । इष्टवान् इति यज्वा, जो यज्ञ कर चुका है वह 'यज्वन्' कहाता है ।

'यज्वन्' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'राजन्' शब्दवत् होती है; केवल भसञ्ज्ञकों में 'अल्लोपोऽनः' (२४७) सूत्र द्वारा प्राप्त अत् के लोप का निषेध हो जाता है । तथाहि—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—२८३ न संयोगाद्वमन्तात् ।६।४।१३७॥

वमन्तसंयोगादनोऽकारस्य लोपो न । यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्याम् । ब्रह्मणः । ब्रह्मणा ।

अर्थः—वकारान्त और मकारान्त संयोग से परे अन् के अकार का लोप नहीं होता ।

व्याख्या—वमन्तात् ।५।१। संयोगात् ।५।१। अनः ।६।१। अल्लोपः ।१।१। ['अल्लोपोऽनः' से] न इत्यव्ययपदम् । समासः—वश्च म् च=वमौ, इतरेतरद्वन्द्वः । वकारादकार उच्चारणार्थः । वमौ अन्तौ यस्य स वमन्तः, तस्मात्=वमन्तात्, बहुव्रीहि-

* ये सब शब्द 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (११५२) द्वारा इमनिच् प्रत्यय करने से निष्पन्न होते हैं । इमनिच्प्रत्ययान्त सब शब्द पुंल्लिङ्ग हुआ करते हैं । केवल 'प्रेमन्' शब्द ही कहीं २ नपुंसक में प्रयुक्त होता है ।

समासः। अर्थः—(वमन्तात्) वकारान्त और मकारान्त (संयोगात्) संयोग से परे (अन:) अन् के (अल्लोपः) अकार का लोप (न) नहीं होता।

'यज्वन् + अस् (शस्)' यहां 'यज्व्-अन्' शब्द में 'ज्व्' यह वकारान्त संयोगान्त है अतः इस से परे अन् के अकार का लोप न हुआ—'यज्वनः' सिद्ध हुआ। एवम् आगे भी भसञ्ज्ञकों में समझ लेना चाहिए। रूपमाला यथा—

प्र०	यज्वा	यज्वानौ	यज्वानः	प०	यज्वनः	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
द्वि०	यज्वानम्	,,	यज्वनः	ष०	,,	यज्वनोः	यज्वनाम्
तृ०	यज्वना	यज्वभ्याम्	यज्वभिः	स०	यज्वनि	,,	यज्वसु
च०	यज्वने	,,	यज्वभ्यः	सं०	हे यज्वन्!	हे यज्वानौ!	हे यज्वानः!

मकारान्त संयोग का उदाहरण 'ब्रह्मन्' है। ब्रह्मा अथवा ब्राह्मण को 'ब्रह्मन्' कहते हैं। 'ब्रह्मन् + अस्' (शस्) यहां 'ब्रह्म्-अन्' शब्द में 'ह्म्' यह मकारान्त संयोग है अतः इस से परे भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप न हुआ—'ब्रह्मणः'। रूपमाला यथा—

प्र०	ब्रह्मा	ब्रह्माणौ	ब्रह्माणः	प०	ब्रह्मणः	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभ्यः
द्वि०	ब्रह्माणम्	,,	ब्रह्मणः	ष०	,,	ब्रह्मणोः	ब्रह्मणाम्
तृ०	ब्रह्मणा	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभिः	स०	ब्रह्मणि	,,	ब्रह्मसु
च०	ब्रह्मणे	,,	ब्रह्मभ्यः	सं०	हे ब्रह्मन्!	हे ब्रह्माणौ!	हे ब्रह्माणः!

इसी प्रकार—१. आत्मन् (आत्मा) । २ अश्मन् (पत्थर) । ३. पुष्पधन्वन् (कामदेव) । ४. शार्ङ्गधन्वन् (विष्णु) । ५. सुपर्वन् (बाण, देवता) । ६. अनर्वन् (शत्रुरहित) । ७. कृष्णवर्त्मन् (अग्नि) । ८. मातरिश्वन् (वायु) । ९. सुधर्मन् (देवसभा) । १०. अकृष्णकर्मन् (शुभ कर्मों वाला) । ११. अग्रजन्मन् (बड़ा भाई, ब्राह्मण) । १२. अनन्तात्मन् (परमात्मा) । १३. अस्थिधन्वन् (शिव) । १४. अनुजन्मन् (छोटा भाई) । १५. अदृष्टकर्मन् (अनभ्यासी) । १६. अनात्मन् जो पदार्थ आत्मा नहीं—शरीर आदि) । १७. शक्मन् (कर्म, निघण्टु—२।१।) । १८. परिज्मन् (चन्द्रमा अथवा अग्नि, अथवा चारों तरफ जाने वाला) । १९. सुशर्मन् (प्राचीनकाल का एक राजा, अच्छी तरह सुखी) । २०. शतधन्वन् (प्राचीनकाल का एक राजा)—इत्यादि शब्दों के रूप होते हैं।

वृत्रहन्=इन्द्र।

[वृत्रं हतवान् इति वृत्रहा। 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' (३.२.८७) इति भूते कर्तरि क्विप्]

वृत्रहन् + स् (सुँ) । यहां 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) द्वारा नान्त की उपधा को दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—२८४ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ।६।४।१२॥

एषां शावेवोपधाया दीर्घो नान्यत्र । इति निषेधे प्राप्ते—

अर्थः—इन्नन्त, हन्शब्दान्त, पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त अङ्गों को शि परे होने पर ही दीर्घ हो अन्यत्र न हो । इससे निषेध प्राप्त होने पर (अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है ।)

व्याख्या—इन्हन्पूषार्यम्णाम् ।६।३। अङ्गानाम् ।६।३। ['अङ्गस्य' इस अधिकृति का वचनविपरिणाम हो जाता है ।] शौ ।७।१। उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] । 'अङ्गानाम्' के विशेषण होने से 'इन्हन्पूषार्यम्णाम्' से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(इन्हन्पूषार्यम्णाम्) इन्नन्त, हन्नन्त, पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (शौ) शि परे होने पर ।

नपुंसकलिंग में 'शि' की 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) सूत्र द्वारा सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा होती है, अतः उस के परे होने पर सूत्र में गिनाये सब शब्दों की उपधा को सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से दीर्घ हो सकता है । पुनः इस सूत्र द्वारा दीर्घविधान 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार नियमार्थ है । अर्थात्——"इनकी उपधा को यदि दीर्घ हो तो 'शि' परे होने पर ही हो अन्यत्र न हो" यह नियम फलित होता है ।

'वृत्रहन्+स्' यहां हन्शब्दान्त से परे 'सुँ' वर्त्तमान है 'शि' नहीं, अतः प्रकृतनियम से यहाँ दीर्घ प्राप्त नहीं हो सकता । इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२८५ सौ च ।६।४।१३॥

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ परे । वृत्रहा । हे वृत्रहन् ! ।

अर्थः—इन्नन्त आदि अङ्गों की उपधा को दीर्घ हो, सम्बुद्धि-भिन्न सुँ परे होने पर ।

व्याख्या—इन्हन्पूषार्यम्णाम् ।६।३। ['इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' से] अङ्गानाम् ।६।३। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है] उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। ['सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से] सौ ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे होने पर (इन्हन्पूषार्यम्णाम्) इन्नन्त, हन्नन्त, पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है । पूर्वसूत्र के नियम

से 'सुँ' में दीर्घ नहीं हो सकता था; अब इससे 'सुँ' में हो जाता है। शेष 'शि' भिन्न सर्वनामस्थान में पूर्वनियमानुसार निषेध ही रहेगा।

'वृत्रहन्+स्' यहां प्रकृतसूत्र से दीर्घ हो जाता है—वृत्रहान्+स्। अब 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकारलोप तथा 'न लोपः—' (१८०) से नकार का लोप होकर 'वृत्रहा' प्रयोग सिद्ध होता है।

'वृत्रहन्+औ' यहां प्राप्त उपधादीर्घ का 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (२८४) सूत्र से निषेध हो जाता है। 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से णत्व भी नहीं हो सकता क्योंकि समानपद नहीं है। अतः णत्व करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२८६ एकाजुत्तरपदे णः ।८।४।१२॥

एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य णः स्यात्। वृत्रहणौ।

अर्थः—एक अच् है उत्तरपद में जिस के, ऐसे समास में पूर्वपद में ठहरे निमित्त (ऋ, र्, ष्) से परे प्रातिपदिकान्त, नुम् तथा विभक्ति में स्थित नकार को णकार हो जाता है।

व्याख्या—एकाजुत्तरपदे ।७।१। पूर्वपदाभ्याम् ।५।२। ['पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः' से] रषाभ्याम् ।५।२। नः ।६।१। णः ।१।१। ['रषाभ्यां नो णः समानपदे' से] प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु ।७।३। ['प्रातिपदिकान्त—' से] समासः—एकोऽच् यस्मिन् तद् एकाच्, बहुव्रीहिसमासः। एकाच् उत्तरपदं यस्य स एकाजुत्तरपदः (समासः), तस्मिन् = एकाजुत्तरपदे, बहुव्रीहिसमासः। पूर्वं पदं ययोस्तौ पूर्वपदौ (रषौ), ताभ्याम् = पूर्वपदाभ्याम् (रषाभ्याम्), बहुव्रीहिसमासः। प्रातिपदिकस्य अन्तः = प्रातिपदिकान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः। प्रातिपदिकान्तश्च नुम् च विभक्तिश्च = प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तयः, तेषु = प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(एकाजुत्तरपदे) जिस समास में उत्तरपद एक अच् वाला हो उस समास में (पूर्वपदाभ्याम्) पूर्वपद वाले (रषाभ्याम्) रेफ षकार से परे (प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु) प्रातिपदिक के अन्त में, नुम् में, तथा विभक्ति में स्थित (नः) नकार के स्थान पर (णः) णकार हो जाता है।

'वृत्रहन्+औ' यहां उपपदसमास में 'वृत्र' यह पूर्वपद तथा 'हन्' यह उत्तरपद है। उत्तरपद 'हन्' एक अच् वाला है। पूर्वपद में तकरोत्तर रेफ भी विद्यमान है अतः उससे परे प्रातिपदिक के अन्त में स्थित नकार को णकार हो कर 'वृत्रहणौ' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे सर्वनामस्थानों में—'वृत्रहणः, वृत्रहणम्, वृत्रहणौ' रूप बनते हैं।

'वृत्रहन + अस्' (शस्) यहां 'एकाजुत्तरपदे णः' (८.४.१२) के असिद्ध होने से 'अल्लोपोऽनः' (६.४.१३४) द्वारा अन् के अकार का लोप हो जाता है। 'वृत्रहन् + अस्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२८७ हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ।७।३।५४॥

ञिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वं स्यात् । वृत्रघ्नः । इत्यादि । एवं शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन्, पूषन् ।

अर्थः—ञित् णित् प्रत्यय परे होने पर अथवा नकार परे होने पर हन् धातु के हकार को कवर्ग (घकार) आदेश हो जाता है।

व्याख्या—हन्तेः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] हः ।६।१। ञ्णिन्नेषु ।७।३। कुः ।१।१। ['चजोः कु···' से] समासः—ञ् च ण् च = ञ्णौ, इतरेतरद्वन्द्वः । ञ्णौ इतौ ययोस्तौ = ञ्णितौ (अङ्गाधिकारत्वात्प्रत्ययौ), बहुव्रीहिसमासः । ञ्णितौ च नश्च = ञ्णिन्नास्तेषु = ञ्णिन्नेषु, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(ञ्णिन्नेषु) ञित् णित् प्रत्यय तथा नकार परे होने पर (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (हन्तेः) हन् धातु के (हः) हकार के स्थान पर (कुः) कवर्ग आदेश हो जाता है। हकार का—संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण यत्न है; कवर्गों में तत्सदृश केवल घकार ही है, अतः हकार के स्थान पर घकार ही कवर्ग आदेश होगा। †

'वृत्रहन् + अस्' यहां नकार परे है अतः प्रकृतसूत्र से हकार को कवर्ग-घकार आदेश हो कर 'वृत्रघ्नः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भसञ्ज्ञकों में जब 'अल्लोपोऽनः' (२४७) से अन् के अकार का लोप हो जाता है तब नकार परे होने से हकार को घकार हो जाता है। यथा—टा में—'वृत्रघ्ना' ङे में—'वृत्रघ्ने', ङसिँ और ङस् में—'वृत्रघ्नः' ओस् में 'वृत्रघ्नोः', आम् में—'वृत्रघ्नाम्,' रूप बनते हैं। ङि में 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) द्वारा अन् के अकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है अतः लोपपक्ष में नकार परे रहने से 'वृत्रघ्नि' और लोपाभाव में नकार परे न होने के कारण 'वृत्रहणि' रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	वृत्रहा	वृत्रहणौ	वृत्रहणः	प०	वृत्रघ्नः	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः
द्वि०	वृत्रहणम्	,,	वृत्रघ्नः	ष०	,,	वृत्रघ्नोः	वृत्रघ्नाम्
तृ०	वृत्रघ्ना	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभिः	स०	वृत्रहणि, वृत्रघ्नि	,,	वृत्रहसु
च०	वृत्रघ्ने	,,	वृत्रहभ्यः	सं०	हे वृत्रहन्!	हे वृत्रहणौ!	हे वृत्रहणः!

† ञित् के उदाहरण 'घातः' आदि तथा णित् के उदाहरण 'जघान' आदि आगे आयेंगे।

इसी प्रकार—ब्रह्महन्, भ्रूणहन शब्दों के उच्चारण होते हैं।

शार्ङ्गिन् = विष्णु।

[शार्ङ्गम् = शृङ्गनिर्मितं धनुरस्यास्तीति शार्ङ्गी। 'अत इनिठनौ' इतीनिप्रत्ययः।]

प्र०	शार्ङ्गी❀	शार्ङ्गिणौ‡	शार्ङ्गिणः
द्वि०	शार्ङ्गिणम्	,,	,,
तृ०	शार्ङ्गिणा	शार्ङ्गिभ्याम्	शार्ङ्गिभिः
च०	शार्ङ्गिणे	,,	शार्ङ्गिभ्यः
प०	शार्ङ्गिणः	शार्ङ्गिभ्याम्	शार्ङ्गिभ्यः
ष०	,,	शार्ङ्गिणोः	शार्ङ्गिणाम्
स०	शार्ङ्गिणि	,,	शार्ङ्गिषु÷
सं०	हे शार्ङ्गिन्!	हे शार्ङ्गिणौ!	हे शार्ङ्गिणः!

❀ यहां 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (२८४) इस नियम से उपधादीर्घ के निषेध हो जाने पर 'सौ च' (२८५) सूत्र से दीर्घ हो जाता है। सकार और नकार का लोप पूर्ववत् होता है।

‡ 'शार्ङ्गिणौ' आदियों में 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से णत्व हो जाता है। 'हे शार्ङ्गिन्!' में 'पदान्तस्य' (१३९) सूत्र द्वारा णत्वनिषेध होता है।

÷ 'शार्ङ्गिषु' में सुब्विधि न होने से नकार का लोप असिद्ध नहीं होता, अतः षत्व करने में बाधा नहीं होती।

इस प्रकार के उच्चारण वाले शब्द संस्कृतसाहित्य में बहुत हैं। कुछ का बालोपयोगि-संग्रह नीचे दिया जाता है। ❀ इस चिह्न वाले रूपों में णत्व जान लेना चाहिये।

	शब्द	अर्थ
१	अऋणिन्, अनृणिन्	= ऋणरहित
	अक्षदेविन्	= जुआरिया
	अग्रगामिन्	= आगे जाने वाला
५	अज्ञानिन्	= ज्ञानरहित, मूर्ख
	अतिशायिन्	= बढ़ा हुआ
	अधिकारिन्❀	= अधिकार वाला
	अधीतिन्†	= पढ़ा हुआ, विद्वान्
	अनुजीविन्	= सेवक
१०	अनुपकारिन्❀	उपकार न करने वाला
	अनुयायिन्	= पीछे चलने वाला, सेवक
	अनुविधायिन्	= आज्ञाकारी
	अन्तर्यामिन्❀	= सर्वव्यापक ब्रह्म
	अन्तेवासिन्	= शिष्य
१५	अभिघातिन्	= प्रहार करने वाला
	आगामिन्	= आगे आने वाला
	आततायिन्	= अग्नि आदि लगाने वाला
	आत्मघातिन्	= आत्महत्यारा
	उत्तराधिकारिन्❀	= जानशीन
२०	उपजीविन्	= नौकर
	उपयोगिन्	= उपयोगी
	ऊर्मिमालिन्	= समुद्र

† इस के योग में पूर्व में सप्तमी होती है—व्याकरणे अधीती।

शब्द	अर्थ
एकाकिन्	= अकेला
कञ्चुकिन्	= रनवास में रहने वाला वृद्ध पुरुष
२५ कपटिन्	= कपटी, छली
कपालिन्	= महादेव
करटिन्	= हाथी
करिन्❀	= हाथी
कलापिन्	= मोर
३० कामिन्	= कामी
किरणमालिन्	= सूर्य
कुण्डलिन्	= सांप
कूटसाक्षिन्❀	= झूठा गवाह
कृतिन्	= पण्डित
३५ केशरिन्❀	= शेर
क्रान्तदर्शिन्	= अतीतद्रष्टा
क्रोधिन	= क्रोधी
क्षणविध्वंसिन्	= क्षणिक
क्षेत्रिन्❀	= खेत वाला
४० क्षेमिन्	= सुखी
खड्गिन्	= गेण्डा
गृहमेधिन्	= गृहस्थी
गृहिन्❀	= ,,
गृहीतिन्	= समझा हुआ, ज्ञानी
४५ घातिन्	= हिंसक
घोणिन्	= सूअर
चक्रवर्त्तिन्	= चक्रवर्त्ती राजा
चक्रिन्❀	= विष्णु व कुम्हार
जन्मिन्	= जन्म वाला, प्राणी
५० जम्भभेदिन्	= इन्द्र

शब्द	अर्थ
जितकाशिन्	= विजयी
ज्ञानिन्	= ज्ञानी
तपस्विन्	= तपस्वी
त्यागिन्	= त्यागी
५५ दंष्ट्रिन्❀	= सूअर
दण्डिन्	= डण्डे वाला
दन्तिन्	= हाथी
दीर्घदर्शिन्	= दीर्घदर्शी
दूरदर्शिन्	= दूरदर्शी
६० देहिन्	= जीवात्मा
द्वारिन्❀	= द्वारपाल
द्वीपिन्	= गेण्डा
धनिन्	= धनवान्
धारावाहिन्	= लगातार बहने वाला
६५ धारिन्❀	= धारा वाला
नयशालिन्	= नीतिज्ञ
निवासिन्	= रहने वाला
पक्षिन्❀	= पक्षी, परिन्दा
परदेशिन्	= विदेशी
७० परमेष्ठिन्	= ब्रह्मा
परिपन्थिन्	= शत्रु
पादचारिन्❀	= पैदल
पार्श्ववर्त्तिन्	= सेवक
पाशिन्	= शिकारी
७५ पाषण्डिन्	= पाखण्डी
पिनाकिन्	= शिव
पुष्करिन्❀	= हाथी
प्रकम्पिन्	= कांपने वाला
प्रणयिन्	= प्रेमी

शब्द	अर्थ
८० प्रतिवादिन्	= जवाब देने वाला, मुद्दालह
प्रतिवेशिन्	= हमसाया, पड़ोसी
प्रत्यर्थिन्	= शत्रु
प्रवासिन्	= परदेश गया हुआ
प्राणिन्	= प्राणी
८५ फणिन्	= फणों वाला सांप
फलिन्	= फलों वाला वृक्ष
बलशालिन्	= बलवान्
बलिध्वंसिन्	= विष्णु
बलिन्	= बलवान्
९० बुद्धिशालिन्	= बुद्धिमान्
ब्रह्मचारिन्❀	= ब्रह्मचारी
ब्रह्मवादिन्	= ब्रह्म की चर्चा करने वाला
भागिन्	= हिस्सेदार
भिक्षाशिन्	= भीख मांग कर खाने वाला भिक्षुक
९५ भोगिन्	= भोगी, सांप व राजा
मण्डलिन्	= सांप
मनस्विन्	= प्रशान्त मन वाला, समझदार
मनीषिन्❀	= मन से विचारने वाला बुद्धिमान्
मन्त्रिन्❀	= मन्त्री, वज़ीर
१०० मरीचिमालिन्	= सूर्य
मस्करिन्❀	= सन्न्यासी
मानिन्	= अभिमानी
मालिन्	= मालायुक्त
मुण्डिन्	= मुण्डे हुए सिर वाला

शब्द	अर्थ
१०५ मेधाविन्	= बुद्धिमान्
योगिन्	= योगी
रथारोहिन्❀	= रथ सवार
रूपधारिन्❀	= रूप को धारण करने वाला
रूपशालिन्	= सुन्दर
११० रोगिन्❀	= बीमार
लाङ्गलिन्	= बलराम
लिङ्गिन्	= साधु
लोभिन्	= लोभी
वनमालिन्	= श्रीकृष्ण
११५ वनवासिन्	= वन में रहने वाला
वशवर्त्तिन्	= वश में रहने वाला आज्ञाकारी
वशिन्	= वशीभूत, आज्ञाकारी
वाग्मिन्	= बोलने में चतुर
वादिन्	= वाद करने वाला
१२० विकाशिन्	= खिलने वाला
विटपिन्	= वृक्ष
वियोगिन्	= वियोग वाला, विरही
वीचिमालिन्	= समुद्र
वैरिन्❀	= वैर करने वाला, शत्रु
१२५ व्यभिचारिन्❀	= दुष्ट आचार वाला बदमाश
व्यवायिन्	= व्यभिचारी
व्यापिन्	= व्यापक
व्योमचारिन्❀	= आकाश में घूमने वाला, पक्षी
व्रतिन्	= व्रत वाला
१३० शमिन्	= शान्त

शब्द	अर्थ
शरीरिन्॥	= जीवात्मा
शास्त्रदर्शिन्	= शास्त्रों को जानने वाला
शास्त्रिन्॥	= शास्त्रज्ञ
शिखण्डिन्	= मोर
१३५शिखरिन्॥	= पर्वत
शिखिन्	= मोर
शिल्पिन्	= शिल्पी व कारीगर
शूरमानिन्	= अपने आप को शूर मानने वाला
शेषशायिन्	= विष्णु
१४०श्रमिन्॥	= मेहनती
श्रेष्ठिन्	= सेठ, धनवान्
संयमिन्	= संयमी
सङ्गिन्	= सङ्गी, साथी
सङ्ग्राहिन्॥	= कब्ज़ करने वाला पदार्थ
१४५सञ्चारिन्॥	= घूमने वाला
सत्यवादिन्	= सत्य बोलने वाला
सब्रह्मचारिन्॥	= सहपाठी, सहाध्यायी
समीक्ष्यकारिन्॥	= सोच समझ कर काम करने वाला
सहकारिन्॥	= सहयोग करने वाला
१५०सव्यसाचिन्	= अर्जुन
साक्षिन्॥	= गवाह
सादिन्	= घुड़सवार
स्वामिन्	= स्वामी, मालिक
हस्तिन्	= हाथी
१५५हितैषिन्॥	= हित चाहने वाला

—:०:—

सूचना—(क) इन्नन्तों के आम् में दीर्घ सर्वथा न लिखना चाहिये, सुँ में तो अवश्य करना चाहिये।

(ख) इन्नन्त शब्दों को यदि स्त्रीलिङ्ग में लाना हो तो इन से आगे 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (२३२) द्वारा ङीप् प्रत्यय किया जाता है। 'ङीप्' के अनुबन्धों का लोप हो 'ई' अवशिष्ट रहता है। यथा—योगिनी, भोगिनी, धनिनी आदि। तब इन का उच्चारण नदीशब्दवत् होता है।

(ग) हिन्दी में इन्नन्त शब्द प्रायः ईकारान्त हो जाया करते हैं। यथा—योगी, भोगी, धनी आदि।

पूषन्=सूर्य

[व्युत्पत्तिपक्षे 'श्वक्षुक्षन्···' (उणा० १५७) इत्युणादिसूत्रेण 'पूषँ वृद्धौ' (भ्वा० प०) इत्यस्माद्धातोः कनिन्प्रत्ययान्तो निपात्यते।]

प्र०	पूषा ‡	पूषणौ†	पूषणः	पं०	पूष्णः	पूषभ्याम्	पूषभ्यः
द्वि०	पूषणम्	,,	पूष्णः❀	ष०	,,	पूष्णोः	पूष्णाम्
तृ०	पूष्णा	पूषभ्याम्	पूषभिः	स०	पूष्णि पूषणि÷	,,	पूषसु
च०	पूष्णे	,,	पूषभ्यः	सं०	हे पूषन्!	हे पूषणौ!	हे पूषणः!

‡ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ, सौ च ।

† इत्यादौ तु इन्हन्निति नियमान्न दीर्घः । णत्वमत्र 'अट्कु···' सूत्रेण भवति । भसञ्ज्ञकेषु तु अल्लोपे कृते 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति णत्वं बोध्यम् ।

❀'अल्लोपोऽनः' (२४७) । ÷ 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) ।

अर्यमन्=सूर्य

[व्युत्पत्तिपक्षे 'श्वन्नुक्षन्—' (उणा० १५७) इत्युणादिसूत्रेण अर्योपपदाद् 'माङ् माने' (जुहो० आ०) इत्यस्माद्धातोः कनिन्प्रत्ययान्तो निपात्यते ।]

प्र०	अर्यमा	अर्यमणौ	अर्यमणः	पं०	अर्यम्णः	अर्यमभ्याम्	अर्यमभ्यः
द्वि०	अर्यमणम्	,,	अर्यम्णः	ष०	,,	अर्यम्णोः	अर्यम्णाम्
तृ०	अर्यम्णा	अर्यमभ्याम्	अर्यमभिः	स०	अर्यम्णि, अर्यमणि	,,	अर्यमसु
च०	अर्यम्णे	,,	अर्यमभ्यः	सं०	हे अर्यमन्!	हे अर्यमणौ!	हे अर्यमणः!

णत्व सर्वत्र 'अट्कु—' (१३८) सूत्र से होता है ।

यशस्विन्=यशस्वी—कीर्तिमान्

[यशोऽस्यास्तीति—यशस्वी, 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (११८९) इति मत्वर्थे विनिप्रत्ययः]

प्र०	यशस्वी	यशस्विनौ	यशस्विनः	पं०	यशस्विनः	यशस्विभ्याम्	यशस्विभ्यः
द्वि०	यशस्विनम्	,,	,,	ष०	,,	यशस्विनोः	यशस्विनाम्
तृ०	यशस्विना	यशस्विभ्याम्	यशस्विभिः	स०	यशस्विनि	,,	यशस्विषु
च०	यशस्विने	,,	यशस्विभ्यः	सं०	हे यशस्विन्!	हे यशस्विनौ!	हे यशस्विनः!

नोट—यहां 'यशस्विन्' में विन्प्रत्यय होने से 'इन्' अनर्थक तथा 'शार्ङ्गिन्' में इन्प्रत्यय होने से 'इन्' सार्थक है । "समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः" । सार्थक और अनर्थक के मध्य सार्थक का ही सर्वत्र ग्रहण किया जाता है; अतः इस के अनुसार 'यशस्विन्' आदि शब्दों में 'इन्हन्···' (२८४) तथा 'सौ च' (२८५) सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकते थे । परन्तु इस विषय की—"अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति" [जिन सूत्रों में अन्, इन्, अस्, मन् का ग्रहण हो वे सूत्र इनके सार्थक

अथवा अनर्थक होने पर भी एतदन्तों में प्रवृत्त हो जाते हैं † ।] इस परिभाषा से अनर्थक 'इन्' होने पर भी 'इन्हन् ·····' आदि सूत्रों की प्रवृत्ति हो जाती है । इस बात को जनाने के लिये ही ग्रन्थकार ने यहां 'यशस्विन्' यह इन् का दूसरा उदाहरण दिया है, अन्यथा 'शार्ङ्गिन्' यह उदाहरण तो वे दे ही चुके थे ।

मघवन्=इन्द्र

[व्युत्पत्तिपक्षे 'श्वन्नुक्षन्······' (उणा० १५७) इति सूत्रेण 'महँ पूजायाम्' (भ्वा० प०) इति धातोः कनिन्प्रत्ययो हस्य घो वुगागमश्च निपात्यते ।]

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२८८ मघवा बहुलम् ।६।४।१२८॥

'मघवन्' शब्दस्य वा तृँ इत्यन्तादेशः स्यात् । ऋ इत्* ।

अर्थः—मघवन् शब्द को विकल्प कर के 'तृँ' अन्तादेश हो । ऋकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है ।

व्याख्या—मघवा ।१।१। [यहां षष्ठीविभक्ति के अर्थ में प्रथमा विभक्ति जाननी चाहिये ।] बहुलम् ।१।१। तृँ ।१।१। ['अर्वणस्त्रसावनञः' से । यहां प्रथमा विभक्ति का लुक् जानना चाहिये] अर्थः—(मघवा) मघवन् शब्द के स्थान पर (बहुलम्) विकल्प कर के ‡ (तृँ) 'तृँ' यह आदेश हो ।

यद्यपि यह तृँ आदेश अनेकाल् होने से 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (४५) सूत्र द्वारा सम्पूर्ण 'मघवन्' शब्द के स्थान पर होना चाहिये; तथापि "नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्" (अनुबन्धों के कारण अनेकाल्ता नहीं माननी चाहिये) इस परिभाषा से इस के अनेकाल् न होने से सर्वादेश नहीं होता किन्तु अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्तादेश हो जाता है ।

'मघवतृँ' यहां ऋकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो कर 'मघवत्' शब्द बन जाता है । जिस पक्ष में तृँ आदेश नहीं होता उस पक्ष का विवेचन आगे करेंगे ।

---

† परिभाषोदाहरणानि यथा—राज्ञ इत्यत्र अन् अर्थवान्, दाम्न इत्यत्र तु अनर्थकः । शार्ङ्गी इत्यत्र इन् अर्थवान्, यशस्वी इत्यत्र तु अनर्थकः । सुपया इत्यत्र अस् अर्थवान्, स्रोता इत्यत्र तु अनर्थकः । असन्तत्वाद् दीर्घः । सुशर्मा इत्यत्र मन् अर्थवान्, सप्रथिमा इत्यत्र तु अनर्थकः । 'मन.' (४.१.११) इति न ङीप् ।

* यहां 'ऋ' यह विभक्तिरहित निर्दिष्ट किया गया है । प्रक्रियादशा में अविभक्तिक निर्देश करने में भी कोई दोष नहीं होता ।

‡ 'बहुलम्' पद केवल विकल्प के लिये ही नहीं है अपितु—'मघवान्' रूप में उपधादीर्घ करने पर संयोगान्तलोप असिद्ध न हो—इस के लिये भी समझना चाहिये ।

'मघवत्+स्' (सुँ) इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२८९ उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः। ७।१।७०॥

अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुमागमः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। मघवान्। मघवन्तौ। मघवन्तः। हे मघवन्!। मघवद्भ्याम्। तृत्वाभावे—मघवा। सुटि राजवत्।

अर्थः—सर्वनामस्थान परे होने पर धातुभिन्न उगित् को तथा जिस के नकार का लोप हो चुका हो ऐसी 'अञ्चु' धातु को नुम् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—उगिदचाम् ।६।३। सर्वनामस्थाने ।७।१। अधातोः ।६।१। नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] समासः—उक् इत् येषां ते=उगितः, बहुव्रीहिसमासः। उगितश्च अच् च=उगिदचः, तेषाम्=उगिदचाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। 'अच्' शब्देनेह लुप्तनकारस्य 'अञ्चु गतिपूजनयोः' (भ्वा० प०) इति धातोर्ग्रहणं भवति। न धातुः=अधातुस्तस्य=अधातोः, नञ्समासः। अधातोरिति उगितामेव विशेषणं सम्भवति न तु अञ्चतेरिति बोध्यम्। अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (अधातोः) धातु से भिन्न (उगिदचाम्) उक्-प्रत्याहार इत् वाले शब्दों का तथा नकार लुप्त हुई अञ्चु धातु का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है।

भावः—जिन शब्दों में उकार, ऋकार, ऌकार वर्णों की इत्सञ्ज्ञा होती है और यदि वे धातु नहीं तो सर्वनामस्थान परे होने पर उन को नुम् का आगम हो जाता है।

'मघवत्+स्' यहां तृँ के ऋकार की इत्सञ्ज्ञा हुई है अतः यह उगित् है, इस से परे 'सुँ' यह सर्वनामस्थान भी विद्यमान है। इसलिये 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) परिभाषा की सहायता से प्रकृतसूत्र से अन्त्य अच् से परे नुम् का आगम हो कर—मघवनुम् त्+स् ='मघवन् त्+स्' हुआ। अब 'हल्ङ्याब्भ्यः……' (१७९) से सकार तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से तकार का लोप हो कर—'मघवन्'। पुनः प्रत्ययलक्षण द्वारा सुँ को मान कर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ करने से 'मघवान्' रूप निष्पन्न होता है।

नोट—यहां 'संयोगान्तस्य लोपः' (८. २. २३) द्वारा किया लोप उपधा को दीर्घ करने में असिद्ध नहीं होता। इस का कारण 'मघवा बहुलम्' (२८८) सूत्र में 'बहुल' ग्रहण है। 'बहुल' ग्रहण का तात्पर्य यह होता है कि लोकप्रसिद्ध इष्टरूप में जितनी बाधाएं उपस्थित

होती हैं न हों। 'मघवान्' रूप लोक में प्रसिद्ध है यथा—"हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवाऽसौ" (भट्टि)। अतः इस की सिद्धि के अनुरूप उपधादीर्घ करने में संयोगान्तलोप असिद्ध नहीं होता। नकार का लोप भी इसी कारण नहीं होता। 'बहुल' शब्द पर विशेष विचार कृदन्तों में 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (७७२) सूत्र पर किया जायगा।

तृत्वपक्ष में रूपमाला यथा—

प्र०	मघवान्	मघवन्तौ ×	मघवन्तः	प०	मघवतः	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः
द्वि०	मघवन्तम्	,,	मघवतः	ष०	,,	मघवतोः	मघवताम्
तृ०	मघवता	मघवद्भ्याम्‡	मघवद्भिः	स०	मघवति	,,	मघवत्सु
च०	मघवते	,,	मघवद्भ्यः	सं०	हे मघवन्!†	हे मघवन्तौ!	हे मघवन्तः!

× यहां इतना विशेष है कि नुम् का आगम होकर 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) सूत्र से अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण—नकार हो जाता है।

‡ इत्यादियों में 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व-दकार हो जाता है।

† यहां नुम् का आगम हो कर संयोगान्तलोप हो जाता है। सम्बुद्धि परे होने से 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) द्वारा उपधादीर्घ नहीं होता। नकारलोप का निषेध पूर्ववत् 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (२८१) द्वारा हो जाता है।

तृत्व के अभाव में—

जहां तृ आदेश नहीं होता वहां सुट् अर्थात् सर्वनामस्थान तक तो 'राजन्' शब्दवत् रूप बनते हैं। मघवा, मघवानौ, मघवानः, मघवानम्, मघवानौ।

'मघवन् + अस्' (शस्) यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२९० श्वयुवमघोनामतद्धिते* ।६।४।१३३॥

अन्नन्तानां भसञ्ज्ञकानाम् एषाम् अतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात्। मघोनः। मघवभ्याम्। एवं श्वन्, युवन्।

* इस सूत्र पर एक सुभाषित अत्यन्त प्रसिद्ध है—

प्रश्नः— "काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे,
ग्रथ्नासि बाले! किमिदं विचित्रम्।
उत्तरम्— विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे,
श्वानं युवानं मघवानमाह ॥" (सुभाषितम्)

माला गूंथती हुई किसी बाला से प्रश्न किया गया कि तुम कांच, मणि और सोने को एक—

अर्थः—'अन्' शब्द जिन के अन्त में है ऐसे भसञ्ज्ञक श्वन्, युवन्, मघवन् शब्दों को तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण हो जाता है।

व्याख्या—अनाम् ।६।३। ['अल्लोपोऽनः' सूत्र से वचनविपरिणाम करके ।] भानाम् ।६।३। ['भस्य' इस अधिकार का वचनविपरिणाम हो जाता है] श्वयुवमघोनाम् ।६।३। सम्प्रसारणम् ।१।१। ['वसोः सम्प्रसारणम्' से] अतद्धिते ।७।१। समासः—श्वा च युवा च मघवा च = श्वयुवमघवानः, तेषाम् = श्वयुवमघोनाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । न तद्धितः= अतद्धितस्तस्मिन्=अतद्धिते, नञ्समासः । यहां पर्युदास प्रतिषेध होने से तद्धित से भिन्न तत्सदृश अर्थात् प्रत्यय का ग्रहण होता है । 'अनाम्' से तदन्तविधि होती है । अर्थः— (अनाम्) अन्नन्त (भानाम्) भसञ्ज्ञक (श्वयुवमघोनाम्) श्वन्, युवन्, तथा मघवन् शब्दों को (अतद्धिते) तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है ।

'मघवन् + अस्' यहां मघवन् शब्द अन्नन्त भी है, भसञ्ज्ञक भी है और इससे परे तद्धितभिन्न 'शस्' प्रत्यय भी विद्यमान है अतः 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (२५६) के अनुसार प्रकृतसूत्र से वकार को उकार सम्प्रसारण हो कर—'मघव उ अन् + अस्' । 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से उकार और अकार के स्थान पर पूर्वरूप उकार हो—'मघव उ न् + अस्' । अब 'आद् गुणः' (२७) सूत्र से गुण एकादेश करने पर—मघोन् + अस्=मघोनस्='मघोनः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार अन्य भसञ्ज्ञकों में भी जानना चाहिये । भ्याम् आदियों में राजन्शब्दवत् नकार का लोप हो जाता है—मघवभ्याम्, मघवभिः, मघवभ्यः । इस तृत्वाभावपक्ष में रूपमाला यथा—

प्र० मघवा	मघवानौ	मघवानः	पं० मघोनः	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
द्वि० मघवानम्	,,	मघोनः	ष० ,,	मघोनोः	मघोनाम्
तृ० मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः	स० मघोनि	,,	मघवसु
च० मघोने	,,	मघवभ्यः	सं० हे मघवन्!	हे मघवानौ!	हे मघवानः!

यद्यपि श्वन्, युवन् तथा मघवन् शब्द स्वयम् अन्नन्त ('अन्' अन्त वाले) हैं,

—ही सूत्र (तागे) में क्यों गूंथ रही हो ? । वह उत्तर देती है—विचारवान् पाणिनिमुनि ने भी तो एक सूत्र में कुत्ते, युवा और इन्द्र को घसीट मारा ।

अत्यन्त समुचित उत्तर है । जब पाणिनि जैसे बुद्धिमान् लोग भी असमान वस्तुओं को एक स्थान में बिठाते हैं तो मैं बाला (मूर्खा) ऐसा करूं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

वस्तुतः यह कोई काव्य नहीं कि सहचरभिन्नता' दोष हो । शब्दशास्त्र में ऐसी बात नहीं देखी जानी चाहिये । इस पद्य को कवि का विनोद समझना चाहिये ।

इनके लिये 'अनाम्' पद का अनुवर्त्तन करना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता; तथापि यदि यहां 'अनाम्' पद का अनुवर्त्तन न करते तो तृँ आदेश पक्ष में 'मघवतः, मघवतः' आदि रूपों में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' के न्यायानुसार 'मघवन्' शब्द समझ लिये जाने से सम्प्रसारण हो जाता जो कि अतीव अनिष्ट था। परन्तु अब 'अन्नन्त मघवन्' इस प्रकार के कथन से कुछ भी दोष नहीं होता, क्योंकि तृत्वपक्ष में अन्नन्त मघवन् नहीं किन्तु तान्त मघवन् है। यदि यहां कोई यह शंका करे कि एकदेशविकृतन्याय से इसे अन्नन्त भी मान लेंगे अतः आप का 'अनाम्' यह कथन दोषनिवृत्ति के लिये नहीं बन सकता तो उसका उत्तर यह है कि एकदेशविकृतन्याय लोकमूलक है। जैसे लोक में पुच्छकटे कुत्ते में कुत्ते का तो व्यवहार होता है परन्तु पूंछ के विषय में पूंछ का व्यवहार नहीं होता, इसी प्रकार यहां 'मघवत्' शब्द में 'मघवन्' शब्द का तो व्यवहार होता है परन्तु अन्नन्तत्व का व्यवहार नहीं होता अतः 'अनाम्' का अनुवर्त्तन करने से दोष निवृत्त हो जाता है।

'तद्धितभिन्न' कथन का यह अभिप्राय है कि माघवनम् [मघवा देवता अस्य हविषः तत्=माघवनम्। 'साऽस्य देवता' (१०३८) इति मघवन्शब्दादणि 'तद्धितेष्वचामादेः' (९३६) इत्यादिवृद्धौ विभक्त्युत्पत्तौ—'माघवनम्' इति सिध्यति।] यहां 'अण्' तद्धित के परे होने पर सम्प्रसारण आदेश न हो।

श्वन्=कुत्ता

यह शब्द व्युत्पत्तिपक्ष में 'श्वन्नुक्षन्...' (उणा० १५७) सूत्र द्वारा 'टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः' (भ्वा० प०) धातु से कनिन् प्रत्यय तथा इकारलोप करने पर निपातित हुआ है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	श्वा	श्वानौ	श्वानः	प० शुनः	श्वभ्याम्	श्वभ्यः
द्वि०	श्वानम्	,,	शुनः†	ष० ,,	शुनोः	शुनाम्
तृ०	शुना	श्वभ्याम्	श्वभिः	स० शुनि	,,	श्वसु
च०	शुने	,,	श्वभ्यः	सं० हे श्वन्!	हे श्वानौ!	हे श्वानः!

† 'श्वन्+अस्' (शस्) यहां 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' सूत्र से सम्प्रसारण हो—शु अन्+अस्। 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप हो—शुन्+अस्='शुनः'। इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में समझ लेना चाहिये।

युवन्=जवान, श्रेष्ठ

[व्युत्पत्तिपक्षे 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' (अदा० प०) इति धातोः 'कनिन् यु-वृषि तक्षि-राजि-धन्वि-द्यु-प्रतिदिवः' (उणा० १५४) इति सूत्रेण युवन्शब्दः सिध्यति।]

सर्वनामस्थानों में इसकी प्रक्रिया राजन्शब्दवत् होती है। युवा, युवानौ, युवानः, युवानम्, युवानौ।

'युवन्+अस्' (शस्) यहां 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (२६०) सूत्र से वकार को सम्प्रसारण-उकार हो जाता है—यु उ अन्+अस्। अब 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—'यून्+अस्' बन जाता है। अब इस स्थिति में 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (२६०) सूत्र से यकार को भी इकार सम्प्रसारण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है--

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—२६१ न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ।६।१।३६॥

सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्। इति यस्य नेत्वम्। अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्। यूनः। यूना। युवभ्याम् इत्यादि।

अर्थः—सम्प्रसारण परे होने पर पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता। **इति यस्येति**—इस सूत्र के कारण यकार को इकार नहीं होता। **अत एवेत्यादि**— इस ज्ञापक से यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रथम अन्त्य यण् को सम्प्रसारण करना चाहिये।

व्याख्या—सम्प्रसारणे ।७।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। न इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(सम्प्रसारणे) सम्प्रसारण परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता। 'यून्+अस्' यहां सम्प्रसारण परे है अतः पूर्व यकार को सम्प्रसारण नहीं होता—यूनस्= 'यूनः'। अब यहां शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि पूर्व यकार को पहले सम्प्रसारण कर लिया जाय और बाद में वकार को सम्प्रसारण करें तो 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (२६१) सूत्र निषेध न कर सकेगा, अतः यहां ऐसा क्यों न किया जाए?। इसके समाधान में कहा है—अत एव ज्ञापकादित्यादि। अर्थात् यदि ऐसा किया जाए तो 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (२६१) सूत्र व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि तब इसे कोई भी स्थान प्रवृत्ति के लिये नहीं मिल सकेगा। जब सम्प्रसारण परे होने पर कहीं पर भी सम्प्रसारण नहीं मिलेगा तब निषेध कैसा?। अतः इस निषेधकरणसामर्थ्य से यह सूचित होता है कि जहां दो यण् हों वहां यदि सम्प्रसारण करना हो तो पहले अन्तिम यण् को सम्प्रसारण करना चाहिये। इस नियमानुसार अन्तिम यण् को सम्प्रसारण हो चुकने पर जब प्रथम यण् को सम्प्रसारण प्राप्त होता है तब इस सूत्र से निषेध हो जाता है।

'युवन्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० युवा	युवानौ	युवानः		प० यूनः	युवभ्याम्	युवभ्यः
द्वि० युवानम्	,,	यूनः		ष० ,,	यूनोः	यूनाम्
तृ० यूना	युवभ्याम्	युवभिः		स० यूनि	,,	युवसु
च० यूने	,,	युवभ्यः		सं० हे युवन्!	हे युवानौ!	हे युवानः!

[लघु०] अर्वा। हे अर्वन्!।

व्याख्या—[व्युत्पत्तिपक्षे 'ऋ गतौ' (भ्वा० प०) इत्यस्माद्धातोर् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (७९९) इतिसूत्रेण वनिप्प्रत्यये, गुणे, रपरत्वे 'अर्वन्' इतिशब्दः सिध्यति।] 'अर्वन्' शब्द का अर्थ 'घोड़ा' होता है।

सुँ में और सम्बुद्धि में—'अर्वा, हे अर्वन्!' ये दोनों रूप राजन् शब्द के समान होते हैं।

'अर्वन्+औ' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६२ अर्वणस्त्रसावनञः।६।४।१२७॥

नञा रहितस्य 'अर्वन्' इत्यस्याङ्गस्य 'तृँ' इत्यन्तादेशो न तु सौ। अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वद्भ्याम् इत्यादि।

अर्थः—'नञ्' से रहित 'अर्वन्' इस अङ्ग को 'तृँ' यह अन्तादेश होता है परन्तु सुँ परे होने पर नहीं होता।

व्याख्या—अनञः।६।१। अर्वणः।६।१। अङ्गस्य।६।१। [यह अधिकृत है।] तृँ।१।१।[यहां विभक्ति का लुक् हुआ २ है।] असौ।७।१। समासः—न विद्यते नञ् यस्य सः=अनञ्, तस्य=अनञः। नञ्बहुव्रीहिसमासः। न सुः=असुः, तस्मिन्=असौ। नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अनञः) नञ् से रहित (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (अर्वणः) अर्वन् शब्द के स्थान पर (तृँ) 'तृँ' यह आदेश हो जाता है परन्तु (असौ) सुँ परे होने पर नहीं होता।

यह आदेश अलोऽन्त्यविधि से अन्त्य अल्=नकार के स्थान पर प्रवृत्त होता है। यहां अनेकाल्विधि से सर्वादेश नहीं हो सकता, क्योंकि 'तृँ' में अनुनासिक ऋकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है—"नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्"।

'अर्वन्+औ' यहां नकार को तृँ आदेश हो—अर्वत्+औ। 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (२८९) से नुम् का आगम हो—अर्वनुम्त्+औ=अर्वन्त्+औ।

'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) सूत्र से नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण—नकार होकर 'अर्वन्तौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आगे समझ लेना चाहिये। ध्यान रहे कि केवल सर्वनामस्थानों में ही नुम् का आगम होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	अर्वा×	अर्वन्तौ	अर्वन्तः
द्वि०	अर्वन्तम्	,,	अर्वतः
तृ०	अर्वता	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भिः
च०	अर्वते	,,	अर्वद्भ्यः
प०	अर्वतः	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भ्यः
ष०	,,	अर्वतोः	अर्वताम्
स०	अर्वति	,,	अर्वत्सु
सं०	हे अर्वन्!×	हे अर्वन्तौ!	हे अर्वन्तः!

×यहां 'सुँ' होने से 'तृँ' आदेश नहीं होता।

'अर्वणस्त्रसावनञः' (२९२) सूत्र में 'अनञः' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—न अर्वा=अनर्वा। नञ्तत्पुरुषः। 'अनर्वन्' शब्द को सुँभिन्न विभक्तियों में 'तृँ' आदेश न हो जावे। 'अनर्वन्' का उच्चारण 'यज्वन्' शब्द की तरह होता है।

पथिन् (मार्ग)। मथिन् (मथनी)। ऋभुक्षिन् (इन्द्र)।

'मन्थँ विलोडने' (भ्वा० प०) धातु से 'मन्थः' (उणा० ४५१) सूत्र द्वारा किन् 'इनि' प्रत्यय करने पर 'अनिदिताम्....' (३३४) सूत्र से उपधा के नकार का लोप करने से 'मथिन्' शब्द सिद्ध होता है। मन्थति=विलोडयति दध्यादिकम् इति मन्थाः।

'पत्लृँ गतौ' (भ्वा० प०) धातु से 'पतेः स्थ च' (उणा० ४५२) सूत्र द्वारा इनि प्रत्यय तथा तकार को थकारादेश हो 'पथिन्' शब्द सिद्ध होता है। पतन्ति=गच्छन्ति यत्र स पन्थाः।

ऋभुक्षः=स्वर्गो वज्रो वा, सोऽस्यास्तीति ऋभुक्षाः। 'ऋभुक्ष' शब्द से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय (११८७) करने पर 'ऋभुक्षिन्' शब्द सिद्ध होता है।

पथिन्+स् (सुँ)। मथिन्+स् (सुँ)। ऋभुक्षिन्+स् (सुँ)। इस अवस्था में निम्नलिखितसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—२६३ पथिमथ्यृभुक्षामात् ।७।१।८५॥

एषामाकारोऽन्तादेशः सौ परे।

अर्थः—पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों को सुँ परे होने पर आकार अन्तादेश हो।

व्याख्या—पथिमथ्यृभुक्षाम् ।६।३। आत् ।१।१। सौ ।७।१। ['सावनडुहः' से] समासः—पन्थाश्च मन्थाश्च ऋभुक्षाश्च=पथिमथ्यृभुक्षाणः, तेषाम्—पथिमथ्यृभुक्षाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों को (सौ)

सुँ परे रहते (आत्) आकार आदेश हो । अलोऽन्त्यविधि से यह आकार आदेश अन्त्य अल्—नकार के स्थान पर होगा ।

तो इस सूत्र से आकार आदेश करने पर—पथि आ + स्, मथि आ + स्, ऋभुक्षि आ+स् । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६४ इतोऽत् सर्वनामस्थाने ।७।१।८६॥

पथ्यादेरिकारस्य अकारः स्यात् सर्वनामस्थाने परे ।

अर्थः—पथिन्, मथिन्, तथा ऋभुक्षिन् शब्द के इकार को सर्वनामस्थान परे होने पर अकार हो जाता है ।

व्याख्या—पथिमथ्यृभुक्षाम् ।६।३। ['पथिमथ्यृभुक्षामात्' से] इतः ।६।१। अत् ।१।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। अर्थः—(पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों के (इतः) इकार के स्थान पर (अत्) अत् आदेश हो जाता है (सर्वनामस्थाने) यदि सर्वनामस्थान परे हो तो ।

इस सूत्र से इकार को अकार करने पर—'पथ आ + स्, मथ आ + स्, ऋभुक्ष आ + स्' हुआ । अब इन तीनों में से प्रथम दो में तो अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है परन्तु तीसरे में सवर्णदीर्घ करने से—ऋभुक्षास्="ऋभुक्षाः" रूप सिद्ध होता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६५ थो न्थः ।७।१।८७॥

पथिमथोस् थस्य न्थादेशः स्यात्, सर्वनामस्थाने परे । पन्थाः । पन्थानौ ।

अर्थः—पथिन् तथा मथिन् शब्दों के थकार को न्थ् आदेश हो जाता है सर्वनामस्थान परे हो तो ।

व्याख्या—पथिमथोः ।६।२। ['पथिमथ्यृभुक्षामात्' से, ऋभुक्षिन् में थकार न होने से उसकी अनुवृत्ति नहीं होती] थः ।६।१। न्थः ।१।१। अत्र थकारोत्तरोऽकार उच्चारणार्थः । सर्वनामस्थाने ।७।१। ['इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से] अर्थः—(पथिमथोः) पथिन् और मथिन् शब्द के (थः) थ् के स्थान पर (न्थः) न्थ् आदेश हो जाता है (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे हो तो ।

तो इस सूत्र से न्थ् आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से "पन्थ् आ स्=पन्थाः, मन्थ् आ स्=मन्थाः" रूप सिद्ध होते हैं ।

पथिन् + औ, मथिन् + औ, ऋभुक्षिन् + औ—इन में सुँ परे न होने से 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (२६३) सूत्र से नकार को आकार आदेश नहीं होता । 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (२६४) सूत्र से इकार को अकार हो कर प्रथम दो रूपों में 'थो न्थः' (२६५) सूत्र से

थकार को न्थ् करके 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) सूत्र द्वारा तीनों रूपों में नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है—पन्थानौ, मन्थानौ, ऋभुक्षाणौ।

पथिन्+अस् (शस्), मथिन्+अस् (शस्), ऋभुक्षिन्+अस् (शस्)—यहां सर्वनामस्थान परे न होने से 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (२६४) तथा 'सर्वनामस्थाने चा०' प्रवृत्त नहीं होते। अब इनमें अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६६ भस्य टेर्लोपः।७।१।८८॥

भसञ्ज्ञकस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात्। पथः। पथा। पथिभ्याम्। एवम्—मथिन्, ऋभुक्षिन्।

अर्थः—भसञ्ज्ञक पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों की टि का लोप हो जाता है।

व्याख्या—भस्य ।६।१। [यहां वचनविपरिणाम कर के 'भानाम्' कर देना चाहिये] पथिमथ्यृभुक्षाम् ।६।३। ['पथिमथ्यृभुक्षामात्' से] टेः ।६।१। लोपः ।१।१। अर्थः—(भस्य = भानाम्) भसञ्ज्ञक (पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों की (टेः) टि का (लोपः) लोप हो जाता है।

इस सूत्र से टि (इन्) का लोप होकर—"पथ्+अस्=पथः, मथ्+अस्=मथः, ऋभुक्ष्+अस्=ऋभुक्षः" रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में जान लेना चाहिये।

अन्यत्र=पदसञ्ज्ञकों में 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—

	पथिन्				मथिन्		
प्र०	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः	प्र०	मन्थाः	मन्थानौ	मन्थानः
द्वि०	पन्थानम्	,,	पथः	द्वि०	मन्थानम्	,,	मथः
तृ०	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः	तृ०	मथा	मथिभ्याम्	मथिभिः
च०	पथे	,,	पथिभ्यः	च०	मथे	,,	मथिभ्यः
प०	पथः	,,	,,	प०	मथः	,,	,,
ष०	,,	पथोः	पथाम्	ष०	,,	मथोः	मथाम्
स०	पथि	,,	पथिषु	स०	मथि	,,	मथिषु
सं०	हे पन्थाः!	हे पन्थानौ!	हे पन्थानः!	सं०	हे मन्थाः!	हे मन्थानौ!	हे मन्थानः!

ऋभुक्षिन्

प्र०	ऋभुक्षाः	ऋभुक्षाणौ	ऋभुक्षाणः	पं०	ऋभुक्षः	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभ्यः
द्वि०	ऋभुक्षाणम्	,,	ऋभुक्षः	ष०	,,	ऋभुक्षोः	ऋभुक्षाम्
तृ०	ऋभुक्षा	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभिः	स०	ऋभुक्षि	,,	ऋभुक्षिषु
च०	ऋभुक्षे	,,	ऋभुक्षिभ्यः	सं०	हे ऋभुक्षाः!	हे ऋभुक्षाणौ!	हे ऋभुक्षाणः!

इसमें णत्व 'अट्कु०' (१३८) सूत्र से होता है।

पञ्चन् = पांच

['पञ्चन्' शब्द सिद्धान्तकौमुदीपठित उणादिसूत्रों में सिद्ध नहीं किया गया। उणादिसूत्रों के वृत्तिकार श्रीउज्ज्वलदत्त 'कनिन् युवृषि०' (उणा०) सूत्र पर बहुल द्वारा 'पचिँ' (भ्वा० प०, चुरा० उभ०) धातु से कनिन् प्रत्यय करके इसे सिद्ध करते हैं। प्रक्रियासर्वस्वकार श्रीनारायणभट्ट उणादि सूत्रों में 'पञ्चेश्च' सूत्र पढ़ कर इसकी सिद्धि करते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणकार श्रीभोजदेव—"द्वि-यु-वृषि-तक्षि-राजि-ध्वनि-पचि-द्यु-प्रतिदिवभ्यः कनिन्" इस प्रकार सूत्र बनाकर इसकी सिद्धि करते हैं। 'श्रीदुर्गसिंह' अपनी वृत्ति में 'पचि विस्तारे' (चुरा० उ०) धातु से 'पञ्चेरनिः' सूत्र द्वारा 'अनि' प्रत्यय ला कर इसकी निष्पत्ति मानते हैं।]

'पञ्चन्' शब्द तीनों लिङ्गों में एक समान रहने वाला तथा नित्यबहुवचनान्त प्रयुक्त हुआ करता है। अतः इससे 'जस्' आदि बहुवचन ही होते हैं।

'पञ्चन् + जस्' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२६७ ष्णान्ता षट् ।१।१।२३॥

षान्ता नान्ता च सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञा स्यात्। 'पञ्चन्' शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। पञ्च। पञ्च। पञ्चभिः। पञ्चभ्यः २। नुट्—

अर्थः—षकारान्त और नकारान्त सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञक होती है। 'पञ्चन्' शब्द नित्यबहुवचनान्त होता है।

व्याख्या—ष्णान्ता ।१।१। सङ्ख्या ।१।१। ['बहुगणवतुडति सङ्ख्या' से] षट् ।१।१ * । समासः—ष् च नश्च=ष्णौ, नकारादकार उच्चारणार्थः। ष्णौ अन्तौ यस्याः

* 'षट्' यह सञ्ज्ञा अन्वर्थ अर्थात् अर्थ के अनुसार की गई है। इस सञ्ज्ञा के सञ्ज्ञी—"१ पञ्चन्, २ षष्, ३ सप्तन्, ४ अष्टन्, ५ नवन्, ६ दशन्," ये छः शब्द होते हैं। अतः इस सञ्ज्ञा का नाम 'षट्' युक्त ही है।

सा ष्णान्ता । बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(ष्णान्ता) षकारान्त और नकारान्त (सङ्ख्या सङ्ख्या (षट्) षट्सञ्ज्ञक होती है ।

'पञ्चन्' शब्द नकारान्त सङ्ख्या है, अतः इस की 'षट्' सञ्ज्ञा हो कर इस से परे 'षड्भ्यो लुक्' (१८८) सूत्र द्वारा जस् का लुक् हो 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का भी लोप कर देने से 'पञ्च' प्रयोग सिद्ध होता है । 'शस्' में भी इसी तरह–'पञ्च' ।

पञ्चन् + भिस्=पञ्चभिः ['न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०)] ।

पञ्चन् + भ्यस्=पञ्चभ्यः [न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य] ।

पञ्चन् + आम् । यहां 'ष्णान्ता षट्' (२९७) सूत्र से षट् सञ्ज्ञा होकर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) सूत्र द्वारा आम् को नुट् का आगम हो जाता है—पञ्चन् नुट् आम्=पञ्चन् + नाम् । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२९८ नोपधायाः ।६।४।७॥

नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यान्नामि परे । पञ्चानाम् । पञ्चसु ।

अर्थः—'नाम्' परे होने पर नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—न ।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् समझना चाहिये । यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होती है।] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] उपधायाः ।६।१। दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] नामि ।७।१। ['नामि' सूत्र से] अर्थः—(नामि) नाम् परे होने पर (न) नान्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है ।

'पञ्चन्+नाम्' यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) से पदत्व होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से प्राप्त नकारलोप के असिद्ध होने से 'नोपधायाः' (२९८) सूत्र द्वारा उपधादीर्घ हो कर पश्चात् नकारलोप करने से 'पञ्चानाम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—'पञ्चन् + नाम्' यहां 'नलोपः···' द्वारा यदि नकार का लोप कर दिया जाता तो उस के असिद्ध होने से 'नामि' (१४९) द्वारा दीर्घ नहीं हो सकता था । अतः 'नोपधायाः' सूत्र बनाया गया है ।

पञ्चन् + सुप्=पञ्चसु । 'नलोपः···' से नकार का लोप हो जाता है । रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	पञ्च	प०	०	०	पञ्चभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	पञ्चानाम्
तृ०	०	०	पञ्चभिः	स०	०	०	पञ्चसु
च०	०	०	पञ्चभ्यः				

—:०:—

'पञ्चन्' शब्द के अनन्तर 'षष्' (छः) शब्द की बारी आती है; परन्तु यह षकारान्त है, यहां नकारान्तों का प्रकरण चल रहा है अतः इस का विवेचन आगे यथास्थान षकारान्तों में किया जायगा। 'षष्' शब्द के बाद 'सप्तन्' (सात) शब्द आता है। इस की समग्र प्रक्रिया 'पञ्चन्' शब्दवत् होती है, कुछ भी विशेष नहीं होता।

सप्तन् = सात

['षपँ समवाये' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् 'सप्यशूभ्यां तुट् च' (उणा० १५५) इतिसूत्रेण कनिन्प्रत्यये तुडागमे च कृते साधु।]

प्र०	०	०	सप्त †	पं०	०	०	सप्तभ्यः※
द्वि०	०	०	,, †	ष०	०	०	सप्तानाम् ‡
तृ०	०	०	सप्तभिः※	स०	०	०	सप्तसु※
च०	०	०	सप्तभ्यः※				

—:०:—

† 'ष्णान्ता षट्' (२६७) से षट्सञ्ज्ञा होकर 'षड्भ्यो लुक्' (१८८) से जस् और शस् का लुक् हो जाता है। तब 'न लोपः···' (१८०) से पदान्त नकार का लोप करने से उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

※ 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०)।

‡ षट्सञ्ज्ञा, षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) से नुडागम, 'नोपधायाः' (२६८) से उपधा-दीर्घ तथा 'न लोपः······' से नकार का लोप हो जाता है।

अष्टन्=आठ

['अशूँ व्याप्तौ' (स्वा० आ०) इत्यस्मात् 'सप्यशूभ्यां तुट् च' (उणा० १५५) इतिसूत्रेण कनिनि तुडागमे च कृते साधु।]

'अष्टन्' शब्द भी पञ्चन् और सप्तन् शब्दों की तरह सदा बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है।

'अष्टन्+अस्' (जस्)। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६६ अष्टन आ विभक्तौ।७।२।८४॥

अष्टन आत्वं वा स्याद् हलादौ विभक्तौ।

अर्थः—हलादि विभक्ति परे होने पर 'अष्टन्' शब्द को विकल्प करके आकार अन्तादेश हो जाता है।

व्याख्या—अष्टनः ६।१। आ।१।१। विभक्तौ।७।१। हलि।७।१। ['रायो हलि' इस अग्रिमसूत्र से। यह 'विभक्तौ' का विशेषण है। अतः 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे'

द्वारा तदादिविधि होकर 'हलादौ' बन जाता है।] अर्थः—(अष्टनः) अष्टन् शब्द के स्थान पर (आ) 'आ' यह आदेश हो जाता है। (हलि=हलादौ) यदि हलादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो।

अलोऽन्त्यविधि के अनुसार यह आकार आदेश अन्त्य अल्=नकार के स्थान पर होता है।

यह आत्व 'अष्टनो दीर्घात्' (६.१.१६८)* सूत्र में दीर्घग्रहणसामर्थ्य से वैकल्पिक माना जाता है। क्योंकि यदि यह नित्य होता तो सर्वत्र दीर्घ ही के प्राप्त होने से सूत्र में 'दीर्घात्' का ग्रहण व्यर्थ हो जाता—उसका ग्रहण न किया जाता। पुनः इस के ग्रहण से आत्व की वैकल्पिकता स्पष्ट हो जाती है।

यह सूत्र हलादि विभक्तियों में प्रवृत्त होता है। यहां जस् और शस् तो जकार और शकार के लुप्त हो जाने से अजादि हैं। अतः इसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस शंका की निवृत्ति अग्रिमसूत्र से करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०० अष्टाभ्य औश् ।७।१।२१॥

कृताकाराद् अष्टनः परयोर्जश्शसोर् औश् स्यात्। 'अष्टभ्यः' इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। अष्टौ। अष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाभावे—अष्ट २ इत्यादि पञ्चवत्।

अर्थः—कृताकार अर्थात् आकार आदेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द से परे जस् और शस् को 'औश्' आदेश हो जाता है।

व्याख्या—अष्टाभ्यः ।५।३। जश्शसोः ।६।२। ['जश्शसोः शि' से] औश् ।१।१। भ्यस् विभक्ति में अष्टन् शब्द के 'अष्टाभ्यः' और 'अष्टभ्यः' ये दो रूप बनते हैं। परन्तु यहां 'अष्टाभ्यः' रूप 'अष्टन्' शब्द का नहीं किन्तु 'अष्टा' शब्द का है। 'अष्टा' शब्द आकार अन्तादेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द का अनुकरण है। बहुवचन का प्रयोग शब्दों के बाहुल्य की दृष्टि से अथवा मुख्य अष्टन् को बताने के लिये किया गया है। अर्थः—(अष्टाभ्यः) 'अष्टा' शब्द अर्थात् आकार अन्तादेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द से परे (जश्शसोः) जस् और शस् को (औश्) औश् आदेश हो जाता है।

औश् आदेश शित् होने के कारण 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (४५) सूत्र द्वारा सम्पूर्ण

* सूत्र का अर्थ—'दीर्घान्त अष्टन् शब्द से परे शस् आदि विभक्ति उदात्त होती है'।

जस और शस् के स्थान पर होता है। ध्यान रहे कि यह सूत्र 'षड्भ्यो लुक्' (१८८) सूत्र का अपवाद है।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'अष्टन आ विभक्तौ' (२९९) सूत्र से हलादि विभक्तियों में 'अष्टन्' को आकार अन्तादेश करने का विधान किया गया है, इस से जस् और शस् के अजादि होने के कारण जबकि 'अष्टन्' को आकार आदेश ही नहीं होता तो पुनः उससे परे जस् और शस् को 'औश्' विधान कैसे सम्भव हो सकता है? इस का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि—"अष्टाभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषय आत्वं ज्ञापयति"। अर्थात् महामुनि को यदि अष्टन् शब्द से परे केवल जस् और शस् को 'औश्' ही विधान करना होता तो वे 'अष्टाभ्य औश्' सूत्र में 'अष्टाभ्यः' पद की बजाय 'अष्टभ्यः' ऐसा लिखते, क्योंकि इस से एक मात्रा की बचत हो सकती थी। परन्तु मुनि के ऐसा न कर 'अष्टाभ्यः' लिखने से यह विदित होता है कि मुनि आत्व किये हुए 'अष्टन्' शब्द की ओर निर्देश कर रहे हैं। परन्तु जस् और शस् में आत्व करने वाला कोई सूत्र नहीं है, अतः यहां पाणिनि के निर्देशसामर्थ्य से ही जस्, शस् में भी वैकल्पिक आत्व का होना विदित होता है।

'अष्टन् + अस्' (जस् व शस्) यहां 'अष्टाभ्य औश्' में आत्व-निर्देश के कारण आकार अन्तादेश तथा सूत्र से जस् व शस् को 'औश्' सर्वादेश हो कर 'अष्ट आ औ'। 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर 'अष्टौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

भिस् और भ्यस् में हलादि विभक्ति परे होने के कारण 'अष्टन आ विभक्तौ' (२९९) से नकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से—अष्टाभिः, अष्टाभ्यः।

अष्टन् + आम्। यहां 'ष्णान्ता षट्' (२९७) सूत्र से षट्सञ्ज्ञा हो कर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) सूत्र द्वारा नुट् का आगम करने से—अष्टन् + नाम्। अब 'नाम्' के हलादि होने से 'अष्टन आ विभक्तौ' (२९९) सूत्र से नकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'अष्टानाम्' प्रयोग सिद्ध होता

अष्टन् + सुप्=अष्टासु ['अष्टन आ विभक्तौ']।

जहां आत्व नहीं होगा वहां सम्पूर्ण रूपमाला और सिद्धि 'पञ्चन्' शब्दवत् होगी।

स्मरणीय—आत्व अनात्व दोनों पक्षों में आम् विभक्ति में 'अष्टानाम्' एक सा रूप बनता है। परन्तु उन दोनों पक्षों की प्रक्रियाओं के अन्तर का ध्यान रखना चाहिये।

दोनों पक्षों में रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन (आत्वपक्षे)	बहुवचन (अनात्वपक्षे)
प्रथमा	०	०	अष्टौ	अष्ट
द्वितीया	०	०	,,	,,
तृतीया	०	०	अष्टाभिः	अष्टभिः
चतुर्थी	०	०	अष्टाभ्यः	अष्टभ्यः
पञ्चमी	०	०	,,	,,
षष्ठी	०	०	अष्टानाम्	अष्टानाम्
सप्तमी	०	०	अष्टासु	अष्टसु

'अष्टन्' शब्द के अनन्तर 'नवन्' (नौ) और 'दशन्' (दस) शब्द आते हैं। ये भी सदा बहुवचनान्त हैं। इन की रूपमाला और सिद्धि 'पञ्चन्' शब्दवत् होती है।

नवन् (नौ)				दशन् (दस)			
प्र०	०	०	नव	प्र०	०	०	दश
द्वि०	०	०	,,	द्वि०	०	०	,,
तृ०	०	०	नवभिः	तृ०	०	०	दशभिः
च०	०	०	नवभ्यः	च०	०	०	दशभ्यः
पं०	०	०	,,	पं०	०	०	,,
ष०	०	०	नवानाम्	ष०	०	०	दशानाम्
स०	०	०	नवसु	स०	०	०	दशसु

इसी प्रकार—एकादशन् (११), द्वादशन् (१२), त्रयोदशन् (१३), चतुर्दशन् (१४), पञ्चदशन् (१५), षोडशन् (१६), सप्तदशन् (१७), अष्टादशन् (१८), नवदशन् (१९) शब्दों के रूप होते हैं।

(यहां नकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

——०:❀:०——

अभ्यास (३९)

(१) पूर्वपक्षी द्वारा अस्थापित 'नोपधायाः' सूत्र की व्यर्थता बतला कर उस का समाधान करो।

(२) (क) 'नलोपः सुप्स्वरसञ्ज्ञा···' नियम का क्या लाभ है ?

(ख) 'अर्वणस्त्रसावनञः' सूत्र में 'अनञः' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(ग) 'श्वयुव····' सूत्र पर प्रसिद्ध सूक्ति लिख कर इस के तात्पर्य का विवेचन करो।

(घ) षट्सञ्ज्ञा की अन्वर्थता पर संक्षिप्त नोट लिखो।

(ङ) 'मघवन्' शब्द का दोनों पक्षों में उच्चारण लिखो।

(३) निम्नलिखित वचनों की प्रकरणनिर्देशपूर्वक व्याख्या करो—

(क) "अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्"।

(ख) "अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषय आत्वं ज्ञापयति"।

(ग) "अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति"।

(४) अधोलिखित रूपों की ससूत्र प्रक्रिया बताओ—

१ यज्वनि। २ राज्ञः। ३ ब्रह्मा। ४ वृत्रहणि। ५ पथः। ६ मन्थाः। ७ अष्टौ। ८ पञ्च। ९ वृत्रहा। १० अर्वन्तौ। ११ मघोनः। १२ युञ्जि। १३ ऋभुक्षिभ्याम्।

(५) निम्नलिखित शब्दों का केवल शस् में रूप लिखो—

१ अश्वत्थामन्। २ पुष्पधन्वन्। ३ मथिन्। ४ मघवन्। ५ श्वन्। ६ पञ्चन्। ७ अष्टन्। ८ अर्वन्। ९ भ्रूणहन्। १० पूषन्।

(६) सूत्रों की व्याख्या करो—

१ एकाजुत्तरपदे णः। २ हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु। ३ सौ च। ४ न संयोगाद्वमन्तात्। ५ उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः। ६ न ङि-सम्बुद्ध्योः। ७ थो न्थः। ८ अष्टाभ्य औश्। ९ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ।

(७) 'ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः' वार्त्तिक का भाव प्रतिपादन करो।

(८) (क) क्या 'ज्ञ' तथा 'क्ष' स्वतन्त्र वर्ण हैं? इन पर विवेचनात्मक नोट लिखो।

(ख) 'अर्वणस्त्रसावनञः' द्वारा प्रतिपादित 'तृँ' आदेश अनेकाल् होने पर भी क्यों सर्वादेश नहीं होता?

(ग) 'मघवा बहुलम्' सूत्र में 'बहुलम्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(घ) 'अष्टानाम्' पर दोनों पक्षों की प्रक्रियाएं स्पष्ट करो।

(ङ) 'अष्टन आ विभक्तौ' द्वारा विहित आकार आदेश वैकल्पिक क्यों समझा जाता है?

———०:❀:०———

अब जकारान्त पुल्ँलिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०१ ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुँयुजि-क्रुञ्चां च ।३।२।५९॥

एभ्यः क्विन् स्यात्*। अञ्चेः सुप्युपपदे। युजिक्रुञ्चोः केवलयोः। क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ।

अर्थः—ऋत्विज्, दधृष्, स्रज्, दिश्, उष्णिह्—ये पांच क्विन्नन्त शब्द निपातित किये जाते हैं; तथा सुबन्त उपपद होने पर 'अञ्चु' धातु से, उपपदरहित युजि और क्रुञ्च् धातु से भी क्विन् प्रत्यय हो जाता है। किञ्च क्विन् परे रहते क्रुञ्च् के नकार का लोप भी नहीं होता।

व्याख्या—ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक् ।१।१। अञ्चुयुजिक्रुञ्चाम् ।६।३। च इत्यव्यय-पदम्। क्विन् ।१।१। ['स्पृशोऽनुदके क्विन्' से]। समासः—ऋत्विक् च दधृक् च स्रक् च दिक् च उष्णिक् च = ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्, समाहारद्वन्द्वः। अञ्चुश्च युजिश्च क्रुङ् च = अञ्चुयुजिक्रुञ्चः, तेषाम् = अञ्चुयुजिक्रुञ्चाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। पञ्चम्यर्थे सौत्रत्वात्षष्ठी। इस सूत्र में दो वाक्य हैं—१. ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्। २. अञ्चुयुजिक्रुञ्चां च क्विन्। पहले वाक्य में पाणिनि जी ने बने बनाने पांच शब्द गिनाये हैं। सूत्रकार का स्वयं सब कार्य कर के पढ़ देना निपातन कहाता है†। इन पांच शब्दों का निपातन किया गया है। 'क्विन्' के प्रकरण में पढ़े जाने के कारण इन शब्दों को भी क्विन्नन्त समझना चाहिये। दूसरे वाक्य में तीन धातुओं में 'क्विन्' प्रत्यय का विधान किया गया है। अर्थः— (ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्) ऋत्विज्, दधृष्, स्रज्, दिश् और उष्णिह् ये पांच क्विन्नन्त शब्द निपातित किये जाते हैं। (च) तथा (अञ्चुयुजिक्रुञ्चाम्) अञ्चुँ, युजि तथा क्रुञ्च् धातुओं से (क्विन्) 'क्विन्' प्रत्यय हो जाता है।

निपातनों के साथ २ अञ्चुँ आदि तीन धातुओं से 'क्विन्' प्रत्यय विधान करने से यह विदित होता है कि इन धातुओं में भी कुछ २ निपातन कार्य होते हैं। वे निपातनकार्य शिष्टग्रन्थों के अनुसार निम्नलिखित हैं:—

(१) सुबन्त उपपद होने पर ही 'अञ्चु' धातु से क्विन् होता है।

(२) उपपदरहित 'युजि' और 'क्रुञ्च्' धातु से क्विन् होता है।

(३) 'क्विन्' परे होने पर 'क्रुञ्च्' के उपधाभूत नकार का 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (३३४) द्वारा लोप नहीं होता।

ऋत्विज् आदि पांच शब्दों में महामुनि ने निम्नलिखित कार्य किये हैं—

---

* 'एभ्यः क्विन् स्यात्' यह वचन ऋत्विज् आदि पांच शब्दों के अन्तर्गत यज् आदि पाञ्च धातुओं को तथा सूत्र में साक्षात् पढ़े गये अञ्चु आदि तीन धातुओं को लक्ष्य करके कहा गया है।

† लक्षणं विनैव निपतति=प्रवर्त्तते लक्ष्येषु इति निपातनम्।

१. ऋत्विज्—में 'ऋतु' उपपद वाली 'यज्' (भ्वा० उ०) धातु से क्विन्, उस का सर्वलोप, वचि-स्वपि......' (५४७) से सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप तथा 'इको यणचि' (१५) से यण् किया गया है।

२. दधृष्—में 'धृष्' (स्वा० प०) धातु से क्विन्, उस का सर्वलोप, द्वित्वादिक कार्य तथा अन्तोदात्तत्व किया गया है। यह शब्द पुल्लिङ्ग है। आगे षकारान्तों में इस का विवेचन किया जायगा।

३. स्रज्—में 'सृजँ' (तुदा० प०) धातु से क्विन्, उस का सर्वलोप, ऋकार से परे अम् का आगम तथा यणादेश किया गया है। यह शब्द जकारान्त स्त्रीलिङ्गप्रकरण में आगे कहा जायगा।

४. दिश्—में 'दिशँ' (तुदा० प०) धातु से कर्मकारक में क्विन् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारिलोप किया गया है। यह शब्द शकारान्त स्त्रीलिङ्गप्रकरण में आगे कहा जायगा।

५. उष्णिह्—में 'उद्' पूर्वक 'स्निह्' (दिवा० प०) धातु से क्विन्, उस का सर्वापहारिलोप, उद् के दकार का भी लोप तथा सकार को षकार किया गया है। यह शब्द भी आगे हकारान्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में कहा जायगा।

अब क्रमप्राप्त जकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में प्रथम 'ऋत्विज्' शब्द का विवेचन किया जाता है। यह शब्द क्विन्नन्त निपातन किया गया है। 'क्विन्' प्रत्यय आ जाने से क्या २ लाभ होते हैं तथा उस का किस प्रकार सर्वापहारिलोप किया जाता है—यह बतलाने के लिये अब अग्रिमसूत्रों का विवेचन किया जाता है—

'ऋत्विज्+क्विन्' * यहां 'हलन्त्यम्' (१) से नकार की तथा 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से ककार की इत्सञ्ज्ञा हो लोप हो जाता है†। इकार उच्चारणार्थ है। तो इस प्रकार—'ऋत्विज्+व्' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

---

* वस्तुतः क्विन्नन्त 'ऋत्विज्' शब्द बना बनाया निपातन किया गया है, इसकी सिद्धि करने की आवश्यकता नहीं। और यदि सिद्धि करनी भी हो तो 'ऋत्विज्+क्विन्' ऐसा नहीं लिखा जा सकता, क्योंकि तब प्रथम ऋतूपपद 'यज्' धातु से क्विन् कर उस का सर्वापहारिलोप कर बाद में उसको मान सम्प्रसारण आदि होने चाहियें, लोप से पूर्व नहीं। अतः बालकों के ज्ञान व सौकर्य के लिये ही यह अलीक मार्ग अवलम्बन किया समझना चाहिये।

† 'क्विन्' प्रत्यय में नकार का ग्रहण क्विन् और क्विप् में भेद करने के लिये तथा ककार का ग्रहण कित् कार्यों के लिये है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—३०२ कृदतिङ् ।३।१।९३॥

अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्सञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थः—'धातोः' (३. १. ९१) इस अधिकार में पठित प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम् । ['तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' से] अतिङ् ।१।१। [यह अधिकृत है] कृत् ।१।१। अर्थः—(तत्र) उस 'धातोः' के अधिकार में (अतिङ्) तिङ्भिन्न (प्रत्ययः) प्रत्यय (कृत्) कृत्सञ्ज्ञक हो।

इस सूत्र से एक सूत्र पीछे अष्टाध्यायी में 'धातोः' (७६६) इस प्रकार का एक अधिकार चलाया गया है। इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि तृतीय अध्याय तक जितने प्रत्यय विधान किये जाएं वे सब धातु से परे हों। इस अधिकार को चला कर अब "तत्र अतिङ् प्रत्ययः कृत्" ऐसा कथन किया गया है। अर्थात् उस धात्वधिकार में तिङ्भिन्न प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक होता है। यह सूत्र अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में स्थित है। इस पाद में दो धात्वधिकार हैं। एक—'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३. १. २२) सूत्र में और दूसरा 'धातोः' (३. १. ९१) यह उपर्युक्त। यहां 'तत्र' शब्द द्वितीय धात्वधिकार को लक्ष्य कर के प्रयुक्त किया गया है। इसीलिये ही वृत्ति में 'अत्र' कहा गया है। अतः प्रथम धात्वधिकार में धातु से परे विहित प्रत्यय की कृत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

'अतिङ्' कहने से इस धात्वधिकार में पठित होने पर भी तिङ्प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक न होगा। यथा—भवति, पठति, पठन्तु आदि। यदि यहां भी कृत्सञ्ज्ञा हो जाती तो 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (११७) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादिप्रत्यय उत्पन्न हो जाने से—'भवतिः, पठतिः, पठन्तुः' इस प्रकार अनिष्ट रूप हो जाते।

ऋत्विज् + व् (क्विन्)। यहां क्विन् की कृत्सञ्ज्ञा हो जाती है, क्योंकि यह द्वितीय अधिकार में पठित तथा तिङ्भिन्न प्रत्यय है।

अब पुनः यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०३ वेरपृक्तस्य ।६।१।६५॥

अपृक्तस्य वस्य लोपः ।

अर्थः—अपृक्तसञ्ज्ञक वकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—वेः ।६।१। अपृक्तस्य ।६।१। लोपः ।१।१। ['लोपो व्योर्वलि' से] यहां 'वि' में इकार उच्चारणार्थ है, क्योंकि 'वि' अपृक्त नहीं बन सकता। 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' (१७८) सूत्र द्वारा एकाल् प्रत्यय की अपृक्तसञ्ज्ञा होती है। अर्थः—(अपृक्तस्य) अपृक्तसञ्ज्ञक (वेः) वकार का (लोपः) लोप हो जाता है।

'ऋत्विज् + व्' यहां वकार अपृक्त है, अतः प्रकृतसूत्र से इस का लोप हो कर 'ऋत्विज्' ही अवशिष्ट रहता है। अब इस के कृदन्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

'ऋत्विज् + स्' (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः····' (१७६) सूत्र से सुँ का लोप हो जाता है। 'ऋत्विज्' इस अवस्था में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०४ क्विन्प्रत्ययस्य कुः ।८।२।६२॥

क्विन्प्रत्ययो यस्मात् तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते। असिद्धत्वाच् 'चोः कुः' (३०६) इति कुत्वम्। ऋत्विक्, ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्।

अर्थः—'क्विन्' प्रत्यय जिस से किया जाय, उस को पदान्त में कवर्ग अन्तादेश हो जाता है। इस सूत्र के असिद्ध होने से 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कुत्व हो जाता है।

व्याख्या—क्विन्प्रत्ययस्य ।६।१। कुः ।१।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] समासः—क्विन्प्रत्ययो यस्मात् स क्विन्प्रत्ययः, तस्य=क्विन्प्रत्ययस्य। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(क्विन्प्रत्ययस्य) 'क्विन्' प्रत्यय जिस से किया गया हो उस के स्थान पर (कुः) कवर्ग आदेश हो जाता है (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। अत एव वृत्ति में 'अन्तादेशः' लिखा है। यहां 'कु' से 'अणुदित् ·····' (११) द्वारा कवर्ग समझा जाता है—यह हम सञ्ज्ञाप्रकरण में उसी सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

यहां इस सूत्र से केवलमात्र यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि 'पदान्त में क्विन्नन्त शब्द के अन्त को कवर्ग आदेश होता है'। यदि केवल इतना ही अभीष्ट होता तो 'क्विनः कुः' सूत्र रचते, 'प्रत्यय' शब्द साथ न जोड़ते। अतः 'प्रत्यय' शब्द साथ लगाने का यह प्रयोजन है कि 'क्विन्प्रत्ययो यस्मात्' इस प्रकार बहुव्रीहिसमास मान कर अब अक्विन्नन्तों अर्थात् क्विन्भिन्न अन्यप्रत्ययान्तों को भी कवर्ग अन्तादेश हो जावे। हां, कहीं उसे क्विन् हो चुका हो। यह सब आगे मूल में ही स्पष्ट हो जायगा।

प्रकृत में 'ऋत्विज्' यह शब्द क्विन्नन्त है अतः पदान्त में इस सूत्र से जकार को कवर्ग—गकार प्राप्त होता है। इस के अतिरिक्त आगे आने वाले 'चोः कुः' (३०६) सूत्र से भी जकार को कवर्ग अर्थात् गकार प्राप्त होता है। 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) द्वारा 'चोः कुः' (८.२.३०) की दृष्टि में 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८.२.६२) सूत्र असिद्ध है, अतः 'चोः

कुः' द्वारा ही कुत्व—गकार हो कर—ऋत्विग्। 'वाऽवसाने' (१४६) से विकल्प कर के चर्त्व—ककार करने से—'ऋत्विक्, ऋत्विग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

यद्यपि 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) और 'चोः कुः' (३०६) इन दोनों सूत्रों में से किसी एक के द्वारा यहां कार्य्य सिद्ध हो सकता है, तथापि अन्यत्र भिन्न २ उदाहरणों में कार्यसिद्धि के लिये दोनों सूत्रों का होना आवश्यक है। यथा—'प्राङ्' यहां चवर्ग न होने से 'चोः कुः' (३०६) प्रवृत्त नहीं होता, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से कार्य होता है। 'सुयुक्, सुयुग्' यहां क्विन्प्रत्यय न होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, 'चोः कुः' (३०६) से ही कुत्व होता है।

सूचना—वस्तुतः 'ऋत्विक्, ग्' में 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' द्वारा ही कुत्व होता है 'चोः कुः' द्वारा नहीं। यह सब विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में लिखेंगे।

'ऋत्विज्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ऋत्विक्, ग्	ऋत्विजौ	ऋत्विजः
द्वि०	ऋत्विजम्	,,	,,
तृ०	ऋत्विजा	ऋत्विग्भ्याम् ×	ऋत्विग्भिः ×
च०	ऋत्विजे	,, ×	ऋत्विग्भ्यः ×
प०	ऋत्विजः	,, ×	,, ×
ष०	,,	ऋत्विजोः	ऋत्विजाम्
स०	ऋत्विजि	,,	ऋत्विक्षु*
सं०	हे ऋत्विक्, ग्!	हे ऋत्विजौ!	हे ऋत्विजः!

× इन स्थानों पर 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) सूत्र द्वारा पदसञ्ज्ञा होने से 'चोः कुः' सूत्र से कुत्व हो जाता है।

* यहां भी पदत्व के कारण 'चोः कुः' से कुत्व-गकार, 'खरि च' (७४) से गकार को चर्त्व-ककार तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार हो जाता है। फिर 'क्ष्' आकृति हो जाती है।

युज्=योगी

'युजिर् योगे' (रुधा० उभ०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्—' (३०१) सूत्र से क्विन्प्रत्यय होकर उसका सर्वापहारी लोप हो जाता है। इस प्रकार 'युज्' शब्द के कृदन्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादिप्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

युज्+स् (सुँ)—यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०५. युजेरसमासे ।७।१।७१॥

युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे । सुँलोपः । संयोगान्त-लोपः । कुत्वेन नस्य ङः । युङ् । अनुस्वारपरसवर्णौ—युञ्जौ, युञ्जः । युग्भ्याम् ।

अर्थः—सर्वनामस्थान परे होने पर युज् को नुम् का आगम होता है, परन्तु समास में नहीं होता ।

व्याख्या—सर्वनामस्थाने ।७।१। ['उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से] युजेः ।६।१। नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] असमासे ।७।१। अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (युजेः) युज् धातु का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है (असमासे) परन्तु समास में नहीं होता ।

ध्यान रहे कि 'ऋत्विग्दधृक्......' (३०१) सूत्र में तथा 'युजेरसमासे' (३०५) इस सूत्र में 'युजि' इस प्रकार इकार ग्रहण करना 'कार' प्रत्यय की भांति स्वार्थ में 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इस इक् प्रत्यय द्वारा नहीं समझना चाहिये, किन्तु इनमें 'युजिर् योगे' (रुधा० उभ०) धातु का अनुकरण किया गया है । अतः इन सूत्रों में 'युज समाधौ' (दिवा०) धातु का ग्रहण नहीं होता । विस्तार के लिये सिद्धान्तकौमुदी देखें ।

'युज्+स्' यहां सर्वनामस्थान परे है, अतः 'युजेरसमासे' सूत्र से नुम् का आगम हो—यु नुम् ज्+स् । मकार और उकार अनुबन्धों का लोप होकर—युन्ज्+स् । 'हल्ङ्याब्भ्यः....' (१७९) से सकार का लोप—युन्ज् । 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से जकार का लोप कर 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से नकार को ङकार करने से—'युङ्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'युज्+औ' यहां भी सर्वनामस्थान परे होने के कारण 'युजेरसमासे' सूत्र द्वारा नुम् का आगम—यु नुम् ज्+औ । 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) सूत्र से नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (७९) सूत्र द्वारा अनुस्वार को परसवर्ण—ञकार हो कर 'युञ्जौ' सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि परसवर्ण—के असिद्ध होने से 'चोः कुः' (३०६) द्वारा ञकार को ङकार नहीं होता । रूपमाला यथा—

प्र०	युङ्	युञ्जौ	युञ्जः	प० युजः	युग्भ्याम्❀	युग्भ्यः❀
द्वि०	युञ्जम्	,,	युजः	ष० ,,	युजोः	युजाम्
तृ०	युजा	युग्भ्याम्❀	युग्भिः❀	स० युजि	,,	युक्षु×
च०	युजे	,,❀	युग्भ्यः❀	सं० हे युङ् !	हे युञ्जौ !	हे युञ्जः !

❀ इन स्थानों पर 'चोः कुः' द्वारा कुत्व हो जाता है । 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' सूत्र उस की दृष्टि में असिद्ध है ।

× चोः कुः, खरि च, आदेशप्रत्यययोः ।

सुयुज्=सुयोगी

सुपूर्वक 'युजिर् योगे' (रुधा० उभ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'सुयुज्' शब्द निष्पन्न होता है । ध्यान रहे कि यहां 'ऋत्विग्दधृक्—' (३०१) सूत्र द्वारा क्विन् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि वहां निरुपपद युज् से क्विन् विधान किया गया था, यहां 'सु' यह उपपद विद्यमान है ।

सुयुज्+स् (सुँ) । यहां समास में निषेध होने से 'युजेरसमासे' (३०५) द्वारा नुम् का आगम नहीं होता । 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकार का लोप होकर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०६ चोः कुः ।८।२।३०॥

चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च । सुयुक्, सुयुग् । सुयुजौ । सुयुग्भ्याम् । खन् । खञ्जौ । खन्भ्याम् ।

अर्थः—झल् परे होने पर या पद के अन्त में चवर्ग को कवर्ग आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—चोः ।६।१। कुः ।१।१। झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (चोः) चवर्ग के स्थान पर (कुः) कवर्ग आदेश हो जाता है ।

'सुयुज्' यहां पद के अन्त में चवर्ग-जकार को कवर्ग-गकार होकर 'वाऽवसाने' (१४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व-ककार करने पर—'सुयुक्, सुयुग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । रूपमाला यथा—

प्र०	सुयुक्-ग्	सुयुजौ	सुयुजः
द्वि०	सुयुजम्	,,	,,
तृ०	सुयुजा	सुयुग्भ्याम्❀	सुयुग्भिः❀
च०	सुयुजे	,, ❀	सुयुग्भ्यः❀
पं०	सुयुजः	सुयुग्भ्याम्❀	सुयुग्भ्यः❀
ष०	,,	सुयुजोः	सुयुजाम्
स०	सुयुजि	,,	सुयुक्षु×
सं०	हे सुयुक्-ग् !	हे सुयुजौ !	हे सुयुजः !

❀ 'चोः कुः' से कुत्व हो जाता है ।

× 'चोः कुः' से जकार को गकार, 'खरि च' से गकार को ककार तथा 'आदेश-प्रत्यययोः' से सकार को षकार हो कर क् ष् के योग से 'क्ष्' आकृति बन जाती है ।

खञ्ज्=लङ्गड़ा

['खजिँ गतिवैकल्ये' (भ्वा० प०) इत्यस्माद्धातोः क्विपि, इदित्वान्नुमि, 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) इत्यनुस्वारे, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) इति परसवर्णे ञकारे च कृते 'खञ्ज्' इति शब्दो निष्पद्यते ।]

कृदन्त होने से 'खञ्ज्' शब्द की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ।

खञ्ज् + स् (सुँ) । 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सुलोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से जकारलोप, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस न्यायानुसार ञकार को पुनः नकार होकर 'खन्' प्रयोग सिद्ध होता है । यहां संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से 'नलोपः—' (१८०) द्वारा नकार का लोप नहीं होता । किञ्च—क्विन्प्रत्ययान्त न होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) द्वारा नकार को ङकार आदेश भी नहीं होता ।

रूपमाला यथा—

प्र०	खन्	खञ्जौ	खञ्जः	प०	खञ्जः	खन्भ्याम्×	खन्भ्यः×
द्वि०	खञ्जम्	,,	,,	ष०	,,	खञ्जोः	खञ्जाम्
तृ०	खञ्जा	खन्भ्याम्×	खन्भिः×	स०	खञ्जि	,,	खन्त्सु, खन्सु॥
च०	खञ्जे	,,×	खन्भ्यः×	सं०	हे खन् !	हे खञ्जौ !	हे खञ्जः !

× 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से जकार का लोप हो जाता है ।

॥ यहां संयोगान्तलोप होकर 'नश्च' (८७) द्वारा वैकल्पिक 'धुट्' का आगम हो जाता है । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होती है ।

राज्=दीप्तिमान्, राजा

['राजृँ दीप्तौ' (भ्वा० उभ०) इत्यस्मात्क्विपि, सर्वापहारिलोपे 'राज्' इति शब्दो निष्पद्यते ।] कृदन्त होने से स्वादिप्रत्यय उत्पन्न होते हैं ।

राज् + स् (सुँ) । यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सुँलोप होकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०७ व्रश्चँ-भ्रस्जँ-सृजँ-मृजँ-यजँ-राजँ-भ्राजँच्छशां षः । ८।२।३६॥

व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज् झलि पदान्ते च । जश्त्व-चर्त्वे । राट्, राड् । राजौ । राजः । राड्भ्याम् । एवं विभ्राट् । देवेट् । विश्वसृट् ॥

अर्थः— झल् परे होने पर या पदान्त में व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज्, भ्राज् इन सात धातुओं को तथा शकारान्त और छकारान्तों को षकार अन्तादेश हो जाता है ।

व्याख्या—व्रश्च-भ्रस्ज············छशाम् ।६।३। षः ।१।१। झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से]। समासः—व्रश्चश्च भ्रस्जश्च सृजश्च मृजश्च यजश्च राजश्च भ्राजश्च छश्च श् च् = व्रश्च······· भ्राजच्छशः, तेषाम् = व्रश्च······· भ्राजच्छशाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । व्रश्चादिष्वकार उच्चारणार्थः, अथवोदात्ताद्यनुबन्धप्रदर्शनार्थः । यहां 'व्रश्च' आदि सात धातु हैं तथा छ्, श् ये दो वर्ण हैं । ये दोनों वर्ण 'शब्दस्वरूपम्' विशेष्य के विशेषण हैं । शब्दानुशासन का सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में अधिकार होने से 'शब्दस्वरूपम्' यह उपलब्ध हो जाता है । अतः तदन्तविधि होकर शकारान्त छकारान्त शब्दस्वरूप ऐसा अर्थ हो जाता है । अर्थः—(व्रश्च······छशाम्) व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज्, भ्राज् तथा छकारान्त और शकारान्त शब्दों के स्थान पर (षः) 'ष्' आदेश हो जाता है (झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में । अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है ।

'राज्' यहां पदान्त में प्रकृत-सूत्र से जकार को षकार हो कर 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार तथा 'वावसाने' सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने पर 'राट्, राड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	राट्-ड्	राजौ	राजः	प०	राजः	राड्भ्याम् ×	राड्भ्यः ×
द्वि०	राजम्	,,	,,	ष०	,,	राजोः	राजाम्
तृ०	राजा	राड्भ्याम् ×	राड्भिः ×	स०	राजि	,,	राट्त्सु-ट्सु❀
च०	राजे	,, ×	राड्भ्यः ×	सं०	हे राट्-ड् !	हे राजौ !	हे राजः !

× व्रश्चेति षत्वे, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) इति डकारः ।

❀ षत्वे जश्त्वे च कृते 'डः सि धुट्' (८४) इति वा धुडागमे 'खरि च' (७४) इति चर्त्वम् ।

विभ्राज्=विशेष शोभायुक्त

'वि' पूर्वक 'भ्राजृँ दीप्तौ' (भ्वा० आ०) धातु से कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने पर 'विभ्राज्' शब्द सिद्ध होता है। कृदन्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

विभ्राज्+स् (सुँ)। 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकारलोप, 'व्रश्च—' (३०७) से जकार को षकार, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने से 'विभ्राट्, विभ्राड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	विभ्राट्-ड्	विभ्राजौ	विभ्राजः
द्वि०	विभ्राजम्	,,	,,
तृ०	विभ्राजा	विभ्राड्भ्याम् ×	विभ्राड्भिः ×
च०	विभ्राजे	,, ×	विभ्राड्भ्यः ×
पं०	विभ्राजः	विभ्राड्भ्याम् ×	विभ्राड्भ्यः ×
ष०	,,	विभ्राजोः	विभ्राजाम्
स०	विभ्राजि	,,	विभ्राट्त्सु, ट्सु※
सं०	हे विभ्राट्!	हे विभ्राजौ!	हे विभ्राजः!

× व्रश्चेति षत्वे, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) इति जश्त्वम्।

※ षत्वे, जश्त्वे, वा धुडागमे चर्त्वम्।

देवेज्=देवताओं का यजन करने वाला।

[देवान् यजत इति देवेट्। 'देव' कर्मोपपदाद् यजतेः (भ्वा० उभ०) क्विपि, क्विप्त्वाद् 'वचिस्वपियजादीनां किति' (५४७) इति सम्प्रसारणत्वे, 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) इति पूर्वरूपत्वे, गुणे च कृते 'देवेज्' इतिशब्दो निष्पद्यते।] कृदन्त होने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो कर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	देवेट्-ड्	देवेजौ	देवेजः
द्वि०	देवेजम्	,,	,,
तृ०	देवेजा	देवेड्भ्याम्	देवेड्भिः
च०	देवेजे	,,	देवेड्भ्यः
पं०	देवेजः	देवेड्भ्याम्	देवेड्भ्यः
ष०	,,	देवेजोः	देवेजाम्
स०	देवेजि	,,	देवेट्त्सु-ट्सु
सं०	हे देवेट्!	हे देवेजौ!	हे देवेजः!

यहां 'यज्' होने से पदान्त में पूर्ववत् 'व्रश्च—' (३०७) सूत्र से षत्व तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व-डकार हो जाता है।

सूचना—यहां 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) सूत्र बहुव्रीहिसमासवश प्राप्त होता था, परन्तु भाष्यकार के 'उपयट् काम्यति' प्रयोग के निर्देश से नहीं होता। यह विषय विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

विश्वसृज्=जगत् के रचयिता, भगवान्

[विश्वं सृजतीति विश्वसृट् । विश्वकर्मोपपदात् 'सृज विसर्गे' (तुदा० प०) इत्यस्मात्कर्त्तरि क्विपि 'विश्वसृज्' इतिशब्दो निष्पद्यते ।] इस की रूपमाला यथा—

प्र०	विश्वसृट्-ड्	विश्वसृजौ	विश्वसृजः
द्वि०	विश्वसृजम्	,,	,,
तृ०	विश्वसृजा	विश्वसृड्भ्याम्	विश्वसृड्भिः
च०	विश्वसृजे	,,	विश्वसृड्भ्यः
प०	विश्वसृजः	विश्वसृड्भ्याम्	विश्वसृड्भ्यः
ष०	,,	विश्वसृजोः	विश्वसृजाम्
स०	विश्वसृजि	,,	विश्वसृट्त्सु-ट्सु
सं०	हे विश्वसृट्-ड् !	हे विश्वसृजौ !	हे विश्वसृजः !

यहां 'सृज्' धातु होने से 'व्रश्च....' (३०७) सूत्र से पदान्त में जकार को षकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार हो जाता है। 'रज्जुसृड्भ्याम्' इस भाष्यप्रयोग से यहां पर कुत्व नहीं होता। विशेष सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

परिव्राज्=सन्यासी

इस शब्द की सिद्धि के लिये ग्रन्थकार उणादिसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] **"परौ व्रजेः षः पदान्ते"**

परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्याद् दीर्घश्च पदान्ते षत्वमपि । परिव्राट्, परिव्राड् ।

अर्थः—'परि' उपपद होने पर 'व्रज्' (भ्वा० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय हो और धातु के अकार को दीर्घ हो । किञ्च—पदान्त में षत्व भी होना चाहिये ।

व्याख्या—यह शाकटायनमुनिप्रणीत उणादिसूत्र (२१८) है । परौ ।७।१। व्रजेः ।५।१। क्विप् ।१।१। ['क्विब् वचिप्रच्छ्यायतस्तु—' से] पदान्ते ।७।१। षः ।१।१। अर्थः—(परौ) 'परि' उपपद होने पर (व्रजेः) व्रज् धातु से (क्विप्) क्विप् प्रत्यय तथा (दीर्घः) दीर्घ होता है । किञ्च (पदान्ते) पदान्त में (षः) षकार भी हो जाता है ।

जिस पद के साथ रहने पर कोई कार्य विधान किया जाता है उसे 'उपपद' कहते हैं, उपपद सदा पूर्व में ही प्रयुक्त हुआ करता है । [देखो—तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (९५३), उपपदमतिङ् (९५४)] । यहां 'परि' उपपद होने पर 'व्रज्' धातु से क्विप् का विधान है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि परिपूर्वक व्रज् धातु से क्विप् हो अन्यथा नहीं ।

क्विप् के साथ धातु को दीर्घ करने का भी विधान है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अचों के ही धर्म हैं अतः विना कहे भी ये अचों के स्थान पर समझने चाहियें। अतः यहां 'व्रज्' धातु के अन्तर्गत रेफोत्तर अकार को ही दीर्घ होगा।

पदान्त में विहित षत्व अलोऽन्त्यविधि से जकार के स्थान पर होगा।

परिव्रज्+क्विप्=परिव्राज्+क्विप्। क्विप् का सर्वापहारी लोप करने से—परिव्राज्। कृदन्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है।

परिव्राज्+स् (सुँ) यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः··· ···' (१७९) से सकार का लोप कर पदान्त में षत्व करने पर—परिव्राष्। 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व—डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने से "परिव्राट्, परिव्राड्" ये दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	परिव्राट्-ड्	परिव्राजौ	परिव्राजः	प०	परिव्राजः	परिव्राड्भ्याम्	परिव्राड्भ्यः
द्वि०	परिव्राजम्	,,	,,	ष०	,,	परिव्राजोः	परिव्राजाम्
तृ०	परिव्राजा	परिव्राड्भ्याम्	परिव्राड्भिः	स०	परिव्राजि	,,	परिव्राट्त्सु-ट्सु
च०	परिव्राजे	,,	परिव्राड्भ्यः	सं०	हे परिव्राट्-ड्!	हे परिव्राजौ!	हे परिव्राजः!

पदान्त में सर्वत्र 'परौ व्रजेः षः पदान्ते' द्वारा षत्व तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व हो जाता है।

विश्वराज्=विश्वपति, भगवान्

[विश्वस्मिन् राजत इति विश्वराट्। विश्वोपपदाद् राजतेः (भ्वा० उ०) 'सत्सूद्विष·····' (३. २. ६१) इति क्विपि, उपपदसमासे 'विश्वराज्' इतिशब्दो निष्पद्यते।]

विश्वराज्+स् (सुँ)। यहां सकारलोप हो 'व्रश्च ' (३०७) सूत्र से जकार को षकार, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) द्वारा षकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने पर—'विश्वराट्, विश्वराड्'। अब इन दोनों अवस्थाओं में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०८ विश्वस्य वसुराटोः।६।३।१२७॥

विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद् वसौ राट्शब्दे च परे। विश्वाराट्, विश्वाराड्। विश्वराजौ। विश्वाराड्भ्याम्।

अर्थः—वसु अथवा राट् शब्द परे होने पर विश्व शब्द को दीर्घ अन्तादेश होता है।

व्याख्या—विश्वस्य ।६।१। दीर्घः ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य—' से] वसुराटोः ।७।२। अर्थः—(वसुराटोः) वसु अथवा राट् शब्द परे होने पर (विश्वस्य) 'विश्व' शब्द के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह दीर्घ अन्त्य अच् के स्थान पर होगा।

यहां 'राट्' का ग्रहण पदान्त का उपलक्षण है; अतः 'राट्' हो या 'राड्', दोनों अवस्थाओं में दीर्घ हो जाता है।

इस सूत्र से दीर्घ करने पर—'विश्वाराट्, विश्वाराड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	विश्वाराट्-ड्	विश्वराजौ	विश्वराजः	पं०	विश्वराजः विश्वाराड्भ्याम्	विश्वाराड्भ्यः
द्वि०	विश्वराजम्	,,	,,	ष०	,, विश्वराजोः	विश्वराजाम्
तृ०	विश्वराजा	विश्वाराड्भ्याम्	विश्वाराड्भिः	स०	विश्वराजि ,,	विश्वाराट्सु-ट्सु
च०	विश्वराजे	,,	विश्वाराड्भ्यः	सं०	हे विश्वाराट्-ड्! हे विश्वराजौ!	हे विश्वराजः!

भ्याम्, भिस्, भ्यस् में षत्व और डत्व हो कर दीर्घ हो जाता है। सुप् में षत्व, डत्व हो कर वैकल्पिक धुट् का आगम हो जाता है।

भृस्ज्=भठियारा व भड़भूंजा

'भ्रस्जँ पाके' (तुदा० उभ०) धातु से क्विप्, 'ग्रहिज्या—' (६३४) से सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप करने से 'भृस्ज्' शब्द बनता है। भृज्जतीति = भृट्।

भृस्ज् + स्। सकार का लोप हो कर—भृस्ज्। अब 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से जकारलोप के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०६ स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ।८।२।२६॥

पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः स्यात्। भृट्। सस्य श्चुत्वेन शः। 'झलां जश्झशि' (१९) इति शस्य जः। भृज्जौ। भृड्भ्याम्।

अर्थः—पदान्त में या झल् परे होने पर संयोग के आदि वाले सकार ककार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—स्कोः ।६।२। संयोगाद्योः ।६।२। लोपः ।१।१। ['संयोगान्तस्य लोपः' से] झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अन्ते ।७।१। च

ङ्यन्तपदम् । समासः—स् च क् च=स्कौ, तयोः=स्कोः । इतरेतरद्वन्द्वः । संयोगस्य आदी=संयोगादी, तयोः=संयोगाद्योः । षष्ठीतत्पुरुषः । अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में स्थित (संयोगाद्योः) जो संयोग, उस के आदि सकार ककार का (लोपः) लोप हो जाता है ।

यद्यपि यह सूत्र 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) की दृष्टि में असिद्ध है तथापि वचनसामर्थ्य से उसका अपवाद है ।

'भृस्ज्' यहां पदान्त में प्रकृतसूत्र से संयोग के आदि वाले सकार का लोप हो—'भृज्' । 'व्रश्च—' (३०७) सूत्र से जकार को षकार, जश्त्व मे षकार को डकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से टकार करने पर—'भृट् , भृड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

'भृस्ज्+औ' यहां पदान्त व झल परे न होने से संयोग के आदि सकार का प्रकृतसूत्र से लोप नहीं होता । 'झलां जश्झशि' (१९) और 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) दोनों प्राप्त होते हैं । जश्त्व के असिद्ध होने से प्रथम श्चुत्व से सकार को शकार हो—भृशज्+औ । पुनः 'झलां जश्झशि' (१९) से तालुस्थानिक शकार के स्थान पर तादृश जश्—जकार करने पर 'भृज्जौ' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—

प्र० भृट्-ड्	भृज्जौ	भृज्जः	प० भृज्जः	भृड्भ्याम्	भृड्भ्यः
द्वि० भृज्जम्	,,	,,	ष० ,,	भृज्जोः	भृज्जाम्
तृ० भृज्जा	भृड्भ्याम्	भृड्भिः	स० भृज्जि	,,	भृट्त्सु-ट्सु
च० भृज्जे	,,	भृड्भ्यः	सं० हे भृट्-ड् !	हे भृज्जौ !	हे भृज्जः !

अभ्यास (४०)

(१) 'ऋत्विक्' आदि प्रयोगों में 'चोः कुः' अथवा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' दोनों में से किसी एक के द्वारा कार्य्य सिद्ध हो सकता है, तो पुनः दो सूत्रों के निर्माण का क्या प्रयोजन है ?

(२) युञ्जौ, युञ्जः—आदि प्रयोगों में झल् परे होने पर भी 'चोः कुः' सूत्र द्वारा कुत्व क्यों नहीं होता ?

(३) क्विन्प्रत्यय का सर्वापहार लोप कैसे किया जाता है, ससूत्र लिखें; किञ्च इस के करने का लाभ ही क्या है ?

(४) 'युजेरसमासे' सूत्र में 'युजि' के साथ इकार जोड़ने का क्या अभिप्राय है ?

(५) निम्नलिखित सूत्रों की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या करो—

१ स्कोः–, २ ऋत्विग्दधृक्—, ३ क्विन्प्रत्ययस्य कुः, ४ युजेरसमासे ।

(६) १ खन्सु, २ परिव्राट् ३ विश्वाराट्, ४ भृट्, ५ भृज्जौ, ६ सुम्भ्याम्, ७ विश्वसृट्, ८ देवेड्भ्याम्, ९ ऋत्विक्षु—इन प्रयोगों की सूत्रप्रदर्शनपूर्वक साधनप्रक्रिया लिखें।

(७) जब संयोगान्तलोप की दृष्टि में 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' सूत्र असिद्ध है, तो पुनः वह उसे कैसे बान्ध लेता है ?

(८) पदान्त में षकार के स्थान पर किस सूत्र से जश्त्व होता है ? और वह जश्त्व कौन वर्ण होना चाहिये सोपपत्तिक स्पष्ट करो।

(९) 'कृदतिङ्' सूत्र पर 'अत्र धात्वधिकारे' का क्या अभिप्राय है ?

(१०) 'राजा' यह किस २ शब्द का किस २ विभक्ति का रूप है ?

(उत्तर—राजन्-सु, राज्-टा)

यहां जकारान्त पुँल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।

❀

अब दकारान्त पुँल्लिङ्गों का वर्णन करते हैं—

त्यद्=वह

'त्यजि-तनि-यजिभ्यो डित्' (उणा० १२९) इस सूत्र द्वारा 'त्यजँ हानौ' (भ्वा० प०) धातु से डित 'अदि' प्रत्यय करने से टि का लोप कर देने पर 'त्यद्' शब्द निष्पन्न होता है। इस का लोक में प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता। वेद में इस का प्रचुर प्रयोग होता है ❀। अकेले ऋग्वेद में ही पुंल्लिङ्ग त्यद् के प्रथमा के एकवचन का प्रायः छत्तीस बार प्रयोग हुआ है। सर्वादिगणान्तर्गत होने से इसे सर्वनामकार्य भी होते हैं।

❀ परन्तु 'स्यश्छन्दसि बहुलम्' (६. १. १३०) सूत्र से इस का लोक में भी प्रयोग अशुद्ध प्रतीत नहीं होता। अत एव वेणीसंहारनाटक में—

"सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा स्यो वा भवाम्यहम्। (३.३५) ऐसा क्वचित् पाठ-भेद पाया जाता है।

'त्यजि-तनि —' (उणा० १२९) सूत्र पर श्रीपेरुसूरि के श्लोक भी द्रष्टव्य हैं:—
स्यत्तद्यदस्त्रयः सर्वा—दिगणे पठिता अमी। तत्राद्यौ तु परोक्षार्थौ तृतीयस्तन्निरूपकः। १।
आद्यस्य लोके न क्वापि प्रयोगः परिदृश्यते। वेदे त्वेषस्य वाजीति प्रभृतिष्वथ गम्यते।२।

स्यश्छन्दसीतिसूत्रस्थच्छन्दोग्रहणलिङ्गतः।
लोकेऽप्यस्य प्रयोगोऽस्तीत्येतदभ्युपगम्यते॥ ३॥

त्यद् + स् (सुँ)। यहां 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र द्वारा दकार को अकार तथा 'अतो गुणे' (२७४) सूत्र से पररूप एकादेश करने पर—त्य + स्। यही बात ग्रन्थकार निर्देश करते हैं—

[लघु०] त्यदाद्यत्वम्पररूपत्वञ्च ।

अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३१० तदोः सः सावनन्त्ययोः ।७।२।१०६॥

त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ । स्यः । त्यौ । त्ये । सः । तौ । ते । यः । यौ । ये । एषः । एतौ । एते । अन्वादेशे—एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः २ ॥

अर्थः—'सुँ' परे होने पर त्यदादियों के अनन्त्य (अन्त में न रहने वाले) तकार दकार को सकार हो जाता है।

व्याख्या—त्यदादीनाम् ।६।३। ['त्यदादीनामः' में] तदोः ।६।२। सः ।१।१। सौ ।७।१। अनन्त्ययोः ।६।२। समासः—न अन्त्ययोः = अनन्त्ययोः, नञ्समासः । अर्थः—(सौ) सुँ परे होने पर (त्यदादीनाम्) त्यदादियों के (अनन्त्ययोः) अनन्त्य (तदोः) तकार दकार को (सः) सकार आदेश हो जाता है।

त्य+स् । यहां प्रकृतसूत्र से त्यद् शब्द के अनन्त्य तकार को सकार हो कर —स्य+स्। सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने पर—'स्यः' प्रयोग सिद्ध हुआ। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	स्यः	त्यौ	त्ये	प०	त्यस्मात्	त्याभ्याम्	त्येभ्यः
द्वि०	त्यम्	,,	त्यान्	ष०	त्यस्य	त्ययोः	त्येषाम्
तृ०	त्येन	त्याभ्याम्	त्यैः	स०	त्यस्मिन्	,,	त्येषु
च०	त्यस्मै	,,	त्येभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता		

यहां सर्वत्र त्यदाद्यत्व और पररूप कर प्रथम 'त्य' इस प्रकार अदन्त सर्वनाम बना लेना चाहिये। तब इस की प्रक्रिया 'सर्व' शब्दवत् चलती है। केवल 'स्यः' में कुछ विशेष है जो पीछे बताया जा चुका है।

तद् = वह

यह शब्द भी 'तनुँ विस्तारे' (तना० उभ०) धातु से 'त्यजितनि....' (उणा० १२९) सूत्र द्वारा 'अदि' प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है।

तद् + स् (सुँ)। यहाँ भी त्यदाद्यत्व तथा पररूप होकर—'त + स्'। पुनः 'तदोः सः—'(३१०) सूत्र से अनन्त्य तकार को सकार आदेश कर रुँत्व विसर्ग करने से—'सः' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	सः	तौ	ते	प०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः
द्वि०	तम्	,,	तान्	ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः	स०	तस्मिन्	,,	तेषु
च०	तस्मै	,,	तेभ्यः				

यहां भी पूर्ववत् 'त्यदादीनामः' (१९३) से दकार को अकार तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर 'त' इस प्रकार अदन्त सर्वनाम बन जाता है। तब इसकी प्रक्रिया 'सर्व' शब्दवत् होती है। सुँ विभक्ति का विशेष पीछे बताया गया है।

यद् = जो

यह शब्द भी 'यजँ देवपूजासंगतिकरणदानेषु' (भ्वा० उभ०) धातु से 'त्यजि-तनि-यजिभ्यो डित्' (उणा० १२९) सूत्र द्वारा 'अदि' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है।

रूपमाला यथा—

प्र०	यः	यौ	ये	प०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
द्वि०	यम्	,,	यान्	ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
तृ०	येन	याभ्याम्	यैः	स०	यस्मिन्	,,	येषु
च०	यस्मै	,,	येभ्यः				

यहाँ भी पूर्ववत् त्यदाद्यत्व और पररूप कर 'य' शब्द बन जाने पर सर्वनामकार्य हो जाते हैं। ध्यान रहे कि इसमें अनन्त्य तकार दकार न होने से सुँ में 'तदोः सः—' (३१०) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

एतद् = यह [निकटतम]

'इण् गतौ' (अदा० प०) धातु से 'एतेस्तुट् च' (उणा० १३०) सूत्र द्वारा अदि प्रत्यय तथा 'तुट्' का आगम करने पर 'एतद्' शब्द निष्पन्न होता है।

एतद् + स् (सुँ)। यहाँ 'त्यदादीनामः' (१९३) से दकार को अकार, 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप, 'तदोः सः—' (३१०) से अनन्त्य तकार को सकार तथा 'आदेश-प्रत्यययोः' (१५०) से उस सकार को षकार करने पर—एषस् = 'एषः' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसकी रूपमाला यथा —

प्र०	एषः	एतौ	एते
द्वि०	एतम्	,,	एतान्
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतैः
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्यः
प०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
ष०	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्
स०	एतस्मिन्	,,	एतेषु

यहां भी सर्वत्र त्यदाद्यत्व—पररूप होकर 'एत' शब्द बन जाने पर सर्व शब्द की तरह सर्वनाम कार्य होते हैं। सुँ विभक्ति का विशेष बता चुके हैं।

अन्वादेश में 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) सूत्र द्वारा द्वितीया, टा और ओस् विभक्तियों में 'एतद्' शब्द के स्थान पर 'एत' आदेश हो जाता है। शेष विभक्तियों में कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

अन्वादेश में रूपमाला यथा —

प्र०	एषः	एतौ	एते
द्वि०	एनम्❀	एनौ❀	एनान्❀
तृ०	एनेन❀	एताभ्याम्	एतैः
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्यः
प०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
ष०	एतस्य	एनयोः❀	एतेषाम्
स०	एतस्मिन्	,, ❀	एतेषु

❀द्वितीयाटौस्स्वेनः (२८०)

नोट—त्यदादियों का प्रायः सम्बोधन नहीं हुआ करता—यह हम पीछे लिख चुके हैं। यदि बनेगा भी तो प्रथमावत बनेगा। सम्बुद्धि में 'एङ्ह्रस्वात्—' का खयाल कर लेना चाहिये।

सूचना – ऊपर त्यदादियों के पुल्ँलिङ्ग के रूप दिये गये हैं। स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग के रूप आगे तत्तत्प्रकरणों में देखें।

——❀——

अब दकारान्तों में युष्मद् और अस्मद् का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। युष्मद् और अस्मद् शब्द तीनों लिङ्गों में एक समान होते हैं—यह हम पीछे अजन्त-पुल्ँलिङ्ग में 'कति' शब्द पर लिख चुके हैं।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों की सिद्धि में बहुत सारे सूत्र प्रयुक्त होते हैं, अतः यह बालकों को कठिन प्रतीत होती है। हम इसे यथाशक्ति सरल तथा सुबोध बनाने का प्रयास करेंगे। बालकों को इनकी सिद्धि से पूर्व इनके उच्चारण भली-भांति कंठस्थ कर लेने चाहियें। ऐसा करने से एक तो ये शब्द सरल दूसरे झटिति समझ में आ जाते हैं

इन दोनों की रूपमाला यथा—

*युष्मद् = तुम				*अस्मद् = मैं			
प्र०	त्वम्	युवाम्	यूयम्	प्र०	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि०	त्वाम्	,,	युष्मान्	द्वि०	माम्	,,	अस्मान्
तृ०	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः	तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	तुभ्यम्	,,	युष्मभ्यम्	च०	मह्यम्	,,	अस्मभ्यम्
प०	त्वत्-द्	,,	युष्मत्-द्	प०	मत्-द्	,,	अस्मत्-द्
ष०	तव	युवयोः	युष्माकम्	ष०	मम	आवयोः	अस्माकम्
स०	त्वयि	,,	युष्मासु	स०	मयि	,,	अस्मासु

युष्मद् और अस्मद् दोनों शब्दों में एक ही सूत्र प्रवृत्त होते हैं, अतः हम भी इनकी सिद्धि इकट्ठी दिखायेंगे।

युष्मद्+सुँ, अस्मद्+सुँ। यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३११ ङे प्रथमयोरम् ।७।१।२८॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः स्यात्।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे 'ङे' को तथा प्रथमा और द्वितीया विभक्ति को अम् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] ङे ।६।१। [यहां षष्ठीविभक्ति का लुक् समझना चाहिये।] प्रथमयोः ।६।२। अम् ।१।१। समासः — प्रथमा च प्रथमा च = प्रथमे, तयोः = प्रथमयोः, एकशेषः। यहां पहले 'प्रथमा' शब्द से प्रथमाविभक्ति तथा दूसरे 'प्रथमा' शब्द से द्वितीया-विभक्ति अभिप्रेत है †। अर्थः— (युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (ङे) ङे के स्थान पर तथा (प्रथमयोः) प्रथमा व द्वितीया विभक्ति के स्थान पर (अम्) 'अम्' आदेश हो जाता है।

इस सूत्र से सुँ को अम् आदेश हो कर—युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्। यहां 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा अम् के मकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) सूत्र से निषेध हो जाता है। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

---

* 'युष्यसिभ्याम् मदिक्' (उणा० १३६) युषिः सौत्रः।

† पहले 'प्रथमा' शब्द से सात विभक्तियों में से प्रथमाविभक्ति का ग्रहण हो जाता है, शेष द्वितीया आदि छः विभक्तियाँ बच रहती हैं। अब दूसरे 'प्रथमा' शब्द से उन छः अवशिष्ट विभक्तियों में से प्रथमाविभक्ति अर्थात् द्वितीया विभक्ति का ग्रहण हो जाता है। यह यहाँ तत्त्व है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३१२ त्वाहौ सौ ।७।२।९४॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहावादेशौ स्तः सौ परे ।

अर्थः—सुँ परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को मपर्यन्त (म् भी साथ लेना है) क्रमशः त्व, अह आदेश हो जाते हैं ।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] त्वाहौ ।१।२। सौ ।७।१। समासः—त्वश्च अहश्च = त्वाहौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(सौ) सुँ परे होने पर (मपर्यन्तस्य = मपर्यन्तयोः) 'म्' तक (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर (त्वाहौ) क्रमशः त्व और अह आदेश होते हैं ।

युष्मद् में युष्म् और अस्मद् में अस्म् ये मपर्यन्त भाग हैं । सुँ परे होने पर इन के स्थान पर क्रमशः त्व और अह आदेश होते हैं ।

युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्—यहां सुँ के स्थान पर हुए अम् आदेश को सुँ मान कर प्रकृतसूत्र से क्रमशः मपर्यन्त त्व और अह आदेश करने से—त्व अद् + अम्, अह अद् + अम् । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३१३ शेषे लोपः ।७।२।९०॥

एतयोष्टिलोपः । त्वम् । अहम् ॥

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् की टि का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तात् ।५।१। ['मपर्यन्तस्य' इस अधिकृति का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है ।] शेषे ।७।१। लोपः ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तात्) मपर्यन्त भाग से आगे (शेषे) शेष भाग में (लोपः) लोप प्रवृत्त होता है ।

मपर्यन्त भाग से आगे शेष भाग 'अद्' होता है । इस के लोप का इस सूत्र से विधान किया गया है । यह 'अद्' भाग युष्मद् और अस्मद् का 'टि' भाग ही होता है, अतः वृत्ति में टि के लोप का कथन किया गया है ।

सावधानता—यहां यह नहीं समझना चाहिये कि युष्मद् और अस्मद् शब्द में आदेशों से अवशिष्ट शेष भाग का लोप होता है । यथा यहां त्व और अह आदेश हो चुकने पर 'अद्' भाग शेष रहता है । यदि ऐसा मानेंगे तो यहां तो कार्य्य चल जायगा, परन्तु

'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' आदियों में न हो सकेगा। क्योंकि वहां 'युष्मद्, अस्मद्' शब्दों के स्थान पर कुछ आदेश नहीं होता। अतः यहां 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति ला कर म् से आगे के भाग को शेष समझना चाहिये।

इस सूत्र का दूसरा अर्थ भी होता है और कहीं २ लघुकौमुदी में वह उपलब्ध भी होता है। वह यह है —

"आत्व-यत्वनिमित्ततरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोपः स्यात्।"

अर्थः—जिस विभक्ति के परे होने पर आत्व और यत्व विधान नहीं होते, उस विभक्ति के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के अन्त्य अर्थात् दकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—'अष्टन आ विभक्तौ' से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आ जाने से इस अर्थ की उत्पत्ति इस प्रकार से होती है—(शेषे) शेष (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद्-का (लोपः) लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह लोप अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है।

इस सूत्र से पूर्व 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३२१) सूत्र द्वारा अनादेश हलादि विभक्तियों के परे होने पर आत्व तथा 'योऽचि' (३२०) सूत्र से अनादेश अजादि विभक्तियों के परे होने पर यत्व का विधान किया जाता है। यदि यत्व और आत्व निमित्तक विभक्तियों से भिन्न अन्य शेष विभक्तियां परे हों तो दकार का लोप हो जाता है। काशिकाकार ने उन सब शेष विभक्तियों की गणना एक श्लोक में कर दी है जिन में आत्व और यत्व प्रवृत्त नहीं हो सकते। तथाहि—

"पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च, षष्ठीप्रथमयोरपि।
यान्यद्विवचनान्यत्र, तेषु लोपो विधीयते॥"

अर्थात् पञ्चमी, चतुर्थी, षष्ठी तथा प्रथमा विभक्तियों के एकवचन और बहुवचन शेषविभक्तियां हैं। इनके परे होने पर 'शेषे लोपः' से युष्मद् और अस्मद् के अन्त्य दकार का लोप हो जाता है।

त्व अद्+अम्, अह अद्+अम्—यहां 'शेषे लोपः' से टि अर्थात् अद् का लोप हो कर—त्व+अम्, अह+अम्। पुनः 'अमि पूर्वः' (१३५) सूत्र से पूर्वरूप एकादेश करने से 'त्वम्, अहम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

अन्त्यलोप वाले पक्ष में—'त्व अद्+अम्, अह अद्+अम्' यहां प्रथम 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश होकर 'त्वद्+अम्, अहद्+अम्'। अब 'शेषे लोपः'

से अन्त्य दकार का लोप कर 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप किया तो—'त्वम्, अहम्' प्रयोग सिद्ध हुए।

युष्मद् + औ, अस्मद् + औ—यहां 'ङे प्रथमयोरम्' (३११) सूत्र से औकार को अम् आदेश हो जाता है। 'युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्' इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३१४ युवावौ द्विवचने ।७।२।९२॥

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ ।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर द्वित्वकथन में युष्मद् और अस्मद् को मपर्यन्त क्रमशः युव और आव आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [अधिकृत है।] युवावौ ।१।२। द्विवचने ।७।१। समासः—द्वयोर् वचनम् कथनम् = द्विवचनम्, तस्मिन् = द्विवचने । षष्ठीतत्पुरुषः। यहां 'द्विवचने' का 'विभक्तौ' के साथ समानाधिकरण कर लेने से 'द्विवचन विभक्ति परे होने पर' ऐसा अर्थ अभीष्ट नहीं। क्योंकि यदि ऐसा अभीष्ट होता तो महामुनि 'द्विवचने' न कहकर 'द्वित्वे' ही कह देते। उनके 'द्वित्वे' न कहकर 'द्विवचने' कथन का यह तात्पर्य है कि चाहे एकवचन, द्विवचन, बहुवचन जो भी विभक्ति परे हो द्वित्वकथन में युष्मद् और अस्मद् को मपर्यन्त युव, आव आदेश हो जाते हैं। यथा—युवाम् अतिक्रान्तः = अतियुवाम्, आवाम् अतिक्रान्तः = अत्यावाम्। यहां सुँ परे होने पर भी युव और आव आदेश हो जाते हैं। यहां का विशेष विचार 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखें। अर्थः—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (द्विवचने) द्वित्वकथन में (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मपर्यन्त भाग को (युवावौ) क्रमशः युव और आव आदेश हो जाते हैं।

युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्—यहां द्वित्वकथन में 'युवावौ द्विवचने' (३१४) सूत्र द्वारा मपर्यन्त क्रमशः युव, आव आदेश करने पर—युव अद् + अम्, आव अद् + अम्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३१५ प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ।७।२।८८॥

औङ्येतयोरात्वं लोके। युवाम्। आवाम्।

अर्थः—लोक में प्रथमा का द्विवचन परे होने पर युष्मद् और अस्मद् को आकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—प्रथमायाः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। द्विवचने ।७।१। भाषायाम् ।७।१। युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] आ ।१।१ ['अष्टन आ विभक्तौ' से] अर्थः—(भाषायाम्) लोक में (प्रथमायाः) प्रथमाविभक्ति के (द्विवचने) द्विवचन परे होने पर (च) भी (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर (आ) आकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल्—दकार के स्थान पर होता है।

युव अद्+अम्, आव अद्+अम्—यहां दकार को प्रकृतसूत्र से आकार आदेश होकर 'युव अ आ+अम्, आव अ आ+अम्' हुआ। अब 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ और 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर—'युवाम्, आवाम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

युष्मद्+जस्, अस्मद्+जस्—यहां 'ङे प्रथमयोरम्' (३११) से जस् को अम् आदेश हो जाता है। 'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३१६ यूयवयौ जसि ।७।२।९३॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो जसि। यूयम्। वयम्।

अर्थः—जस् परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को मपर्यन्त क्रमशः यूय और वय आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१ [यह अधिकृत है।] यूयवयौ ।१।२। जसि ।७।१। अर्थः—(जसि) जस् परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मपर्यन्त भाग के स्थान पर (यूयवयौ) यूय और वय आदेश होते हैं।

'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्' यहां अम् को जस् मान कर उसके परे होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा मपर्यन्त क्रमशः यूय और वय आदेश हो—'यूय अद्+अम्, वय अद्+अम्'। अब 'शेषे लोपः' (३१३) से टिलोप तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर—'यूयम्, वयम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप हो 'शेषे लोपः' (३१३) से अन्त्य दकार का लोप हो जाने पर 'अमि पूर्वः' (१३५) द्वारा पूर्वरूप हो जाता है—यूयम्, वयम्।

द्वितीया के एकवचन में—'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्'। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३१७ त्वमावेकवचने ।७।२।९७॥

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ ।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर एकत्व-कथन में युष्मद् और अस्मद् को मपर्यन्त त्व और म आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] त्वमौ ।१।२। एकवचने ।७।१। समासः—एकस्य वचनम्—कथनम् = एकवचनम्, तस्मिन् = एकवचने। षष्ठीतत्पुरुषसमासः। यहां 'एकवचने' का 'विभक्तौ' के साथ समानाधिकरण कर 'एकवचन विभक्ति परे होने पर' ऐसा अर्थ अभीष्ट नहीं। क्योंकि तब महामुनि 'एकवचने' न कह कर 'एकत्वे' ऐसा कह देते। अतः यहां 'एकवचने' कहने का यह तात्पर्य है कि चाहे एकवचन, द्विवचन व बहुवचन जो भी विभक्ति परे हो युष्मद् और अस्मद को एकत्व-कथन में मपर्यन्त त्व और म आदेश हो जाते है। यथा—त्वाम् अतिक्रान्तौ = अतित्वाम्, माम् अतिक्रान्तौ = अतिमाम्। यहां द्विवचन परे होने पर भी युष्मद् और अस्मद् के एकार्थवाची होने से 'त्व, म' आदेश हो जाते हैं। विशेष सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्' यहां क्रमशः मपर्यन्त 'त्व, म' आदेश होकर—'त्व अद्+अम्, म अद्+अम्'। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३१८ द्वितीयायाञ्च ।७।२।८७॥

अनयोरात् स्यात् । त्वाम् । माम् ।

अर्थः—द्वितीया विभक्ति परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को आकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] आ ।१।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] द्वितीयायाम् ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(द्वितीयायाम्) द्वितीया विभक्ति परे होने पर (च) भी (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (आ) आकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह आदेश अन्त्य दकार के स्थान पर होता है।

'त्व अद् + अम्, म अद् + अम्' यहां प्रकृतसूत्र से दकार को आकार आदेश हो 'त्व अ आ + अम्, म अ आ + अम्'। अब 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'त्वाम्, माम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

युष्मद् + औट्, अस्मद् + औट्--यहां 'ङे प्रथमयोरम्' (३११) सूत्र से अम् आदेश होकर—'युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्'। युवावौ द्विवचने' (३१४) से मपर्यन्त युव और आव हो —'युव अद् + अम्, आव अद् + अम्'। अब 'द्वितीयायांच' (३१८) से दकार को आकार, 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'युवाम्, आवाम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

सूचना—प्रथमा विभक्ति के 'युवाम्, आवाम्' में तथा द्वितीया विभक्ति के 'युवाम्, आवाम्' में आकारविधायक सूत्र का भेद है। प्रथमा मे 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (३१५) द्वारा तथा द्वितीया में 'द्वितीयायाञ्च' (३१८) से आकार आदेश होता है।

'युष्मद् + शस्, अस्मद् + शस्' यहां अनुबन्ध शकार का लोप होकर 'युष्मद् + अस्, अस्मद् + अस्'। अब इस अवस्था में 'ङे प्रथमयोरम्' (३११) द्वारा अम् आदेश प्राप्त होने पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३१९ शसो न । ७ । १ । २९॥

आभ्यां शसो नः स्यात्। अमोऽपवादः। आदेः परस्य। संयोगान्तलोपः। युष्मान, अस्मान्।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे शस् के स्थान पर नकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम्। ५। २। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] शसः ।६।१। न ।१।१। [यहां विभक्ति का लुक् समझना चाहिये।] अर्थः—(युस्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (शसः) शस् के स्थान पर (न) न् आदेश हो जाता है।

अम् आदेश के प्राप्त होने पर यह आदेश विधान किया गया है अतः यह उसका अपवाद है।

यह नकारादेश अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् अर्थात् सकार के स्थान पर

प्राप्त होता था, परन्तु 'आदेः परस्य' (७२) से उसका बाध हो शस्=अस् के आदि अर्थात् अकार के स्थान पर होता है।

'युष्मद्+अस्, अस्मद्+अस्' यहां प्रकृतसूत्र से अकार को नकार आदेश हो 'युष्मद्+न् स्, अस्मद्+न् स्'। अब 'द्वितीयायाञ्च' (३१८) सूत्र से दकार को आकार तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्ण दीर्घ हो— युष्मान्स्, अस्मान्स्। पुनः संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से सकार का लोप करने पर—'युष्मान्, अस्मान्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से 'न लोपः—' (१८०) द्वारा नकार का लोप नहीं होता किञ्च 'युष्मान्' में 'अट्कु—' (१३८) द्वारा प्राप्त णत्व का भी 'पदान्तस्य' (१३९) द्वारा निषेध हो जाता है।

युष्मद्+आ (टा), अस्मद्+आ (टा)—यहां एकत्वकथन होने के कारण 'त्वमावेकवचने' (३१७) से मपर्यन्त त्व और म आदेश हो—'त्व अद्+आ, म अद्+आ' हुए। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३२० योऽचि ।७।२।८९॥

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः। त्वया। मया।

अर्थः—अनादेश अजादि विभक्ति परे होने पर युष्मद् और अस्मद् को यकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] यः ।१।१। अनादेशे ।७।१। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] अचि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] 'अचि' यह 'विभक्तौ' का विशेषण है अतः 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादिविधि होकर 'अजादौ विभक्तौ' ऐसा बन जाता है। अर्थः—(अनादेशे) अनादेश (अचि) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों को (यः) य् आदेश हो जाता है।

जिन अजादि विभक्तियों के स्थान पर कोई आदेश नहीं होता वे अनादेश अजादि विभक्तियां कहाती हैं। उनके परे होने पर युष्मद् और अस्मद् को य् आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है।

'त्व अद्+आ, म अद्+आ' यहां 'आ' यह अनादेश अजादि विभक्ति परे है अतः प्रकृतसूत्र से दकार को यकार आदेश होकर 'अतो गुणे' (२७४) सूत्र से पररूप करने पर—त्वय्+आ='त्वया', मय्+आ='मया' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'अनादेश' कथन के कारण 'युष्मत्, अस्मत्' आदि रूपों में यकारादेश नहीं होता।

क्योंकि यहां पञ्चमी के बहुवचन 'भ्यस्' के स्थान पर 'पञ्चम्या अत्' (३२९) द्वारा 'अत्' यह अजादि आदेश हुआ है।

'युष्मद् + भ्याम्, अस्मद् + भ्याम्' यहां 'युवावौ द्विवचने' (३१४) से क्रमशः मपर्यन्त युव और आव आदेश होकर 'युव अद् + भ्याम्, आव अद् + भ्याम्'। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३२१ युष्मदस्मदोरनादेशे ।७।२।८६।।

अनयोरात् स्याद् अनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः ।

अर्थः—अनादेश हलादि विभक्तियों के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर आकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। अनादेशे ।७।१। हलि ।७।१। ['रायो हलि' से] विभक्तौ ।७।१। आ ।१।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] अर्थः—(अनादेशे) अनादेश (हलि = हलादौ) हलादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (आ) 'आ' यह आदेश हो जाता है। यह आकार आदेश अलोऽन्त्यविधि से अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है।

'युव अद् + भ्याम्, आव अद् + भ्याम्' यहां 'भ्याम्' यह अनादेश हलादि विभक्ति परे है अतः दकार को आकार होकर पररूप तथा सवर्णदीर्घ करने से—'युवाभ्याम्, आवाभ्याम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

अनादेश के फलस्वरूप 'युष्मभ्यम्' में 'भ्यम्' पक्ष में यह आ—आदेश नहीं होगा।

'युष्मद् + भिस्, अस्मद् + भिस्' यहां 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३२१) सूत्र से दकार को आकार तथा सवर्णदीर्घ होकर 'युष्माभिः, अस्माभिः' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'युष्मद् + ङे, अस्मद् + ङे' यहां 'ङे प्रथमयो म्' (३११) से अम् आदेश होकर 'युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्'। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३२२ तुभ्यमह्यौ ङयि ।७।२।९५।।

अनयोर्मपर्यन्तस्य । टिलोपः । तुभ्यम् । मह्यम् ।

अर्थः—'ङे' परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को क्रमशः मपर्यन्त तुभ्य और मह्य आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] तुभ्यमह्यौ ।१।२। ङयि ।७।१। अर्थः—(ङयि) 'ङे' परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मकारपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः (तुभ्यमह्यौ) तुभ्य और मह्य आदेश हो जाते हैं ।

'युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्' यहां स्थानिवद्भाव से अम् को ङे मानकर प्रकृतसूत्र से तुभ्य और मह्य आदेश होकर 'तुभ्य अद् + अम्, मह्य अद् + अम्' अब टिलोपपक्ष में 'शेषे लोपः' (३१३) से अद् का लोप तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'तुभ्यम्, मह्यम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । अन्त्यलोपपक्ष में प्रथम 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर पुनः 'शेषे लोपः' (३१३) से दकारलोप तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर—'तुभ्यम्, मह्यम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

'युष्मद् + भ्यस्, अस्मद् + भ्यस्' यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३२३ भ्यसोऽभ्यम् ।७।१।३०॥

आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् इत्यादेशः स्यात् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे भ्यस् को अभ्यम् आदेश हो ।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्याम् ङसोऽश्' से] भ्यसः ।६।१। अभ्यम् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (भ्यसः) भ्यस् के स्थान पर (अभ्यम्) अभ्यम् आदेश हो जाता है ।

'युष्मद् + भ्यस्, अस्मद् + भ्यस्' यहां भ्यस् को अभ्यम् आदेश होकर टिलोप❀ करने से 'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

ध्यान रहे कि 'शेषे लोपः' (३१३) में अन्त्यलोप मानने वाले 'भ्यसो भ्यम्' इस प्रकार सूत्र पढ़ कर उस का 'भ्यस् के स्थान पर भ्यम् हो' ऐसा अर्थ करते हैं । अतः उनके मत में भी यथेष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

'युष्मद् + ङसि, अस्मद् + ङसि' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३२४ एकवचनस्य च ।७।१।३२॥

आभ्यां ङसेरत् । त्वत् । मत् ।

❀यहां अनादेश अजादि विभक्ति न होने से (३२०) सूत्र से यकारादेश नहीं होता । एवम्—'भ्यम' पक्ष में भी (३२१) से आकारादेश की अप्राप्ति जाननी चाहिये ।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे ङसि को 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] पञ्चम्याः ।६।१। ['पञ्चम्या अत्' से] एकवचनस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अत् ।१।१। ['पञ्चम्या अत्' से] अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (पञ्चम्याः) पञ्चमी के (एकवचनस्य) एकवचन के स्थान पर (च) भी (अत्) 'अत्' यह आदेश हो जाता है।

'युष्मद् + ङसि, अस्मद् + ङसि' यहां प्रकृतसूत्र से अत् आदेश (ध्यान रहे कि अत् आदेश अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है) होकर—'युष्मद् + अत्, अस्मद् + अत्'। 'त्वमावेकवचने' (३१७) से मपर्यन्त 'त्व, म' होकर—'त्व अद् + अत्, म अद् + अत्'। अब 'शेषे लोपः' (३१३) से टिलोप तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'त्वत्, मत्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में 'अतो गुणे' से पररूप 'शेषे लोपः' से दकारलोप तथा पुनः पररूप करने पर 'त्वत्, मत्' रूप सिद्ध होते हैं।

सूचना—'अत्' आदेश में 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा तकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१२१) सूत्र निषेध करता है।

'युष्मद् + भ्यस्, अस्मद् + भ्यस्' यहां 'भ्यसोऽभ्यम्' (३२३) के प्राप्त होने पर उसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२५ पञ्चम्या अत् ।७।१।३१॥

आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् स्यात्। युष्मत्। अस्मत्।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे पञ्चमी के भ्यस् को 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] पञ्चम्याः ।६।१। भ्यसः ।६।१। ['भ्यसोऽभ्यम्' से] अत् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (पञ्चम्याः) पञ्चमी के (भ्यसः) भ्यस् के स्थान पर (अत्) 'अत्' आदेश हो जाता है।

'युष्मद् + भ्यस्, अस्मद् + भ्यस्' यहां प्रकृतसूत्र से पञ्चमी के भ्यस् को अत् आदेश होकर—'युष्मद् + अत्, अस्मद् + अत्'। अब 'शेषे लोपः' (३१३) से टिलोप होकर 'युष्म् + अत् = युष्मत्, अस्म् + अत् = अस्मत्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में अन्त्य दकार का लोप होकर पररूप करने से—'युष्मत्, अस्मत्' सिद्ध होते हैं।

'युष्मद् + ङस्, अस्मद् + ङस्' यहां 'त्वमावेकवचने' (३१७) के प्राप्त होने पर उसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३२६ तवममौ ङसि ।७।२।९६॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि ।

अर्थः—'ङस्' परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को मपर्यन्त क्रमशः 'तव' और 'मम' आदेश होते हैं।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] तवममौ ।१।२। ङसि ।७।१। अर्थः—(ङसि) ङस् परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मकारपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः (तव-ममौ) 'तव' और 'मम' आदेश होते हैं।

'युष्मद् + ङस्, अस्मद् + ङस्' यहां प्रकृतसूत्र से मपर्यन्त 'तव, मम' आदेश करने पर—तव अद् + ङस्, मम अद् + ङस्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्-३२७ युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ।७।१।२७॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसोऽशादेशः स्यात्। तव। मम। युवयोः। आवयोः।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे ङस् के स्थान पर 'अश्' आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ङसः ।६।१। अश् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (ङसः) ङस् के स्थान पर (अश्) अश् आदेश हो जाता है। 'अश्' आदेश शित् होने से 'आदेः परस्य' को बांध कर सर्वादेश होता है।

'तव अद् + ङस्, मम अद् + ङस्' यहां अश् आदेश होकर—'तव अद् + अ (अश्), मम अद् + अ (अश्)'। अब 'शेषे लोपः' (३१३) से अद् का लोप तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने से—'तव, मम' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में भी दकार का लोप होकर पररूप एकादेश करने से रूप सिद्ध हो जाते हैं।

'युष्मद् + ओस्, अस्मद् + ओस्' यहां 'युवावौ द्विवचने' (३१४) से मपर्यन्त

क्रमशः युव, आव होकर—'युव अद् + ओस्, आव अद् + ओस्'। 'योऽचि' (३२०) से दकार को यकारादेश होकर—'युव अय् + ओस्, आव अय् + ओस्'। 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'युवयोः, आवयोः' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'युष्मद् + आम्, अस्मद् + आम्' अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२८ साम आकम् ।७।१।३३॥

आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात्। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युवयोः। आवयोः। युष्मासु। अस्मासु।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे साम् को आकम् आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] सामः ।६।१। आकम् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (सामः) साम् के स्थान पर (आकम्) आकम् आदेश हो।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों के अदन्त न होने से इनसे परे आम् को 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५) से सुट् न हो सकने के कारण जब साम् ही नहीं होता तो पुनः उसके स्थान पर 'आकम्' आदेश कैसे सम्भव हो सकता है? यह प्रश्न यहां उपस्थित होता है। इसका उत्तर यह है कि यहां 'साम्' निर्देश भावी (आगामी = आगे होने वाले) 'सुट्' की निवृत्ति के लिये है। अर्थात 'आकम्' आदेश करने पर अन्त्यलोपपक्ष में 'शेषे लोपः' (३१३) सूत्र से जब अन्त्य दकार का लोप हो जाता है तब युष्मद् अस्मद् के अदन्त हो जाने से 'आमि सर्वनाम्नः सुट् (१५५) सूत्र से जो 'सुट्' का आगम प्राप्त होता है, उसकी निवृत्ति के लिये यहां 'साम्' के स्थान पर 'आकम्' आदेश कर रहे हैं। इससे 'आकम्' आदेश करने पर अन्त्यलोपपक्ष में अवर्णान्त हो जाने पर भी सुट् का आगम नहीं होता।

बालोपयोगी सार यह है कि यह सूत्र दो कार्य करता है। एक तो यह आम् के स्थान पर आकम् आदेश करता है। दूसरा यह दकारलोप हो जाने पर प्राप्त सुडागम का निषेध करता है।

'युष्मद् + आम्, अस्मद् + आम्' यहां 'साम आकम्' सूत्र से आम् को आकम् करने पर—युष्मद् + आकम्, अस्मद् + आकम्। अब अन्त्यलोपपक्ष में 'शेषे लोपः' (३१३) से दकार का लोप होकर सवर्णदीर्घ करने पर 'युष्माकम्, अस्माकम्' ये रूप सिद्ध होते हैं। टिलोपपक्ष में भी 'शेषे लोपः' से टि = अद् का लोप होकर—'युष्म् +

आकम् = युष्माकम्, अस्म् + आकम् = अस्माकम्' सिद्ध हो जाते हैं।

सूचना—यदि 'आकम्' की बजाय 'अकम्' इस प्रकार कहा होता तो अन्त्य-लोपपक्ष में 'शेषे लोपः' से दकार का लोप होकर पररूप एकादेश करने पर 'युष्मकम्, अस्मकम्' इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जाते। अतः 'आकम्' आदेश ही युक्त है।

'युष्मद् + ङि, अस्मद् + ङि' यहां ङकार अनुबन्ध का लोप होकर 'त्वमावेकवचने' (३१७) से क्रमशः मपर्यन्त त्व और म आदेश करने से—'त्व अद् + इ, म अद् + इ'। 'योऽचि' (३२०) से दकार को यकार तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश होकर 'त्वयि, मयि' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'युष्मद् + सु (सुप्), अस्मद् + सु (सुप्)' यहां 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३२१) से दकार को आकार होकर सवर्णदीर्घ करने से 'युष्मासु, अस्मासु' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

—❀—

अब युष्मद् अस्मद् विषयक सूत्रों पर कुछ अत्यन्त उपयोगी नोट लिखे जाते हैं। इनसे निश्चय ही बालकों को अपूर्व लाभ होगा। ध्यान देकर पढ़ें—

१ (मपर्यन्त आदेशों के विषय में)

(क)—एकवचन में सु, ङे, ङस् को छोड़कर अन्य सब स्थानों में 'त्वमावेक-वचने' (३१७) प्रवृत्त हो जाता है। सु में 'त्वाहौ सौ' (३१८), ङे में 'तुभ्यमह्यौ ङयि' (३२२), ङस् में 'तवममौ ङसि' (३२६) अपवाद हैं। तथाहि—

> ङसं सुं ङेविभक्तिश्च विनैकवचने सदा।
> एकोक्तौ तु त्वमादेशौ मपर्यन्ताविती रितौ ॥१॥
> तुभ्यमह्यौ ङयि स्यातां त्वाहौ सौ मुनिचोदितौ।
> ङस्यादेशौ तथा ख्यातौ तवेति च ममेत्यपि ॥२॥

(ख)—द्विवचनों में सदा मपर्यन्त युव, आव आदेश होते हैं। इनका कोई अपवाद नहीं। तथाहि—

> अपवाद विनादेशौ युवावौ भवतः सदा।

(ग)—बहुवचन में जस् को छोड़कर अन्य कहीं भी मपर्यन्त आदेश नहीं होता। जस् में 'यूयवयौ जसि' से यूय, वय आदेश होते हैं। तथाहि—

> जसमेकम्परित्यज्य आदेशो भूम्नि नो भवेत्।

जसि यूयवयादेशौ मपर्यन्ताविती॒रितौ ॥

—ॐ—

२ (विभक्तिस्थानिक आदेशों के विषय में)

शसं त्यक्त्वा द्वितीयायाः प्रथमायास्तथैव ङे. ।
अमादेशो बुधैः प्रोक्तः शसोऽकारस्य नः स्मृतः ॥१॥
साम आकं ङसोऽश्प्रोक्तोऽत् पञ्चम्येकबहुत्वयोः ।
ऋत एभ्यो न चादेशो विभक्तीनां क्वचिद्भवेत् ॥२॥

अर्थः—शस् को छोड़कर द्वितीया के तथा प्रथमा और ङे के स्थान पर अम् आदेश हो जाता है। शस् के अकार को नकार आदेश होता है ॥१। साम् (आम्) को आकम्, ङस् को अश्, पञ्चमी के एकवचन और बहुवचन को अत् आदेश होता है। इन आदेशों के बिना अन्य किसी विभक्ति के स्थान पर कोई आदेश नहीं होता ॥२॥

—ॐ—

३ (आत्व और यत्व के विषय में)

(क) — सुपि चौङि भिसि भ्यामि द्वितीयायां तथैव च ।
आत्वमेषु दकारस्य त्रिभिः सूत्रैर्मुनीरितैः ॥

अर्थः—प्रथमा के द्विवचन (औ), द्वितीया, भ्याम्, भिस् तथा सुप् में दकार को आकार हो जाता है। दकार को आकार करने वाले तीन सूत्र हैं—१. प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (३१४) २. द्वितीयायां च (३१८) ३. युष्मदस्मदोरनादेशे (३२१)

(ख)—योऽचिसूत्रेण यादेश आङि ओसि तथैव ङौ ।

अर्थः—आङ् (टा), ओस् तथा ङि परे होने पर दकार को यकार आदेश हो जाता है।

—ॐ—

४ ('शेषे लोपः' सूत्र के विषय में)

पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च षष्ठीप्रथमयोरपि ।
यान्यद्विवचनान्यत्र तेषु लोपो विधीयते ॥

अर्थः—पञ्चमी, चतुर्थी, षष्ठी तथा प्रथमा के एकवचन और बहुवचन के परे होने पर 'शेषे लोपः' सूत्र प्रवृत्त हुआ करता है।

—*—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३२६ युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ।८।१।२०॥

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वान्नावौ इत्यादेशौ स्तः।

अर्थः—पद से परे, पाद के आदि में न ठहरे हुए, षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्ति से युक्त युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः वाम्, नौ आदेश होते हैं।

व्याख्या—पदात् ।५।१। [यह अधिकृत है।] षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ।६।२। युष्मदस्मदोः ।६।२। वान्नावौ ।१।२। अपादादौ ।७।१। [यह अधिकृत है।] समासः—न पादादौ = अपादादौ, प्रसज्यप्रतिषेधः। नञ्समासः। अर्थः—(पदात्) पद से परे (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः) षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्ति के साथ वर्त्तमान (युष्मदस्मदोः) युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (वान्नावौ) वाम् नौ आदेश हो जाते हैं। (अपादादौ) परन्तु पाद के आदि में नहीं होते।

यह सूत्र केवल षष्ठ्यादि के द्विवचन में ही प्रवृत्त होता है, एकवचन व बहुवचन में नहीं। एकवचन और बहुवचन में अग्रिम तीन सूत्र इसके अपवाद हैं। सूत्र के उदाहरण यथा -

द्वितीया—लोको वां (युवाम्) पश्यति। लोको नौ (आवाम्) पश्यति।

चतुर्थी—ईशो वां (युवाभ्याम्) ददाति। ईशो नौ (आवाभ्याम्) ददाति।

षष्ठी—धनमिदं वाम् (युवयोः) अस्ति। धनमिदं नौ (आवयोः) अस्ति।

यहां कोष्ठ में लिखे शब्दों के स्थान पर वाम्, नौ आदेश हुए हैं।

'पद से परे' इसलिए कहा गया है कि—युवामीशो रक्षतु। आवां दुष्टस्तुदति। युवाभ्यां भ्राता ददाति। आवाभ्यां माता ददाति। युवयोर्धनमस्ति। आवयोर्धनमस्ति। इत्यादि स्थानों पर आदेश न हों। यहां 'युवाम्' आदि पद से परे नहीं हैं।

'अपादादौ' इसलिए कहा है कि श्लोक के पाद के आदि में 'युवाम्', 'आवाम्'

आदि के स्थान पर 'वाम्, नौ' आदेश न हो जाएं*। यथा—

> दयालो ! देव ! विख्यात !, आवयोर्हरसि व्यथाम्।
> अतः शरणमापन्नौ आवां रक्ष निजाङ्कतः॥

यहां 'आवयोः' और 'आवाम्' के पद से परे होने पर भी पाद के आदि में वर्तमान होने के कारण 'नौ' आदेश प्राप्त नहीं होता।

'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः······' में 'स्थ' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि षष्ठ्यादि विभक्तियों के साथ रहने पर ही 'युष्मद्, अस्मद्' शब्दों को 'वाम्, नौ' आदेश हों, समास में विभक्ति के लुप्त हो जाने पर न हों। यथा—"इमौ युष्मत्पुत्रौ गच्छतः। इमावस्मत्पुत्रौ वदतः" यहां 'युवयोः पुत्रौ = युष्मत्पुत्रौ, आवयोः पुत्रौ = अस्मत्पुत्रौ' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास है। समास में विभक्ति का लुक् हो जाने से 'वाम्, नौ' आदेश नहीं होते।

अब इस सूत्र के अपवाद आरम्भ किये जाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३३० बहुवचनस्य वस्नसौ।८।१।२१॥

उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः।

अर्थः—पद से परे, पाद के आदि में न ठहरे हुए, षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया के बहुवचनों से युक्त, युष्मद्, अस्मद् शब्दों को क्रमशः वस् नस् आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—पदात्।५।१। [अधिकृत है।] षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः।६।२। [पूर्वसूत्र से] युष्मदस्मदोः।६।२। [पूर्वसूत्र से] बहुवचनस्य।६।१। [यह 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण है, अतः विभक्तिविपरिणाम तथा तदन्तविधि से 'बहुवचनान्तयोः' बन जाता है।] वस्नसौ।१।२। अपादादौ।७।१। [यह भी अधिकृत है।] अर्थः—(पदात्) पद से परे (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः) षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया सहित वर्तमान (बहुवचनस्य = बहुवचनान्तयोः) बहुवचनान्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद्, अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (वस्नसौ) वस्, नस् आदेश हो जाते हैं। परन्तु (अपादादौ) पाद के आदि में नहीं होते। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है। इसके

---

* यह निषेध श्लोक के द्वितीय तृतीयादि पादों के लिए किया गया है, प्रथम पाद के लिए नहीं। क्योंकि प्रथम पाद में तो 'पदात्' इस अधिकार से ही व्यभिचार-निवृत्ति हो सकती थी।

उदाहरण यथा—

षष्ठी—गावो वः (युष्माकम्) सन्ति । अजा नः (अस्माकम्) सन्ति ।

चतुर्थी—गावो वो (युष्मभ्यम्) दीयन्ते । अजा नो (अस्मभ्यम्) दीयन्ते ।

द्वितीया—गावो वः (युष्मान्) पश्यन्ति । अजा नः (अस्मान्) पश्यन्ति ।

'पद से परे' इसलिये कहा है कि—१ युष्माकं धनमस्ति । २ अस्माकं बलमस्ति । ३ युष्मभ्यं दीयते । ४ अस्मभ्यं दीयते । ५ युष्माकं श्रद्धाऽस्ति । ६ अस्माकं श्रद्धाऽस्ति । इत्यादियों में वस्, नस् आदेश न हों ।

'अपादादौ' इसलिये कहा गया है कि—

"न शृणोति हितं पापी, युष्माकं वित्तहारकः ।"

इत्यादियों में 'युष्माकम्' के स्थान पर 'वस्' आदेश न हो ।

'स्थ' ग्रहण का प्रयोजन पूर्ववत् 'अयं युष्मत्पुत्रो (युष्माकं पुत्रः) गच्छति, अयञ् अस्मत्पुत्रो (अस्माकं पुत्रः) गच्छति' इत्यादियों में वस्, नस् आदेश न करना ही है ।

अब 'वाम्, नौ' का दूसरा अपवाद लिखते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३३१ तेमयावेकवचनस्य ।८।१।२२॥

उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः ।

अर्थः—पद से परे पाद के आदि में न ठहरे हुए, षष्ठी तथा चतुर्थी के एकवचनों से युक्त, युष्मद् अस्मद् शब्दों को क्रमशः 'ते, मे' आदेश हो जाते हैं ।

व्याख्या—पदात् ।५।१। [अधिकृत है] षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ।६।२। युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोःषष्ठी.......' से] एकवचनस्य । ६।१। ['युष्मदस्मदोः' का विशेषण होने से पूर्ववत् 'एकवचनान्तयोः' बन जाता है ।] तेमयौ ।१।२। अपादादौ ।७।१। [अधिकृत है] अर्थः—(पदात्) पद से परे, (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः) षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया के सहित वर्तमान (एकवचनस्य = एकवचनान्तयोः) एकवचनान्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद्, अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (तेमयौ) 'ते, मे' आदेश होते हैं । परन्तु (अपादादौ) पाद के आदि में नहीं होते ।

यह सूत्र 'युष्मदस्मदोः षष्ठी.......' (३२९) सूत्र का अपवाद है । इसका भी 'त्वामौ द्वितीयायाः' (३३२) यह अग्रिमसूत्र अपवाद है । अतः यह सूत्र षष्ठी तथा चतुर्थी के एकवचनान्तों में ही प्रवृत्त होता है । ग्रन्थकार ने भी वृत्ति में इसीलिए द्वितीया

का ग्रहण नहीं किया। इसके उदाहरण यथा—

षष्ठी—ईश ! अहं ते (तव) दासोऽस्मि। त्वं मे (मम) दासोऽसि।

चतुर्थी—नमस्ते (तुभ्यम्) ऽस्तु। भोजनं मे (मह्यम्) प्रयच्छतु।

'पद से परे' इसलिए कहा है कि—तव दास एष जनः। ममास्ति प्रयोजनम्। तुभ्यं धनं दास्यामि। मह्यम् मोदकम् रोचते। इत्यादियों में 'ते, मे' आदेश न हो जाएं।

'अपादादौ' इसलिये कहा है कि—

"पुरा पश्यन्नरो मूर्खः, तव कार्यं करिष्यति" इत्यादि में आदेश न हो जाय।

अब इस सूत्र का अपवाद कहते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्र—३३२ त्वामौ द्वितीयायाः ।८।१।२३॥

द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः ॥

अर्थः—पद से परे, पाद के आदि में न ठहरे हुए, द्वितीया के एकवचन से युक्त 'युष्मद्, अस्मद्' शब्दों को क्रमशः 'त्वा, मा' आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—पदात्।५।१। [अधिकृत है।] द्वितीयायाः।६।१। एकवचनस्य।६।१। ['तेमयावेकवचनस्य' से। 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण है, अतः विभक्ति-विपरिणाम तथा तदन्तविधि होकर 'एकवचनान्तयोः' बन जाता है।] युष्मदस्मदोः।६।२। ['युष्मदस्मदोः षष्ठी·······' से] त्वामौ।१।२। अपादादौ।७।१। [यह भी अधिकृत है।] अर्थः—(पदात्) पद से परे (द्वितीयायाः) द्वितीया के (एकवचनस्य=एकवचनान्तयोः) एकवचनान्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (त्वामौ) त्वा, मा आदेश हो जाते हैं (अपादादौ) परन्तु पाद के आदि में नहीं होते।

यह सूत्र 'तेमयावेकवचनस्य' (३३१) सूत्र का अपवाद है। इसके उदाहरण यथा—

लोकस्त्वा (त्वाम्) पश्यति। लोको मा (माम्) पश्यति।

'पद से परे' इसलिये कहा है कि—"त्वां लोकाः पश्यन्ति। मां लोकाः पश्यन्ति" इत्यादियों में 'त्वा, मा' आदेश न हों।

'अपादादौ' इसलिये कहा है कि—"स जगद्रक्षको देवो मां सदा पालयिष्यति" इत्यादियों में आदेश न हो।

अब ग्रन्थकार इन सब सूत्रों के उदाहरण दो श्लोकों में दर्शाते हैं—

[लघु०] श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह, दत्तात् ते मेऽपि शर्म सः ।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वाम् अपि नौ विभुः ॥१॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वाम् अपि नौ हरिः ।
सोऽव्याद् वो नः, शिवं वो नो दद्यात्, सेव्योऽत्र वः स नः ॥२॥

अर्थः—(इह) इस लोक मे (श्रीशः) श्रीपति विष्णु (त्वा = त्वाम्) तुझे (अपि) तथा (मा = माम्) मुझे (अवतु) बचावे। (सः) वह भगवान् विष्णु (ते = तुभ्यम्) तेरे लिये (अपि) तथा (मे = मह्यम्) मेरे लिये (शर्म) कल्याण को (दत्तात) दे । (सः) वह (हरिः) भगवान् विष्णु (ते = तव) तेरा (अपि) तथा (मे = मम) मेरा (स्वामी) स्वामी है । (विभुः) सर्वव्यापक हरि (वाम् = युवाम्) तुम दोनों को (अपि) तथा (नौ = आवाम्) हम दोनों को (पातु) बचावे ॥१॥ (ईशः) भगवान (वाम् = युवाभ्याम्) तुम दोनों के लिये तथा (नौ = आवाभ्याम्) हम दोनों के लिये (सुखम्) सुख (ददातु) दें । (हरिः) श्रीविष्णु (वाम् = युवयोः) तुम दोनों का (अपि) तथा (नौ = आवयोः) हम दोनों का (पतिः) हपति है । (सः) वह भगवान् विष्णु (वः = युष्मान) तुम सबको तथा (नः = अस्मान्) म सबको (अव्यात) बचावे । (सः) वह जगत्प्रसिद्ध विष्णु (वः = युष्मभ्यम्) तुम सबके लिये तथा (नः = अस्मभ्यम्) हम सबके लिये (शिवम्) कल्याण (दद्यात) प्रदान करे । (सः) वह विष्णु (वः = युष्माकम्) तुम सबका तथा (नः = अस्माकम्) हम सबका (सेव्यः) सेवनीय है ।

व्याख्या—यहां पहले द्वितीया, चतुर्थी तथा षष्ठी के एकवचन का; पीछे द्विवचन का; तदनन्तर बहुवचन का उदाहरण दिया गया है। हमने अर्थ करते समय कोष्ठ में स्पष्ट कर दिया है ।

[लघु०] वा०—(२६) समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः ।
एकतिङ् वाक्यम । तेनेह न—ओदनं पच तव भविष्यति । इह तु स्यादेव—शालीनान्ते ओदनं दास्यामि ॥

अर्थः- युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर होने वाले 'वाम्, नौ' आदि आदेश समानवाक्य अर्थात एक वाक्य में होते हैं। एकतिङ् इति—एक तिङन्त वाला वाक्य कहाता है ।

व्याख्या—पूर्वोक्त 'वाम्, नौ' आदि आदेश समान वाक्य में प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् इन सूत्रों के विषय में निमित्त और निमित्ती का एक ही वाक्य में वर्त्तमान होना आवश्यक है। पद से परे 'वाम्, नौ' आदि आदेशों का विधान है। यहां पद निमित्त तथा 'वाम्, नौ' आदि आदेश निमित्ती हैं। यदि निमित्त अन्य वाक्य में तथा निमित्ती अन्य वाक्य में स्थित होगा तो ये आदेश न होंगे।

इस वार्त्तिक के उदाहरण देने से पूर्व वाक्य क्या होता है? इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये वाक्य का लक्षण करते हैं—"एकतिङ् वाक्यम्"। एकः = मुख्यः, तिङ् = तिङन्तो यस्य यस्मिन् वा स एकतिङ्। जिसमें एक तिङन्त मुख्य व विशेष्य ❀ हो—उसे 'वाक्य' कहते हैं।

अब वार्त्तिक का प्रयोजन दिखाते हुए प्रत्युदाहरण देते हैं—

"ओदन पच तव भविष्यति"। यहां एक वाक्य नहीं, दो वाक्य हैं। 'ओदन पच' यह पहला वाक्य तथा 'तव भविष्यति' यह दूसरा वाक्य है। यहां दूसरे वाक्य में स्थित 'तव' के स्थान पर 'ते' आदेश नहीं होता, क्योंकि उसका निमित्त पद (पच) एक वाक्य में स्थित नहीं।

"शालीनां ते ओदनं दास्यामि" यहां 'शालीनाम्' यह निमित्त एक वाक्य में स्थित है अतः इससे परे 'तुभ्यम्' के स्थान पर 'ते' आदेश हो जाता है।

[लघु०] वा०—(२७) एते वान्नावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्याः। धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्तीति वा। अन्वादेशे तु नित्यं स्युः—तस्मै ते नम इत्येव।

अर्थः—अन्वादेश न होने पर पूर्वोक्त वाम्, नौ आदि आदेश विकल्प से होते हैं। [तात्पर्य यह है कि अन्वादेश में नित्य होते हैं।]

व्याख्या—'किसी कार्य को विधान करने के लिये ग्रहण किये हुए का पुनः दूसरे कार्य को विधान करने के लिये ग्रहण अन्वादेश कहाता है' यह हम पीछे 'इदम्' शब्द पर स्पष्ट कर चुके हैं। जहां अन्वादेश न होगा वहां पूर्वोक्त 'वाम्, नौ, वस्, नस्, ते, मे, त्वा, मा' आदेश विकल्प से प्रवृत्त होंगे। जहां अन्वादेश होगा वहां नित्य होंगे। यथा—

❀ 'विशेष्य' के कथन से—"पश्य मृगस्ते धावति" (अपने दौड़ते हुए मृग को देखो) इत्यादि दो तिङन्तों वाले भी वाक्य हो जाते हैं। इनमें भी 'पश्य' इस एक तिङन्त की ही विशेष्यता है।

"धाता ते भक्तोऽस्ति। धाता तव भक्तोऽस्ति।" यहाँ अन्वादेश न होने से 'तव' को 'ते' आदेश विकल्प से प्रवृत्त होता है।

"योऽग्निर्हव्यवाट्, तस्मै ते नमः।" इत्यादि वाक्यों में अन्वादेश होने से 'तुभ्यम्' के स्थान पर नित्य 'ते' आदेश होता है।

इति दान्तेषु युष्मदस्मत्प्रकरणम्।

—※—

[लघु०] सुपात्, सुपाद्। सुपादौ।

व्याख्या—सु = शोभनौ पादौ यस्य सः = सुपात्। बहुव्रीहिसमासः। 'सङ्ख्या-सुपूर्वस्य' (५. ४. १४०) इतिपादस्यान्त्यलोपः समासान्तः। सुन्दर पैरों वाले को 'सुपाद्' कहते हैं।

सुपाद् + स् (सुँ) = सुपाद् ['हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७६)] = सुपात्—द् ['वाऽवसाने' (१४६)]। सुपाद् + औ = सुपादौ। सुपादः। सुपाद् + अस् (शस्)। अब यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् - ३३३ पादः पत्।६।४।१३०॥

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः स्यात्। सुपदः। सुपदा। सुपाद्भ्याम्॥

अर्थः—'पाद्' शब्दान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अवयव 'पाद्' शब्द के स्थान पर 'पद्' आदेश होता है।

व्याख्या—पादः।६।१। [यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः इससे तदन्त-विधि होकर 'पादन्तस्य' बन जाता है।] भस्य।६।१। [यह अधिकृत है।] अङ्गस्य।६।१। [यह अधिकृत है।] पत्।१।१। अर्थः—(पादः = पादन्तस्य] 'पाद्' अन्त वाले (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (पत्) पद् आदेश हो जाता है।

"निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" (पृष्ठ २३४) इस पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार 'पाद्' के स्थान पर ही 'पद्' आदेश होगा।

सुपाद् + अस् (शस्)। यहां 'यचि भम्' (१६५) के अनुसार 'सुपाद्' की भसञ्ज्ञा है। इसके अवयव 'पाद्' शब्द के स्थान पर 'पद्' आदेश होकर—सुपद् + अस्

=सुपदः। इसी प्रकार अन्य भसञ्ज्ञकों में भी समझ लेना चाहिये। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	सुपान्-द्	सुपादौ	सुपादः	प०	सुपदः ×	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भ्यः
द्वि०	सुपादम्	,,	सुपदः ×	ष०	,, ×	सुपदोः ×	सुपदाम् ×
तृ०	सुपदा ×	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भिः	स०	सुपदि ×	,, ×	सुपात्सु +
च०	सुपदे ×	,,	सुपाद्भ्यः	सं०	हे सुपान्-द् !	हे सुपादौ !	हे सुपादः !

× सर्वत्र 'पादः पत्' (३३३) से पद् आदेश होता है।

+ 'खरि च' (७४) से चर्त्व—तकार हो जाता है।

इसी प्रकार—द्विपाद्, त्रिपाद् प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

अभ्यास (४१)

(१) 'शेषे लोपः' सूत्र की व्याख्या करते हुए दोनों प्रकार का अर्थ सोदाहरण स्पष्ट करो।

(२) 'युष्मद्, अस्मद्' शब्द अवर्णान्त नहीं होते अतः 'सुट्' का आगम स्वतः ही प्राप्त नहीं हो सकता तो पुनः 'साम आकम्' में ससुट् निर्देश का क्या प्रयोजन है ?

(३) किस किस विभक्ति में 'शेषे लोपः' सूत्र की प्रवृत्ति होती है ?

(४) 'शसो न' द्वारा होने वाला नकारादेश किसके स्थान पर होता है ? सप्रमाण लिखो।

(५) 'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' में 'योऽचि' द्वारा यकारादेश क्यों नहीं होता ?

(६) 'वाम्, नौ' आदेशों के कौन २ अपवाद हैं ससूत्र सोदाहरण लिखो।

(७) 'ङे प्रथमयोरम्' सूत्र के अर्थ में 'द्वितीया' विभक्ति का कहां से ग्रहण हो जाता है ?

(८) 'भ्यसो भ्यम्' सूत्र के दो प्रकार के अर्थों का विवेचन करते हुए उनका पृथक् २ प्रयोजन लिखो।

(९) "अकार्यं कार्यवच्छास्मन्मम कार्ये न युज्यते।
न शृणोति महामूर्खो युष्माकं चित्तहारकः ॥"

यहां पर 'मम' और 'युष्माकम्' के स्थान पर क्या कोई आदेश हो सकता है ? सप्रमाण लिखो।

(१०) 'युवावौ द्विवचने' और 'त्वमावेकवचने' सूत्रों की व्याख्या करते हुए रेखाङ्कित पदों का विशेष स्पष्टीकरण करो।

(११) "एषः, त्वम्, युष्माकम्, त्वयि, अस्मान्, आवाभ्याम्, सुपदः, त्वत्, मम, माम्, एनयोः, एतेषाम्, तस्मिन्, यस्मै, आवयोः"—इन रूपों की ससूत्र साधन-प्रक्रिया लिखो।

(१२) अधोलिखित सूत्रों की व्याख्या करो—

१ पादः पत्। २ योऽचि। ३ द्वितीयायाञ्च। ४ त्वाहौ सौ। ५ तदोः सः साव-नन्त्ययोः। ६ समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः।

(१३) ऐसा शब्द बताओ जिसके दोनों भ्यसों तथा दोनों 'औ' में रूप का वा सिद्धि का भेद पड़ा हो।

यहां दकारान्त पुल्ँलिंग समाप्त होते हैं।

अब थकारान्त पुल्ँलिङ्ग का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अग्निमत्, अग्निमद्। अग्निमथौ। अग्निमथः॥

व्याख्या—अग्निं मथ्नातीति—अग्निमत्। अग्नि कर्मोपपदाद् 'मन्थ विलोडने' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् क्विपि 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (३३४) इति नलोपे 'अग्निमथ्' इतिशब्दः सिध्यति†।

'अग्निमथ्' शब्द की रूपमाला यथा

प्र०	अग्निमत्, द्+	अग्निमथौ	अग्निमथः
द्वि०	अग्निमथम्	,,	,,
तृ०	अग्निमथा	अग्निमद्भ्याम्*	अग्निमद्भिः
च०	अग्निमथे	,,	अग्निमद्भ्यः
पं०	अग्निमथः	अग्निमद्भ्याम्	अग्निमद्भ्यः
ष०	,,	अग्निमथोः	अग्निमथाम्
स०	अग्निमथि	,,	अग्निमत्सु•
सं०	हे अग्निमत्-द्!	हे अग्निमथौ!	हे अग्निमथः!

+ हल्ङ्याब्भ्यः— (१७९), झलां जशोऽन्ते (६७), वाऽवसाने (१४६)।

* झलां जशोऽन्ते (६७)। • झलां जशोऽन्ते, खरि च (७४)

यहां थकारान्त पुल्ँलिङ्ग समाप्त होते हैं।

अब चकारान्त पुल्ँलिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३३४ अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ।६।४।२४॥

हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति ङिति।

---

† इदितो मन्थेस्तु नलोपाभावाद् अग्निमन्, अग्निमन्थावित्यादि।

नुम् । संयोगान्तस्य लोपः । नस्य कुत्वेन ङः । प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः ॥

अर्थः—जिनके इकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती ऐसे हलन्त अङ्गों की उपधा के नकार का कित् ङित् परे होने पर लोप हो जाता है ।

व्याख्या—अनिदिताम् ।६।३। हलः ।६।१। ['अङ्गस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर 'हलन्तस्य' बन जाता है] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] उपधायाः ।६।१। न ।६।१। ['श्नान्नलोपः' से यहां षष्ठी का लुक् हुआ है ।] लोपः ।१।१। ['श्नान्नलोपः' से] क्ङिति ।७।१। समासः—इत् (ह्रस्वेकारः) इत् (इत्सञ्ज्ञकः) येषान्ते = इदितः, बहुव्रीहिसमासः । न इदितः = अनिदितः, तेषाम् = अनिदिताम्, नञ्समासः । क् च ङ् च = क्ङौ, इतरेतरद्वन्द्वः । क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन् = क्ङिति, बहुव्रीहिसमासः । 'अनिदिताम्' इस प्रकार बहुवचननिर्देश करने से 'हलः' और 'अङ्गस्य' दोनों में वचनविपरिणाम अर्थात् बहुवचन हो जाता है । अर्थः—(अनिदिताम्) जिनके इकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती ऐसे (हलः = हलन्तानाम्) हलन्त (अङ्गस्य = अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के (न = नस्य) नकार का (लोपः) लोप हो जाता है (क्ङिति) कित् ङित् परे हो तो ।

'प्र' पूर्वक 'अञ्चुँ गतिपूजनयोः'% (भ्वा० प०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्...' (३०१) सूत्र से क्विन् प्रत्यय करने पर उसका सर्वापहारी लोप हो जाने से —'प्र अञ्च्' । अब यहां प्रत्ययलक्षण द्वारा कित् क्विन् प्रत्यय को मान कर 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (३३४) सूत्र से नकार❀ का लोप हो जाने पर 'प्र अच्' हुआ । अब इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा† होकर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ।

प्र अच् + स् (सुँ) । 'उगिदचाम् - ' (२८९) से नुम् का आगम—'प्र अनुम्च् +

% यहां केवल गति अर्थ ही विवक्षित है पूजन अर्थ नहीं । अन्यथा 'नाञ्चेः पूजायाम्' (३४१) सूत्र से नकारलोप का निषेध हो जायगा । पूजा अर्थ में रूप आगे दर्शाए जावेंगे ।

❀ 'अञ्चु' धातु में ञकार की उत्पत्ति नकार से ही समझनी चाहिये । ['स्तोः श्चुना श्चुः']

†इस प्रकरण में 'प्र अच्, प्रति अच्, समि अच्' इस प्रकार सन्ध्यभाव में ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की जाती है । यह सब शसादियों में 'अचः' (३३५) आदि द्वारा अकार-लोपादि प्रक्रिया की सुविधा के लिये ही किया गया है ।

स्'। 'उम्' अनुबन्ध का लोप होकर 'प्र अनूच्+स्'। 'हल्ङ्याब्भ्यः —' (१७९) से सुलोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से चकारलोप—'प्र अन्'। अब 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से नासिकास्थानीय नकार के स्थान पर तादृश ङकार होकर—प्र अङ्। 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) सूत्र से सवर्णदीर्घ एकादेश करने पर 'प्राङ्' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र अच्+औ❀। 'उगिदचाम्—' (२८९) से नुम् आगम, उम् अनुबन्ध का लोप, 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार के स्थान पर अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण ञकार करने पर—प्र अञ्च्+औ=प्राञ्चौ†। इसी प्रकार सम्पूर्ण सर्वनामस्थान में प्रक्रिया होती है।

प्र अच्+अस् (शस्)। अब सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा न होने से 'उगिदचाम्—' (२८९) सूत्र से नुम् आगम नहीं हो सकता। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् ३३५ अचः ।६।४।१३८॥

लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः स्यात् ॥

अर्थः—लुप्त नकार वाली अञ्च् धातु के भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—अचः ।६।१। [यहां 'अच्' से लुप्तनकार वाली अञ्चु धातु का निर्देश किया गया है।] भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अत ।६।१। लोपः ।१।१। ['अल्लोपोऽनः' से] अर्थः—(अचः) लुप्त नकार वाली अञ्चु धातु के (भस्य) भसञ्ज्ञक (अत=अतः) अकार का (लोपः) लोप हो जाता है।

'प्र अच्+अस्'। यहां 'अच्' यह लुप्तनकार अञ्चु है, 'यचि भम्' (१६५) से इसकी भसञ्ज्ञा भी है अतः प्रकृतसूत्र से इसके अकार का लोप होकर—'प्रच्+अस्'। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है।—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३३६ चौ ।६।३।१३७॥

लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। प्राचः। प्राचा।

❀क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदिताम्—' (३३४) द्वारा नकारलोप—इतनी प्रक्रिया स्वयं सब विभक्तियों में जान लेनी चाहिये। हम इसे बार बार नहीं लिखेंगे।

† नस्य श्चुत्वन्तु न भवति, अनुस्वारं प्रति श्चुत्वस्यासिद्धत्वात्

प्राग्भ्याम् । प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रतीचः । प्रत्यग्भ्याम् । उदङ् । उदञ्चौ ॥

अर्थः—लुप्त अकार नकार वाली 'अञ्चुँ' धातु के परे होने पर पूर्व अण् को दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—चौ । ७ । १ [यहां 'चु' से लुप्त अकार नकार वाली 'अञ्चुँ' धातु का ग्रहण होता है ।] पूर्वस्य । ६ । १ । अणः । ६ । १ । दीर्घः । १ । १ । ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] अर्थः—(चौ) लुप्त अकार नकार वाली 'अञ्चुँ' धातु के परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (अणः) अण् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है ।

'प्र च्+अस्' यहां लुप्ताकारनकारवाली 'च्' यह 'अञ्चुँ' धातु परे है अतः पूर्व अण् अर्थात् 'प्र' के रेफोत्तर अकार को दीर्घ होकर—प्राच्+अस्='प्राचः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में जान लेना चाहिये ।

नोट—यद्यपि यहां 'अचः' (३३५) और 'चौ' (३३६) सूत्रों के बिना भी 'प्र अच्+अस्' इस अवस्था में 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ होकर 'प्राचः' प्रयोग सिद्ध हो सकता था तथापि इन सूत्रों की 'प्रतीचः' आदि के लिये परमावश्यकता थी अतः यहां भी न्यायवशात् प्रवृत्ति कर दी गई है ।

'प्राच्' (पूर्वदिशा देश व काल) शब्द का सम्पूर्ण उच्चारण यथा—

प्र०	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः	पं०	प्राचः	प्राग्भ्याम्	प्राग्भ्यः
द्वि०	प्राञ्चम्	,,	प्राचः	ष०	,,	प्राचोः	प्राचाम्
तृ०	प्राचा	प्राग्भ्याम्❀	प्राग्भिः	स०	प्राचि	,,	प्राक्षु †
च०	प्राचे	,,	प्राग्भ्यः	सं०	हे प्राङ् !	हे प्राञ्चौ !	हे प्राञ्चः !

❀ यहां 'चोः कुः' (३०६) की दृष्टि में 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) तथा झलां जशोऽन्ते (६७) दोनों के असिद्ध होने से प्रथम चकार को ककार होकर पुनः 'झलां-जशोऽन्ते' से गकार करने पर 'प्राग्भ्याम्' आदि रूप सिद्ध होते हैं । यहाँ पर भत्व न होने से 'अचः' तथा 'चौ' न होंगे, सवर्णदीर्घ होकर उक्त प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार हलादि विभक्तियों में आगे भी जानना ।

† यहाँ 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कुत्व होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार हो जाता है ।

'प्रति' पूर्वक 'अञ्चुँ' धातु से 'ऋत्विग्दधृक्........' (३०१) से क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदितां हलः........' (३३४) से नकारलोप, प्रातिपदिकसञ्ज्ञा

होकर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

प्रति अच्+स (सुँ)। 'उगिदचाम्—' (२८९) से नुम् आगम, उम् अनुबन्ध का लोप, सुँ-लोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से चकारलोप हो 'प्रति अन्'। अब 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से नकार को ङकार तथा 'इको यणचि' (१५) से यण् करने से 'प्रत्यङ्' प्रयोग सिद्ध होता है। प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः—आदि पूर्ववत जानने चाहियें।

'प्रति अच्+अस्' यहां 'अचः' (३३५) से अकारलोप तथा 'चौ' (३३६) से पूर्व अण् अर्थात 'प्रति' के अन्त वाले इकार को दीर्घ होकर—'प्रतीचः' सिद्ध होता है।

'प्रति अच्+भ्याम्' यहां 'चोः कुः' (३०६) से चकार को ककार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से गकार होकर 'प्रत्यग्भ्याम्' आदि। 'प्रत्यच्' (पश्चिम दिशा, देश व काल) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	प्रत्यङ्	प्रत्यञ्चौ	प्रत्यञ्चः	पं०	प्रतीचः	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भ्यः
द्वि०	प्रत्यञ्चम्	,,	प्रतीचः	ष०	,,	प्रतीचोः	प्रतीचाम्
तृ०	प्रतीचा	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भिः	स०	प्रतीचि	,,	प्रत्यक्षु
च०	प्रतीचे	,,	प्रत्यग्भ्यः	सं०	हे प्रत्यङ्!	हे प्रत्यञ्चौ!	हे प्रत्यञ्चः!

'उद्' पूर्वक 'अञ्चुँ' धातु से 'ऋत्विग्दधृक्—' (३०१) द्वारा क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, नकारलोप तथा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

उद् अच्+स्। यहां 'उगिदचाम्—' (२८९) से नुम् आगम, उम् अनुबन्ध का लोप, सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से नकार को ङकार होकर 'उदङ्' प्रयोग सिद्ध होता है। उदञ्चौ, उदञ्चः आदि पूर्ववत् जानें।

उद् अच्+अस् (शस्)। यहां 'अचः' (३३५) सूत्र द्वारा अकार का लोप प्राप्त होता है, इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३३७ उद ईत् ।६।४।१३९॥

उच्छब्दात् परस्य लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य ईत्। उदीचः। उदीचा। उदग्भ्याम् ॥

अर्थः—'उद्' से परे लुप्त नकार वाली अञ्चुँ धातु के भसञ्ज्ञक अकार को ईकार हो जाता है।

व्याख्या—उदः ।५।१। अचः ।६।१। ['अचः' से] भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अत ।६।१। ['अल्लोपोऽनः' से] ईत् ।१।१। अर्थः—(उदः) उद् से परे (अचः) लुप्त नकार वाली अञ्चुँ धातु के (अत) अकार के स्थान पर (ईत) ईकार आदेश हो जाता है।

उद् अच्+अस् । यहां प्रकृतसूत्र से अकार को ईकार होकर—उद् ईच्+अस्= 'उदीचः' प्रयोग सिद्ध होता है। 'उदच्' (उत्तरदिशा, देश व काल) शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्चः	प०	उदीचः	उदग्भ्याम्	उदग्भ्यः
द्वि०	उदञ्चम्	,,	उदीचः	ष०	,,	उदीचोः	उदीचाम्
तृ०	उदीचा	उदग्भ्याम्	उदग्भिः	स०	उदीचि	,,	उदक्षु
च०	उदीचे	,,	उदग्भ्यः	स०	हे उदङ्!	हे उदञ्चौ!	हे उदञ्चः!

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३३८ समः समि ।६।३।९२॥

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे [समः सम्यादेशः स्यात् ।]। सम्यङ् । सम्यञ्चौ । समीचः । सम्यग्भ्याम् ॥

अर्थः—वप्रत्ययान्त अञ्चुँ धातु परे हो तो सम् के स्थान पर समि आदेश हो जाता है।

व्याख्या—वप्रत्यये❀ ।७।१। ['विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये' से] अञ्चतौ ।७।१। ['विष्वग्देवयोश्च···' से] समः ।६।१। समिः ।१।१। समासः—वः प्रत्ययो यस्मात् स वप्रत्ययः । तस्मिन्=वप्रत्यये । बहुव्रीहिसमासः । 'व' से यहाँ क्विन्, क्विप् आदि वकारघटित प्रत्यय अभिप्रेत हैं। अर्थः—(वप्रत्यये) जिससे 'व' प्रत्यय किया गया हो ऐसे (अञ्चतौ) अञ्चुँ धातु के परे होने पर (समः) सम् के स्थान पर (समिः) समि आदेश हो जाता है।

'समि' में इकार अनुनासिक नहीं अतः 'उपदेशेऽज्····' (२८) सूत्र से उसकी इत्संज्ञा नहीं होती।

❀ कई लोग 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' (६. ३. ९१) ऐसा पाठ मान कर 'समः समिः' (३३८) सूत्र में 'अप्रत्यये' का अनुवर्तन किया करते हैं। तब इस सूत्र का—"अविद्यमान प्रत्ययान्त अञ्चुँ धातु के परे होने पर सम को समि आदेश हो" ऐसा अर्थ होता है। 'अविद्यमान प्रत्यय' से क्विन् क्विप् आदि प्रत्ययों का ही ग्रहण होता है, क्योंकि ये प्रत्यय सर्वापहारलोप के कारण सदा अविद्यमान ही रहते हैं।

'सम्' पूर्वक 'अञ्चुँ' धातु से 'ऋत्विग्दधृक्—' (३०१) द्वारा क्विन्, उसका सर्वापहारलोप तथा 'अनिदितां हलः.....' (३३४) से नकारलोप होकर—'सम् अच्'। अब वप्रत्ययान्त या अप्रत्ययान्त 'अञ्चुँ' परे होने के कारण 'समः समिः' (३३८) द्वारा सम् को समि आदेश होकर सुँ आदि की उत्पत्ति होती है —

समि अच्+स्। 'उगिदचाम्.....' (२८६) से नुम्, उम् अनुबन्ध का लोप, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप होकर—'समि अन्'। 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से नकार को ङकार तथा 'इको यणचि' (१५) से यण् करने पर—'सम्यङ्' प्रयोग सिद्ध होता है। सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः—यहाँ पूर्ववत् नुम्, अनुस्वार तथा परसवर्ण जानें।

सम् अच्+अस् (शस्)। 'समः समिः' से समि आदेश 'अचः' (३३५) से अकारलोप तथा 'चौ' (३३६) से पूर्व इकार को दीर्घ करने से—'समीचः'। 'सम्यञ्च्' (ठीक चलने वाला) शब्द की समग्र रूपमाला यथा —

प्र० सम्यङ्	सम्यञ्चौ	सम्यञ्चः	प० समीचः	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भ्यः
द्वि० सम्यञ्चम्	,,	समीचः	ष० ,,	समीचोः	समीचाम्
तृ० समीचा	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भिः	स० समीचि	,,	सम्यक्षु
च० समीचे	,,	सम्यग्भ्यः	सं० हे सम्यङ्!	हे सम्यञ्चौ!	हे सम्यञ्चः!

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३३९ सहस्य सध्रिः ।६।३।९४॥

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे [सहस्य सध्र्यादेशः स्यात्]।

अर्थः—वप्रत्ययान्त अञ्चुँ धातु परे होने पर 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश हो जाता है।

व्याख्या—वप्रत्ययान्ते ।७।१। अञ्चतौ ।७।१। ['विष्वग्देवयोश्च.......' से] सहस्य ।६।१। सध्रिः ।१।१। अर्थः—(वप्रत्यये) जिस से 'व' प्रत्यय किया गया हो ऐसे (अञ्चतौ) अञ्चुँ धातु के परे होने पर (सहस्य) 'सह' के स्थान पर (सध्रिः) 'सध्रि' आदेश हो।

यहां भी अनुनासिक न होने से सध्रि के इकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

'सह' पूर्वक 'अञ्चुँ' धातु से पूर्ववत् क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, नकारलोप तथा 'सहस्य सध्रिः' (३३९) से 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश होकर—'सध्रि अच्'। अब प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है।

सध्रि अच्+स्। नुम् आगम, उम्लोप, सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा 'क्विन्प्रत्य-

यस्य कुः' (३०४) से नकार को ङकार करने से—सध्रि अङ्='सध्र्यङ्' प्रयोग सिद्ध होता है। सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः—आदि में पूर्ववत् 'अनुस्वारपरसवर्णौ' कर लेने चाहियें।

सह अच्+अस् (शस्)। 'सहस्य सध्रिः' द्वारा सध्रि आदेश, 'अचः' (३३५) द्वारा अकारलोप तथा 'चौ' (३३६) द्वारा पूर्व अण्=इकार को दीर्घ करने से 'सध्रीचः'।

'सध्र्यच्' (साथ चलने वाला, साथी) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सध्र्यङ्	सध्र्यञ्चौ	सध्र्यञ्चः	प० सध्रीचः	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भ्यः
द्वि०	सध्र्यञ्चम्	,,	सध्रीचः	ष० ,,	सध्रीचोः	सध्रीचाम्
तृ०	सध्रीचा	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भिः	स० सध्रीचि	,,	सध्र्यक्षु
च०	सध्रीचे	,,	सध्र्यग्भ्यः	सं० हे सध्र्यङ् !	हे सध्र्यञ्चौ !	हे सध्र्यञ्चः !

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३४० तिरसस्तिर्यलोपे ।६।३।९३॥

अलुप्ताकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते परे तिरसस्तिर्यादेशः स्यात्।

तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिर्यञ्चः। तिर्यग्भ्याम् ॥

अर्थः—जिस के अकार का लोप नहीं हुआ ऐसी वप्रत्ययान्त अञ्चु धातु के परे होने पर 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश हो।

व्याख्या—अलोपे ।७।१। वप्रत्यये ।७।१। अञ्चतौ ।७।१। ['विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' से] तिरसः ।६।१। तिरिः ।१।१। समासः—नास्ति लोपो यस्य सोऽलोपस्तस्मिन्=अलोपे। नञ्बहुव्रीहिसमासः। यहां लोप से तात्पर्य 'चौ' द्वारा किये अकारलोप से ही है। अर्थः—(अलोपे) अलुप्त अकार वाली (वप्रत्यये) वप्रत्ययान्त (अञ्चतौ) अञ्चु धातु के परे होने पर (तिरसः) तिरस् के स्थान पर (तिरिः) तिरि आदेश हो जाता है।

अञ्चु धातु के अकार का लोप भसञ्ज्ञकों में ही 'अचः' (३३५) द्वारा हुआ करता है। अतः भसञ्ज्ञा के अभाव में ही तिरस् को तिरि आदेश होता है। भसञ्ज्ञकों में 'तिरि' आदेश नहीं होता।

'तिरस्' पूर्वक 'अञ्चु' धातु से क्विन्, उसका सर्वापहार लोप, नकारलोप, 'तिरसस्तिर्यलोपे' (३४०) से तिरस् के स्थान पर तिरि आदेश होकर—'तिरि अच्'। अब सुँ प्रत्यय आकर नुम् आगम, उम्-लोप, सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व अर्थात् नकार को ङकारादेश और पुनः 'इको यणचि' (१५) से यण् होकर 'तिर्यङ्' (तिर्यङ् योनि, पशु-पक्षि आदि) प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	तिर्यङ्	तिर्यञ्चौ	तिर्यञ्चः	प०	तिरश्चः	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भ्यः
द्वि०	तिर्यञ्चम्	,,	तिरश्चः ×	ष०	,,	तिरश्चोः	तिरश्चाम्
तृ०	तिरश्चा	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भिः	स०	तिरश्चि	,,	तिर्यक्षु
च०	तिरश्चे	,,	तिर्यग्भ्यः	सं०	हे तिर्यङ्!	हे तिर्यञ्चौ!	हे तिर्यञ्चः!

+ तिरस् अच्+अस्। यहां 'अचः' (३३८) सूत्र से अकार का लोप होकर 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से श्चुत्व हो जाता है। इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में समझ लेना चाहिये। ध्यान रहे कि इन स्थानों पर 'तिरि' नहीं होगा, क्योंकि यहां अल्लोप है।

[लघु०] विधि-सूत्रम् ३४१ नाञ्चेः पूजायाम्।६।४।३०॥

पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न। प्राङ्। प्राञ्चौ। नलोपाभावादल्लोपो न। प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्क्षु। एवम् पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः॥

अर्थः—पूजार्थक 'अञ्चु' धातु के उपधाभूत नकार का लोप नहीं होता।

व्याख्या—पूजायाम् ।७।१। अञ्चेः ।६।१। उपधायाः ।६।१। ['अनिदितां हल उपधायाः—' से] न ।६।१। ['श्नान्नलोपः' से, यहां षष्ठी का लुक् हुआ है।] लोपः ।१।१। ['श्नान्नलोपः' से] न इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(पूजायाम्) पूजा अर्थ में (अञ्चेः) अञ्चुँ धातु के (उपधायाः) उपधा के (न=नस्य) नकार का (लोपः) लोप (न) नहीं होता।

अञ्चुँ धातु के दो अर्थ होते हैं। एक गति और दूसरा पूजा। पूजा अर्थ में 'अनिदिताम्···' (३३४) द्वारा नकारलोप प्राप्त होने पर 'नाञ्चेः पूजायाम्' (३४१) से निषेध कर दिया जाता है। अतः गति अर्थ होने पर ही नकार का लोप होता है पूजा अर्थ में नहीं। पीछे 'प्राङ्' से लेकर 'तिर्यङ्' तक सर्वत्र गत्यर्थक अञ्चुँ धातु का ही प्रयोग हुआ है। अब पूजा अर्थ में प्रयोग दिखलाते हैं—

प्राञ्च्—'प्र' पूर्वक पूजार्थक 'अञ्चुँ' धातु से क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदितां हलः—' (३३४) से उपधाभूत नकार का लोप प्राप्त होने पर—'नाञ्चेः पूजायाम्' (३४१) से निषेध, सवर्णदीर्घ हो प्रातिपदिक संज्ञा करने से सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। नलोपी अञ्चुँ न होने से 'उगिदचाम्—' (२८६) वाला नुम् भी न होगा।

प्राञ्च्+स्। सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से नकार को ङकार होकर—'प्राङ्'।

नोट——नकारलोप के निषेध का फल शसादियों में स्पष्ट होता है। सर्वनामस्थान तक तो गत्यर्थक और पूजार्थक दोनों अवस्थाओं में प्रक्रियाओं का अन्तर होने पर भी रूप एक समान होते हैं।

प्र०	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः	पं०	प्राञ्चः	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः
द्वि०	प्राञ्चम्	,,	,, ×	ष०	,,	प्राञ्चोः	प्राञ्चाम्
तृ०	प्राञ्चा	प्राङ्भ्याम् †	प्राङ्भिः	स०	प्राञ्चि	,,	प्राङ्क्षु,-ङ्षु,-षु ॐ
च०	प्राञ्चे	,,	प्राङ्भ्यः	सं०	हे प्राङ्!	हे प्राञ्चौ!	हे प्राञ्चः!

× 'प्राञ्च्+अस्' यहां नकारलोप न होने से 'अचः' (३३५) द्वारा भसंज्ञक अकार का भी लोप नहीं होता, उसके अर्थ में 'लुप्तनकारस्याञ्चतेः' ऐसा लिख चुके हैं। फिर 'चौ' से दीर्घ भी नहीं होता। किन्तु सवर्णदीर्घ होकर कार्यनिष्पत्ति होती है।

† 'प्राञ्च्+भ्याम्' यहाँ संयोगान्तलोप होकर 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) द्वारा नकार को ङकार हो जाता है।

ॐ 'प्राञ्च्+सु' यहां संयोगान्तलोप तथा नकार को ङकार हो—'ङ्णोः कुक्टुक् शरि' (८६) द्वारा विकल्प कर के कुक् आगम होकर एकपक्ष में 'चयो द्वितीयाः शरि—' (वा० १४) वार्त्तिक द्वारा ककार को खकार हो जाता है। पुनः दोनों पक्षों में 'आदेश-प्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो जाता है।

पूजायाम्—'प्रत्यञ्च्'

प्र०	प्रत्यङ्	प्रत्यञ्चौ	प्रत्यञ्चः	पं०	प्रत्यञ्चः	प्रत्यङ्भ्याम्	प्रत्यङ्भ्यः
द्वि०	प्रत्यञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	प्रत्यञ्चोः	प्रत्यञ्चाम्
तृ०	प्रत्यञ्चा	प्रत्यङ्भ्याम्	प्रत्यङ्भिः	स०	प्रत्यञ्चि	,,	प्रत्यङ्क्षु,-ङ्षु,-षु
च०	प्रत्यञ्चे	,,	प्रत्यङ्भ्यः	सं०	हे प्रत्यङ्!	हे प्रत्यञ्चौ!	हे प्रत्यञ्चः!

पूजायाम्—'उदञ्च्'

प्र०	उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्चः	पं०	उदञ्चः	उदङ्भ्याम्	उदङ्भ्यः
द्वि०	उदञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	उदञ्चोः	उदञ्चाम्
तृ०	उदञ्चा	उदङ्भ्याम्	उदङ्भिः	स०	उदञ्चि	,,	उदङ्क्षु,-ङ्षु,-षु
च०	उदञ्चे	,,	उदङ्भ्यः	सं०	हे उदङ्!	हे उदञ्चौ!	हे उदञ्चः

नकारलोप न होने से शसादियों में 'उद ईत्' (३०७) प्रवृत्त न होगा।

पूजायाम्—'सम्यञ्च्'

प्र०	सम्यङ्	सम्यञ्चौ	सम्यञ्चः	पं०	सम्यञ्चः	सम्यङ्भ्याम्	सम्यङ्भ्यः
द्वि०	सम्यञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	सम्यञ्चोः	सम्यञ्चाम्
तृ०	सम्यञ्चा	सम्यङ्भ्याम्	सम्यङ्भिः	स०	सम्यञ्चि	,,	सम्यङ्क्षु,-त्सु,-षु
च०	सम्यञ्चे	,,	सम्यङ्भ्यः	सं०	हे सम्यङ्!	हे सम्यञ्चौ!	हे सम्यञ्चः!

भसंज्ञा में अकार का लोप तथा दीर्घ न होगा। 'समः समि' (३३८) तो लोप वा अलोप दोनों पक्षों में सर्वत्र हो ही जाता है।

पूजायां—'सध्र्यञ्च्'

प्र०	सध्र्यङ्	सध्र्यञ्चौ	सध्र्यञ्चः	पं०	सध्र्यञ्चः	सध्र्यङ्भ्याम्	सध्र्यङ्भ्यः
द्वि०	सध्र्यञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	सध्र्यञ्चोः	सध्र्यञ्चाम्
तृ०	सध्र्यञ्चा	सध्र्यङ्भ्याम्	सध्र्यङ्भिः	स०	सध्र्यञ्चि	,,	सध्र्यङ्क्षु,-त्सु,-षु
च०	सध्र्यञ्चे	,,	सध्र्यङ्भ्यः	सं०	हे सध्र्यङ्!	हे सध्र्यञ्चौ!	हे सध्र्यञ्चः!

भत्व में 'अचः' से अ का लोप तथा 'चौ' से दीर्घ न होगा। 'सध्रि' तो लोप तथा अलोप दोनों में ही सर्वत्र हो जाता है।

पूजायां—'तिर्यञ्च्'

प्र०	तिर्यङ्	तिर्यञ्चौ	तिर्यञ्चः	पं०	तिर्यञ्चः	तिर्यङ्भ्याम्	तिर्यङ्भ्यः
द्वि०	तिर्यञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	तिर्यञ्चोः	तिर्यञ्चाम्
तृ०	तिर्यञ्चा	तिर्यङ्भ्याम्	तिर्यङ्भिः	स०	तिर्यञ्चि	,,	तिर्यङ्क्षु,-त्सु,-षु
च०	तिर्यञ्चे	,,	तिर्यङ्भ्यः	सं०	हे तिर्यङ्!	हे तिर्यञ्चौ!	हे तिर्यञ्चः!

इसमें नकारलोप न होने से 'अचः' (३३५) द्वारा अकारलोप कहीं नहीं होता, अतः 'तिरसस्तिर्यलोपे' (३४०) द्वारा सर्वत्र 'तिरि' आदेश हो जाता है।

[लघु०] क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुङ्भ्याम्॥

व्याख्या—'क्रुञ्चँ गतिकौटिल्याल्पीभावयोः' (भ्वा० प०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्....' (३०१) द्वारा क्विन्प्रत्यय, उसका सर्वापहारलोप तथा 'अनिदिताम्....' (३३४) द्वारा नलोप प्राप्त होने पर लोपाभाव का निपातन करने से 'क्रुञ्च्' शब्द निष्पन्न होता है। भाष्यकार के मत में यह नोपध धातु है; अतः लोप की प्राप्ति ही नहीं है। इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	क्रुङ्†	क्रुञ्चौ	क्रुञ्चः	पं०	क्रुञ्चः	क्रुङ्भ्याम्	क्रुङ्भ्यः
द्वि०	क्रुञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	क्रुञ्चोः	क्रुञ्चाम्
तृ०	क्रुञ्चा	क्रुङ्भ्याम्×	क्रुङ्भिः	स०	क्रुञ्चि	,,	क्रुङ्क्षु,-ङ्षु,-षु
च०	क्रुञ्चे	,,	क्रुङ्भ्यः	सं०	हे क्रुङ्!	हे क्रुञ्चौ!	हे क्रुञ्चः!

† क्रुञ्च्+स्। सुँलोप, संयोगान्तलोप, निमित्तापाये......' द्वारा ञकार को नकार तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से कुत्व=ङकार हो जाता है।

× संयोगान्तलोप होकर 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से कुत्व हो जाता है।

[लघु०] पयोमुक्, पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुग्भ्याम्॥

व्याख्या—पयो जलं मुञ्चतीति—पयोमुक् [क्विप्प्रत्ययः]। 'पयोमुच्' शब्द क्विन्नन्त नहीं किन्तु क्विबन्त है अतः सर्वत्र पदान्त में 'चोः कुः' (३०६) प्रवृत्त होता है। पयोमुच् (बादल) शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	पयोमुक्-ग्†	पयोमुचौ	पयोमुचः	पं०	पयोमुचः	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भ्यः
द्वि०	पयोमुचम्	,,	,,	ष०	,,	पयोमुचोः	पयोमुचाम्
तृ०	पयोमुचा	पयोमुग्भ्याम्%	पयोमुग्भिः	स०	पयोमुचि	,,	पयोमुक्षु*
च०	पयोमुचे	,,	पयोमुग्भ्यः	सं०	हे पयोमुक्-ग्!	हे पयोमुचौ!	हे पयोमुचः!

†हल्ङ्याब्भ्यः (१७९), चोः कुः (३०६), झलां जशोऽन्ते (६७), वाऽवसाने (१४६)।

%चोः कुः (३०६), झलां जशोऽन्ते (६७)।

*चोः कुः (३०६), झलां जशोऽन्ते (६७), खरि च (७४)।

अभ्यासः (४२)

(१) अप्रत्यय और वप्रत्यय से क्या अभिप्राय है? इस प्रकरण में इनका कहां कहां उपयोग किया गया है?।

(२) पूजापक्ष में अञ्च् के नकार का लोप (?) कैसे हो जाता है? लोप करने वाला सूत्र लिखें।

(३) 'क्रुञ्च्' शब्द से क्विन् प्रत्यय होने पर भी नकार का लोप नहीं होता—इसमें क्या कारण है?

(४) पूजापक्ष में शसादि में 'तिर्यञ्च्' शब्द की भसञ्ज्ञा होने पर भी 'अचः' द्वारा अकार का लोप क्यों नहीं होता?

(५) 'उदञ्च्' शब्द में पूजापक्ष में 'उद ईत' सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?

(६) "प्र + अच्, प्रति + अच्, समि + अच्" इस प्रकार सन्ध्यभाव में ही इनकी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ?

(७) निम्नलिखित रूपों की सूत्रोपन्यासपूर्वक साधनप्रक्रिया दर्शाओ—
१ प्राचः, २ प्रतीचः, ३ उदीचः, ४ समीचः, ५ तिरश्चः, ६ पयोमुक्, ७ अग्निमत, ८ प्रङ्क्षु, ९ तिर्यङ्, १० प्राङ्।

(८) निम्नलिखित शब्दों की रूपमाला लिखो—
१ क्रुञ्च्, २ अग्निमथ्, ३ सह + अञ्च् (दोनों पक्षों में), ४ तिरस् + अञ्च (दोनों पक्षों में), ५ प्रति + अञ्च् (दोनों पक्षों में)।

(९) निम्नलिखित सूत्रों की व्याख्या करो—
१ अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति। २ अचः। ३ चौ। ४ तिरसस्तिर्यलोपे। ५ उद ईत। ६ सहस्य सध्रिः॥

यहां चकारान्त पुल्ँलिंग समाप्त होते हैं।

—*—

अब तकारान्त पुल्ँलिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] उगित्त्वान्नुम्।

व्याख्या—'महत' (बड़ा) शब्द 'वर्त्तमाने पृषन्महद्—' (उणा० २४१) इस सूत्र से अप्रत्ययान्त निपातित तथा शतृँवत अतिदेश किया गया है।

महत + स् (सुँ)। यहां शतृँवत अतिदेश। ['शतृँ' प्रत्यय के 'ऋ' की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है अतः वह उगित है। शतृँवत् अतिदेश के कारण यह 'महत' शब्द भी उगित हो जाता है।] के कारण उगित होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थाने....' (२८९) से नुम् आगम होकर—महनुँमत + स् = महन्त + स्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम् - **३४२ सान्तमहतः संयोगस्य ।६।४।१०॥**

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। महान्। महान्तौ। महान्तः। हे महन्!। महद्भ्याम्॥

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर सकारान्त संयोग तथा महत्

शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—सान्त ।६।१। [यहाँ षष्ठीविभक्ति का लुक् हुआ है। यह 'संयोगस्य' का विशेषण है।] संयोगस्य ।६।१। महतः ।६।१। न ।६।१। ['नोपधायाः' से। यहां षष्ठी का लुक् हुआ है।] उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। ('सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से) अर्थः—(सान्त) सकारान्त (संयोगस्य) संयोग के तथा (महतः) महत् शब्द के (न = नस्य) नकार की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर। सकारान्त संयोग की उपधा को दीर्घ करने के उदाहरण आगे विद्वांसौ, विद्वांसः, यशांसि, मनांसि आदि आ जाएंगे।

'महन्त्+स्'। यहां प्रकृतसूत्र से महत् शब्द के अवयव नकार की उपधा—हकारोत्तर अकार को दीर्घ हो कर 'महान्त्+स्'। अब सुँलोप तथा संयोगान्तलोप होकर 'महान्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होता। 'महत्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० महान्	महान्तौ†	महान्तः	प० महतः	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
द्वि० महान्तम्	,,	महतः	ष० ,,	महतोः	महताम्
तृ० महता	महद्भ्याम्+	महद्भिः	स० महति	,,	महत्सु
च० महते	,,	महद्भ्यः	सं० हे महन्* ! हे महान्तौ ! हे महान्तः !		

† 'उगिदचाम्—' (२८९) से नुम्, 'सान्तमहतः—' (३४२) से उपधादीर्घ तथा अनुस्वार-परसवर्णप्रक्रिया जान लेनी चाहिये।

+ 'झलां जशोऽन्ते' (६५)

* यहां 'उगिदचाम्—' (२८९) से नुम् होकर सुँलोप तथा संयोगान्तलोप हो जाता है। ध्यान रहे कि यहां सम्बुद्धि परे होने से 'सान्तमहतः—' (३४२) प्रवृत्त नहीं होता।

[लघु०]—विधि-सूत्रम्—३४३ अत्वसन्तस्य चाधातोः ।६।४।१४॥

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ परे। धीमान्। धीमन्तौ। धीमन्तः। हे धीमन्। शसादौ महद्वत्।

अर्थः—सम्बुद्धि भिन्न सुँ परे होने पर 'अतु' जिसके अन्त में हो उसकी उपधा

को दीर्घ होता है एवम् धातु को छोड़कर अस् जिसके अन्त में हो उसकी उपधा को भी दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—अतु ।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् हुआ है। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर 'अत्वन्तस्य' बन जाता है।] असन्तस्य ।६।१। च इत्यव्यय-पदम् । अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। ['सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से] सौ ७।१। ['सौ च' से] अर्थः—(अतु + अत्वन्तस्य) अत्वन्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (च) तथा (अधातोः) धातुभिन्न (असन्तस्य) अस् अन्त वाले (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ होता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे हो तो।

'अतु' से 'मतुँप्, वतुँप्, डवतुँ' आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है। 'अस्—अन्त' का उदाहरण आगे मूल में ही 'वेधाः' आदि स्पष्ट हो जायगा। यहां अत्वन्त का उदाहरण दर्शाया जाता है—

धीमत् = बुद्धिमान

[धीरस्त्यस्येति धीमान्। धीशब्दात् 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इति मतुप्] 'धी' शब्द से मतुप् प्रत्यय करने पर 'धीमत्' शब्द निष्पन्न होता है।

'धीमत् + स्' यहां धीमत् शब्द के अतु + अन्त (मतु = म् + अतु) होने से प्रथम † 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (३४३) से उपधादीर्घ होकर—धीमात् + स्। पुनः 'उगिदचाम्'''' (२८९) से नुम् आगम—धीमान् त् + स्। अब सुँलोप और संयोगान्त-लोप होकर—'धीमान्' प्रयोग सिद्ध होता है। 'धीमत्' की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	धीमान्	धीमन्तौ	धीमन्तः	पं०	धीमतः	धीमद्भ्याम्	धीमद्भ्यः
द्वि०	धीमन्तम्	,,	धीमतः	ष०	,,	धीमतोः	धीमताम्
तृ०	धीमता	धीमद्भ्याम्	धीमद्भिः	स०	धीमति	,,	धीमत्सु
च०	धीमते	,,	धीमद्भ्यः	सं०	हे धीमन्+!	हे धीमन्तौ !	हे धीमन्तः।

† ध्यान रहे कि 'धीमत् + स्' में 'अत्वसन्तस्य—' (३४३) द्वारा उपधादीर्घ तथा 'उगिदचाम....'(२८९) से नुम् आगम युगपत् प्राप्त होते हैं। नुम् आगम नित्य तथा पर होने पर भी प्रथम नहीं होता। क्योंकि यदि ऐसा किया जाए तो पुनः कहीं अत्वन्त ही न मिल सके। अतः वचनसामर्थ्य से प्रथम उपधादीर्घ होकर पश्चात् नुम् आगम होता है।

+ सम्बुद्धि में 'अत्वसन्तस्य…' (३४३) द्वारा दीर्घ नहीं होता।

इसी प्रकार—भगवत्, बुद्धिमत्, धनवत्, मतिमत् आदि मत्वन्त व वत्वन्त शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] भातेर्डवतुः। डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। भवान्।
भवन्तौ। भवन्तः। शत्रन्तस्य—भवन्।

व्याख्या— भवतु = भवत् (आप)

'भा दीप्तौ' (अदा० प०) धातु से 'भातेर्डवतुः' (उणा० ६३) इस औणादिकसूत्र द्वारा 'डवतु' प्रत्यय करने से—'भा + डवतु'। डवतु के अनुबन्धों का लोप कर 'अवत्' शेष रह जाता है—'भा + अवत्'। अब 'भा' की भसञ्ज्ञा न होने पर भी डवतु को डित् करने के सामर्थ्य से भकारोत्तर आकार का 'टेः' (२४२) से लोप होकर—'भवत्' शब्द निष्पन्न होता है।

'भवत् + स् (सुँ)'। अत्वन्त होने से 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (३४३) से उपधादीर्घ, 'उगिदचाम्…' (२८९) से नुम् आगम, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप करने से 'भवान्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'धीमत्' शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	भवान्	भवन्तौ	भवन्तः	प०	भवतः	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
द्वि०	भवन्तम्	,,	भवतः	ष०	,,	भवतोः	भवताम्
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भिः	स०	भवति	,,	भवत्सु
च०	भवते	,,	भवद्भ्यः	सं०	हे भवन्+ !	हे भवन्तौ !	हे भवन्तः !

+ सम्बुद्धि में 'अत्वसन्तस्य…' (३४३) प्रवृत्त नहीं होता।

'भवत्' शब्द 'त्यदाद्यन्तर्गत सर्वनाम है। सर्वनामसञ्ज्ञा का प्रयोजन 'भवकान्' आदि में 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' (१२२९) द्वारा अकच् प्रत्यय आदि करना है। त्यदादियों का यद्यपि सम्बोधन नहीं होता तथापि ऊपर सम्भावनामात्र से दर्शाया गया है।

भवत् = भवत् [होता हुआ]

'भू सत्तायाम्' (भ्वा प०) धातु से लट्, उसके स्थान पर शतृँ प्रत्यय, शतृँ के सार्वधातुक होने से शप् विकरण, गुण, अवादेश तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप करने पर 'भवत्' शब्द निष्पन्न होता है। 'यह भवत्' शब्द शतृँप्रत्ययान्त है। शतृँ प्रत्यय के ऋकार की 'उपदेशेऽजनु…' (२८) से इत्संज्ञा होती है। अतः 'भवत्' शब्द

उगित् है। उगित् होने से सर्वनामस्थान में इसे नुम् आगम हो जायगा। इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	भवन् †	भवन्तौ	भवन्तः	प०	भवतः	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
द्वि०	भवन्तम्	,,	भवतः	ष०	,,	भवतोः	भवताम्
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भिः	स०	भवति	,,	भवत्सु
च०	भवते	,,	भवद्भ्यः	सं०	हे भवन्! हे भवन्तौ! हे भवन्तः!		

† यहाँ अत्वन्त न होने से 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (३४३) सूत्र से उपधादीर्घ नहीं होता। नुम्, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप पूर्ववत् होते हैं।

इसी प्रकार—गच्छत् (जाता हुआ), चलत् (चलता हुआ), पतत् (गिरता हुआ), खादत् (खाता हुआ) प्रभृति शत्रन्त शब्दों के रूप होते हैं। शत्रन्तों का बृहत् संग्रह उत्तरार्ध में शतृँ प्रकरण में देखें।

अब शत्रन्त शब्दों में कुछ विशेष प्रक्रिया वाले शब्द कहे जाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—३४४ उभे ❀ अभ्यस्तम् ।६।१।५॥

षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसञ्ज्ञे स्तः।

अर्थः—छठे अध्याय के द्वित्व प्रकरण में द्वित्व से जिन दो शब्दस्वरूपों का विधान किया जाता है वे दोनों समुदित (इकट्ठे हुए, न कि पृथक्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—उभे ।१।२। द्वे ।१।२। ['एकाचो द्वे प्रथमस्य' से] अभ्यस्तम् ।१।१। अर्थः—(उभे) समुदित (द्वे) दोनों शब्दस्वरूप (अभ्यस्तम्) अभ्यस्त सञ्ज्ञक होते हैं।

द्वित्व अर्थात् एक शब्द को दो शब्द विधान करने वाले अष्टाध्यायी में दो प्रकरण आते हैं। पहला—छठे अध्याय के प्रथमपाद के प्रथमसूत्र से लेकर बारहवें सूत्र तक। दूसरा अष्टम अध्याय के प्रथमपाद के प्रथमसूत्र से लेकर १५वें सूत्र तक। यहां अभ्यस्त-सञ्ज्ञा षष्ठाध्याय वाले शब्दस्वरूपों की होती है अष्टमाध्याय वाले शब्दस्वरूपों की नहीं। इसका कारण यह है कि—"अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" (प०) अर्थात्

❀ 'उभे+अभ्यस्तम्' में 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' (५१) द्वारा प्रगृह्यसञ्ज्ञा और प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (५०) द्वारा प्रकृतिभाव हो जाने से सन्धि नहीं होती। एवम् वृत्ति में 'ते उभे समुदिते अभ्यस्तसञ्ज्ञे' यहाँ पर भी सन्ध्यभाव जानना चाहिए।

विधि और निषेध समीप पठित के होते हैं दूरपठित के नहीं। 'उभे अभ्यस्तम्' (६. १. २५) सूत्र छठे अध्याय के द्वित्वप्रकरण में पढ़ा गया है अतः अभ्यस्तसञ्ज्ञा भी छठे अध्याय के द्वित्वप्रकरण में विहित समुदित शब्दस्वरूपों की ही होगी।

'द्वे' पद का अनुवर्त्तन होने पर भी 'उभे' का ग्रहण इस बात को बतलाने के लिये है कि दोनों की इकट्ठी अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो प्रत्येक की पृथक् २ न हो। इससे 'नेनिजति' आदि में 'अभ्यस्तानामादिः' (६. १. १८६) द्वारा प्रत्येक को आद्युदात्त न होकर समुदित को होता है। इसका विशेष विवेचन काशिका और महाभाष्य में देखना चाहिये।

ददत्=‘ददत्’ (देता हुआ)

दा (डुदाञ् दाने जुहो० उभ०) धातु से लट्, उसको शतृँ, शप् प्रत्यय, शप् का श्लु (लोप), श्लु परे होने पर षष्ठाध्यायस्थ 'श्लौ' (६. १. १०) सूत्र से द्वित्व, अभ्यासह्रस्व तथा 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६१८) से आकारलोप होकर 'ददत' शब्द निष्पन्न होता है।

षाष्ठद्वित्वप्रकरणस्थ 'श्लौ' (६. १. १०) सूत्र से द्वित्व होने के कारण 'दद' की 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) से अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्र द्वारा अभ्यस्तसञ्ज्ञा का प्रयोजन बतलाते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्— ३४५ नाभ्यस्ताच्छतुः ।७।१।७८॥

अभ्यस्तात् परस्य शतुर्नुम् न स्यात्। ददत्, ददद्। ददतौ। ददतः।

अर्थः—अभ्यस्त से परे शतृँ प्रत्यय को नुम् का आगम नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। अभ्यस्तात्। ५।१। शतुः।६।१। नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] अर्थः—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे (शतुः) शतृँ का अवयव (नुम्) नुम् (न) नहीं होता।

ददत+स् (सुँ)। यहाँ 'उगिदचाम्—' (२८९) से प्राप्त नुम् आगम का 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (३४५) से निषेध हो जाता है। अब 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सुँलोपकर जश्त्व-चर्त्व प्रक्रिया से—'ददत्, ददद्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी-प्रकार आगे भी सर्वनामस्थानों में नुम् का निषेध कर लेना चाहिये। इसकी रूप-माला यथा—

प्र०	ददत्-द्	ददतौ	ददतः	प० ददतः	ददद्भ्याम्	ददद्भ्यः
द्वि०	ददतम्	,,	,,	ष० ,,	ददतोः	ददताम्
तृ०	ददता	ददद्भ्याम्❀	ददद्भिः	स० ददति	,,	ददत्सु
च०	ददते	,,	ददद्भ्यः	सं० हे ददत्-द्!	हे ददतौ!	हे ददतः!

❀ 'झलां जशोऽन्ते' (६७)

इसीप्रकार—दधत् (धारण करता हुआ), जुह्वत् (हवन करता हुआ), बिभ्यत् (डरता हुआ), बिभ्रत् (धारण करता हुआ), जहत् (छोड़ता हुआ) आदि जुहोत्यादिगणीय शत्रन्त धातुओं के रूप जान लेने चाहियें।

अब कुछ उन शत्रन्तों का वर्णन करते हैं जिन में षाष्ठद्वित्व न होने से अभ्यस्त-सञ्ज्ञा तो नहीं होती किन्तु नुम् का निषेध अभीष्ट होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—३४६ जक्षित्यादयः षट् ।६।१।६॥

षड् धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम एतेऽभ्यस्तसञ्ज्ञाः स्युः। जक्षत्। जक्षतौ। जक्षतः। एवं जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत्॥

अर्थः—जागृ आदि छः धातु तथा सातवां 'जक्ष्' धातु ये सब अभ्यस्तसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—जक्ष् ।१।१। इत्यादयः ।१।३। षट् ।१।३। अभ्यस्तम् ।१।१। ('उभे अभ्यस्तम्' से) समासः—इति (इतिशब्देन जक्षपरामर्शो भवति) आदिर्येषान्ते = इत्यादयः, अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः 'षड्' इतिग्रहणात्। अर्थः—(जक्ष्) जक्ष् धातु तथा (इत्यादयः) जक्ष् से अगली (षट्) छः धातुएं (अभ्यस्तम्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक होते हैं।

इन सात धातुओं का सङ्ग्रह एक श्लोक में किया गया है—

> "जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शासु-दीधीङ्-वेवीङ्-चकास्तथा।
> अभ्यस्तसञ्ज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः॥"

१. जक्ष् भक्षहसनयोः (अदा० प०)। २. जागृ निद्राक्षये (अदा० प०)। ३. दरिद्रा दुर्गतौ (अदा० प०)। ४. चकासृ दीप्तौ (अदा० प०)। ५. शासुँ अनुशिष्टौ (अदा० प०)। ६. दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः (अदा० आ०)। ७. वेवीङ् वेतिना तुल्ये (अदा० आ०)। इन सात में पिछली दीधीङ् और वेवीङ् धातुओं का प्रयोग वेद में ही होता है। इनके शत्रन्त रूप क्रमशः यथा—१. जक्षत् = खाता व हँसता

हुआ। २. जाग्रत् = जागता हुआ। ३. दरिद्रत = दुर्गति को प्राप्त होता हुआ। ४. चकासत् = चमकता हुआ। ५. शासत् = शासन करता हुआ। ६. दीध्यत = क्रीडा करता हुआ। ७. वेव्यत = गति करता हुआ।

इन सातों शत्रन्तों से सर्वनामस्थान परे होने पर 'उगिदचाम्.......' (२८९) द्वारा नुम् आगम प्राप्त था जो अब 'जक्षित्यादयः षट्' (३४६) सूत्र से अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो जाने के कारण 'नाभ्यास्ताच्छतुः' (३४५) द्वारा निषिद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ 'जक्षत्' की रूपमाला यथा—

प्र०	जक्षत्-द्†	जक्षतौ	जक्षतः	पं०	जक्षतः	जक्षद्भ्याम्	जक्षद्भ्यः
द्वि०	जक्षतम्	,,	,,	ष०	,,	जक्षतोः	जक्षताम्
तृ०	जक्षता	जक्षद्भ्याम्	जक्षद्भिः	स०	जक्षति	,,	जक्षत्सु
च०	जक्षते	,,	जक्षद्भ्यः	सं०	हे जक्षत्-द्!	हे जक्षतौ!	हे जक्षतः!

† सुँलोप, जश्त्व, चर्त्व।

इसीप्रकार अन्य छः शत्रन्तों के रूप भी बनते हैं।

अभ्यासः (४३)

(१) 'अभ्यस्त' सञ्ज्ञाविधायक सूत्र कौन कौन-से हैं तथा इस सञ्ज्ञा का लाभ ही क्या है?

(२) 'जक्षित्यादयः षट्' सूत्र में छः धातुओं का उल्लेख है तो पुनः सात धातुओं का ग्रहण कैसे हो जाता है?

(३) 'द्वे' पद का अनुवर्त्तन होने पर भी 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्र में 'उभे' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(४) सर्वनामसञ्ज्ञक भवत् तथा शत्रन्त भवत शब्द में क्या अन्तर है?

(५) "तकारान्त पुंल्लिङ्ग चार प्रकार के होते हैं" इस कथन की सोदाहरण व्याख्या करें।

(६) सर्वनामसञ्ज्ञक 'भवतुँ' शब्द में सर्वनामकार्य तो कोई होता नहीं तो पुनः इसके सर्वनामसञ्ज्ञक होने का क्या प्रयोजन है?

(७) जक्षित्यादि धातु कौन २ से हैं?

(८) "अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" इस परिभाषा का क्या तात्पर्य है तथा 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्र पर इसका क्या उपयोग किया गया है?

(९) 'सान्तमहतः संयोगस्य' और 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करें।

(१०) 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्र में स्वरसन्धि क्यों नहीं हुई ?

(११) निम्नलिखित रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक साधनप्रक्रिया लिखें—

महान्तौ, धीमन्तः, ददतः, जक्षतौ।

(१२) प्राणवत, जाग्रत, अतिमहत्, बिभ्यत, अधीतवत, धनवत—इन शब्दों की प्रथमा के एकवचन में साधनप्रक्रिया दर्शाते हुए रूपमाला लिखें।

यहां तकारान्त पुँल्लिंग समाप्त होते हैं।

—❀—

—(तकारान्तकों के विषय में विशेष सूचना)—

तकारान्त पुँल्लिङ्गों को चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) 'महत्' शब्द। 'सान्तमहतः संयोगस्य' (३४२) सूत्र में केवल 'महत्' शब्द का वर्णन होने से यह अपने ढङ्ग का आप ही शब्द है अतः इसके सदृश अन्य किसी तकारान्त पुँल्लिङ्ग का उच्चारण नहीं होता।

(२) अत्वन्त शब्द। इस श्रेणी में मत्वन्त, वत्वन्त, क्तवत्वन्त तथा डवतु-प्रत्ययान्त सर्वनाम 'भवत्' शब्द आता है। मत्वन्तों और क्तवत्वन्तों का बृहत् सङ्ग्रह उत्तरार्ध में अपने-अपने प्रकरणों में देखें।

(३) शत्रन्त शब्द। इस श्रेणी में अभ्यस्त शत्रन्तों को छोड़ अन्य सब शत्रन्त आ जाते हैं।

(४) अभ्यस्त शत्रन्त। इस श्रेणी में ददत्, दधत् प्रभृति जुहोत्यादिगण के शत्रन्त तथा जक्षत् आदि अदादिगण के सात शत्रन्तों के प्रयोग सम्मिलित हैं।

बालकों के अभ्यासार्थ कुछ तकारान्त शब्द नीचे सार्थ लिखे जाते हैं इन के आगे १, २, ३, ४ के अङ्क इन की श्रेणी के बोधक हैं—

१. विद्यावत् (२) = विद्या वाला, विद्वान्
२. पचत् (३) = पकाता हुआ
३. वेविषत् (४) = व्याप्त होता हुआ
४. चकासत् (४) = चमकता हुआ
५. भक्तिमत् (२) = भक्तिवाला, भक्त
६. महत् (१) = बड़ा
७. नेनिजत् (४) = पवित्र व पुष्ट करता हुआ
८. गुणवत् (२) = गुणों वाला

९. दरिद्रत् (४) = दुर्गति को प्राप्त करता हुआ
१०. चिन्तयत् (३) = सोचता हुआ
११. जाग्रत् (४) = जागता हुआ
१२. विचारयत (३) = विचार करता हुआ
१३. विचारवत् (२) = विचार वाला, विचारवान्
१४. मधुमत् (२) = मिठासयुक्त, मीठा
१५. सुमहत् (१) = बहुत बड़ा
१६. जुह्वत् (४) = हवन करता हुआ
१७. भूतवत् (२) = जो गुज़र चुका है
१८. पृच्छत् (३) = पूछता हुआ
१९. शासत् (४) = शासन करता हुआ
२०. हतवत् (२) = जो मार चुका है
२१. जहत् (४) = छोड़ता हुआ
२२. दीव्यत् (३) = चमकता हुआ
२३. वेव्यत् (४) = गमन करता हुआ
२४. सृष्टवत् (२) = जो पैदा कर चुका है

[लघु०] गुप् । गुब् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् ।

व्याख्या— गुप् = रक्षा करने वाला ।

गोपायतीति गुप् । 'गुपू रक्षणे' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् 'क्विप् च' (८०२) इति क्विपि 'गुप्' शब्दः सिध्यति । रूपमाला यथा —

प्र०	गुप्-ब्❀	गुपौ	गुपः
द्वि०	गुपम्	,,	,,
तृ०	गुपा	गुब्भ्याम्+	गुब्भिः
च०	गुपे	,,	गुब्भ्यः
पं०	गुपः	गुब्भ्याम्	गुब्भ्यः
ष०	,,	गुपोः	गुपाम्
स०	गुपि	,,	गुप्सु†
सं०	हे गुप्-ब् !	हे गुपौ !	हे गुपः !

❀ सुँलोप, जश्त्व, चर्त्व । + झलां जशोऽन्ते । † जश्त्व, चर्त्व ।

यहां पकारान्त पुंल्लिंग समाप्त होते हैं ।

—❀—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **३४७ त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ।३।२।६०॥**

त्यदादिषूपपदेष्वज्ञानार्थाद् दृशेः कञ् स्याच्चात् क्विन् ।

अर्थः—त्यद् आदि शब्दों के उपपद रहने पर ज्ञानभिन्न अर्थ के वाचक 'दृश्' धातु से कञ् और क्विन् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—त्यदादिषु । ७ । ३ । दृशः । ५ । १ । अनालोचने । ७ । १ । कञ् । १ । १ । 'च' इत्यव्ययपदम् । क्विन् । १ । १ । ['स्पृशोऽनुदके क्विन्' से] समासः—आलोचनं ज्ञानम् , न आलोचनम् = अनालोचनम् , तस्मिन् = अनालोचने । नञ्समासः । अर्थः—(त्यदादिषु) त्यद् आदि उपपद अर्थात् समीप ठहरने पर (अनालोचने) ज्ञान से भिन्न अर्थ में (दृशः) दृश् धातु से (कञ्) कञ् प्रत्यय (च) तथा (क्विन्) क्विन् प्रत्यय होता है ।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपाद में 'धातोः' (७६६) यह अधिकार चलाया गया है । यह अधिकार तृतीयाध्याय की समाप्ति पर्यन्त जाता है इस अधिकार में सप्तम्यन्त पदों की 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (६५३) सूत्र द्वारा उपपदसञ्ज्ञा की जाती है । उपपदसञ्ज्ञा का प्रयोजन 'उपपदमतिङ्' (६५४) द्वारा समास होकर पूर्वनिपात करना है । यह सब समासों में स्पष्ट हो जायगा । यहां पर 'त्यदादिषु' सप्तम्यन्त होने से उपपद है ।

तादृश् = उसके समान, वैसा ।

स इव पश्यतीति विग्रहः । कर्मकर्त्तरि प्रयोगः । ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । दृशेरत्र ज्ञानविषयत्वापत्तिमात्रवृत्तित्वादज्ञानार्थता । 'तद्' पूर्वक अज्ञानार्थक* दृश् (भ्वा० प०) धातु से 'त्यदादिषु.......' (३४७) सूत्र से कञ् और पक्ष में क्विन् प्रत्यय होकर—१. कञ् पक्ष में—तद् दृश् + कञ्‡ = तद् दृश । २. क्विन् पक्ष में—तद् दृश् + क्विन्† = तद् दृश् । अब दोनों पक्षों में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३४८ आ सर्वनाम्नः ।६।३।६०।।

सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृशवतुषु । तादृक्, तादृग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् ॥

अर्थः—दृग् , दृश और वतुँ परे होने पर सर्वनाम को आकार अन्तादेश हो जाता है ।

---

* यह विषय सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में स्पष्ट है ।

‡ लशक्वतद्धिते (१३६), हलन्त्यम (१) ।

† सर्वापहारी लोप ।

व्याख्या—दृग्दशवतुषु । ७ । ३ । ['दृग्दशवतुषु' से] सर्वनाम्नः । ६ । १ । आ । १ । १ । ['छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इस अतिदेश से यहां 'सुपां सुलुक्.......' द्वारा प्रथमा का लुक् हो जाता है ।] अर्थः— (दृग्दशवतुषु) दृग्, दश और वतुँ परे होने पर (सर्वनाम्नः) सर्वनाम के स्थान पर (आ) आकार आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है ।

यहाँ 'दृग्' से तात्पर्य क्विन्नन्त दृश् से तथा 'दश' से तात्पर्य कञन्त दृश् से है ।

इस सूत्र से दोनों पक्षों में 'तद्' इस सर्वनाम के दकार को आकार होकर सवर्ण-दीर्घ करने से कञ्पक्ष में 'तादृश' और क्विन्पक्ष में 'तादृश्' बना । कञ्पक्ष वाले 'तादृश' शब्द का उच्चारण 'राम' शब्दवत् होता है । यथा—

प्र०	तादृशः	तादृशौ	तादृशाः	प०	तादृशात्	तादृशाभ्याम्	तादृशेभ्यः
द्वि०	तादृशम्	,,	तादृशान्	ष०	तादृशस्य	तादृशयोः	तादृशानाम्
तृ०	तादृशेन	तादृशाभ्याम्	तादृशैः	स०	तादृशे	,,	तादृशेषु
च०	तादृशाय	,,	तादृशेभ्यः	सं०	हे तादृश !	हे तादृशौ !	हे तादृशाः !

सम्बोधन का प्रयोग प्रायः नहीं देखा जाता । इसी प्रकार —१. यादृश = जैसा । २. एतादृश = ऐसा । ३. त्वादृश = तुझ जैसा । ४. मादृश = मुझ जैसा । ५. अस्मादृश = हम जैसा । ६. युष्मादृश = तुम सब जैसा । ७. भवादृश = आप जैसा । ८. कीदृश❀ = कैसा । ९. ईदृश❀ = ऐसा । इत्यादि शब्दों के कञ्पक्ष में रूप बनते हैं [1] ।

'तादृश्' यहां क्विन्नन्तपक्ष में प्रक्रिया यथा—'तादृश् + स्' यहां सुँ-लोप होकर 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) सूत्र के असिद्ध होने से 'व्रश्च-भ्रस्ज.......' (३०७) सूत्र द्वारा शकार को षकार हो जाता है—तादृष् । 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से डकार को गकार होकर—तादृग् । अब 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर—'तादृक्, तादृग्' ये दो रूप बनते हैं । क्विन्नन्त 'तादृश्' की समग्र रूपमाला यथा—

❀ 'इदंकिमोरीश्की' (११६७) सूत्र से इदम् को ईश् तथा किम् को की आदेश होता है ।

१. स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होकर 'नदी' की तरह रूप और नपुंसक में 'ज्ञान' की तरह रूप होंगे । वत्वन्त के उदाहरण—'यावत्, तावत्, एतावत, कियत्, इयत्' इत्यादि समझने चाहियें ।

प्र०	तादृक्-ग्	तादृशौ	तादृशः	पं०	तादृशः	तादृग्भ्याम्	तादृग्भ्यः
द्वि०	तादृशम्	,,	,,	ष०	,,	तादृशोः	तादृशाम्
तृ०	तादृशा	तादृग्भ्याम्[1]	तादृग्भिः	स०	तादृशि	,,	तादृक्षु†
च०	तादृशे	,,	तादृग्भ्यः	सं०	हे तादृक्-ग् !	हे तादृशौ !	हे तादृशः !

सम्बोधन का प्रयोग प्रायः नहीं देखा जाता ।

१. क्रमशः षत्व, डत्व और कुत्व हो जाता है ।

† षत्व, डत्व और कुत्व होकर 'खरि च' (७४) के असिद्ध होने से प्रथम आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व होकर पुनः चर्त्व करने से प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—१. यादृश् = जैसा । २ एतादृश् = ऐसा । ३. त्वादृश् = तुझ जैसा । ४. मादृश् = मुझ जैसा । ५. अस्मादृश् = हम जैसा । ६. युष्मादृश् = तुम सब जैसा । ७. भवादृश् = आप जैसा । ८. कीदृश् = कैसा । ९ ईदृश = ऐसा । इत्यादि क्विन्नन्त शब्दों के रूप बनते हैं । स्त्रीलिङ्ग में भी 'क्विन्' प्रत्ययान्त के इसी प्रकार रूप बनते हैं । नपुंसक में प्रथमा द्वितीया को छोड़कर इसी तरह ।

[लघु०] व्रश्चेति षः । जश्त्व-चर्त्वे । विट्, विड् । विशौ । विशः । विड्भ्याम् ॥

व्याख्या— विश् = वैश्य अथवा प्रजा ।

'विशँ प्रवेशने' (तुदा० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने से 'विश्' शब्द निष्पन्न होता है ।

विश् + स् । सुँलोप, 'व्रश्चभ्रस्ज...........' (३०७) से शकार को षकार, जश्त्व से षकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) द्वारा वैकल्पिक चर्त्व = टकार करने पर 'विट्, विड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

'विश्' की रूपमाला यथा—

प्र०	विट्-ड्	विशौ	विशः	पं०	विशः	विड्भ्याम्	विड्भ्यः
द्वि०	विशम्	,,	,,	ष०	,,	विशोः	विशाम्
तृ०	विशा	विड्भ्याम्॥	विड्भिः	स०	विशि	,,	विट्त्सु,-ट्सु†
च०	विशे	,,	विड्भ्यः	सं०	हे विट्-ड् !	हे विशौ !	हे विशः !

॥ 'व्रश्च—' (३०७) द्वारा षत्व तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से डत्व हो जाता है ।

† षत्व, डत्व तथा धुट्प्रक्रिया ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३४९ नशेर्वा ।८।२।६३॥

नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा स्यात् पदान्ते । नक्, नग् । नट्, नड् । नशौ । नशः । नग्भ्याम्, नड्भ्याम् ॥

अर्थः—पदान्त मे नश् शब्द को विकल्प करके कवर्ग अन्तादेश होता है ।

व्याख्या—नशेः । ६ । १ । वा इत्यव्ययपदम् । कुः । १ । १ । ['क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से] पदस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अन्ते । ७ । १ । ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] अर्थः—(नशेः) नश् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (कुः) कवर्ग आदेश होता है (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में । अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होगा ।

नश् = नाश होने वाला, नश्वर ।

'णशँ अदर्शने' (दिवा० प० रधादित्वाद्वेट्) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'नश्' शब्द सिद्ध होता है ।

नश् + स् । सुँलोप होकर 'नशेर्वा' (८. २. ६३) के असिद्ध होने से 'व्रश्चभ्रस्ज—' (८. २. ३६) द्वारा शकार को षकार 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार होकर—नड् । अब एक पक्ष में 'नशेर्वा' (३४९) से कवर्ग -गकार हो जाता है, तब वैकल्पिक चर्त्व करने पर—'नक्, नग्' । दूसरे पक्ष में केवल चर्त्व करने से—नट्, नड् । इस प्रकार चार प्रयोग सिद्ध होते हैं । रूपमाला यथा—

प्रथमा	नक्, नग्, नट्, नड्	नशौ	नशः
द्वितीया	नशम्	,,	,,
तृतीया	नशा	नग्भ्याम्, नड्भ्याम्❀	नग्भिः, नड्भिः
चतुर्थी	नशे	,, ,,	नग्भ्यः, नड्भ्यः❀
पञ्चमी	नशः	,, ,,	,, ,,
षष्ठी	,,	नशोः	नशाम्
सप्तमी	नशि	,,	नक्षु, नट्त्सु, नट्सु
सम्बोधन	हे नक्, ग्, ट्, ड् !	हे नशौ !	हे नशः !

❀ षत्वे, जश्त्वेन डत्वे, 'नशेर्वा' (३४९) इतिविकल्पेन कुत्वे रूपद्वयम् ।

[लघु०] विधिसूत्रम्—३५० स्पृशोऽनुदके क्विन् ।३।२।५८।

अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन्। घृतस्पृक्, घृतस्पृग्। घृतस्पृशौ। घृतस्पृशः।

अर्थः—'उदक' शब्द से भिन्न अन्य सुबन्त उपपद हो तो 'स्पृश्' धातु से क्विन्न्त प्रत्यय होता है।

व्याख्या—स्पृशः। ५। १। अनुदके। ७। १। क्विन्। १। १। सुपि। ७। १। ['सुपि स्थः' से] अर्थः—(अनुदके) उदकभिन्न† (सुपि) सुबन्त उपपद हो तो (स्पृशः) स्पृश् धातु से (क्विन्) क्विन् प्रत्यय होता है।

घृतस्पृश् = घी को छूने वाला।

घृतं स्पृशतीति घृतस्पृक्। यहां 'स्पृश्' (भ्वा० प०) धातु के उपपद उदक शब्द नहीं है किन्तु 'घृत' सुबन्त है, अतः 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (३५०) से क्विन्प्रत्यय, उसका सर्वापहार लोप तथा उपपदसमास करने से 'घृतस्पृश्' शब्द निष्पन्न होता है।

घृतस्पृश + स। सुँलोप, 'व्रश्चभ्रस्ज.......' (३०७) से शकार को षकार, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से डकार को गकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्व-ककार करने पर—'घृतस्पृक्, घृतस्पृग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	घृतस्पृक्-ग्	घृतस्पृशौ	घृतस्पृशः
द्वि०	घृतस्पृशम्	,,	,,
तृ०	घृतस्पृशा	घृतस्पृग्भ्याम्[1]	घृतस्पृग्भिः
च०	घृतस्पृशे	,,	घृतस्पृग्भ्यः
प०	घृतस्पृशः	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
ष०	,,	घृतस्पृशोः	घृतस्पृशाम्
स०	घृतस्पृशि	,,	घृतस्पृक्षु
सं०	हे घृतस्पृक्-ग्!	हे घृतस्पृशौ!	हे घृतस्पृशः!

१. क्रमशः षत्व, डत्व, कुत्व।

इसी प्रकार—मन्त्रस्पृश्, जलस्पृश्, तृणस्पृश्, वारिस्पृश्, स्पृश् (यह क्विबन्त

† यदि 'उदक' उपपद हो तो स्पृश् से क्विन् नहीं होगा, किन्तु 'कर्मण्यण्' (७०६) द्वारा सामान्यविहित अण् प्रत्यय होकर 'उदकस्पर्श' बन जायगा। यद्यपि 'उदक' उपपद होनेपर क्विप् प्रत्यय करने से भी 'उदकस्पृश्' शब्द निष्पन्न हो सकता है और 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) में बहुव्रीहिसमास के आश्रयण से कुत्व भी हो सकता है तथापि 'अनुदके' कथन के कारण क्विप् भी नहीं होता, ऐसा काशिकाकार आदि प्राचीन वैयाकरणों का मत है; परन्तु नव्य लोगों का कथन है कि क्विप् प्रत्यय तो हो जाता है परन्तु 'अनुदक' कथनसामर्थ्य से कुत्व नहीं होता। अतः 'उदकस्पृट्' आदि रूप बनते हैं।

है, यहां भी 'क्विन्प्रत्ययो यस्मात्' इस प्रकार बहुव्रीहि के आश्रयण से कुत्व हो जाता है) आदि शब्दों के रूप बनते हैं।

यहां शकारान्त पुलँलिंग समाप्त होते हैं।

अब षकारान्त पुलँलिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] दधृक्, दधृग्। दधृषौ। दधृषः। दधृग्भ्याम् ॥

व्याख्या—'दधृष्' शब्द 'ऋत्विग्दधृक्.....' (३०१) सूत्र से 'ञिधृषाँ' (स्वा० प०) धातु से क्विन्नन्त निपातित होता है।

दधृष्+स्। स्-लोप, जश्त्व से डकार, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से गकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से ककार होकर—'दधृक्, दधृग्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

दधृष् (तिरस्कार करने वाला) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दधृक्-ग्	दधृषौ	दधृषः	पं०	दधृषः	दधृग्भ्याम्	दधृग्भ्यः
द्वि०	दधृषम्	,,	,,	ष०	,,	दधृषोः	दधृषाम्
तृ०	दधृषा	दधृग्भ्याम्†	दधृग्भिः	स०	दधृषि	,,	दधृक्षु
च०	दधृषे	,,	दधृग्भ्यः	सं०	हे दधृक्-ग्!	हे दधृषौ!	हे दधृषः!

† क्रमशः जश्त्व से डकार और कुत्व से गकार हो जाता है।

[लघु०] रत्नमुट्, रत्नमुड्। रत्नमुषौ। रत्नमुड्भ्याम् ॥

व्याख्या— रत्नमुष् = रत्न चुराने वाला।

रत्नानि मुष्णातीति रत्नमुट्। रत्नकर्म उपपद होने पर 'मुषँ स्तेये' (क्र्या० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर उपपदसमास होकर 'रत्नमुष्' शब्द निष्पन्न होता है। यह क्विन्नन्त नहीं अतः 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' द्वारा कुत्व नहीं होता।

रत्नमुष्+स्। सुँलोप, जश्त्व से डकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से टकार होकर—'रत्नमुट्, रत्नमुड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	रत्नमुट्-ड्	रत्नमुषौ	रत्नमुषः	पं०	रत्नमुषः	रत्नमुड्भ्याम्	रत्नमुड्भ्यः
द्वि०	रत्नमुषम्	,,	,,	ष०	,,	रत्नमुषोः	रत्नमुषाम्
तृ०	रत्नमुषा	रत्नमुड्भ्याम्†	रत्नमुड्भिः	स०	रत्नमुषि	,,	रत्नमुट्त्सु,-ट्सु
च०	रत्नमुषे	,,	रत्नमुड्भ्यः	सं०	हे रत्नमुट्-ड्!	हे रत्नमुषौ!	हे रत्नमुषः!

† झलां जशोऽन्ते (६७)।

[लघु०] षट्, षड् । षड्भिः । षड्भ्यः २। षण्णाम् । षट्सु ॥

व्याख्या—'षो अन्तकर्मणि' (दिवा० प०) धातु से 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्र द्वारा 'षष्' शब्द निष्पन्न होता है। षष् (छः) शब्द नित्य बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है—

षष्+अस् (जस् व शस्) । 'ष्णान्ता षट्' (२६७) से षट्सञ्ज्ञा होकर 'षड्भ्यो लुक्' (१८८) से जस् व शस् का लुक् हो जाता है। अब 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व-डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-टकार होकर—'षट्, षड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

भिस् व भ्यस् में जश्त्व हो जाता है—षड्भिः, षड्भ्यः ।

षष्+आम् । षट्सञ्ज्ञा होकर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) सूत्र से आम् को नुट् आगम हो जाता है—षष्+नाम् । अब 'आम्' अजादि नहीं रहा अतः भसञ्ज्ञा न हुई, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) से पदसञ्ज्ञा होकर 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व-डकार, 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (वा० ११) से डकार को णकार तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से नकार को णकार करने पर 'षण्णाम्' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां पदान्त होने पर भी 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) सूत्र से ष्टुत्व का निषेध नहीं होता, क्योंकि उसमें 'अनाम्' कहकर 'नाम्' के विषय में छूट दे दी गई है ।

षष्+सु (सुप्) । यहां पदान्त में जश्त्व—डकार होकर 'डः सि धुट्' (८४) से वैकल्पिक धुट् आगम तथा 'खरि च' (७४) से यथासम्भव दोनों पक्षों में चर्त्व करने से—'षट्त्सु, षट्सु' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं । रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	षट्, षड्	पं०	०	०	षड्भ्यः
द्वि०	०	०	,, ,,	ष०	०	०	षण्णाम्
तृ०	०	०	षड्भिः	स०	०	०	षट्त्सु, षट्सु
च०	०	०	षड्भ्यः	सम्बोधन प्रायः नहीं होता ।			

ध्यान रहे कि 'षष्' शब्द षट्सञ्ज्ञक होने से तीनों लिङ्गों में एक समान रहता है ।

[लघु०] रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' (१०५) इति रुत्वम् ।

विधि-सूत्रम्— **३५१ र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ।८।२।७६॥**

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्यात् पदान्ते ।

पिपठीः । पिपठिषौ । पिपठिषः । पिपठीर्भ्याम् ॥

अर्थः——रेफान्त और वान्त धातु के उपधा इक् को पदान्त में दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या——र्वोः ।६।२। [यह 'धातोः' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होती है] धातोः । ६ । १ । ['सिपि धातो रुर्वा' से] उपधायाः । ६ । १ । इकः । ६ । १ । दीर्घः । १ । १ । पदस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अन्ते । ७ । १ । ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] समासः——र् च व् च = र्वौ, तयोः = र्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः——(र्वोः) रेफान्त और वान्त (धातोः) धातु की (उपधायाः) उपधा के (इकः) इक् को (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में ।

पिपठिष् = पढ़ने की इच्छा करने वाला ।

पठितुमिच्छतीति——पिपठीः । 'पठँ व्यक्तायां वाचि' (भ्वा० प०) धातु से सन्प्रत्यय, द्वित्व, अभ्यासकार्य, अभ्यास को इकारादेश, इट् आगम तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार होकर——'पिपठिष' । अब 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) सूत्र से धातुसञ्ज्ञा कर क्विप्प्रत्यय, उसका सर्वापहारलोप तथा 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप करने पर——'पिपठिष्' शब्द निष्पन्न होता है । कृदन्त होने से इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ।

पिपठिष् + स् । 'हल्ङ्याब्भ्यः——' (१७९) से सुँलोप होकर——'पिपठिष्' । 'ससजुषो रुः' (८.२.६६) की दृष्टि में 'आदेशप्रत्यययोः' (८.३.५९) के असिद्ध होने से यहां षकार को सकार मानकर रुँत्व करने पर——पिपठिरुँ = पिपठिर् । अब 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (३५१) सूत्र से रेफान्त धातु 'पिपठिर्' की उपधाभूत इकार को दीर्घ होकर——'पिपठीर्' । 'खरवसानयोः——' (९३) से विसर्ग आदेश करने पर 'पिपठीः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

पिपठिष् + औ = पिपठिषौ । इत्यादि ।

'पिपठिष् + भ्याम्' । यहाँ भी रुँत्व तथा दीर्घ होकर——पिपठीर्भ्याम् ।

'पिपठिष् + सु' (सुप्) । रुँत्व तथा दीर्घ होकर——पिपठीर् + सु । अब 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (९३) से विसर्ग आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं । परन्तु षत्व के असिद्ध होने से प्रथम विसर्ग आदेश हो जाता है——पिपठीः सु । पुनः 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसर्गों को विसर्ग और पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकार आदेश हो जाता है——१. पिपठीःसु, २. पिपठीस्सु । अब इन दोनों रूपों में क्रमशः विसर्ग और सकार का व्यवधान पड़ने से ईकार-इण् से

परे सकार को 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व प्राप्त नहीं हो सकता। इस पर षत्व करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् - ३५२ नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि। ।८।३।५८॥

एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः—पिपठीष्षु। पिपठीःषु।

अर्थः—नुम्, विसर्जनीय और शर् इन में किसी एक के व्यवधान होने पर भी इण् कवर्ग से परे सकार को मूर्धन्य आदेश हो जाता है।

व्याख्या—इण्कोः। ५। १। [यह अधिकृत है।] नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये। ७। १। अपि इत्यव्ययपदम्। सः। ६। १। ['सहेः साडः सः' से] मूर्धन्यः। १। १। ['अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से] समासः—नुम् च विसर्जनीयश्च शर् च = नुम्विसर्जनीयशरः, इतरेतरद्वन्द्वः। तेषां व्यवायः (व्यवधानम्) = नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायः, तस्मिन् = नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये, षष्ठीतत्पुरुषः। यहां भाष्यकार ने प्रत्येक का व्यवधान स्वीकार किया है [प्रत्येकं व्यवायशब्दः परिसमाप्यत इति भाष्यम्]। अर्थः—(इण्कोः) इण् प्रत्याहार अथवा कवर्ग से पर (सः) स् के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धन्य आदेश (नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये) नुम्, विसर्ग अथवा शर् इन में से किसी एक का व्यवधान होने पर (अपि) भी हो जाता है। सकार को मूर्धन्य (मूर्धा स्थान वाला) षकार हो जाता है—यह पीछे 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

'पिपठीःसु' यहां विसर्ग का व्यवधान तथा 'पिपठीस्सु' यहां शर्-सकार का व्यवधान होने पर भी इण् ईकार से परे दोनों जगह प्रकृतसूत्र से सकार को मूर्धन्य-षकार हो जाता है—१. पिपठीःषु, २. पिपठीस्षु। अब सकारपक्ष में 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से सकार को षकार होकर—"१ पिपठीःषु, २ पिपठीष्षु" इस प्रकार दो रूप निष्पन्न होते हैं। इसकी समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	पिपठीः	पिपठिषौ	पिपठिषः
द्वि०	पिपठिषम्	,,	,,
तृ०	पिपठिषा	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भिः
च०	पिपठिषे	,,	पिपठीर्भ्यः
पं०	पिपठिषः	,,	,,
ष०	पिपठिषः	पिपठिषोः	पिपठिषाम्
स०	पिपठिषि	,,	पिपठीःषु / पिपठीष्षु
सं०	हे पिपठीः!	हे पिपठिषौ!	हे पिपठिषः!

—*—

[लघु०] चिकीः । चिकीर्षौ । चिकीर्भ्याम् । चिकीर्षु ॥

व्याख्या—चिकीर्ष्=करने की इच्छा वाला । कर्तुमिच्छतीति चिकीः । 'डुकृञ् करणे' (तना० उभ०) धातु से 'धातोः कर्मणः—' (७०५) से सन्प्रत्यय, 'इको झल्' (७०६) से कित्व के कारण गुणाभाव, 'अज्झनगमां सनि' (७०८) से दीर्घ, 'ऋत इद्धातोः' (६६०) से इत्व, रपर, 'हलि च' (६१२) से उपधादीर्घ, द्वित्व, अभ्यासकार्य, 'कुहोश्चुः' (४५६) से चुत्व तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व होकर—'चिकीर्ष' । अब 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से धातुसञ्ज्ञा होकर कर्त्ता में क्विप्, उसका सर्वापहार-लोप तथा 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप करने पर—'चिकीर्ष्' शब्द निष्पन्न होता है ।

'चिकीर्ष्+स्' यहाँ सुँलोप होकर 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) के प्राप्त होने पर 'रात्सस्य' (२०९) के नियमानुसार सकार का लोप हो जाता है—'चिकीर्' । अब अवसान में 'खरवसानयोः—' (९३) से रेफ को विसर्ग करने पर—'चिकीः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	चिकीः	चिकीर्षौ	चिकीर्षः	प०	चिकीर्षः	चिकीर्भ्याम्	चिकीर्भ्यः
द्वि०	चिकीर्षम्	,,	,,	ष०	,,	चिकीर्षोः	चिकीर्षाम्
तृ०	चिकीर्षा	चिकीर्भ्याम्†	चिकीर्भिः	स०	चिकीर्षि	,,	चिकीर्षु❀
च०	चिकीर्षे	,,	चिकीर्भ्यः	सं०	हे चिकीः !	हे चिकीर्षौ !	हे चिकीर्षः !

† यहां पदान्त में 'रात्सस्य' (२०९) के नियमानुसार सकार का लोप हो जाता है । ध्यान रहे कि 'रात्सस्य' (८.२.२४) की दृष्टि में षत्व (८.३.५९) असिद्ध है । वह इसे सकार ही समझता है ।

❀ यहां 'रोः सुपि' (११०) के नियमानुसार रेफ को विसर्ग नहीं होते हैं ।

अभ्यासः (४४)

(१) क. 'उपपद' किसे कहते हैं ? सूत्र बता कर व्याख्यान करें ।

ख. 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' सूत्र में 'अनुदके' कथन का क्या प्रयोजन है ?

ग. 'चिकीर्षौ' में षकार-खर् परे होने पर भी रेफ को विसर्गादेश क्यों नहीं होता ?

(२) पिपठिष्, तादृश्, चिकीर्ष्, घृतस्पृश्—शब्दों की प्रकृतिप्रत्ययनिर्देशपुरःसर शब्दनिष्पत्ति करो ।

(३) 'चिकीर्ष्+सुप्' यहां षकार होने से 'रात्सस्य' सूत्र कैसे प्रवृत्त हो सकता है ?

किञ्च रेफ को विसर्गादेश भी क्यों नहीं होता ?

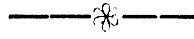
(४) निम्नलिखित शब्दों की सूत्रनिर्देशपुरःसर सिद्धि करो—

१. षट् । २. यादृक् । ३. नक् । ४. षण्णाम् । ५. दधृग्भ्याम् । ६. घृतस्पृक् । ७. पिपठीः । ८. विट् । ९. चिकीः । १०. पिपठीष्षु ।

(५) नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, र्वोरुपधाया दीर्घ इकः, आ सर्वनाम्नः—इन सूत्रों की सविस्तर व्याख्या करें ।

(६) चिकीर्ष्, पिपठिष्, ईदृश्, उदक्स्पृश्—शब्दों की रूपमाला लिखें ।

यहां षकारान्त पुँल्लिंग समाप्त होते हैं ।



[लघु०] विद्वान् । विद्वांसौ । हे विद्वन् ! ।

व्याख्या—'विदँ ज्ञाने' (अदा० प०) धातु से लट्, उसके स्थान पर शतृँ, शप्, उसका लुक् तथा 'विदेः शतुर्वसुः' (८३३) से शतृँ को वसुँ आदेश करने से 'विद्वस्' शब्द निष्पन्न होता है। वसुँ आदेश में उकार की इत्सञ्ज्ञा होती है अतः 'विद्वस्' शब्द उगित् है।

विद्वस्+स् । उगित् होने से 'उगिदचाम्.......' (२८९) द्वारा नुम् आगम, 'सान्तमहतः संयोगस्य' (३४२) से सान्तसंयोग के नकार की उपधा को दीर्घ होकर—विद्वान्स्+स् । अब सुँलोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से संयोगान्तलोप करने से 'विद्वान्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होता। किञ्च सान्त वस्वन्त न होने से 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' (२६२) द्वारा दत्व भी नहीं होता ।

'विद्वस्+औ' । नुम् आगम तथा 'सान्तमहतः........' (३४२) से दीर्घ हो—विद्वान्स्+औ । 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार करने पर 'विद्वांसौ' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यय् के परे न होने से 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। कई लोग 'विद्वाँसौ' वा 'विद्वान्सौ' लिखते हैं—वे ठीक नहीं। इसी प्रकार—'विद्वांसः' आदि बनते हैं।

विद्वस्+अस् (शस्)। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३५३ वसोः सम्प्रसारणम् ।६।४।१३१।।

वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात् । विदुषः । वसुस्रंसु—(२६२) इति दः—विद्वद्भ्याम् ।

अर्थः—वसुप्रत्ययान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण हो जाता है ।

व्याख्या—वसोः । ६ । १ । ['भस्य' का विशेषण होने से अथवा प्रत्यय होने से तदन्तविधि हो जाती है ।] भस्य । ६ । १ । [अधिकृत है ।] अङ्गस्य । ६ । १ । [अधिकृत है] सम्प्रसारणम् । १ । १ । अर्थः (वसोः = वस्वन्तस्य) वसुँप्रत्ययान्त (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है ।

विद्वस् + अस् । यहां 'विद्वस्' यह वसुँप्रत्ययान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग है अतः इस के द्वितीय वकार ('न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' का ध्यान कर लें) को उकार सम्प्रसारण होकर—विदु अस् + अस् । 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०)† से प्रत्यय के सकार को षकार करने पर—विदुषस् = 'विदुषः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी-प्रकार आगे भी अजादि विभक्तियों में प्रक्रिया होती है ।

'विद्वस् + भ्याम्' यहां 'वसुस्रंसु.......' (२६२) से दकार होकर 'विद्वद्भ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है । इसीप्रकार अन्य हलादि विभक्तियों में प्रक्रिया जान लेनी चाहिये ।

हे विद्वस् + स । यहां नुम्, सु लोप तथा संयोगान्तलोप करने से—'हे विद्वन्' । सम्बुद्धि होने से 'सान्तमहतः........' (३४२) से दीर्घ न होगा ।

विद्वस् (विद्वान्) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः	प०	विदुषः	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
द्वि०	विद्वांसम्	,,	विदुषः	ष०	,,	विदुषोः	विदुषाम्
तृ०	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः	स०	विदुषि	,,	विद्वत्सु
च०	विदुषे	,,	विद्वद्भ्यः	सं०	हे विद्वन् !	हे विद्वांसौ !	हे विद्वांसः !

† ऋग्वेद । १ । २५ । ६ । के भाष्य में सायणमाधव ने 'दाशुषे' प्रयोग में 'शासि-वसिघसीनां च' (५५४) से षत्व किया है, पर यह ठीक नहीं । पूर्वोत्तरसाहचर्य से इस सूत्र में 'वस्' धातु ही इष्ट है आदेश व प्रत्यय नहीं । अतः यहां 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व करना चाहिये ।

इसीप्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप होते हैं—

शब्द	अर्थ	प्रत्यय	शस् का रूप
१. ऊषिवस्	जो रह चुका है	क्वसु	ऊषुषः *
२. तस्थिवस्	जो ठहर चुका है	,,	तस्थुषः *
३. सेदिवस्	जो गमन कर चुका है	,,	सेदुषः *
४. शुश्रुवस्	जो सुन चुका है	,,	शुश्रुषः
५. उपेयिवस्	जो प्राप्त कर चुका है	,,	उपेयुषः *
६. अनाश्वस्	जिसने भोजन नहीं किया	,,	अनाशुषः
७. अधिजग्मिवस्	जो प्राप्त कर चुका है	,,	अधिजग्मुषः *

ईयसुन्प्रत्ययान्तों के रूप भी प्रायः 'विद्वस्' शब्द की तरह होते हैं। केवल शसादियों में सम्प्रसारणकार्य्य तथा भ्याम् आदि में दत्व नहीं होता। निदर्शनार्थ 'श्रेयस्' (बहुत अच्छा) शब्द का उच्चारण यथा—

प्र०	श्रेयान्	श्रेयांसौ	श्रेयांसः	पं०	श्रेयसः	श्रेयोभ्याम्	श्रेयोभ्यः
द्वि०	श्रेयांसम्	,,	श्रेयसः	ष०	,,	श्रेयसोः	श्रेयसाम्
तृ०	श्रेयसा	श्रेयोभ्याम्[1]	श्रेयोभिः	स०	श्रेयसि	,,	श्रेयःसु, श्रेयस्सु†
च०	श्रेयसे	,,	श्रेयोभ्यः	सं०	हे श्रेयन्!	हे श्रेयांसौ!	हे श्रेयांसः!

१. ससजुषो रुः (१०५), हशि च (१०७)। † वा शरि (१०४)

इसीप्रकार १. अल्पीयस् = दोनों में थोड़ा। २. कनीयस् = दोनों में छोटा। ३. यवीयस् = दोनों में जवान अथवा छोटा। ४. प्रेयस् = बहुत प्यारा। ५. वर्षीयस् = बहुत बूढ़ा। ६. गरीयस् = बहुत भारी। ७. वरीयस् = बहुत श्रेष्ठ। ८. स्थेयस् = बहुत स्थिर। प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

नोट—जब ईयसुन्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग मे आते हैं तब 'उगितश्च' (१२४६) से ङीप् प्रत्यय होकर—श्रेयसी, अल्पीयसी, कनीयसी प्रभृति शब्द बन जाते हैं। वसुँप्रत्ययान्तों से भी स्त्रीत्व में ङीप् होता है परन्तु सम्प्रसारण विशेष होता है।

* इन में इट् आगम भसञ्ज्ञकों में प्रवृत्त नहीं होता। "अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः" (प०) अर्थात् इस व्याकरण शास्त्र में निमित्त को विनाशोन्मुख देखकर तत्प्रयुक्त कार्य नहीं करना चाहिये। जब 'वसु' प्रत्यय, भसञ्ज्ञकों में वकार को सम्प्रसारण हो जाने से वलादि ही नहीं रहता तब तत्प्रयुक्त कार्य वलादिलक्षण इट् आगम भी नहीं होता।

यथा – विदुषी, ऊपुषी आदि । इन सब का उच्चारण नदीवत् समझना चाहिये । नपुंसक में पदान्त में दत्व होगा—विद्वत् आदि ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **३५४ पुंसोऽसुङ् ।७।१।८९॥**

सर्वनामस्थाने विवक्षितेऽसुङ् स्यात् । पुमान् । हे पुमन् । पुमांसौ । पुंसः । पुंभ्याम् । पुंसु ॥

अर्थः—सर्वनामस्थान की विवक्षा होने पर 'पुंस्' शब्द को असुङ् हो जाता है ।

व्याख्या—सर्वनामस्थाने । ७ । १ । ['इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से] पुंसः । ६ । १ । असुङ् । १ । १ । 'सर्वनामस्थाने' में परसप्तमी मानने से 'परमपुमान्' यहां अनिष्ट स्वर प्राप्त होता है । अतः 'विवक्षिते' का अध्याहार कर भावसप्तमी मान लेते हैं । अर्थः— (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान विवक्षित होने पर (पुंसः) पुंस् शब्द के स्थान पर (असुङ्) असुङ् आदेश हो जाता है ।

सर्वनामस्थान (सुँ, औ, जस्, अम्, औट्) लाने से पूर्व उसके लाने की इच्छामात्र होने पर ही असुङ् आदेश हो जाता है । असुङ् ङित् है, अतः वह 'ङिच्च' (४६) द्वारा 'पुंस्' के अन्त्य अल्-सकार के स्थान पर होता है ।

पुंस् = पुरुष

'पूञ् पवने' (क्र्या० उभ०) धातु से 'पूञो डुम्सुन्' * (उणा० ६१८) द्वारा 'डुम्सुन्' प्रत्यय होकर 'उणादयो बहुलम्' (३. ३. १) सूत्र में बहुलग्रहणसामर्थ्य से 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) द्वारा डु की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु 'चुटू' (१२९) से केवल डकार की ही इत्सञ्ज्ञा होकर उन् अनुबन्ध का लोप करने से—पु + उम्स् । डित्त्वकरणसामर्थ्य से टि का भी लोप होकर—प् + उम्स् = पुम्स् । अब 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) द्वारा मकार को अनुस्वार करने पर 'पुंस्' शब्द निष्पन्न होता है ।

अब 'सुँ' सर्वनामस्थान करने की इच्छामात्र में, प्रत्यय करने से पूर्व ही 'पुंसोऽसुङ्' (३५४) द्वारा सकार को असुङ् आदेश होने पर "निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः" से अनुस्वार भी अपने पूर्वरूप मकार में परिणत हुआ—पुमस् । अब सुँप्रत्यय लाने पर

---

* 'पातेर्डुम्सुन्' इति पाठान्तरम् । सूतेः सस्य पः ह्रस्वो म्सुन्प्रत्यय इति स्त्रियामिति सूत्रे भाष्य उक्तम् । न्यासे तु—'पुनातेर्मक्सुन् ह्रस्वश्चे' ति पठितम् । उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिता इति तत्त्वम् ।

'उगिदचाम्.......' (२८९) से नुम्, अनुबन्धलोप, 'सान्तमहतः......' (३४२) से दीर्घ, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप होकर—'पुमान्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सम्बुद्धि में केवल 'सान्तमहतः—' (३४२) से दीर्घ नहीं होता शेष सब प्रक्रिया सुँ प्रत्ययवत् जानें—हे पुमन् ! ।

पुंस्+औ=पुमस्+औ। नुम्, दीर्घ तथा अनुस्वार होकर—'पुमांसौ'। इसी प्रकार अन्य सर्वनामस्थान प्रत्ययों में भी जान लें।

अब आगे की विभक्तियों की विवक्षा में असुङ् न होगा। पुंस्+अस् (शस्)= पुंसः।

पुंस्+भ्याम्। यहां 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से संयोगान्त† सकार का लोप होकर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस न्यायानुसार अनुस्वार पुनः मकाररूप में परिणत हो जाता है—पुम्+भ्याम्। अब 'मोऽनुस्वारः' (७७) से पदान्त मकार को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' (८०) द्वारा उसे विकल्प करके परसवर्ण—मकार करने से—'पुम्भ्याम्, पुंभ्याम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

पुंस्+सुप्। संयोगान्तलोप, अनुस्वार की मकाररूप में परिणति तथा 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार होकर 'पुंसु' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां यय् परे न रहने से 'वा पदान्तस्य' (८०) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

'पुंस्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० पुमान्	पुमांसौ	पुमांसः	पं० पुंसः	पुम्भ्याम्	पुम्भ्यः
द्वि० पुमांसम्	,,	पुंसः	ष० ,,	पुंसोः	पुंसाम्
तृ० पुंसा	पुम्भ्याम्†	पुम्भिः	स० पुंसि	,,	पुंसु
च० पुंसे	,,	पुम्भ्यः	सं० हे पुमन् !	हे पुमांसौ !	हे पुमांसः !

† भ्याम्, भिस् और भ्यस् में अनुस्वारपक्षीय रूप भी जान लेवें।

[लघु०] 'ऋदुशनस्—' (२०५) इत्यनङ्। उशना। उशनसौ।

वा०—(२८) अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः ॥

---

† ध्यान रहे कि अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय) की गणना अट्प्रत्याहार तथा शर्प्रत्याहार में भाष्यकार ने स्वीकार की है। इससे अनुस्वार को हल् मानकर संयोगसञ्ज्ञा हो जाती है।

हे उशन् !, हे उशनन् !, हे उशनः ! । हे उशनसौ । उशनोभ्याम् ।
उशनःसु । उशनस्सु ।

अर्थः—'उशनस्' शब्द के सकार को विकल्प करके अनङ् होता है तथा नकार का लोप भी विकल्प करके हो जाता है ।

व्याख्या— उशनस् = शुक्राचार्य्य ।

'वशँ कान्तौ' (अदा० प०) धातु से 'वशेः कनसिः' (उणा० ६७८) द्वारा 'कनसि' प्रत्यय तथा 'ग्रहिज्या......' (६३४) से सम्प्रसारण और 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप होकर 'उशनस्' शब्द निष्पन्न होता है ।

उशनस + सुँ । यहां 'ऋदुशनस.......' (२०५) सूत्र से सकार को अनङ् आदेश होकर अङ् अनुबन्ध के लुप्त हो जाने पर—उशन अन् + स् । 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप हो—उशनन् + स् । 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से नान्त की उपधा को दीर्घ हो—उशनान् + स् । 'हल्ङ्याब्भ्यः... ...' (१७९) सूत्र से सुँलोप तथा 'न लोपः...' (१८०) से नकार का लोप होकर—'उशना' प्रयोग सिद्ध होता है ।

उशनस् + औ = उशनसौ । इत्यादि ।

सम्बुद्धि में 'हे उशनस् + सुँ' । यहां 'अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः' वार्त्तिक से विकल्प कर के 'अनङ्' होकर अनङ्पक्ष में अनुबन्धलोप, पररूप, सुँलोप तथा विकल्प करके नकार का लोप करने से—'हे उशन, हे उशनन्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । 'अनङ्' के अभाव में सुँलोप, रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर—'हे उशनः' यह एक रूप सिद्ध होता है । सब मिलाकर सम्बुद्धि में तीन रूप बनते हैं—

१ हे उशन ! ।
२ हे उशनन् ! ।
३ हे उशनः ! ।

"सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपम्,
सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम् ॥"

उशनस् + भ्याम् । यहां पदान्त में 'ससजुषो रुः' (१०५) से रुँत्व, 'हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण होकर—'उशनोभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

उशनस् + सुप् । यहां पदान्त में रुँत्व, 'खरवसानयोः—' (९३) से विसर्ग आदेश हो 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) सूत्र के प्राप्त होने पर उसके अपवाद 'वा शरि'

(१०४) सूत्र से वैकल्पिक विसर्ग आदेश करने से—'उशनःसु, उशनस्सु' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं ? इसकी रूपमाला यथा—

प्रथमा	उशना	उशनसौ	उशनसः
द्वितीया	उशनसम्	,,	,,
तृतीया	उशनसा	उशनोभ्याम्	उशनोभिः
चतुर्थी	उशनसे	,,	उशनोभ्यः
पञ्चमी	उशनसः	,,	,,
षष्ठी	,,	उशनसोः	उशनसाम्
सप्तमी	उशनसि	,,	उशनःसु, उशनस्सु
सम्बोधन	हे उशन, उशनन्, उशनः !	हे उशनसौ !	हे उशनसः !

नोट—'अस्य सम्बुद्धौ........' यह वस्तुतः वार्त्तिक नहीं; काशिकाकार का वचन है। पता नहीं लग सका कि यह वचन उन्होंने कहां से लिया है। भाष्य में इसका कुछ पता नहीं चलता। अतः कई लोग इसे अप्रमाण मानते हैं।

[लघु०] अनेहा। अनेहसौ। हे अनेहः !।

व्याख्या— अनेहस् = समय।

'नञ्' उपपद वाली 'हन हिंसा-गत्योः' (अदा० प०) धातु से 'नञि हन एह च' (उणा० ६६३) सूत्र द्वारा 'असि' प्रत्यय* तथा हन् को 'एह्' आदेश होकर नञ्कार्य करने से - 'अनेहस्' शब्द निष्पन्न होता है। इसकी प्रक्रिया भी 'उशनस्' शब्दवत् होती है केवल सम्बुद्धि में इसका एक रूप बनता है। रूपमाला यथा—

प्र०	अनेहा†	अनेहसौ	अनेहसः
द्वि०	अनेहसम्	,,	,,
तृ०	अनेहसा	अनेहोभ्याम्×	अनेहोभिः
च०	अनेहसे	,,	अनेहोभ्यः
पं०	अनेहसः	अनेहोभ्याम्	अनेहोभ्यः
ष०	,,	अनेहसोः	अनेहसाम्
स०	अनेहसि	,,	अनेहःसु,-स्सु[1]
सं०	हे अनेहः[2] !	हे अनेहसौ !	हे अनेहसः !

† 'ऋदुशनस्—' (२०५) से अनङ्, अनुबन्धलोप, पररूप, नान्त की उपधा को दीर्घ, सुँलोप तथा नलोप होकर—'अनेहा' सिद्ध होता है।

× 'ससजुषो रुः' (१०५), 'हशि च' (१०७), 'आद्गुणः' (२७)।

१. रुँत्व विसर्ग होकर 'वा शरि' (१०४) हो जाता है।

२. सुँलोप, रुँत्व तथा अवसान में रेफ को विसर्ग हो जाते हैं।

---

* शेखरकार तथा उसके अनुयायी बालमनोरमाकार का 'अनेहस्' शब्द को असुन्नन्त बतलाना ठीक नहीं; क्योंकि वैसा मानने से 'उगिदचाम्.......' द्वारा नुम् आगम प्राप्त होगा।

[लघु०] वेधाः । वेधसौ । हे वेधः ! । वेधोभ्याम् ।

व्याख्या— वेधस् = ब्रह्मा ।

विपूर्वक 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जुहो० उभ०) धातु से 'विधाञो वेध च' (उणा० ६६४) इस औणादिकसूत्र द्वारा 'असि' प्रत्यय तथा सोपसर्ग 'धा' को 'वेध्' आदेश होकर 'वेधस्' शब्द निष्पन्न होता है ।

वेधस् + सुँ । 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (३४३) से दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यः......' (१७६) से सुँलोप तथा प्रकृति के सकार को रुँत्व विसर्ग करने से—'वेधाः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

आगे की विभक्तियों में समस्त प्रक्रिया 'अनेहस्' की तरह होती हैं । रूपमाला यथा—

प्र०	वेधाः	वेधसौ	वेधसः	प०	वेधसः	वेधोभ्याम्	वेधोभ्यः
द्वि०	वेधसम्	,,	,,	ष०	,,	वेधसोः	वेधसाम्
तृ०	वेधसा	वेधोभ्याम्+	वेधोभिः	स०	वेधसि	,,	वेधःसु, वेधस्सु
च०	वेधसे	,,	वेधोभ्यः	सं०	हे वेधः !×	हे वेधसौ !	हे वेधसः !

+ रुँत्व, उत्व तथा गुण हो जाता है । × सुँलोप, रुँत्व तथा विसर्ग होते हैं ।

इसीप्रकार—१. वनौकस् (बन्दर), २. दिवौकस् (देवता), ३. हिरण्यरेतस् (सूर्य व अग्नि), ४ चन्द्रमस् (चन्द्रमा), ५. सुमनस् (देवता), ६ प्रचेतस् (वरुण), ७. सुमेधस् (अच्छी बुद्धि वाला), ८. नृचक्षस् (मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाला । अथर्व० ७।४२।१।, ८।३।१०।), ९. जातवेदस् (अग्नि), १०. अङ्गिरस् (एक ऋषि), ११. विश्ववेदस् (सब कुछ जानने वाला), १२. पुरोधस् (पुरोहित), १३. वयोधस् (तरुण, जवान)—प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं ।

[लघु०]—विधि सूत्रम्—३५५ अदस औ सुँलोपश्च ।७।२।१०७।।

अदस औत् स्यात् सौ परे सुँलोपश्च । तदोः—(३१०) इति सः ।

असौ । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । वृद्धिः ।।

अर्थः—सुँ परे होने पर अदस् शब्द के अन्त सकार को औकार तथा सुँ का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—सौ ।७।१। ['तदोः सः सावनन्त्ययोः' से] अदसः ।६।१। औ ।१।१। [यहां विभक्ति का लुक् हुआ है ।] सुँलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । समासः—सोर्लोपः = सुलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । अर्थः—(सौ) सुँ परे होने पर (अदसः) अदस् शब्द के

स्थान पर (औ) 'औ' आदेश होता है (च) तथा (सुँलोपः) सुँ का भी लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह औकार आदेश अन्त्य अल्–सकार के स्थान पर होगा। 'अदस औ' इस अंश में यह सूत्र 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र का अपवाद है।

अदस्* + सुँ । यहां 'त्यदादीनामः' (१९३) के प्राप्त होने पर 'अदस औ सुँलोपश्च' (३५५) सूत्र से सकार को औकार तथा सुँ का लोप होकर—अद + औ। 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने से—'अदौ'। अब लुप्त हुए सुँप्रत्यय को मानकर 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (३१०) सूत्र से दकार को सकार करने पर—'असौ' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'अदौ' इस अवस्था में 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (८. २. ८०) सूत्र भी प्राप्त होता है परन्तु 'तदोः सः... ...' (७. २. १०६) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध होने से वह प्रवृत्त नहीं होता।

अदस् + औ। यहां 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र से सकार को अकार तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर—'अद + औ'। अब 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर—'अदौ'। इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३५६ अदसोऽसेर्दादु दो मः ।८।२।८०॥

अदसोऽसान्तस्य दात् परस्य उदूतौ, दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः। अमू। जसः शी। गुणः।

अर्थः—जिस के अन्त में सकार न हो ऐसे अदस् शब्द के दकार से पर वर्ण को उकार और ऊकार हो जाता है तथा दकार को मकार भी होता है।

व्याख्या—अदसः ।६।१। असेः ।६।१। दात् ।५।१। उ ।१।१। दः ।६।१। मः ।१।१। समासः—नास्ति सिः = सकारः (सकाराद् इकार उच्चारणार्थः।) यस्मिन् सः = असिः, तस्य = असेः। नञ्बहुव्रीहिसमासः। यह 'अदसः' का विशेषण है अतः इससे तदन्तविधि हो जाती है। उश्च ऊश्च = उ, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(असेः) असान्त अर्थात् जिस के अन्त में सकार विद्यमान नहीं ऐसे (अदसः) अदस् शब्द के (दात्) दकार से पर वर्ण को (उ) उकार तथा ऊकार हो जाता है तथा (दः) दकार के स्थान पर (मः) म् भी हो जाता है।

असान्त अदस् शब्द के दकार से परे वाला वर्ण प्रायः ह्रस्व या दीर्घ हुआ करता

---

* अदस् शब्द का सर्वादिगणान्तर्गत त्यदादियों में पाठ आया है। अतः इसकी 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) सूत्र से सर्वनाम सञ्ज्ञा भी यथावसर समझ लेनी चाहिये।

है ×। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) द्वारा ह्रस्व वर्ण के स्थान पर ह्रस्व उकार तथा दीर्घ वर्ण के स्थान पर दीर्घ ऊकार होगा +।

'अदौ' यहां असान्त अदस् शब्द के दकार से परे दीर्घ औकार विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से औकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर—'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस् + अस् (जस्)। यहां 'त्यदादीनामः' (१९३) से सकार को अकार, 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप, 'जसः शी' (१५२) से जस् को शी तथा 'आद्गुणः' (२७) सूत्र से गुण होकर—'अदे'। अब 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) के प्राप्त होने पर उसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३५७ एत ईद् बहुवचने ।८।२।८१।।

अदसो दात्परस्य एत ईद्, दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। पूर्वत्रासिद्धम् (३१) इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चाद् उत्व-मत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते घिसञ्ज्ञायां नाभावः ॥

अर्थः—अदस् शब्द के दकार से परे एकार को ईकार तथा दकार को मकार हो जाता है बहुत अर्थों की उक्ति में।

व्याख्या—अदसः। ६। १। दात्। ५। १। ['अदसोऽसेः—' से] एतः ।६।१। ईत्। १। १। दः। ६। १। मः। १। १। ['अदसोऽसेः—' से] बहुवचने ।७। १। समासः—बहूनां वचनम्-उक्तिः = बहुवचनम्, तस्मिन् = बहुवचने❀। षष्ठीतत्पुरुषसमासः।

× कहीं अपवादवश 'हल्' भी हो जाता है, जैसे—अदद्र्यङ्, अमुमुयङ्। यहाँ दकार से परे 'र्' है।

+ आन्तर्य अर्थात् सादृश्य चार प्रकार का होता है—यह हम पीछे 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र पर लिख चुके हैं। यहाँ प्रमाणकृत आन्तर्य द्वारा ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व तथा दीर्घ के स्थान पर दीर्घ होता है।

❀ यहां 'बहुवचन' शब्द से पारिभाषिक बहुवचन—जस्, शस् आदि का ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि वैसा अर्थ करने से 'अदेभ्यः = अमीभ्यः, अदेभिः = अमीभिः' आदि प्रयोगों के सिद्ध हो जाने पर भी 'अदे = अमी' यहां प्रयोगसिद्धि न हो सकेगी। क्योंकि 'अदे' में एकार स्वयं बहुवचन है इससे परे अन्य कोई बहुवचन नहीं है। अतः यहाँ 'बहुवचने' पद को यौगिक स्वीकार कर 'बहुतों की उक्ति अर्थात् बहुत्व की विवक्षा में' ऐसा अर्थ करना उचित है। इस अर्थ से 'अदे' आदि सब स्थानों पर बहुत्व की विवक्षा वर्तमान रहने से कोई दोष प्राप्त नहीं होता। इस सूत्र पर भाष्यकार ने लिखा है—

{ नेदं पारिभाषिकस्य बहुवचनस्य ग्रहणम्। किन्तर्हि ?
अन्वर्थग्रहणमेतत। बहूनामर्थानां वचनम् = बहुवचनम ॥ }

अर्थः—(बहुवचने) बहुत्व की विवक्षा में (अदसः) अदस् शब्द के अवयव (दात्) दकार से परे (एतः) 'ए' के स्थान पर (ईत्) 'ई' आदेश हो जाता है तथा (दः) उस दकार के स्थान पर (मः) 'म्' आदेश हो जाता है।

'अदे' यहां प्रकृतसूत्र से एकार को ईकार तथा दकार को मकार होकर—'अमी' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+अम्। यहां त्यदाद्यत्व और पररूप होकर—'अद+अम्'। अब यहां 'अमि पूर्वः' (६. १. १०४) से पूर्वरूप तथा 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (८. २. ८०) से उत्व-मत्व युगपत प्राप्त होते हैं। 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) द्वारा उत्वमत्वविधायक सूत्र के असिद्ध होने से प्रथम पूर्वरूप होकर 'अदम्' बन जाता है। तदनन्तर उत्व-मत्व हो 'अमुम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

"पूर्वत्रासिद्धम् (३१) इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे।"

अर्थात 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र से—'अदसोऽसेः—' (३५६) तथा 'एत ईद् बहुवचने' (३५७) सूत्र के असिद्ध होने से प्रथम 'अमि पूर्वः' (१३५) आदि सूत्रों द्वारा विभक्तिकार्य होगा तदनन्तर उन सूत्रों की प्रवृत्ति होगी। परन्तु अब इस पर यह विचार उपस्थित होता है कि क्या 'पूर्वत्रासिद्धम्' से कार्य असिद्ध किया जाता है या शास्त्र असिद्ध ?

यदि किये हुए कार्य को असिद्ध मानेंगे तो प्रथम कार्य का विद्यमान होना आवश्यक होगा; क्योंकि यदि कार्य ही विद्यमान न रहेगा तो पुनः वह असिद्ध कैसे हो सकेगा ? अतः कार्यासिद्धपक्ष में प्रथम 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) सूत्र के बल से भावी असिद्ध कार्य कर चुकने पर पश्चात् 'पूर्वत्रासिद्धम्' से वह पूर्व की दृष्टि में असिद्ध होगा अन्यथा नहीं। इस पक्ष में 'अद+अम्' यहां प्रथम 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' द्वारा पूर्वरूप की अपेक्षा पर होने से उत्व-मत्व होकर—'अमु+अम्' बन जायगा। तदनन्तर 'पूर्वत्रासिद्धम्' द्वारा मुकार्य को पूर्वरूप की दृष्टि में असिद्ध माना जायगा। अब इस मुकार्य के असिद्ध माने जाने पर भी पूर्वरूप नहीं हो सकेगा, क्योंकि—"देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य पुनरुन्मज्जनं न भवति" अर्थात् देवदत्त के हन्ता के मारे जाने पर भी देवदत्त की पुनरुत्पत्ति नहीं हो सकती। इस न्यायानुसार 'द' के हन्ता 'मु' के असिद्ध होने पर भी पुनः 'द' नहीं आ सकेगा, क्योंकि उसका तो विनाश हो चुका है। इस प्रकार 'द' के न आने से अ नहीं मिलेगा तब 'अमि पूर्वः' द्वारा पूर्वरूप न हो सकेगा। अतः यह पक्ष ठीक नहीं।

अब यदि शास्त्रासिद्ध पक्ष स्वीकार करते हैं तो इस पक्ष में दोनों सूत्रों के युगपत् प्राप्त होने पर 'पूर्वत्रासिद्धम्' द्वारा परशास्त्र असिद्ध अर्थात् अभावात्मक हो जाता है। इससे पूर्वले सवासात अध्यायों के सूत्रों की दृष्टि में वह सूत्र नहीं रहता; उसके न रहने से विप्रतिषेध नहीं हो सकता, क्योंकि विप्रतिषेध वहां होता है जहां अन्यत्रान्यत्रलब्धावकाश सूत्र परस्पर की दृष्टि में भावात्मक होते हुए एक स्थान पर प्राप्त हों। यहां पूर्व की दृष्टि में पर सूत्र अभावात्मक होने से वर्तमान नहीं रहता अतः प्रथम पूर्वसूत्र प्रवृत्त होता है और तदनन्तर असिद्ध सूत्र। इस प्रकार इस पक्ष के स्वीकार करने से 'अद + अम्' यहां पर 'अदसोऽसेः—' तथा 'अमि पूर्वः' इन दोनों सूत्रों के युगपत् प्राप्त होने पर 'पूर्वत्रा सिद्धम्' द्वारा 'अमि पूर्वः' (६. १. १०४) की दृष्टि में 'अदसोऽसेः—' (८. २. ८०) सूत्र असिद्ध अर्थात् अभावात्मक हो जाता है। अतः प्रथम पूर्वरूप होकर 'अदम्' हो जाने पर पश्चात् उत्व-मत्व करने से 'अमुम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार कोई दोष उत्पन्न नहीं होता।

अतः 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र में शास्त्रासिद्ध पक्ष ही स्वीकार करना चाहिये, कार्यासिद्ध नहीं। अत एव ग्रन्थकार ने भी 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र की वृत्ति में इसी पक्ष का अनुमोदन किया है—"सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रम् असिद्धम्"। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) सूत्र पर भी यही स्वीकार किया है—"पूर्वत्रासिद्धमिति 'रोरि' इत्यस्यासिद्धत्वाद् उत्वमेव"। भाष्यकार भी इसी पक्ष के पक्षपाती हैं—"पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य"। इस विषय का अन्यविस्तृत विचार व्याकरण के उच्चग्रन्थों में देखें।

अदस् + अस् (शस्)। त्यदाद्यत्व और पररूप होकर— अद + अस्। अब 'अदसोऽसेः—' (३५६) के असिद्ध होने से, प्रथम विभक्तिकार्य—पूर्वसवर्णदीर्घ और शस् के सकार को नकार करने से—'अदान्'। अब 'अदसोऽसेः—' से दकारोत्तर आकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर 'अमून्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस् + आ (टा)। त्यदाद्यत्व और पररूप होकर—अद + आ। अब यहां यद्यपि 'अदसोऽसेः—' के असिद्ध होने से, प्रथम विभक्तिकार्य अर्थात् 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (१४०) सूत्र से टा को इन आदेश प्राप्त होता है तथापि 'न मुने' (३५८) सूत्र के आरम्भसामर्थ्य से† वह नहीं होता; अतः 'अदसोऽसेः—' से दकारोत्तर अकार को उकार

---

† यदि यहाँ टा को इन कर दें तो 'न मुने' (३५८) सूत्र बनाने का कुछ प्रयोजन नहीं रहता। अतः इसका बनाना तभी सार्थक किया जा सकता है जब 'इन' आदेश न होकर 'मु' हो जाए। यही इसका आरम्भसामर्थ्य है।

तथा दकार को मकार हो जाता है—अमु + आ । अब यहां 'मु' भाव के असिद्ध होने से 'शेषो घ्यसखि' (१७०) द्वारा घिसञ्ज्ञा नहीं हो सकती, और विना घिसञ्ज्ञा के 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) सूत्र से टा को ना नहीं हो सकता, पर हमें 'ना' करना अभीष्ट है । अतः 'मु' भाव को सिद्ध करने के लिए अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्— ३५८ न मु ने ।८।२।३॥

'ना' भावे कर्त्तव्ये कृते च 'मु' भावो नासिद्धः । अमुना । अमूभ्याम् । अमीभिः । अमुष्मात् । अमुष्य । अमुयोः २ । अमीषाम् । अमुष्मिन् । अमीषु ॥

अर्थः——'ना' आदेश करना हो या कर चुके हों तो 'मु' आदेश असिद्ध नहीं होता ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । मु । १ । १ । ने । ७ । १ । असिद्धम् । १ । १ । ['पूर्वत्रासिद्धम्' से] समासः—म् च उश्च = मु । समाहारद्वन्द्वः । 'ने' यह ना-शब्द के सप्तमी का एकवचन है—ना + ङि = ना + इ = ने । यहां भावसप्तमी या वैषयिक सप्तमी समझनी चाहिये । अर्थः—(ने) 'ना' के विषय में अथवा 'ना' परे होने पर × (मु) 'मु' आदेश (असिद्धम्) असिद्ध (न) नहीं होता ।

'अमु + आ' यहां ना के विषय में 'मु' आदेश असिद्ध न हुआ तो घिसञ्ज्ञा होकर 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) से टा को ना करने पर—'अमुना' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

सूचना—ध्यान रहे कि 'अमुना' में 'ना' के परे होने पर 'मु' आदेश के असिद्ध होने से 'सुपि च' (१४१) द्वारा दीर्घ प्राप्त होता है । वह भी 'न मु ने' (३५८) से 'मु' आदेश के सिद्ध हो जाने पर नहीं होता । इसीलिये तो 'ने' में दो प्रकार की सप्तमी स्वीकार कर के "ना करने में या ना परे होने पर" ऐसा अर्थ किया गया है ।

अदस् + भ्याम् । त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ हो जाता है—अदाभ्याम् । अब 'अदसोऽसेः–' (३५६) से ऊत्व मत्व करने से—'अमूभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

अदस् + भिस् । त्यदाद्यत्व और पररूप कर 'अद + भिस्' । इस अवस्था में 'अतो भिस ऐस्' (१४२) प्राप्त होता है; परन्तु उसका 'नेदमदसोरकोः' (२७६) से निषेध हो जाता है । अब 'बहुवचने झल्येत्' (१४२) द्वारा एकारादेश कर 'एत ईद् बहुवचने'

× भावसप्तमी का 'पर' अर्थ में पर्यवसान हुआ करता है—यह सब पीछे 'तस्मिन्निति....'(१६) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं ।

(३५६) से एकार को ईकार तथा दकार को मकार करने से—'अमीभिः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

अदस्+ए (ङे)। त्यदाद्यत्व, पररूप, 'सर्वनाम्नः स्मै' (१५३) से ङे को स्मै, मुत्व तथा 'आदेशप्रत्यययोः, (१५०) से षत्व होकर—'अमुष्मै' प्रयोग सिद्ध होता है ।

अदस्+भ्यस् । त्यदाद्यत्व, पररूप 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) से एत्व तथा 'एत ईद् बहुवचने' (३५७) से ईत्व मत्व होकर—'अमीभ्यः' ।

अदस्+अस् (ङसि)। त्यदाद्यत्व, पररूप तथा ' ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५४) से 'स्मात' आदेश, उत्व-मत्व तथा षत्व होकर—'अमुष्मात' ।

अदस्+अस् (ङस्)। त्यदाद्यत्व, पररूप 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (१४०) से स्य आदेश, उत्व-मत्व तथा षत्व होकर—'अमुष्य' ।

'अदस्+ओस्'। त्यदाद्यत्व, पररूप, 'ओसि च' (१४७) से एत्व, 'एचोऽयवायावः' (२२) से अय् आदेश होकर—अदयोः । अब उत्व मत्व होकर—'अमुयोः' ।

'अदस्+आम्'। त्यदाद्यत्व, पररूप, आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५) से सुट् आगम, 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) से एत्व, 'एत ईद् बहुवचने' (३५७) से ईत्व-मत्व और षत्व करने से—'अमीषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

अदस्+इ (ङि)। सर्वनामसञ्ज्ञा होकर 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५४) से ङि को स्मिन्, मु आदेश तथा षत्व करने पर—'अमुष्मिन्' ।

अदस्+सु (सुप्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, 'बहुवचने' झल्येत्' (१४५) से एत्व, 'एत ईद् बहुवचने (३५७) से ईत्व-मत्व तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व करने पर—'अमीषु' । अदस् (वह) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	असौ	अमू	अमी	पं०	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
द्वि०	अमुम्	,,	अमून्	ष०	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः	स०	अमुष्मिन्	,,	अमीषु
च०	अमुष्मै	,,	अमीभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता ।		

अभ्यासः (४५)

१. (क) 'विद्वान्' में 'वसुस्रंसु.......' सूत्र से दत्व क्यों नहीं होता ?

(ख) 'विद्वांसौ' में अनुस्वार को परसवर्ण क्यों नहीं होता ?

(ग) 'अनेहस्' को असुङन्त मानने में क्या दोष उत्पन्न होगा ?

२. व्याख्या करो—

(क) "सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम् ।"

(ख) "आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः ।"

(ग) "अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः ।"

(घ) "अदस औ सुलोपश्च, अदसोऽसेर्दादु दो मः, वसोः सम्प्रसारणम् ।"

३. "पुंसु, वेधोभ्याम्, अमी, विद्वद्भ्याम्, अमुना, श्रेयांसौ, अमू, तस्थुषः, अमुष्मिन्, विद्वन्"—इन रूपों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखो ।

४. 'एत ईद् बहुवचने' सूत्र की व्याख्या करते हुए "बहुवचनपद पारिभाषिक नहीं किन्तु यौगिक है"—इसकी व्याख्या करो ।

५. जब अनुस्वार का पाठ हल्प्रत्याहार में नहीं आता तो पुनः 'पुंस्+भ्याम्' आदि में कैसे संयोगसञ्ज्ञा होकर संयोगान्तलोप हो जाता है ?

६. निम्नलिखित शब्दों की रूपमाला लिखकर प्रथमा के एकवचन में ससूत्र सिद्धि करें—१. वनौकस्, २. उशनस्, ३. अनेहस्, ४. पुंस्, ५. वरीयस्, ६. वेधस्, ७. अदस् ।

७. "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र द्वारा कार्यासिद्ध और शास्त्रासिद्ध पक्षों में से किस पक्ष का प्रतिपादन होता है—सोदाहरण सप्रयोजन सविस्तर व्याख्या करो ।

८. 'न मु ने' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'कर्त्तव्ये कृते च' कथन का विवेचन करो ।

९. पुंस् और विद्वस् शब्दों की प्रकृतिप्रत्ययनिर्देशपुरःसर निरुक्ति लिखो ।

१०. 'पुंसोऽसुङ्' सूत्र पर—'सर्वनामस्थान परे होने पर' ऐसा न कहकर 'सर्वनामस्थाने विवक्षिते' ऐसा क्यों कहा गया है ?

यहां सकारान्त पुँल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।

[लघु०] इति हलन्ताः पुँल्लिङ्गाः [शब्दाः] ।

अर्थः—यहां 'हलन्त पुँल्लिङ्ग' शब्द समाप्त होते हैं ।

इति भैमीव्याख्ययो—
पबृंहितायां लघुसिद्धान्त—
कौमुद्यां हलन्तपुँल्लिङ्ग
प्रकरणं पूर्त्तिमगात् ॥

—०—

* अथ हलन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणम् *

—:*:—

अब क्रमप्राप्त हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण का आरम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में भी सब शब्द प्रत्याहारक्रम से कहे गये हैं। अब प्रथम 'हयवरट्' के क्रमानुसार हकारान्त शब्द कहे जाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३५९ नहो धः ।८।२।३४॥

नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च ।

अर्थः—नह् धातु के हकार को धकार हो जाता है झल् परे होने पर या पदान्त में।

व्याख्या—झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] नहः ।६।१। धः ।१।१। धकारादकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (नहः) नह् धातु के स्थान पर (धः) ध् आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह आदेश नह् धातु के अन्त्य अल्-हकार के स्थान पर होगा।

इस सूत्र का उपयोग 'उपानह्' शब्द में किया जाता है अतः प्रथम 'उपानह्' शब्द सिद्ध किया जाता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३६० नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ ।६।३।११५॥

क्विबन्तेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानत्, उपानद्। उपानहौ। उपानत्सु।

अर्थः—क्विबन्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातु परे हो तो पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु ।७।३। क्वौ ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] यह सूत्र उत्तरपदाधिकार में पढ़ा गया है अतः 'पूर्वस्य' का 'पदस्य' विशेषण उपलब्ध हो जाता है। यद्यपि 'क्वि' ग्रहण से क्विप्,

क्विन् दोनों का ग्रहण हो सकता है तथापि नह् आदि धातु से क्विन् का विधान न होने से अवशिष्ट क्विप् का ही ग्रहण होता है। अर्थः—(क्वौ) क्विप् परे होने पर (नहि...... तनिषु) जो नह् , वृत् , वृष् , व्यध् ,रुच् , सह् और तन् धातु, इनके परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (पदस्य) पद के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) तथा 'अचश्च' (१. २. २८) परिभाषाओं द्वारा यह दीर्घ पूर्वपद के अन्त्य अच् के स्थान पर होता है।

"क्विप् परे होने पर जो नह् वृत् आदि धातु, उनके परे होने पर"—इसका अभिप्राय "क्विबन्त नह् वृत् आदि धातु परे होने पर" ऐसा समझना चाहिये। अतएव वृत्ति में यही लिखा है।

उपानह् = जूता।

'उप' पूर्वक 'णहँ बन्धने' (दिवा० उभ०) धातु से क्विप् , उसका सर्वापहारलोप तथा प्रत्ययलक्षण द्वारा उसे मानकर 'नहि-वृति........' (३६०) से पूर्वपद के अन्त्य अच् को दीर्घ होकर— 'उपानह्' शब्द निष्पन्न होता है।

उपानह् + स् (सुँ)। अपृक्त सकार का लोप होकर 'नहो धः' (३५९) द्वारा पदान्त हकार को धकार, जश्त्व से दकार और चर्त्व से वैकल्पिक तकार करने पर— 'उपानत्, उपानद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

उपानह् + भ्याम्। यहां पदान्त में 'नहो धः' (३५९) से हकार को धकार पुनः जश्त्व से दकार करने पर 'उपानद्भ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

उपानह् + सु (सुप्)। 'नहो धः' (३५९) से धकार, जश्त्व से दकार तथा 'खरि च' (७४) से तकार होकर 'उपानत्सु' प्रयोग सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	उपानत्,द्	उपानहौ	उपानहः	पं०	उपानहः	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्यः
द्वि०	उपानहम्	,,	,,	ष०	,,	उपानहोः	उपानहाम्
तृ०	उपानहा	उपानद्भ्याम्	उपानद्भिः	स०	उपानहि	,,	उपानत्सु
च०	उपानहे	,,	उपानद्भ्यः	सं०	हे उपानत्,-द् !	हे उपानहौ !	हे उपानहः !

इसी प्रकार—परीणह् प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं। ध्यान रहे कि 'उपानह्' प्रभृति शब्दों का स्त्रीत्व, विशेषण लगाते समय प्रकट होता है। यथा— इयम् उपानत्। इमे उपानहौ।

सूचना—ग्रन्थकार का 'नहि-वृति....' (३६०) सूत्र यहां लिखना उचित प्रतीत

नहीं होता; यदि लिखना ही था तो 'नहो धः' (३५६) सूत्र से पूर्व लिखना अधिक सौन्दर्यावह हो सकता था।

नोट—'नहि-वृति....' सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—वृत्—नीवृत् (पु० स्त्री०) = जनपद, देश। वृष्—प्रावृष् (स्त्री०) = वर्षा ऋतु। व्यध्—हृद्याविध (त्रि०) = हृदय को बींधने वाला। रुच्—नीरुच् (त्रि०) = नीरोगी। सह्—ऋतीसह् (त्रि०) = दुःखों को सहने वाला। तन्—सरीतन (त्रि०) = चारों ओर फैलने वाला।

[लघु०] क्विन्नन्तत्वात् कुत्वेन घः। उष्णिक्, उष्णिग्। उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम्॥

व्याख्या— उष्णिह् = छन्द विशेष।

'उष्णिह्' शब्द 'उद्' पूर्वक 'ष्णिहँ' (दिवा० प०) धातु से क्विन्नन्त निपातन किया जाता है। [देखो—'ऋत्विग्दधृक्....' (३०१) सूत्र।]

उष्णिह् + सुँ। सुँलोप, क्विन्नन्त होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) द्वारा हकार को घकार, जश्त्व से घकार को गकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से गकार को ककार हो कर—'उष्णिक्, उष्णिग्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	उष्णिक्,-ग्	उष्णिहौ	उष्णिहः
द्वि०	उष्णिहम्	,,	,,
तृ०	उष्णिहा	उष्णिग्भ्याम्❀	उष्णिग्भिः
च०	उष्णिहे	,,	उष्णिग्भ्यः
प०	उष्णिहः	उष्णिग्भ्याम्	उष्णिग्भ्यः
ष०	,,	उष्णिहोः	उष्णिहाम्
स०	उष्णिहि	,,	उष्णिक्षु†
सं०	हे उष्णिक्,-ग्!	हे उष्णिहौ!	हे उष्णिहः!

❀ क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४), झलां जशोऽन्ते (६७)।

† कुत्व, जश्त्व, षत्व, 'खरि च' (७४) से चर्त्व।

यहां हकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।

—०—

[लघु०] द्यौः। दिवौ। दिवः। द्युभ्याम्॥

व्याख्या—'दिव्' शब्द विशुद्ध अवस्था में नित्यस्त्रीलिङ्ग होता है। पुंल्लिङ्ग आदि में इसका प्रयोग बहुव्रीहिसमासवश हुआ करता है। इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सुदिव्' (पृष्ठ ४०८) शब्दवत् होती है। 'दिव्' (आकाश व स्वर्ग) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	द्यौः†	दिवौ	दिवः	प० दिवः	द्युभ्याम्	द्युभ्यः
द्वि०	दिवम्	,,	,,	ष० ,,	दिवोः	दिवाम्
तृ०	दिवा	द्युभ्याम्+	द्युभिः	स० दिवि	,,	द्युषु
च०	दिवे	,,	द्युभ्यः	सं० हे द्यौः !	हे दिवौ !	हे दिवः !

† दिव औत् (२६४)। 	+ दिव उत् (२६५)।

यहां वकारन्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।

—०—

[लघु०] गीः । गिरौ । गिरः । एवम् —पूः ॥

व्याख्या— 	गिर् = वाणी।

'गॄ निगरणे' (तुदा० प०) धातु से क्विप्, उसका सर्वापहार लोप, 'ॠत इद्धातोः' (६६०) से इत्व तथा 'उरण्रपरः' (२९) से रपर करने पर 'गिर्' शब्द निष्पन्न होता है।

गिर् + स् (सुँ)। सुँलोप होकर 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' (पृष्ठ ३९५) इस कथन से धातु होने से पदान्त में 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (३५१) से उपधादीर्घ होकर 'गीर्' बना। अब रेफ को विसर्ग आदेश करने से—'गीः' प्रयोग सिद्ध होता है।

गिर् + औ = गिरौ। यहां पदान्त न होने से उपधादीर्घ नहीं होता।

गिर् + भ्याम्। यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) द्वारा पदत्व होने से 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (३५१) से उपधादीर्घ हो जाता है—गीर्भ्याम्।

गिर् + सुप्। यहां पदान्त में उपधादीर्घ होकर सकार को षकार हो जाता है—गीर्षु। ध्यान रहे कि यहां 'रोः सुपि' (२६८) के नियमानुसार रेफ को विसर्ग आदेश नहीं होते। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	गीः	गिरौ	गिरः	प० गिरः	गीर्भ्याम्	गीर्भ्यः
द्वि०	गिरम्	,,	,,	ष० ,,	गिरोः	गिराम्
तृ०	गिरा	गीर्भ्याम्	गीर्भिः	स० गिरि	,,	गीर्षु
च०	गिरे	,,	गीर्भ्यः	सं० हे गीः !	हे गिरौ !	हे गिरः !

इसी प्रकार— 	पुर् = नगर।

'पॄ पालनपूरणयोः' (जुहो० प०) धातु से क्विप्, उसका सर्वापहारलोप, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्व तथा 'उरण्रपरः' (२९) से रपर करने पर 'पुर्'

शब्द निष्पन्न होता है। इसकी भी सम्पूर्ण प्रक्रिया 'गिर्' शब्द की तरह होती है।

रूपमाला यथा—

प्र०	पूः❀	पुरौ	पुरः	प०	पुरः	पूर्भ्याम्	पूर्भ्यः
द्वि०	पुरम्	,,	,,	ष०	,,	पुरोः	पुराम्
तृ०	पुरा	पूर्भ्याम्	पूर्भिः	स०	पुरि	,,	पूर्षु
च०	पुरे	,,	पूर्भ्यः	सं०	हे पूः!	हे पुरौ!	हे पुरः!

इसी प्रकार—धुर् (गाड़ी का अग्रिम भाग) प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

[लघु०] चतस्रः। चतसृणाम्॥

व्याख्या— चतुर् = चार।

स्त्रीलिङ्ग में विभक्ति परे होने पर चतुर् शब्द को 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' (२२४) सूत्र से 'चतसृ' आदेश हो जाता है।

चतसृ + अस् (जस्)। 'ऋतो ङि....' (२०४) से गुण प्राप्त होने पर उसके अपवाद 'अचि र ऋतः' (२२५) सूत्र से रेफ आदेश करने पर—'चतस्रः' प्रयोग सिद्ध होता है।

चतसृ + अस् (शस्)। यहां सर्वनामस्थान न होने से पूर्वोक्त गुण प्राप्त नहीं होता। 'प्रथमयोः ' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उसका अपवाद रेफ आदेश हो जाता है—चतस्रः।

चतसृ + आम्। 'अचि र ऋतः' (२२५) को बाधकर 'नुमचिर....' (वा० १६) की सहायता से पूर्वविप्रतिषेध से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से नुट् का आगम हो जाता है—चतसृ + नाम्। अब 'नामि' (१४९) से प्राप्त होने वाले दीर्घ का 'न तिसृ-चतसृ' (२२६) सूत्र से निषेध हो जाता है, पुनः 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा० २१) से णत्व होकर 'चतसृणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

चतसृ (स्त्रीलिङ्ग में चतुर्) शब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	चतस्रः	प०	०	०	चतसृभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	चतसृणाम्
तृ०	०	०	चतसृभिः	स०	०	०	चतसृषु
च०	०	०	चतसृभ्यः				

—❀—

यहां रेफान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

❀ इसका भ्रामक रूप इस उक्ति में प्रसिद्ध है—"का पूर्वः" (का, पूः = नगरी, वः = युष्माकम्। तुम्हारी कौन-सी नगरी है।)

[लघु०] का । के । काः । सर्वावत् ।

व्याख्या— किम् = कौन ।

'किम्' शब्द के पुलँलिङ्ग में रूप कह चुके हैं । अब स्त्रीलिङ्ग में रूप सिद्ध किये जाते हैं ।

विभक्ति परे होने पर सर्वत्र 'किमः कः' (२७१) द्वारा 'किम्' को 'क' आदेश हो जाता है । पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा मे 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४८) से टाप् प्रत्यय होकर 'का' शब्द निष्पन्न होता है । इसमें स्वादियों की उत्पत्ति होने पर सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सर्वा' शब्दवत होती है । 'का' (स्त्रीलिङ्ग में किम् शब्द) की रूपमाला यथा —

प्र०	का	के	काः	पं०	कस्याः †	काभ्याम्	काभ्यः
द्वि०	काम्	,,	,,	ष०	,, †	कयोः ❀	कासाम्×
तृ०	कया❀	काभ्याम्	काभिः	स०	कस्याम् †	,, ❀	कासु
च०	कस्यै†	,,	काभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता ।		

❀ आङि चापः (२१८) । † सर्वनाम्नः स्याड् ढ्रस्वश्च (२२०) । × सुट् ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **३६१ यः सौ ।७।२।११०॥**

इदमो दस्य यः । इयम् । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । टाप् । 'दश्च' (२७५) इति मः । इमे । इमाः । इमाम् । अनया । 'हलि लोपः' (२७७) आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः । अनयोः । आसाम् ।अस्याम् । आसु ॥

अर्थः— सुँ परे होने पर इदम् के दकार को यकार हो जाता है ।

व्याख्या— इदमः ।६।१। ['इदमो मः' से] दः ।६।१। ['दश्च' से] यः ।१।१। सौ ।७।१। अर्थः—(इदमः) इदम् शब्द के (दः) द् के स्थान पर (यः) य् आदेश हो जाता है (सौ) सुँ परे होने पर ।

यह सूत्र केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रवृत्त होता है । क्योंकि पुलँलिङ्ग में सुँ परे होने पर 'इदोऽय् पुंसि' (२७२) सूत्र से इद् को अय् आदेश हो जाने से दकार नहीं मिल सकता। नपुंसक में भी सुँ का लुक् हो जाने से इसे अवकाश नहीं मिलता ।

'इदम्' शब्द के पुलँलिङ्ग में रूप सिद्ध किये जा चुके हैं, अब स्त्रीलिङ्ग में रूप सिद्ध करते हैं —

इदम्+स् (सुँ)। यहां प्रकृतसूत्र से दकार को यकार हो कर सुँ का लोप हो जाता है—इयम्। ध्यान रहे कि यहां 'इदमो मः' (२७२) के निषेध के कारण त्यदाद्यत्व नहीं होता।

इदम्+औ। त्यदाद्यत्व, पररूप, अजाद्यतष्टाप्' (१२४५) से टाप्, अनुबन्धलोप कर सवर्णदीर्घ करने से—इदा+औ। अब 'दश्च' (२७५) सूत्र से दकार को मकार 'औङ आपः' (२१६) से औकार को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण करने पर 'इमे'।

इदम्+अस् (जस्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ तथा 'दश्च' (२७५) से दकार को मकार होकर—इमा+अस्। अब 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ और रुँत्व कर विसर्ग करने से—'इमाः'।

इदम्+अम्। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ, 'दश्च' (२७५) सूत्र से दकार को मकार तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप होकर—'इमाम्'।

इदम्+अस् (शस्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ तथा दकार को मकार होकर पूर्वसवर्णदीर्घ करने से—'इमास्=इमाः।

नोट—जस् में सवर्णदीर्घ और शस् में पूर्वसवर्णदीर्घ यह अन्तर ध्यान रखना चाहिये।

इदम्+आ (टा)=इद+आ=इदा+आ। अब यहां 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र से इद् भाग को अन् आदेश, 'आङि चापः' (२१८) से प्रकृति के आकार को एकार तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से अय् आदेश करने पर—अनया।

इदम्+भ्याम्=इद+भ्याम्=इदा+भ्याम्। 'हलि लोपः' (२७७) से इद् भाग का लोप होकर—आभ्याम्।

इदम्+भिस्=इद+भिस्=इदा+भिस्=आभिः। ['हलि लोपः']।

इदम्+ए (ङे)=इद+ए=इदा+ए। अब सर्वनामसञ्ज्ञा होकर प्रथम नित्य होने से 'सर्वनाम्नः स्याड् ढ्रस्वश्च' (२२०) सूत्र से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व हो जाता है—इद+स्या ए। अब 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि और 'हलि लोपः' (२७७) से इद् भाग का लोप करने से—'अस्यै'।

इदम्+अस् (ङसिँ व ङस्)=इद+अस्=इदा+अस्। यहां भी पूर्ववत सर्वनामसञ्ज्ञा, स्याट् आगम तथा आप् को ह्रस्व होकर—इद स्या अस्। अब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'हलि लोपः' (२७७) से इद् का लोप होकर—अस्यास्= 'अस्याः'।

इदम् + ओस् = इद + ओस् = इदा + ओस्। 'अनाप्यकः' (२७६) से इद् को अन् आदेश, 'आङि चापः' (२१८) से आप् को एकार तथा एकार को अय् आदेश करने पर—'अनयोः'।

इदम् + आम् = इद + आम् = इदा + आम्। सर्वनामसञ्ज्ञा होकर 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५) से सुट् का आगम तथा 'हलि लोपः' (२७७) से इद् का लोप हो जाता है—'आसाम्'।

इदम् + इ (ङि) = इद + इ = इदा + इ। यहाँ 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (१९८) से ङि को आम्, 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२०) से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व, 'हलि लोपः' (२७७) से इद् का लोप तथा सवर्णदीर्घ करने पर—'अस्याम्'।

इदम् + सुप् = इद + सु = इदा + सु = आसु ('हलि लोपः')।

'इदम्' (यह) शब्द की स्त्रीलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र०	इयम्	इमे	इमाः	पं०	अस्याः	आभ्याम्	आभ्यः
द्वि०	इमाम्	,,	,,	ष०	,,	अनयोः	आसाम्
तृ०	अनया	आभ्याम्	आभिः	स०	अस्याम्	,,	आसु
च०	अस्यै	,,	आभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

नोट—अन्वादेश में द्वितीया, टा और ओस् विभक्तियों के परे होने पर 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) से इदम् को एन आदेश हो जाता है। तब टाप् प्रत्यय होकर विभक्ति कार्य करने से—"एनाम्, एने, एनाः, एनया, एनयोः" रूप बन जाते हैं।

[लघु०] त्यदाद्यत्वम्। टाप्—स्या, त्ये, त्याः। एवं तद्, एतद्॥

व्याख्या— त्यद् = वह।

'त्यद्' शब्द के पुल्लिङ्ग में रूप दर्शाए जा चुके हैं। अब स्त्रीलिङ्ग में रूप दर्शाए जाते हैं—

त्यद् + स् (सुँ)। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ, 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (३१०) से तकार को सकार तथा 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से अपृक्त सकार का लोप होकर—'स्या'।

त्यद् + औ = त्य + औ = त्या + औ। 'औङ आपः' (२१६) से शी आदेश तथा अनुबन्धलोप कर गुण करने से—'त्ये'।

आगे सर्वत्र त्यदाद्यत्व पररूप और टाप् होकर 'त्या' रूप बन जाता है। तब इस की प्रक्रिया 'सर्वा' शब्दवत् होती है। रूपमाला यथा—

प्र० स्या	त्ये	त्याः	प०	त्यस्याः	त्याभ्याम्	त्याभ्यः
द्वि० त्याम्	,,	,,	ष०	,,	त्ययोः	त्यासाम्
तृ० त्यया	त्याभ्याम्	त्याभिः	स०	त्यस्याम्	,,	त्यासु
च० त्यस्यै	,,	त्याभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

तद् = वह।

'तद्' शब्द की भी प्रक्रिया 'त्यद्' शब्द के समान होती है।

तद् + सुँ। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ होकर—'ता + स्'। अब 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (३१०) से तकार को सकार तथा 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सुँ का लोप होकर—'सा'। 'तद्' शब्द की स्त्रीलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र० सा	ते	ताः	प०	तस्याः	ताभ्याम्	ताभ्यः
द्वि० ताम्	,,	,,	ष०	,,	तयोः	तासाम्
तृ० तया	ताभ्याम्	ताभिः	स०	तस्याम्	,,	तासु
च० तस्यै	,,	ताभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

एतद् = यह।

'एतद्' शब्द की भी प्रक्रिया 'त्यद्, तद्' शब्दों की तरह होती है। रूपमाला यथा—

प्र० एषा	एते	एताः	प०	एतस्याः	एताभ्याम्	एताभ्यः
द्वि० एताम्	,,	,,	ष०	,,	एतयोः	एतासाम्
तृ० एतया	एताभ्याम्	एताभिः	स०	एतस्याम्	,,	एतासु
च० एतस्यै	,,	एताभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

यहां दकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] वाक्, वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम्। वाक्षु॥

व्याख्या— वाच् = वाणी

'वच परिभाषणे' (अदा० प०) धातु से 'क्विब्वचि.......' वार्त्तिक द्वारा क्विप्, दीर्घ और सम्प्रसारण का अभाव करने पर 'वाच्' शब्द निष्पन्न होता है। पदान्त में इसे 'चोः कुः' (३०६) द्वारा सर्वत्र कवर्गादेश हो जाता है। 'वाच्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	वाक्, वाग्*	वाचौ	वाचः	प०	वाचः	वाग्भ्याम्	वाग्भ्यः
द्वि०	वाचम्	,,	,,	ष०	,,	वाचोः	वाचाम्
तृ०	वाचा	वाग्भ्याम्%	वाग्भिः	स०	वाचि	,,	वाक्षु†
च०	वाचे	,,	वाग्भ्यः	सं०	हे वाक्,-ग्!	हे वाचौ!	हे वाचः!

* सुँलोप होकर 'चोः कुः' (३०६) से चकार को ककार होकर जश्त्व चर्त्व हो जाते हैं।

% चोः कुः, झलां जशोऽन्ते (६७)।

† चोः कुः, झलां जशोऽन्ते, आदेशप्रत्यययोः (१५०), खरि च (७४)।

इसी प्रकार—शुच् (शोक), त्वच् (त्वगिन्द्रिय) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। 'अप्तृन्.......' (२०६) इति दीर्घः। आपः। अपः॥

व्याख्या— अप् = जल

'अप्' शब्द संस्कृतसाहित्य में नित्य बहुवचनान्त[1] तथा स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

---

१ त्रि, चतुर्, पञ्चन् आदि शब्दों का बहुवचन में प्रयोग तो समझ में आ सकता है; परन्तु जब अप्, दार आदि शब्दों का बहुवचन में प्रयोग सामने आता है तो वैसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता। आधुनिक कई वैज्ञानिक दो गैसों के संयोग को ही जलतत्त्व नाम देते हैं, शायद सूक्ष्म अनुसन्धान से किन्हीं अन्य गैसों का भी मिश्रण प्रतीत हो और उन सब के संयोगात्मक तत्त्व 'अप्' को प्राचीन आर्यों ने नित्यबहुवचनान्त माना हो अथवा जल के अनेक सूक्ष्म बिन्दुओं के कारण यह बहुवचनान्त माना गया हो। किञ्च, जल, वारि आदि को बहुवचन न मानकर 'अप्' को ही बहुवचनान्त मानने का कारण शायद 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु भी हो जिससे अप् शब्द की निष्पत्ति होती है। 'दार' शब्द शायद इसलिये बहुवचनान्त माना गया हो कि पूर्वकाल में एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ होती थीं। किञ्च 'दॄ विदारणे' धातु भी शायद इस में कारण हो जिस के अन्यत्र भार्या आदि में न होने के कारण वे नित्य-बहुवचनान्त न बन सके हों। सिकता और वर्षा शब्द तो सिकताकणों और जलकणों के समूह के कारण ही बहुवचनान्त माना गया प्रतीत होता है; जहाँ एक कण की विवक्षा होती है वहाँ एकवचन का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा महाभाष्य में—"एका च सिकता तैल-दानेऽसमर्था"।

ये सब सङ्क्षिप्तरीत्या भिन्न २ विद्वानों की धारणाएं हैं। हमारा तो विचार है कि शायद इन में से एक भी ठीक न हो। यह विषय पर्याप्त अनुसन्धान का है—आशा है 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में इसे कुछ स्पष्ट कर पावेंगे।

अप्+अस् (जस्)। 'जस्' प्रत्यय सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है अतः उस के परे होने पर 'अप्तृन्......' (२०६) सूत्र द्वारा 'अप्' की उपधा को दीर्घ होकर—आपस् = 'आपः' प्रयोग बनता है।

अप्+अस् (शस्)। शस् की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा नहीं अतः इस के परे होने पर उपधादीर्घ नहीं होता। स्वर व्यञ्जन का संयोग होकर रुँत्व विसर्ग करने से—'अपः'।

अप्+भिस्। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३६२ अपो भि ।७।४।४८॥

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये । अद्भिः । अद्भ्यः २ । अपाम् । अप्सु ॥

अर्थः—भकारादि प्रत्यय परे होने पर 'अप्' के पकार को तकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—अपः । ६ । १ । तः । १ । १ । ['अच उपसर्गात्तः' से] भि । ७ । १ । ['अङ्गस्य' का अधिकार होने से 'प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है। वह 'प्रत्यये' विशेष्य और 'भि' विशेषण है। विशेषण के अल् होने से तदादिविधि होकर—'भादौ प्रत्यये' बन जाता है।] अर्थः—(भादौ प्रत्यये) भकारादि प्रत्यय परे होने पर (अपः) 'अप्' शब्द के स्थान पर (तः) त आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् पकार के स्थान पर होगा। सुपों में भकारादि प्रत्यय भ्याम् और भिस् के अतिरिक्त कोई नहीं है।

'अप्+भिस्' यहां प्रकृतसूत्र से पकार को तकार होकर जश्त्व करने से—अद्भिः। इसी प्रकार—अद्भ्यः।

अप्+आम् = अपाम्। अप्+सुप् = अप्सु। यहां भकारादि प्रत्यय न होने से तकार न होगा। समग्र रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	०	०	आपः	पञ्चमी	०	०	अद्भ्यः
द्वितीया	०	०	अपः	षष्ठी	०	०	अपाम्
तृतीया	०	०	अद्भिः	सप्तमी	०	०	अप्सु
चतुर्थी	०	०	अद्भ्यः	सम्बोधन	०	०	हे आपः !

यहां पकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] दिक्, दिग् । दिशः । दिग्भ्याम् ॥

व्याख्या— दिश् = दिशा

यह शब्द 'ऋत्विग्दधृक्......' (३०१) सूत्र से क्विन्नन्त निपातन किया गया है।

दिश् + सुँ । सुँलोप, 'व्रश्चभ्रस्ज.......' (३०७) से षत्व, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से डत्व, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से गकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व = ककार करने से—'दिक्, दिग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

दिश् + भ्याम् । पदान्त में षत्व, डत्व और कुत्व होकर—दिग्भ्याम् ।

'दिश्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दिक्-ग्	दिशौ	दिशः	प०	दिशः	दिग्भ्याम्	दिग्भ्यः
द्वि०	दिशम्	,,	,,	ष०	,,	दिशोः	दिशाम्
तृ०	दिशा	दिग्भ्याम्	दिग्भिः	स०	दिशि	,,	दिक्षु
च०	दिशे	,,	दिग्भ्यः	सं०	हे दिक्-ग् !	हे दिशौ !	हे दिशः !

इसी शब्द का 'आपं चैव हलन्तानाम्' से आप् करने पर 'दिशा' शब्द बन जाता है, तब 'रमा' की तरह रूप चलते हैं।

[लघु०] 'त्यदादिषु....' (३४७) इति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम् । दृक्, दृग् । दृशौ । दृग्भ्याम् ॥

व्याख्या— दृश् = आंख, दृष्टि ।

दृश्यन्तेऽर्था अनयेति विग्रहे सम्पदादित्वाद् दृशेः क्विप् । 'दृश्' शब्द क्विबन्त है क्विन्नन्त नहीं ।

दृश् + सुँ । यहां अपृक्त सकार का लोप होकर पदान्त में 'व्रश्चभ्रस्ज........' (३०७) सूत्र से शकार को षकार, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से डकार को कुत्व-गकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व-ककार करने से—'दृक्, दृग्' ये दो रूप बनते हैं।

नोट—यद्यपि यहां क्विन् प्रत्यय न होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) द्वारा कुत्व न होना चाहिये था; तथापि 'क्विन्प्रत्ययो यस्मात्' ऐसा विग्रह कर बहुव्रीहिसमास स्वीकार करने से कुत्व हो जाता है कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस धातु से कहीं भी क्विन्प्रत्यय देखा गया हो चाहे अब उस से वह किया गया हो या न हो उसे कुत्व हो जायगा। 'दृश्' धातु से यहां तो क्विन् नहीं हुआ किन्तु 'तादृश्' शब्द में 'त्यदादिषु......' (३४७) सूत्र द्वारा देखा जाता है अतः यहां क्विन् के अभाव में भी कुत्व हो जायगा।

दृश् + भ्याम् । षत्व, डत्व और कुत्व होकर — दृग्भ्याम् ।

'दृश्'[1] शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दृक्-ग्	दृशौ	दृशः	प०	दृशः	दृग्भ्याम्	दृग्भ्यः
द्वि०	दृशम्	,,	,,	ष०	,,	दृशोः	दृशाम्
तृ०	दृशा	दृग्भ्याम्	दृग्भिः	स०	दृशि	,,	दृक्षु
च०	दृशे	,,	दृग्भ्यः	सं०	हे दृक्-ग् !	हे दृशौ !	हे दृशः !

इसी प्रकार—एतादृश्, यादृश् आदि के स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग समझने चाहियें ।

यहां शकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] त्विट्, त्विड् । त्विषौ । त्विड्भ्याम् ॥

व्याख्या— त्विष् = कान्ति ।

'त्विषँ दीप्तौ' (भ्वा० उभ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'त्विष्' शब्द निष्पन्न होता है । 'त्विष्' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया पुल्ँलिङ्ग के 'रत्नमुष्' शब्द के समान होती है । रूपमाला यथा—

प्र०	त्विट्-ड्॥	त्विषौ	त्विषः	प०	त्विषः	त्विड्भ्याम्	त्विड्भ्यः
द्वि०	त्विषम्	,,	,,	ष०	,,	त्विषोः	त्विषाम्
तृ०	त्विषा	त्विड्भ्याम्†	त्विड्भिः	स०	त्विषि	,,	त्विट्त्सु,-ट्सु×
च०	त्विषे	,,	त्विड्भ्यः	सं०	हे त्विट्-ड् !	हे त्विषौ !	हे त्विषः !

॥ झलां जशोऽन्ते (६७), वाऽवसाने (१४६) । † झलां जशोऽन्ते (६७)

× जश्त्व और धुट् प्रक्रिया ।

इसी प्रकार—प्रावृष् (वर्षा ऋतु), रुष् (क्रोध) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं ।

[लघु०] 'ससजुषो रुः' (१०५) इति रुँत्वम् । सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् ॥

व्याख्या— सजुष् = मित्र ।

समानं जुषते=सेवत इति सजूः । 'जुषीँ प्रीतिसेवनयोः' (तुदा० आ०) इति क्विप् । 'सहस्य सः सञ्ज्ञायाम्' (६. ३. ७८) इति सूत्रेण, 'ससजुषो रुः' इति निपातनाद्वा सहस्य स-भावः ।

---

१ 'तादृश्' शब्द के रूपों में से 'ता' हटा दिया जाय तो 'दृश्' के रूप हो जाते हैं ।

'सजुष् + सुँ'। सुँलोप होकर 'ससजुषो रुः' (१०५) सूत्र से सजुष् के षकार को रुँ आदेश, 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (३५१) से उपधादीर्घ तथा सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'सजूः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सजुष् + भ्याम्'। पदान्त में रुँत्व और पूर्वोक्तरीत्या उपधादीर्घ होकर—'सजूर्भ्याम्'।

सजुष् + सुप्। रुँत्व और उपधादीर्घ होकर—सजूर् + सु। अब षत्व के असिद्ध होने से प्रथम 'खरवसानयोः—' (९३) से विसर्ग आदेश हो जाता है—सजूः + सु। पुनः 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसर्गों को विसर्ग और पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकार आदेश होकर 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' (३५२) सूत्र से दोनों पक्षों में सकार को मूर्धन्य षकार करने से—१. सजूःषु, २. सजूस्षु। अब सकार वाले पक्ष में ष्टुत्व हो जाता है। इस प्रकार—"१. सजूःषु, २. सजूष्षु" ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'सजुष्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सजूः	सजुषौ	सजुषः	प०	सजुषः	सजूर्भ्याम्	सजूर्भ्यः
द्वि०	सजुषम्	,,	,,	ष०	,,	सजुषोः	सजुषाम्
तृ०	सजुषा	सजूर्भ्याम्	सजूर्भिः	स०	सजुषि	,,	सजूःषु, सजूष्षु
च०	सजुषे	,,	सजूर्भ्यः	सं०	हे सजूः!	हे सजुषौ!	हे सजुषः!

इसी प्रकार— **आशिष् = आशीर्वाद**

आङ् पूर्वक 'शास्' (अदा० आ०) धातु से क्विप् प्रत्यय, 'आशासः क्वावुपसङ्ख्यानम्' वार्त्तिक से इत्व तथा 'शासिवसिघसीनाञ्च' (५५४) द्वारा मूर्धन्य षकार करने पर 'आशिष्' शब्द निष्पन्न होता है। यहां का षत्व (८. ३. ६०) 'ससजुषो रुः' (८. २. ६६) की दृष्टि में असिद्ध है; अतः पदान्त में सकार समझ कर सर्वत्र 'ससजुषो रुः' (१०५) से रुँत्व हो जाता है। शेष सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ववत होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	आशीः	आशिषौ	आशिषः	प०	आशिषः	आशीर्भ्याम्	आशीर्भ्यः
द्वि०	आशिषम्	,,	,, ❀	ष०	आशिषः	आशिषोः	आशिषाम्
तृ०	आशिषा	आशीर्भ्याम्	आशीर्भिः	स०	आशिषि	,,	आशीःषु, आशीष्षु
च०	आशिषे	,,	आशीर्भ्यः	सं०	हे आशीः!	हे आशिषौ!	हे आशिषः!

यहां षकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] असौ। उत्व-मत्वे—अमू, अमूः। अमुया। अमूभिः। अमुष्यै।

❀ कई लोग शस् में—"परमात्मा जनेभ्य आशीर्ददाति" इस प्रकार भ्रम से अशुद्ध लिखते हैं; "आशिषो ददाति" लिखना चाहिये।

अमूभ्यः । अमुष्याः । अमुयोः । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ॥

व्याख्या—'अदस्' शब्द की पुंल्लिङ्ग में प्रक्रिया लिख चुके हैं, अब स्त्रीलिङ्ग में लिखते हैं ।

अदस्+सुँ । यहां पुंल्लिङ्ग के समान ही 'अदस औ सुँ-लोपश्च' (३५५) द्वारा सकार को औकार और सुँ का लोप, 'तदोः सः—' (३१०) से दकार को सकार और वृद्धि होकर—'असौ' प्रयोग सिद्ध होता है ।

अदस्+औ । त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप् और सवर्णदीर्घ होकर—अदा+औ । 'औङ आपः' (२१६) से औ को शी हो गुण एकादेश करने से—'अदे' । अब 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) से एकार को ऊकार तथा दकार को मकार करने पर —'अमू' ।

अदस्+अस् (जस्)=अदा+अस् । 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होकर सवर्णदीर्घ हो जाता है—अदाः । अब ऊत्व मत्व करने से—'अमूः' सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां अदन्त सर्वनाम न होने से जस् को शी आदेश तथा एकार न होने के कारण 'एत ईद्........' (३५७) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता ।

अदस्+अम्=अदा+अम् । पूर्वरूप कर ऊत्व मत्व करने से—'अमूम्' ।

अदस्+अस् (शस्) । पूर्वसवर्णदीर्घ होकर ऊत्व मत्व हो जाते हैं—'अमूः' ।

अदस्+आ (टा)=अदा+आ । 'आङि चापः' (२१८) से आप् को एकार आदेश होकर अय् आदेश करने से—अदया । अब ऊत्व मत्व करने से—'अमुया' सिद्ध होता है ।

अदस्+भ्याम्=अदा+भ्याम् । ऊत्व मत्व करने से—अमूभ्याम् । इसी प्रकार—अमूभिः, अमूभ्यः ।

अदस्+ए (ङे)=अदा+ए । सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर 'सर्वनाम्नः स्याड् ढ्रस्वश्च' (२२०) से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व हो—अद स्या ए । पुनः वृद्धि करके उत्व, मत्व और षत्व करने से—'अमुष्यै' ।

अदस्+अस् (ङसि व ङस्)=अदा+अस्=अदस्याः । अब उत्व, मत्व और षत्व करने पर—'अमुष्याः' ।

अदस्+ओस्=अदा+ओस् । 'आङि चापः' (२१८) से एकार और 'एचोऽयवायावः' (२२) से अय् आदेश हो—अदयोः । पुनः उत्व मत्व करने पर—'अमुयोः' ।

अदस्+आम्=अदा+आम् । सुट् आगम कर उत्व मत्व और षत्व हो जाता है—'अमूषाम्' ।

अदस्+इ (ङि)=अदा+इ । 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (१६८) से ङि को आम् हो स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व करने से—अदस्याम् । अब उत्व मत्व और षत्व करने पर—'अमुष्याम्' ।

अदस्+सुप्=अदा+सु । उत्व मत्व और षत्व होकर—'अमूषु' ।

'अदस्' शब्द की स्त्रीलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र०	असौ	अमू	अमूः	प०	अमुष्याः	अमूभ्याम्	अमूभ्यः
द्वि०	अमूम्	,,	,,	ष०	,,	अमुयोः	अमूषाम्
तृ०	अमुया	अमूभ्याम्	अमूभिः	स०	अमुष्याम्	,,	अमूषु
च०	अमुष्यै	,,	अमूभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता ।		

नोट—स्त्रीलिङ्ग में अदस् शब्द की सिद्धि करते समय सुँ को छोड़ अन्य सब विभक्तियों में सर्वप्रथम 'अदा' रूप बना लेना चाहिये । तब 'सर्वा' शब्द के समान प्रक्रिया कर के 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) सूत्र प्रवृत्त करना चाहिये । ऐसा करने से प्रक्रिया में अशुद्धि नहीं हो सकेगी ।

सूचना—अप्सरस्, उषस्, सुमनस् प्रभृति सकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप 'वेधस्' शब्द के तुल्य होते हैं कुछ विशेष नहीं होता है । हां ! इनमें पुष्पवाचक 'सुमनस्' बहुवचन में होता है ।

यहां सकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः [शब्दाः] ॥

अर्थः—यहाँ हलन्त-स्त्रीलिङ्ग शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है ।

अभ्यासः (४६)

(१) निम्नलिखित शब्दों के सब विभक्तियों में रूप लिखो—
सुमनस्, त्विष्, उपानह्, दिव्, अप्, सजुष्, इदम् (स्त्रीलिङ्ग के अन्वादेश में), एतद् (स्त्रीलिङ्ग), चतुर् (स्त्रीलिङ्ग), किम् (स्त्रीलिङ्ग), अदस् (पुलँलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग दोनों) ।

(२) दृश्, उष्णिह्, दिश् आदि शब्द यदि पुलँलिङ्ग में भी माने जाएं तो भी इन के रूपों में कोई अन्तर नहीं आता; तो पुनः इन्हें स्त्रीलिङ्ग में स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है ?

(३) 'उपानह् + भ्याम्' यहां पदान्त में 'हो ढः' सूत्र प्रवृत्त क्यों नहीं होता ?

(४) "अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः" इस पर यथाधीत नोट लिखें।

(५) 'क्विन्' प्रत्यय न होने पर भी 'दृश्' में क्विन्प्रत्ययस्य कुः' सूत्र कैसे प्रवृत्त हो जाता है।

(६) निम्नलिखित सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करो—

"१ अपो भि। २ यः सौ। ३ नहो धः। ४ नहिवृति........"।

(७) सूत्रोपन्यासपूर्वक निम्नलिखित रूपों की सिद्धि करो—

१ अद्भिः। २ अनया। ३ उपानत्। ४ अमूषाम्। ५ चतस्रः। ६ आपः। ७ पूः। ८ द्यौः। ९ एनया। १० अमूः। ११ सजूष्षु। १२ इयम्। १३ गीर्षु। १४ चतसृणाम्। १५ कस्याम्। १६ उष्णिक्। १७ त्वत्सु। १८ अमुष्यै। १९ तस्याः। २० दिक्।

इति भैमी व्याख्ययो—

पबृंहितायां लघुसिद्धान्त-

कौमुद्यां हलन्त-स्त्रीलिङ्ग-

प्रकरणं पूर्त्तिमगात् ॥

——❀——

* अथ हलन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणम् *

—:०:—

[लघु०] स्वमोर्लुक् । दत्वम् । स्वनडुत्, स्वनडुद् । स्वनडुही । चतुरनडुहोः— (२५९) इत्याम् । स्वनड्वांहि । पुनस्तद्वत् * । शेषं पुंवत् ।

व्याख्या— स्वनडुह् = अच्छे बैलों वाला कुल व क्षेत्र आदि ।

सु-शोभनाः, अनड्वाहः—वृषभा यस्य तत् = स्वनडुत । यहां 'सु' और 'अनडुह्' का बहुव्रीहिसमास होता है । समाससञ्ज्ञा होने के कारण 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (११७) द्वारा प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होकर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ।

स्वनडुह् + स् (सुँ) । यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) द्वारा सुँ-लोप प्राप्त होता है । परन्तु अपवाद होने के कारण उसे बान्धकर 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) द्वारा सुँ का लुक् हो जाता है । पुनः 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) द्वारा पदसञ्ज्ञा† हो जाने से 'वसुस्रंसु........' (२६२) सूत्र से हकार को दकार× तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-तकार होकर—'स्वनडुत, स्वनडुद्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

स्वनडुह् + औ । यहां 'नपुंसकाच्च' (२३९) सूत्र से 'औ' को 'शी' आदेश होकर अनुबन्धलोप करने से—'स्वनडुही' ।

---

* पुनः उसी प्रकार अर्थात् द्वितीया विभक्ति के रूप भी प्रथमाविभक्ति के समान होते हैं । क्योंकि नपुंसक में सुँ के समान अम् का भी लुक् हो जाता है । 'औ' तथा 'औट्' में तो कोई अन्तर ही नहीं; और शस् को भी जस् के समान 'शि' आदेश होता है । यह नियम प्रायः सर्वत्र नपुंसक में प्रयुक्त होता है ।

† ध्यान रहे कि पदसञ्ज्ञा अङ्गकार्य नहीं क्योंकि यह अङ्ग (प्रकृति) और प्रत्यय दोनों की समुदित सञ्ज्ञा है । अतः पदसञ्ज्ञा करने में 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) द्वारा प्रत्यय-लक्षण का निषेध नहीं होता ।

× 'वसुस्रंसु...' (२६२) यह अङ्गकार्य है, अतः यह तदन्त में भी प्रवृत्त होता है (देखो—"पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च") ।

स्वनडुह्+जस्। यहां 'जश्शसोः शिः' (२३७) से शि आदेश, 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) से उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' (२५६) से आम् का आगम तथा 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) से नुम् का आगम होकर—'स्वनडु आन् ह्+इ'। अब 'इको यणचि' (१५) से यण् और 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार करने से—'स्वनड्वांहि' प्रयोग सिद्ध होता है।

स्वनडुह्+अम्। यहां भी सुँ की तरह 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) सूत्र से अम् का लुक् होकर पदान्त में हकार को दकार तथा वैकल्पिक चर्त्व करने से—'स्वनडुत्, स्वनडुद्'।

औट् में औ की तरह तथा शस् में जस् की तरह रूप बनते हैं। शेष विभक्तियों में पुंवत् (पुँल्लिङ्ग की तरह) रूप होते हैं।

'स्वनडुह्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	स्वनडुत्,-द्	स्वनडुही	स्वनड्वांहि	प०	स्वनडुहः	स्वनडुद्भ्याम्	स्वनडुद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	स्वनडुहोः	स्वनडुहाम्
तृ०	स्वनडुहा	स्वनडुद्भ्याम्	स्वनडुद्भिः	स०	स्वनडुहि	,,	स्वनडुत्सु
च०	स्वनडुहे	,,	स्वनडुद्भ्यः	सं०	हे स्वनडुत्-द्!	हे स्वनडुही!	हे स्वनड्वांहि!

भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् में दत्व हो जाता है।

यहां हकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] वाः। वारी। वारि। वार्भ्याम्॥

व्याख्या— वार् = जल

वार्+सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर अवसान में रेफ को विसर्ग हो जाते हैं—'वाः'।

वार्+औ। 'नपुंसकाच्च' (२३५) से औ को शी होकर—वार्+शी=वारी।

वार+जस्। 'जश्शसोः शिः' (२३७) से जस् को शि होकर—वार्+शि= 'वारि'। ध्यान रहे कि रेफ का झलों में पाठ न होने से यहां 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) से नुम् आगम नहीं होता।

'वार्' (जल) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	वाः	वारी	वारि	प०	वारः	वार्भ्याम्	वार्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	वारोः	वाराम्
तृ०	वारा	वार्भ्याम्	वार्भिः	स०	वारि	,,	वार्षु†
च०	वारे	,,	वार्भ्यः	सं०	हे वाः !	हे वारी !	हे वारि !

† यहां रुँ का रेफ न होने से विसर्ग आदेश नहीं होते—'रोः सुपि' (२६८)।

[लघु०] चत्वारि ॥

व्याख्या—'चतुर्' शब्द त्रिलिङ्गी नित्य बहुवचनान्त होता है। यहां नपुंसक में इसकी प्रक्रिया दर्शाई जाती है—

चतुर् + जस् = चतुर् + शि। 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) द्वारा 'शि' की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा होकर 'चतुरनडुहोः'—(२५६) से आम् का आगम तथा 'इको यणचि' (१५) सूत्र से यण् आदेश होकर—'चत्वारि'। इसी प्रकार शस् में। शेष विभक्तियों में पुंवत् प्रक्रिया जाननी चाहिये। रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	०	०	चत्वारि	पञ्चमी	०	०	चतुर्भ्यः
द्वितीया	०	०	,,	षष्ठी	०	०	चतुर्णाम्
तृतीया	०	०	चतुर्भिः	सप्तमी	०	०	चतुर्षु
चतुर्थी	०	०	चतुर्भ्यः	सम्बोधन नहीं होता।			

यहां रेफान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] किम्। के। कानि ॥

व्याख्या—किम् + सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर—'किम्'। अब विभक्ति परे न होने से 'किमः कः' (२७१) से 'क' आदेश नहीं हो सकता प्रत्ययलक्षण भी 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) के निषेध के कारण नहीं हो पाता।

किम् + औ। यहां विभक्ति परे होने के कारण 'किमः कः' (२७१) से क आदेश हो औ को शी और गुण करने से—'के'।

किम् + जस्। क आदेश होकर ज्ञानशब्द की तरह प्रक्रिया चलती है—कानि। रूपमाला यथा—

प्र०	किम्	के	कानि	प०	कस्मात्❀	काभ्याम्	केभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	कस्य	कयोः	केषाम्†
तृ०	केन	काभ्याम्	कैः	स०	कस्मिन्❀	,,	केषु
च०	कस्मै+	,,	केभ्यः	सम्बोधन नहीं होता।			

+ सर्वनाम्नः स्मै (१५३)। ❀ ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४)।

† आमि सर्वनाम्नः सुट् (१५५)।

[लघु०] इदम्। इमे। इमानि ॥

व्याख्या—नपुंसकलिङ्ग में 'इदम्' शब्द की प्रक्रिया यथा—

इदम्+सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर—'इदम्'। विभक्ति का लुक् होने से 'इदमो मः' (२७२) तथा त्यदाद्यत्व आदि नहीं होते।

इदम्+औ। त्यदाद्यत्व, पररूप, शी आदेश, गुण और 'दश्च' (२७५) द्वारा दकार को मकार होकर—'इमे'।

इदम्+जस्। त्यदाद्यत्व, पररूप, शि आदेश, उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, अकारान्त होने से नुम् आगम, उपधादीर्घ और दकार को मकार करने पर 'इमानि'।

द्वितीया में भी इसी तरह रूप बनते हैं। शेष पुंवत् जानें। रूपमाला यथा—

प्र०	इदम्	इमे	इमानि	पं०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	अस्य	अनयोः	एषाम्
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभिः	स०	अस्मिन्	,,	एषु
च०	अस्मै	,,	एभ्यः		सम्बोधन नहीं होता।		

[लघु०] वा०—(२९) अन्वादेशे नपुंसक एनद्वक्तव्यः ॥

एनत्, एनद्। एने। एनानि। एनेन। एनयोः ॥

अर्थः—द्वितीया, टा और ओस् विभक्ति परे होने पर नपुंसकलिङ्ग में अन्वादेश में इदम् और एतद् शब्द के स्थान पर 'एनत्' आदेश हो जाता है।

व्याख्या—यह वार्त्तिक 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) सूत्र पर भाष्य में पढ़ा गया है; अतः यह तद्विषयक ही है।

यह 'एनत्' आदेश अम् के लिये ही किया गया है, क्योंकि अन्य विभक्तियों (औट्, शस्, टा, ओस्) में तो द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) से भी कार्य निकल सकता है। भाष्यकार ने भी यही स्वीकार किया है—"एनदिति नपुंसक एकवचने वक्तव्यम्, कुण्डमानय, प्रक्षालयैनत्"।

इदम्+अम्। यहां 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से अम् का लुक् होकर प्रत्ययलक्षण का निषेध होने पर भी एनद्विधानसामर्थ्य से अम् को मानकर प्रकृतवार्त्तिक से

'एनत' आदेश हो जाता है। पुनः जश्त्व चर्त्व करने पर—'एनत्, एनद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इदम्+औट्=इदम्+शी=एनन्+ई। त्यदाद्यत्व, पररूप, तथा गुण एकादेश होकर—'एने'

इदम्+शस्=इदम्+शि=एनन+इ। त्यदाद्यत्व, पररूप, नुम् आगम तथा उपधादीर्घ होकर—'एनानि'।

इदम्+टा= एनन+आ। त्यदाद्यत्व, पररूप तथा 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (१४०) से टा को इन आदेश और गुण एकादेश करने पर—'एनेन'।

इदम्+ओस्=एनन+ओस्=एन+ओस्। 'ओसि च' (१४७) से अकार को एकार होकर अय् आदेश करने से—'एनयोः'।

नोट—वस्तुतः अम् से भिन्न अन्य विभक्तियों में उपर्युक्त भाष्य के वचन से 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) द्वारा 'एन' आदेश ही होता है, एनत् नहीं। हम ने यह सब मतान्तर के आश्रय से ही लिखा है।

नपुंसकलिङ्ग के अन्वादेश में 'इदम्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	इदम्	इमे	इमानि	प०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि०	एनत द्	एने	एनानि	ष०	अस्य	एनयोः	एषाम्
तृ०	एनेन	आभ्याम्	एभिः	स०	अस्मिन्	,,	एषु
च०	अस्मै	,,	एभ्यः		सम्बोधन में प्रयोग नहीं होता।		

यहां मकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं

[लघु०] अहः। विभाषा ङिश्योः (२४८)—अह्नी, अहनी। अहानि॥

व्याख्या— अहन् = दिन।

अहन्+सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक्, 'रोऽसुपि' (११०)% से नकार को रेफ आदेश और 'खरवसानयोः—' (९३) से उसे विसर्ग करने पर 'अहः'† प्रयोग सिद्ध होता है।

अहन्+औ। यहां 'यचि भम्' (१६५) सूत्र द्वारा भसञ्ज्ञा होने के कारण 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) से अन् के अकार का विकल्प से लोप हो जाता है—'अह्नी, अहनी'।

% यहाँ 'अहन्' (३६३) सूत्र से रुँत्व न होकर 'असुपि' के सामर्थ्य से रत्व होगा।

† 'अहः इदम्' की सन्धि 'अहरिदम्'। इसी प्रकार 'अहर्भाति'। देखो सन्धिप्रकरण सूत्र (११०)।

अहन्+जस्=अहन्+शि। यहां सर्वनामस्थाने चा.......' (१७७) से उपधा-दीर्घ हो जाता है—'अहानि'।

अहन्+आ (टा)। भसञ्ज्ञा होकर 'अल्लोपोऽनः' (२४७) से अन् के अकार का नित्य लोप हो जाता है—'अह्ना'।

अहन्+भ्याम्। यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३६३ अहन् ।८।२।६८॥

अहन् इत्यस्य रुँः पदान्ते। अहोभ्याम्॥

अर्थः—पदान्त में 'अहन्' के नकार के स्थान पर रुँ आदेश हो जाता है।

व्याख्या—अहन्।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् हुआ है।] रुँः।१।१। ['ससजुषो रुँः' से] पदस्य।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते।७।१। ['स्कोः....' से] अर्थः—(पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (अहन्) अहन् शब्द के स्थान पर (रुँः) रुँ आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल्—नकार के स्थान पर होता है।

अहन्+भ्याम्। यहां प्रकृतसूत्र से नकार को रुँ आदेश होकर 'हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण करने पर—अहोभ्याम्। इसी प्रकार—अहोभिः, अहोभ्यः।

अहन्+इ (ङि)। भसञ्ज्ञा होकर 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) से विकल्प कर के अन् के अकार का लोप हो जाता है—अह्नि, अहनि।

अहन्+सुप्। रुँत्व विसर्ग होकर—अहःसु। 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसर्ग तथा पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (९६) से विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होकर—'अहःसु, अहस्सु'।

समग्र रूपमाला यथा—

प्रथमा	अहः	अह्नी, अहनी	अहानि
द्वितीया	,,	,, ,,	,,
तृतीया	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः
चतुर्थी	अह्ने	,,	अहोभ्यः
पञ्चमी	अह्नः	,,	,,
षष्ठी	,,	अह्नोः	अह्नाम्
सप्तमी	अह्नि, अहनि	,,	अहःसु, अहस्सु
सम्बोधन	हे अहः!	हे अह्नी, अहनी!	हे अहानि!

[लघु०] दण्डि ॥

व्याख्या—दण्डोऽस्यास्तीति—दण्डि कुलम्। 'अत इनिठनौ' (११८७)।

दण्डिन्+सुँ। यहां 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर—'न लोपः........' (१८०) से नकार का भी लोप हो जाता है—दण्डि।

हे दण्डिन्+सुँ। सुँ का लुक् होकर नकारलोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-वार्त्तिक से विकल्प होता है—

[लघु०] वा०—(३०) "सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः" ॥

हे दण्डिन्!, हे दण्डि!। दण्डिनी। दण्डीनि। दण्डिना। दण्डिभ्याम् ॥

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर नपुंसकों के नकार का विकल्प कर के लोप होता है।

व्याख्या—'हे दण्डिन्' यहां प्रत्ययलक्षण द्वारा सम्बुद्धि के परे होने से नकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है। लोपपक्ष में—हे दण्डि!, लोपाभावपक्ष में—हे दण्डिन्!।

दण्डिन्+औ=दण्डिन्+शी=दण्डिनी।

दण्डिन्+अस् (जस्)=दण्डिन्+शि। 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ होकर—'दण्डीनि†।

दण्डिन् (दण्ड वाला कुल आदि) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दण्डि	दण्डिनी	दण्डीनि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	दण्डिना	दण्डिभ्याम्	दण्डिभिः
च०	दण्डिने	,,	दण्डिभ्यः
प०	दण्डिनः	दण्डिभ्याम्	दण्डिभ्यः
ष०	,,	दण्डिनोः	दण्डिनाम्
स०	दण्डिनि	,,	दण्डिषु
सं०	हे दण्डि,-न्!	हे दण्डिनी!	हे दण्डीनि!

[लघु०] सुपथि। टेर्लोपः—सुपथी। सुपन्थानि ॥

व्याख्या—सुन्दराः पन्थानो यस्मिन् तत् सुपथि नगरम्।

सुपथिन्+सुँ। यहां 'दण्डिन्' के समान सुँलुक् तथा नकारलोप होकर—'सुपथि'।

सुपथिन्+औ=सुपथिन्+ई (शी)। भसञ्ज्ञा होकर 'भस्य टेर्लोपः' (२६६) से 'इन्' भाग का लोप हो जाता है—'सुपथी।

सुपथिन्+जस्=सुपथिन्+शि। यहां 'शि' की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होकर 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (२६४) से इकार को अकार तथा 'थोन्थः' (२६५) सूत्र से

† यहाँ 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (२४८) के नियम के कारण दीर्घनिषेध नहीं होता है।

थकार को न्थ आदेश हो जाता है। अब 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधा-दीर्घ करने पर—'सुपन्थानि'।

सुपथिन् (सुन्दर मार्गों वाला नगर आदि) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सुपथि	सुपथी	सुपन्थानि	प०	सुपथः	सुपथिभ्याम्	सुपथिभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	सुपथोः	सुपथाम्
तृ०	सुपथा	सुपथिभ्याम्	सुपथिभिः	स०	सुपथि	,,	सुपथिषु
च०	सुपथे	,,	सुपथिभ्यः	सं०	हे सुपथि,-न्!	हे सुपथी!	हे सुपन्थानि!

यहां नकारान्त नपुंसकलिङ्ग समाप्त होते हैं।

[लघु०] ऊर्क्, ऊर्ग्। ऊर्जी। ऊर्न्जि। नरजानां संयोगः॥

व्याख्या— ऊर्ज् = बल व तेज।

'ऊर्ज बलप्राणनयोः' (चु० उभ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'ऊर्ज्' शब्द निष्पन्न होता है।

ऊर्ज् + सुँ। सुँ का लुक् होकर 'चोः कुः' (३०६) द्वारा जकार को गकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक ककार करने पर—'ऊर्क्, ऊर्ग्'।

ऊर्ज् + औ = ऊर्ज् + शी = ऊर्जी।

ऊर्ज् + जस् = ऊर्ज् + शि। यहां 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् आगम होकर—'ऊर्न्जि'† सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	ऊर्क्,-ग्	ऊर्जी	ऊर्न्जि	प०	ऊर्जः	ऊर्ग्भ्याम्	ऊर्ग्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	ऊर्जोः	ऊर्जाम्
तृ०	ऊर्जा	ऊर्ग्भ्याम्	ऊर्ग्भिः	स०	ऊर्जि	,,	ऊर्क्षु
च०	ऊर्जे	,,	ऊर्ग्भ्यः	सं०	हे ऊर्क्,-ग्!	हे ऊर्जी!	हे ऊर्न्जि!

यहां जकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं।

---

†'ऊर्न्जि' लिखने वाले सावधान रहें। क्योंकि वैसा लिखने से रेफ सब से पहले पढ़ा जायगा, जैसे—'कार्त्स्न्यं' आदि में होता है। परन्तु हमें नकार (नुम्) का पाठ रेफ से पूर्व करना इष्ट है। अतः 'ऊर्न्जि' इस ढंग से ही लिखना चाहिये। ग्रन्थकार ने भी लेखकों की इस भ्रान्ति की ओर ध्यान देते हुए—"नरजानां संयोगः" (नकार, रेफ और जकार का संयोग है) ऐसा स्पष्ट लिख दिया है। अत एव रेफ का बीच में व्यवधान पड़ने से नकार को श्चुत्व नहीं होता।

[लघु०] तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि ॥

व्याख्या—तद् + सुँ । सुँ का लुक् होकर वैकल्पिक चर्त्व हो जाता है—'तत्, तद्' । ध्यान रहे कि यहां सुँ का लुक् हो जाने से 'तदोः सः........' (३१०) द्वारा सकारादेश नहीं होता । इसी प्रकार यद् और एतद् शब्दों में भी समझ लेना चाहिये ।

तद् + औ । त्यदाद्यत्व, पररूप, 'औ' को शी आदेश तथा गुण एकादेश करने पर—'ते' ।

तद् + जस् । त्यदाद्यत्व, पररूप, जस् को शि आदेश, नुम् आगम और उपधादीर्घ होकर—'तानि' ।

द्वितीया में भी इसी प्रकार होता है । शेष पुंवत् जानें ।

'तत्' (वह) शब्द की नपुंसकलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र०	तत्, तद्	ते	तानि	पं०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः	स०	तस्मिन्	,,	तेषु
च०	तस्मै	,,	तेभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग में यद् (जो) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	यत्, यद्	ये	यानि	पं०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
तृ०	येन	याभ्याम्	यैः	स०	यस्मिन्	,,	येषु
च०	यस्मै	,,	येभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग में 'एतद्' (यह) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	एतत्, एतद्	एते	एतानि	पं०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतैः	स०	एतस्मिन्	,,	एतेषु
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

यहां दकारान्त नपुंसक-शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] गवाक् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् ॥

व्याख्या— गो अञ्च् = गौ के पास प्राप्त होने वाला ।

गामञ्चतीति—गवाक् । 'गो' कर्म उपपद होने पर गत्यर्थक अञ्चु (भ्वा० प०)

धातु से 'ऋत्विग्दधृक्........' (३०१) सूत्र से क्विन्प्रत्यय, उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदिताम्.......' (३३४) से उपधा के नकार का लोप होकर—गो अच् । अब इस से स्वादि उत्पन्न होते हैं—

सुँ में—गो अच् + स् । 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक्, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८. २. ६२) के असिद्ध होने से 'चोः कुः' (८. २. ३०) द्वारा चकार को ककार होकर जश्त्व-चर्त्व प्रक्रिया करने से—'गो अक्, गो अग्' । अब 'गो' शब्द के ओकार तथा 'अक्' शब्द के अकार के मध्य तीन प्रकार की सन्धि ['अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) से वैकल्पिक अवङ् तथा सवर्णदीर्घ, अवङ्-अभाव में 'सर्वत्र विभाषा गोः' (४४) से वैकल्पिक प्रकृतिभाव, प्रकृतिभाव के अभाव में 'एङः पदान्तादति' (४३) से पूर्वरूप] होने से छः रूप सिद्ध होते हैं । यथा—(अवङ्पक्ष में) १. गवाक् , २. गवाग् । (प्रकृतिभावपक्ष में) ३. गोअक् , ४. गो अग् । (पूर्वरूपपक्ष में) ५. गोऽक् , ६. गोऽग् ॥

'औ' में—गोअच् + औ । यहां 'नपुंसकाच्च' (२३५) से 'औ' की शी, अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' (१६५) से भसञ्ज्ञा तथा 'अचः' (३३५) सूत्र से अकार का लोप होकर—'गोची' यह एक ही रूप सिद्ध होता है । इस प्रकार गति अर्थ में भसञ्ज्ञा के सब स्थलों में यही बात समझनी चाहिये ।

'जस्' में—गो अच् + जस् । 'जश्शसोः शिः' (२३७) से जस् को शि आदेश, उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होकर 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (२८९) सूत्र से नुम् आगम, 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण ञकार तथा तीनों प्रकार की सन्धि करने से—"गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि" ये तीन रूप सिद्ध होते हैं ।

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है ।

टा में—गोअच् + आ (टा) । भसञ्ज्ञा होकर 'अचः' (३३५) से अकार का लोप हो जाता है—'गोचा' ।

भ्याम् में—गो अच् + भ्याम् । यहां भसञ्ज्ञा न होने से अकारलोप नहीं होता है । पदान्त में 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कुत्व-गकार करने पर तीन प्रकार की सन्धि हो जाती है—"१. गवाग्भ्याम् , २. गोअग्भ्याम् , ३. गोऽग्भ्याम्" । इसी प्रकार—भिस् , भ्यस् और सुप् में तीन २ रूप बना लेने चाहियें ।

गतिपक्ष में 'गोअञ्च्' शब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	गवाक्,-ग् / गोअक्,-ग् / गोऽक्,-ग्	गोची	गवाञ्चि / गोअञ्चि / गोऽञ्चि
द्वि०	गवाक्,-ग् / गोअक्,-ग् / गोऽक्,-ग्	गोची	गवाञ्चि / गोअञ्चि / गोऽञ्चि
तृ०	गोचा	गवाग्भ्याम् / गोअग्भ्याम् / गोऽग्भ्याम्	गवाग्भिः / गोअग्भिः / गोऽग्भिः
च०	गोचे	गवाग्भ्याम् / गोअग्भ्याम् / गोऽग्भ्याम्	गवाग्भ्यः / गोअग्भ्यः / गोऽग्भ्यः
पं०	गोचः	गवाग्भ्याम् / गोअग्भ्याम् / गोऽग्भ्याम्	गवाग्भ्यः / गोअग्भ्यः / गोऽग्भ्यः
ष०	गोचः	गोचोः	गोचाम्
स०	गोचि	,,	गवाक्षु† / गोअक्षु / गोऽक्षु
सं०	हे गवाक्,-ग् ! / हे गोअक्,-ग् ! / हे गोऽक्,-ग् !	हे गोची !	हे गवाञ्चि ! / हे गोअञ्चि ! / हे गोऽञ्चि !

† यहां 'खरि च' (७४) से हुआ चर्त्व 'चयो द्वितीयाः ....' (पृष्ठ १३६) की दृष्टि में असिद्ध है अतः चय् न होने से खकार आदेश नहीं होता।

ये सब रूप गत्यर्थक 'अञ्चुँ' धातु के हैं। यदि 'अञ्चुँ' धातु पूजार्थक होगी तो निम्नप्रकारेण प्रक्रिया होगी—

गो अञ्च् = गाय की पूजा करने वाला।

'गो' कर्मोपपद 'अञ्चुँ' धातु से क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, 'नाञ्चेः पूजायाम्' (३४१) से नकार के लोप का निषेध हो जाता है। अब प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

सुँ में—गोअञ्च् + सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक्, 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र से संयोगान्त चकार का लोप; 'निमित्तापाये.......' के न्यायानुसार ञकार को पुनः नकार तथा उसे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) सूत्र से ङकार करने पर—'गो अङ्'। अब तीन प्रकार की सन्धि करने से—'१. गवाङ्, २. गोअङ्, ३. गोऽङ्' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं।

'औ' में—गो अञ्च् + औ। 'नपुंसकाच्च' (२३५) सूत्र से 'औ' को शी आदेश होकर तीन प्रकार की सन्धि करने से—"१. गवाञ्ची, २. गोअञ्ची, ३. गोऽञ्ची" ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि लुप्तनकार 'अञ्चुँ' न होने से 'अचः' से अकार का लोप न होगा। इस प्रकार भस्व में सर्वत्र जानना।

'जस्' में – गो अञ्च् + जस् । जस् को शि आदेश होकर नकारलोप न होने के कारण सर्वनामस्थान परे होने पर भी 'उगिदचां सर्वनामस्थाने.......' (२८६) से नुम् आगम नहीं होता । 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) से भी नुम् न होगा, क्योंकि वहां पर 'अचः परस्यैव झलो नुम्विधानम्' यह व्यवस्था की गई है । अब तीन प्रकार की सन्धि करने से—' १ गवाञ्चि, २. गोअञ्चि, ३. गोऽञ्चि'' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं ।

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है ।

'टा' में—गोअञ्च् + आ (टा) । नकार का लोप न होने के कारण 'अचः' (३३५) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता । केवल तीन प्रकार की सन्धि करने से—''१. गवाञ्चा, २. गोअञ्चा, ३. गोऽञ्चा'' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं । इसी प्रकार - ङे, ङसिँ, ङस् , ओस्, आम् और ङि में प्रक्रिया होती है ।

'भ्याम्' में—गोअञ्च् + भ्याम् । 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र से चकारलोप, 'निमित्तापाये......' के न्यायानुसार ञकार को नकार तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से उसे ङकार होकर तीन प्रकार की सन्धि करने से—''१. गवाङ्भ्याम्, २. गोअङ्भ्याम्, ३. गोऽङ्भ्याम्'' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं । इसी प्रकार—भिस् और भ्यस् में भी प्रक्रिया होती है ।

'सुप्' में—'गोअञ्च् + सुप्' । संयोगान्तलोप, ञकार को नकार तथा क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से उसे ङकार होकर—गोअङ् + सु । 'आदेश-प्रत्यययोः' (१५०) से षत्व, 'ङ्णोः कुक् टुक् शरि' (८६) सूत्र से कुक् आगम करने पर तीनों प्रकार की सन्धि हो जाती है –

अवङ्पक्ष में——— गवाङ्क्षु, गवाङ्षु ।
प्रकृतिभावपक्ष में —— गोअङ्क्षु, गोअङ्षु ।
पूर्वरूपपक्ष में——— गोऽङ्क्षु, गोऽङ्षु । *

पूजापक्ष में 'गोअञ्च्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	गवाङ्	गवाञ्ची	गवाञ्चि	द्वि०	गवाङ्	गवाञ्ची	गवाञ्चि
	गोअङ्	गोअञ्ची	गोअञ्चि		गोअङ्	गोअञ्ची	गोअञ्चि
	गोऽङ्	गोऽञ्ची	गोऽञ्चि		गोऽङ्	गोऽञ्ची	गोऽञ्चि

* यहां पक्ष में ''चयो द्वितीयाः शरि......'' (वा० १४) से वर्गद्वितीय—खकार हो जाता है । इससे सुप् में तीन रूप और बढ़ कर नौ रूप हो जाते हैं ।

तृ० गवाञ्चा	गवाङ्भ्याम्	गवाङ्भिः	प० गवाञ्चः	गवाङ्भ्याम्	गवाङ्भ्यः
गोअञ्चा	गोअङ्भ्याम्	गोअङ्भिः	गोअञ्चः	गोअङ्भ्याम्	गोअङ्भ्यः
गोऽञ्चा	गोऽङ्भ्याम्	गोऽङ्भिः	गोऽञ्चः	गोऽङ्भ्याम्	गोऽङ्भ्यः

च० गवाञ्चे	गवाङ्भ्याम्	गवाङ्भ्यः	ष० गवाञ्चः	गवाञ्चोः	गवाञ्चाम्
गोअञ्चे	गोअङ्भ्याम्	गोअङ्भ्यः	गोअञ्चः	गोअञ्चोः	गोअञ्चाम्
गोऽञ्चे	गोऽङ्भ्याम्	गोऽङ्भ्यः	गोऽञ्चः	गोऽञ्चोः	गोऽञ्चाम्

स० गवाञ्चि	गवाञ्चोः	गवाङ्क्षु, गवाङ्षु, गवाङ्ख्षु
गोअञ्चि	गोअञ्चोः	गोअङ्क्षु, गोअङ्षु, गोअङ्ख्षु
गोऽञ्चि	गोऽञ्चोः	गोऽङ्क्षु, गोऽङ्षु, गोऽङ्ख्षु

सं० सम्बोधन में प्रथमावत् रूप बनते हैं।

तो इस प्रकार गतिपक्ष में ४९ रूप तथा पूजापक्ष में ६६ रूप अर्थात् कुल मिलाकर ४९ + ६६ = ११५ रूप बनते हैं। जस् और शस् में पूजा और गति दोनों पक्षों में एक समान रूप बनते हैं; अतः एक सौ पन्द्रह रूपों में छः रूप घटा देने पर ११५—६ = १०९ रूप अवशिष्ट रहते हैं*। यद्यपि पूजापक्ष में सुप् में 'चयो द्वितीयाः........' वार्त्तिक से वर्ग-द्वितीय आदेश होने से तीन रूप और बढ़ कर एक सौ बारह रूप होते हैं; तथापि यहां सूत्रकार के मतानुसार एक सौ नौ (१०९) रूपों का परिगणन समझना चाहिये। इस शब्द पर एक रोचक प्रश्नोत्तर प्रसिद्ध है। तथाहि—

प्रश्नः—

> जायन्ते नव सौ, तथाऽमि च नव, भ्याम्भिस्भ्यसां सङ्गमे
> षट्सङ्ख्यानि, नवैव सुप्यथ जसि त्रीण्येव तद्वच्छसि।
> चत्वार्यन्यवचःसु कस्य विबुधाः! शब्दस्य रूपाणि तज्-
> जानन्तु प्रतिभास्ति चेन्निगदितुं षाण्मासिकोऽत्रावधिः॥ (शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्)

* यद्यपि तीन भ्याम् प्रत्ययों, दो भ्यस् प्रत्ययों एवं पञ्चमी षष्ठी तथा इतर विभक्तियों में भी रूपों के एक जैसा होने से एक सौ नौ (१०९) रूप युक्त नहीं कहे जा सकते; तथापि यहां—"उसी एक विभक्ति में यदि रूपों की समानता पाई जाए तो उसे एक रूप मानना चाहिये, इतरेतर विभक्तियों में नहीं" यह अभिप्राय इष्ट होने से कोई दोष नहीं आता। किञ्च यहां सम्बोधन के रूपों के परिगणन का प्रश्न नहीं उठाना चाहिये; क्योंकि सम्बोधन विभक्ति तो विशेष प्रकार की प्रथमा विभक्ति ही होती है ('सम्बोधने च')।

भावार्थः—हे बुधजनो ! यदि आप में बुद्धि है तो हम आपको छः मास का अवसर प्रदान करते हैं आप उस शब्द को जानने का प्रयत्न करें जिस के सुँ, अम् और सुप् में नौ नौ, भ्याम् भ्यस् और भिस् में छः छः, जस् और शस् में तीन-तीन तथा अन्यवचनों में चार चार रूप बनते हैं ।

उत्तर— "गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥"

भावार्थः—नपुंसकलिङ्ग में गति और पूजा के भेद से तथा प्रकृतिभाव, अवङ् और पूर्वरूप के कारण गोपूर्वक क्विन्नन्त अञ्च् के एक सौ नौ रूप होते हैं । तथाहि—

"स्वम्सुप्सु नव षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥"

भावार्थः—इस शब्द के सुँ, अम् तथा सुप् में नौ नौ, भ्याम् भिस् आदि छः भकारादियों में छः छः, जस् शस् में तीन-तीन तथा शेष दसों में चार-चार रूप होते हैं ।

यहां चकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] शकृत् । शकृती । शकृन्ति ॥

व्याख्या— शकृत् = मल व विष्ठा ।

शकृत् + सुँ । 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर जश्त्व-चर्त्व प्रक्रिया करने से—'शकृत्, शकृद्' ।

शकृत् + औ = शकृत् + शी = शकृती ।

शकृत् + जस् = शकृत् + शि । झलन्त होने से 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) से नुम् आगम, अनुस्वार और परसवर्ण करने पर—'शकृन्ति' ।

'शकृत्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	शकृत्,-द्	शकृती	शकृन्ति	प०	शकृतः	शकृद्भ्याम्	शकृद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	शकृतोः	शकृताम्
तृ०	शकृता	शकृद्भ्याम्	शकृद्भिः	स०	शकृति	,,	शकृत्सु
च०	शकृते	,,	शकृद्भ्यः	सं०	हे शकृत्,-द् !	हे शकृती !	हे शकृन्ति !

इसी प्रकार—यकृत् (जिगर) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं ।

[लघु०] ददत् । ददती ॥

व्याख्या— ददत् = देता हुआ कुल आदि (शत्रन्तोऽयम्)

ददत + सुँ । सुँ का लुक् होकर जश्त्व–चर्त्व-प्रक्रिया से—'ददत्, ददद्' ।

ददत + औ = ददत + शी = ददती ।

ददत् + जस् = ददत + शि = ददत + इ । यहां 'उगिदचाम्......' (२८६) सूत्र द्वारा अथवा 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) सूत्र द्वारा नित्य नुम् का आगम प्राप्त होता है, परन्तु 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) से अभ्यस्तसञ्ज्ञा होकर 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (३४५) द्वारा उसका निषेध हो जाता है । अब वैकल्पिक नुम् करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३६४ वा नपुंसकस्य ।७।१।७६॥

अभ्यस्तात् परो यः शता तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुम् सर्वनामस्थाने । ददन्ति, ददति ॥

अर्थः—अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे जो शतृ प्रत्यय तदन्त नपुंसकलिङ्ग को सर्वनामस्थान परे होने पर विकल्प कर के नुम् आगम हो जाता है ।

व्याख्या— अभ्यस्तात् । ५ । १ । शतुः । ६ । १ । ['नाभ्यस्ताच्छतुः' से] नपुंसकस्य । ६ । १ । अङ्गस्य । ६ । १ । [अधिकृत है] वा इत्यव्ययपदम् । नुम् । १ । १ । ['इदितो नुम् धातोः' से] सर्वनामस्थाने । ७ । १ । ['उगिदचां सर्वनामस्थाने....' से] अर्थः—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे (शतुः) जो शतृ प्रत्यय, तदन्त (नपुंसकस्य) नपुंसक (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (वा) विकल्प कर के (नुम्) नुम्-हो जाता है (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे हो तो ।

ददत + इ । यहां 'शि' यह सर्वनामस्थान परे है; अभ्यस्त होने से 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (३४५) से नुम्निषेध प्राप्त था, पर नपुंसकत्व में प्रकृतसूत्र से विकल्प कर के नुम् का आगम होकर अनुस्वार-परसवर्ण प्रक्रिया करने से –'ददन्ति, ददति' ये दो रूप बनते हैं ।

'ददत्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ददत्,-द्	ददती	ददन्ति,ददति	पं०	ददतः	ददद्भ्याम्	ददद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	ददतोः	ददताम्
तृ०	ददता	ददद्भ्याम्	ददद्भिः	स०	ददति	,,	ददत्सु
च०	ददते	,,	ददद्भ्यः	सं०	सम्बोधन प्रथमावत् होता है ।		

[लघु०] तुदत् ॥

व्याख्या— तुदत् = दुःख देता हुआ (कुल आदि)

'तुदँ व्यथने' (तुदा० उभ०) धातु से शतृँ प्रत्यय, उसकी सार्वधातुकसञ्ज्ञा, 'तुदादिभ्यः शः' (६९१) से श प्रत्यय, अनुबन्धलोप और 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने से—'तुदत्' शब्द निष्पन्न होता है ।

तुदत्+सुँ । 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर जश्त्व चर्त्व करने से—'तुदत्, तुदद्' ।

तुदत्+औ = तुदत्+ई (शी)। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३६५ आच्छीनद्योर्नुम् ।७।१।८०॥

अवर्णान्तादङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम् वा शीनद्योः ।

तुदन्ती, तुदती । तुदन्ति ॥

अर्थः—अवर्णान्त अङ्ग से परे जो शतृँ प्रत्यय का अवयव तदन्त अङ्ग को विकल्प करके नुम् का आगम हो जाता है शी या नदी परे हो तो ।

व्याख्या—आत् । ५ । १ । अङ्गात् । ५ । १ । ['अङ्गस्य' इस अधिकृति का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है ।] शतुः । ६ । १ । ['नाभ्यस्ताच्छतुः' से] अङ्गस्य ।६।१। [अधिकृत है ।] वा इत्यव्ययपदम् । ['वा नपुंसकस्य' से] नुम् । १ । १ । शीनद्योः । ७ । २ । 'आत्' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होकर 'अवर्णान्तात्' बन जाता है । अर्थः—(आत् = अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (शतुः) जो शतृँ प्रत्यय का अवयव, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (वा) विकल्प करके (नुम्) नुम् हो जाता है (शीनद्योः) शी और नदी परे हो तो । 'नदी' से यहां ङीप् आदि इष्ट हैं ।

तुदत्+ई । यहां 'तुद' यह अवर्णान्त अङ्ग है, इस से परे 'त्' यह शतृँ का अवयव है । तदन्त अङ्ग 'तुदत्' है । इस से परे शी के रहने से विकल्प कर के नुम् का आगम हो जाता है । नुम्-पक्ष में अनुस्वार-परसवर्ण प्रक्रिया करने पर—'तुदन्ती' । नुम् के अभाव में—'तुदती ।

तुदत्+जस् = तुदत्+शि । सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होकर झलन्त होने से 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् का आगम हो जाता है । अब अनुस्वार-परसवर्ण-प्रक्रिया

करने से—'तुदन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा –

प्र०	तुदत्-द्	तुदन्ती,तुदती	तुदन्ति	प०	तुदतः	तुदद्भ्याम्	तुदद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	तुदतोः	तुदताम्
तृ०	तुदता	तुदद्भ्याम्	तुदद्भिः	स०	तुदति	,,	तुदत्सु
च०	तुदते	,,	तुदद्भ्यः	सं०	सम्बोधन प्रथमावत।		

प्रकृतसूत्र से भ्वादि, दिवादि, तुदादि, चुरादि तथा अदादिगण की 'या' आदि आकारान्त धातुओं से तथा स्य के आगे शतृँ प्रत्यय होने पर नपुंसक के द्विवचन शी में वैकल्पिक नुम् का आगम प्राप्त होता है। इस पर भ्वादि, चुरादि तथा दिवादिगणीय धातुओं को अग्रिमसूत्र द्वारा नित्य विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३६६ शप्श्यनोर्नित्यम् ।७।१।८१॥

शप्श्यनोरात् परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुम् शीनद्योः ।

पचन्ती । पचन्ति । दीव्यत् । दीव्यन्ती । दीव्यन्ति ॥

अर्थः—शप् व श्यन् के अवर्ण से परे जो शतृँ प्रत्यय का अवयव (त), तदन्त अङ्ग को नित्य नुम् का आगम हो जाता है शी अथवा नदी† परे हो तो।

व्याख्या—शप्श्यनोः । ६ । २ । आत । ५ । १ । ['आच्छीनद्योर्नुम्' से] शतुः । ६ । १ । ['नाभ्यस्ताच्छतुः' से] अङ्गस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है।] नित्यम् । २ । १ । (क्रियाविशेषणम्) । नुम् । १ । १ । ['आच्छीनद्योर्नुम्' से] अर्थः—(शप्श्यनोः) शप् व श्यन् के (आत) अवर्ण से परे (शतुः) जो शतृँ का अवयव, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (नित्यम्) नित्य (नुम्) नुम् हो जाता है (शीनद्योः) शी और नदी परे हो तो।

भ्वादि और चुरादिगण में शप् तथा दिवादिगण में श्यन् विकरण हुआ करता है। भ्वादि, चुरादि तथा दिवादिगणीय शत्रन्तों को इस सूत्र से शी परे होने पर नित्य नुम् आगम हो जाता है।

पचत् = पकाता हुआ (कुलादि)

पच् (डुपचँष् पाके) यह भ्वादिगणीय उभयपदी धातु है। इस से परे शतृँ-प्रत्यय तथा शप् विकरण होकर पच् शप् शतृँ = पच् अ अत। अब यहां 'यस्मात्प्रत्यय-

---

† नदी का उदाहरण 'भवन्ती, दीव्यन्ती आदि है।

विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' (१३३) सूत्र द्वारा पच्+अ='पच' की अङ्गसञ्ज्ञा होकर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने से 'पचत्' शब्द निष्पन्न होता है।

पचत्+औ=पचत्+ई (शी)। यहां 'अन्तादिवच्च' (४१) की सहायता से 'पच' की अङ्गसञ्ज्ञा हो जाती है। इस से परे 'त्' यह शतृँ-प्रत्यय का अवयव है, तदन्त अङ्ग 'पचत्' है। इस से परे 'शी' के रहने से प्रकृतसूत्र द्वारा नित्य नुम् का आगम होकर अनुस्वारपरसवर्णप्रक्रिया हो जाती है — 'पचन्ती'।

पचत्+जस्=पचत्+शि। झलन्त होने से नुम् का आगम और पूर्ववत् अनुस्वार-परसवर्णप्रक्रिया करने से—'पचन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है।

'पचत्' शब्द की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र०	पचत्-द्	पचन्ती	पचन्ति	पं०	पचतः	पचद्भ्याम्	पचद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	पचतोः	पचताम्
तृ०	पचता	पचद्भ्याम्	पचद्भिः	स०	पचति	,,	पचत्सु
च०	पचते	,,	पचद्भ्यः	सं०	हे पचत्-द्!	हे पचन्ती!	हे पचन्ति!

इसी प्रकार—गच्छत् (जाता हुआ), चलत् (चलता हुआ), भवत् (होता हुआ), नयत् (ले जाता हुआ), नमत् (नमस्कार करता हुआ), वदत् (बोलता हुआ) इत्यादि अन्य भ्वादिगणीय तथा चोरयत् (चुराता हुआ) प्रभृति चुरादिगणीय धातुओं के रूप भी समझ लेने चाहियें।

दीव्यत् = खेलता हुआ व चमकता हुआ (कुलादि)

'दिवुँ क्रीडाविजिगीषा.......' (दिवा० प०) धातु से शतृँ प्रत्यय तथा श्यन् विकरण होकर—दिव्+श्यन्+शतृँ=दिव् य् अत्। अब 'हलि च' (८.२.७७) से दीर्घ तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'दीव्यत्' शब्द निष्पन्न होता है।

दीव्यत्+औ=दीव्यत्+ई (शी)। यहां श्यन् के यकारोत्तर अवर्ण से परे शतृँ का अवयव तकार विद्यमान है, अतः तदन्त 'दीव्यत्' को शी परे होने पर नित्य नुम् का आगम होकर अनुस्वारपरसवर्णप्रक्रिया करने से—'दीव्यन्ती' प्रयोग सिद्ध होता है।

जस् में पूर्ववत्—'दीव्यन्ति'।

'दीव्यत्' शब्द की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र०	दीव्यत्-द्	दीव्यन्ती	दीव्यन्ति	पं०	दीव्यतः	दीव्यद्भ्याम्	दीव्यद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	दीव्यतोः	दीव्यताम्
तृ०	दीव्यता	दीव्यद्भ्याम्	दीव्यद्भिः	स०	दीव्यति	,,	दीव्यत्सु
च०	दीव्यते	,,	दीव्यद्भ्यः	सं०	हे दीव्यत्-द्!	हे दीव्यन्ती!	हे दीव्यन्ति!

इसीप्रकार—सीव्यत् (सीता हुआ), अस्यत् (फेंकता हुआ), कुप्यत् (क्रोध करता हुआ), शुध्यत् (शुद्ध होता हुआ) इत्यादि शत्रन्त दिवादिगणीय धातुओं के रूप होते हैं।

{ शत्रन्तों पर विशेष स्मरणीय वक्तव्य }

(१) अभ्यस्तसञ्ज्ञक शब्द । इस श्रेणी में ददत्, दधत्, जुह्वत्, बिभ्यत्, जाग्रत्, जक्षत्, दरिद्रत्, प्रभृति शब्द आते हैं। इन शब्दों को 'शी' में नुम् का आगम प्राप्त नहीं होता। 'शि' में 'वा नपुंसकस्य' (३६४) से विकल्प कर के नुम् हो जाता है।

(२) शप् व श्यन् विकरण के शत्रन्त । भ्वादि और चुरादिगणीय धातुओं से शप्-विकरण तथा दिवादिगणीय धातुओं से श्यन्विकरण हुआ करता है। इनके शत्रन्तों को शी तथा शि दोनों में नित्य नुम् का आगम हो जाता है। यथा—भवत्, भवन्ती, भवन्ति। चोरयत्, चोरयन्ती, चोरयन्ति। दीव्यत्, दीव्यन्ती, दीव्यन्ति।

(३) तुदादि, आकारान्त अदादि तथा 'लृटः सद्वा' (८३५) के शत्रन्त । इन को शी में 'आच्छीनद्योर्नुम्' (३६५) द्वारा वैकल्पिक तथा शि में 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) से नित्य नुम् का आगम हो जाता है। यथा—तुदत्, तुदन्ती-तुदती, तुदन्ति। यात्, यान्ती-याती, यान्ति। भविष्यत्, भविष्यन्ती-भविष्यती, भविष्यन्ति।

(४) उपर्युक्त गणों से भिन्नगणीय धातुओं के शत्रन्त । इस श्रेणी में 'शी' परे होने पर नुम् आगम बिलकुल नहीं होता। 'शि' में झलन्तत्वात् नित्य नुम् होता है। यथा—(क्र्यादिगणीय) मुष्णत्, मुष्णती, मुष्णन्ति। (तनादिगणीय) कुर्वत्, कुर्वती, कुर्वन्ति। इत्यादि।※

※ शतृ-प्रत्ययान्त शब्द उगित् हुआ करते हैं; अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में 'उगितश्च' (१२४६) सूत्र से ङीप् प्रत्यय होता है। ङीप् के अनुबन्धों का लोप होकर 'ई' अवशिष्ट रह जाता है। 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) से 'ई' की नदीसञ्ज्ञा है। तब जहाँ २ 'शी' में जैसे २ नित्य व वैकल्पिक नुम् होता है वैसे २ नित्य व वैकल्पिक नुम् 'ई' परे होने पर भी हो जाता है।

यथा—शप् और श्यन् विकरणीय धातुओं से शी में नित्य नुम् होता है, तो नदीसञ्ज्ञक 'ई' में भी नित्य नुम् हो जायगा। तथाहि—

अब बालकों के अभ्यासार्थ नीचे कुछ शत्रन्त अपने श्रेणीबोधक अङ्कसहित लिखे जाते हैं—

१ चलत् (२), २ विन्दत् (३), ३ जाग्रत् (१), ४ पठत् (२), ५ विशत् (३), ६ शासत् (१), ७ लिखत् (३), ८ विश्राम्यत् (२), ९ बिभ्यत् (१), १० ब्रुवत् (४), ११ दण्डयत् (२), १२ सृजत् (३), १३ दधत् (१), १४ मुञ्चत् (३), १५ कुर्वत् (४), १६ कथयत् (२), १७ नृत्यत् (२), १८ जुह्वत् (१), १९ सिञ्चत् (३), २० यात् (३), २१ करिष्यत् (३) ॥

यहां तकारान्त नपुंसकशब्द समाप्त होते हैं ।

		नपुंसक के 'शी' (औ) में	नदीसञ्ज्ञक 'ई' अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में		
पृथग्विकरणीय शब्विकरणीय	१	भवन्ती	भवन्ती, भवन्त्यौ, भवन्त्यः।	उच्चारण	नदीवत्
	२	नमन्ती	नमन्ती, नमन्त्यौ, नमन्त्यः।	,,	,,
	३	पतन्ती	पतन्ती, पतन्त्यौ, पतन्त्यः।	,,	,,
	४	चोरयन्ती	चोरयन्ती, चोरयन्त्यौ, चोरयन्त्यः।	,,	,,
	५	गणयन्ती	गणयन्ती, गणयन्त्यौ, गणयन्त्यः।	,,	,,
	६	दीव्यन्ती	दीव्यन्ती, दीव्यन्त्यौ, दीव्यन्त्यः।	,,	,,
	७	अस्यन्ती	अस्यन्ती, अस्यन्त्यौ, अस्यन्त्यः।	,,	,,
	८	श्राम्यन्ती	श्राम्यन्ती, श्राम्यन्त्यौ, श्राम्यन्त्यः।	,,	,,

तुदादिगणीय, आकारान्त अदादिगणीय तथा 'लृटः सद्वा' वाले शत्रन्तों से 'शी' में वैकल्पिक नुम् होता है तो 'ई' में भी वैकल्पिक नुम् होगा । तथाहि—

तुदादि०	१ तुदन्ती, तुदती	तुदन्ती, तुदन्त्यौ, तुदन्त्यः।	उच्चारण	नदीवत् ।
		तुदती, तुदत्यौ, तुदत्यः।	,,	,,
	२ लिखन्ती, लिखती	लिखन्ती, लिखन्त्यौ, लिखन्त्यः	,,	,,
		लिखती, लिखत्यौ, लिखत्यः	,,	,,
आकारान्त अदा०	३ यान्ती, याती	यान्ती, यान्त्यौ, यान्त्यः।	,,	,,
		याती, यात्यौ, यात्यः।	,,	,,
	४ पान्ती, पाती	पान्ती, पान्त्यौ, पान्त्यः।	,,	,,
		पाती, पात्यौ, पात्यः।	,,	,,

[लघु०] धनुः । धनुषी । 'सान्त....' (३४२) इति दीर्घः । 'नुम्विसर्जनीय....' (३५२) इति षः । धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । एवम्—चक्षुर्हविरादयः ॥

व्याख्या—'धन्' (जुहो० प०) धातु से औणादिक उस् प्रत्यय करने पर 'धनुस्' शब्द निष्पन्न होता है। 'धनुस्' का अर्थ है—धनुष।

धनुस् + सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर रुँत्व विसर्ग करने से—'धनुः'। 'पुर्' की तरह रेफान्त धातु न होने से 'र्वोरुपधायाः—' (३५१) से दीर्घ नहीं होता।

धनुस् + औ। 'नपुंसकाच्च' (२३५) से शी आदेश होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो जाता है—'धनुषी'।

लृट् में	५ करिष्यन्ती, करिष्यती	करिष्यन्ती करिष्यन्त्यौ, करिष्यन्त्यः	उच्चारण नदीवत्
		करिष्यती, करिष्यत्यौ, करिष्यत्यः।	,, ,,

उपर्युक्त गणों से भिन्नगणीय शत्रन्त धातुओं के 'शी' में नुम् नहीं होता तो नदीसञ्ज्ञक 'ई' में भी नुम् न होगा। तथाहि:—

क्र्या०	१	अश्नती	अश्नती, अश्नत्यौ, अश्नत्यः।	उच्चारण नदीवत्।
	२	मुष्णती	मुष्णती, मुष्णत्यौ, मुष्णत्यः।	,, ,,
अदा०	३	अदती	अदती, अदत्यौ, अदत्यः।	,, ,,
	४	घ्नती	घ्नती, घ्नत्यौ, घ्नत्यः।	,, ,,
जुहो०	५	जुह्वती	जुह्वती, जुह्वत्यौ, जुह्वत्यः।	,, ,,
	६	ददती	ददती, ददत्यौ, ददत्यः।	,, ,,
स्वा०	७	प्राप्नुवती	प्राप्नुवती, प्राप्नुवत्यौ, प्राप्नुवत्यः।	,, ,,
	८	शृण्वती	शृण्वती, शृण्वत्यौ, शृण्वत्यः।	,, ,,
तना०	९	कुर्वती	कुर्वती, कुर्वत्यौ, कुर्वत्यः।	,, ,,
	१०	तन्वती	तन्वती, तन्वत्यौ, तन्वत्यः।	,, ,,
रुधा०	११	जानती	जानती, जानत्यौ, जानत्यः।	,, ,,
	१२	रुन्धती	रुन्धती, रुन्धत्यौ, रुन्धत्यः।	,, ,,

धनुस् + जस् = धनुस् + इ (शि)। 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) द्वारा नुम् आगम और 'सान्तमहतः संयोगस्य' (३४२) से सान्त संयोग की उपधा को दीर्घ होकर—धनून्स् + इ । अब 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार तथा उसके व्यवधान में भी 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' (३५२) द्वारा षत्व होकर—'धनूंषि' प्रयोग सिद्ध होता है ।

भ्याम्, भिस् और भ्यस् में 'ससजुषो रुः' (१०५) से रुँत्व होकर रेफ का ऊर्ध्वगमन हो जाता है—धनुर्भ्याम्, धनुर्भिः, धनुर्भ्यः ।

धनुस् + सु (सुप्)। यहां षत्व और रुँत्व के युगपत् प्राप्त होने पर षत्व के असिद्ध होने से सर्वप्रथम रुँत्व हो जाता है । अब विसर्ग आदेश होकर 'वा शरि' (१०४) से पक्ष में वैकल्पिक विसर्गादेश और दूसरे पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकारादेश हो जाता है—धनुःसु, धनुस्सु । अब प्रथमरूप में विसर्ग के व्यवधान में और दूसरे रूप में सकार-शर् के व्यवधान में 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' (३५२) सूत्र द्वारा षत्व हो—धनुःषु, धनुस्षु । अब सकार वाले पक्ष में 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व-षकार करने पर—'धनुःषु, धनुष्षु' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

धनुस्* (धनुष) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	धनुः	धनुषी	धनूंषि	प०	धनुषः	धनुर्भ्याम्	धनुर्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	धनुषोः	धनुषाम्
तृ०	धनुषा	धनुर्भ्याम्	धनुर्भिः	स०	धनुषि	,,	धनुःषु,धनुष्षु
च०	धनुषे	,,	धनुर्भ्यः	सं०	हे धनुः !	हे धनुषी !	हे धनूंषि !

* कई वैयाकरण 'धनुस्' शब्द में 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) सूत्र द्वारा षत्व करके 'धनुष्' शब्द बना कर सुँ आदि प्रत्यय लाया करते हैं । तब वे सुँप्रत्यय में 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) द्वारा सुँलुक् कर षत्व के असिद्ध होने से 'ससजुषो रुँः' (१०५) द्वारा रुँत्व और उसके रेफ को विसर्गादेश कर 'धनुः' प्रयोग सिद्ध करते हैं । परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि षत्व के अनन्तर स्वादि उत्पन्न होते तो ग्रन्थकार 'धनूंषि' में षत्वसिद्धि के लिये—'नुम्विसर्जनीयेति षः' ऐसा न कहते; षत्व तो वहाँ सिद्ध ही होता । और जो लोग यह कहते हैं कि षत्व होते हुए भी जब झलन्तलक्षण नुम् हो जाता है तब निमित्त के न रहने से निमित्तीषकार भी सकाररूप में परिणत हो जाता है; अतः तब 'नुम्विसर्जनीय......' (३५२) द्वारा सकार को पुनः षकार करना आवश्यक होता है, उसीका ग्रन्थकार ने 'नुम्विसर्जनीयेति षः' द्वारा निर्देश किया है । पर यह समाधान भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो

इसी प्रकार—१ वपुस्=शरीर । २ हविस्=होम करने योग्य घृतादि । ३ चक्षुस्= आंख । ४ जनुस्=जन्म । ५ यजुस्=यजुर्वेद । ६ ज्योतिस्=नक्षत्र । ७ आयुस्=आयु, उमर । ८ अरुस्=मर्म । ९ अर्चिस्=प्रकाश । १० सर्पिस्=घृत । ११ तनुस्=शरीर । इत्यादि शब्दों के रूप होते हैं ।

[लघु०] पयः । पयसी । पयांसि । पयोभ्याम् ॥

व्याख्या— पयस् = जल व दूध ।

पयस्+सुँ । सुँलुक् होकर रुँत्व-विसर्ग करने से—'पयः' ।

पयस्+औ=पयस्+शी=पयस्+ई='पयसी' ।

पयस्+जस्=पयस्+इ (शि) । 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् का आगम, 'सान्महतः संयोगस्य' (३४२) से उपधादीर्घ तथा 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से अनुस्वार होकर—'पयांसि' ।

पयस्+भ्याम् । यहां 'ससजुषो रुँः' (१०५) से रुँत्व, 'हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण होकर—'पयोभ्याम्' । समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	पयः	पयसी	पयांसि	प०	पयसः	पयोभ्याम्	पयोभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	पयसोः	पयसाम्
तृ०	पयसा	पयोभ्याम्	पयोभिः	स०	पयसि	,,	पयःसु, पयस्सु
च०	पयसे	,,	पयोभ्यः	सं०	हे पयः !	हे पयसी !	हे पयांसि !

'निमित्तापाये......' परिभाषा ही अनित्य है । और इसे नित्य भी स्वीकार करें तो भी 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' आदि परिभाषाओं द्वारा प्रथम षत्व करना युक्त न बन सकेगा ।

कहीं कहीं 'सिद्धान्तकौमुदी' के संस्करणों में जो "षत्वस्यासिद्धत्वाद् रुत्वम्" ऐसा पाठ देखा जाता है—उसका तात्पर्य—सुँ का लुक् होने पर पदान्त में षत्व और रुँत्व के युगपत् प्राप्त होने पर षत्व के असिद्ध होने से रुँत्व हो जाता है—ऐसा समझना चाहिये ।

और जो लोग षकारान्त होने में यह युक्ति देते हैं कि यदि यह सान्त होता तो आगे सान्त 'पयस्' शब्द लिखने की कोई आवश्यकता न होती, क्योंकि उसके प्रयोग भी इसी तरह होते हैं—कोई अन्तर नहीं होता । इस पर हमारा निवेदन यह है कि 'पयस्' शब्द का उल्लेख केवल 'भ्याम्' आदियों में 'हशि च' (१०७) द्वारा उत्वविशेष दर्शाने के लिये ही किया गया है । पयस् शब्द के भ्याम् आदि में—'पयोभ्याम्, पयोभिः' प्रयोग बनते हैं परन्तु 'धनुस्' शब्द के 'धनुर्भ्याम्, धनुर्भिः' आदि बनते हैं । अतः 'पयस्' शब्द का उल्लेख 'धनुस्' शब्द को षान्त प्रमाणित नहीं कर सकता ।

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप होते हैं—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अम्भस्	जल	तपस्	तप	रोधस्	नदी का किनारा
अयस्	लोहा	१५ तमस्	अन्धकार		
अर्णस्	जल	तेजस्	दीप्ति	रंहस्	तेजी, वेग
अर्शस्	बवासीर	नभस्	आकाश	३० वक्षस्	छाती
५ आगस्	अपराध	पाथस्	जल	वचस्	वचन
उरस्	छाती	मनस्	मन	वयस्	उम्र व परिन्दा
ऊधस्	गौ का आपीन-चड्डा	२० महस्	तेज		
		यशस्	यश	वर्चस्	तेज
एनस्	पाप	यादस्	जलजीव	शिरस्	सिर
ओकस्†	घर	रक्षस्	राक्षस	३५ श्रेयस्	धर्म व मोक्ष
१० ओजस्	बल व तेज	रंहस्	तेजी, वेग	सरस्	तालाब
अंहस्	पाप	२५ रजस्	धूलि	स्रोतस्	झरना
चेतस्	चित्त	रहस्	एकान्त	सहस्	बल
छन्दस्	गायत्री आदि छन्द	रेतस्	वीर्य व बीज		

ये ही शब्द जब बहुव्रीहि में किसी के विशेषण बन जावें, तो नपुंसकलिङ्ग में तो उच्चारण इसीप्रकार होगा। परन्तु पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में 'वेधस्' के समान उच्चारण होगा—प्रसन्नमनाः पुरुषः, प्रसन्नमनाः स्त्री। प्रसन्नमनसः पुमांसः स्त्रियो वा। प्रसन्नमनसं पुमांसं स्त्रियं वा।

[लघु०] सुपुम्। सुपुंसी। सुपुमांसि॥

व्याख्या—शोभनाः पुमांसो यस्मिन् तत् सुपुम् (कुलम्)। जिस कुल आदि में अच्छे २ पुरुष हों उस कुल आदि को 'सुपुंस्' कहते हैं।

सुपुंस्+सुँ। यहां सुँ का लुक् होकर 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) द्वारा सकार का

† इसी का कूट प्रश्न पूछा जाता है—'कदागुरोकसो भवन्तः?'। 'कदा-अगुः, ओकसो भवन्तः' यह छेद है।

भी लोप हो जाता है। अब 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' द्वारा अनुस्वार अपने पूर्व वाले रूप-मकार में परिणत हो जाता है—'सुपुम्'।

सुपुंस् + औ = सुपुंस् + शी = सुपुंस् + ई = सुपुंसी।

सुपुंस् + जस्। यहां जस् के स्थान पर भावी 'शि' सर्वनामस्थान की विवक्षा में 'पुंसोऽसुङ्' (३५४) द्वारा असुङ् आदेश होकर—सुपुमस् + जस्। पुनः 'शि' आदेश, झलन्तलक्षण नुम्, 'सान्तमहतः........' (३४२) से दीर्घ तथा 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से अनुस्वार होकर—'सुपुमांसि'।

'सुपुंस्' शब्द की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र०	सुपुम्	सुपुंसी	सुपुमांसि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	सुपुंसा	सुपुम्भ्याम्	सुपुम्भिः
च०	सुपुंसे	,,	सुपुम्भ्यः
पं०	सुपुंसः	सुपुम्भ्याम्	सुपुम्भ्यः
ष०	,,	सुपुंसोः	सुपुंसाम्
स०	सुपुंसि	,,	सुपुंसु
सं०	हे सुपुम्!	हे सुपुंसी!	हे सुपुमांसि!

नोट—वस्वन्त नपुंसकों का उच्चारण—विद्वत्-द्, विदुषी, विद्वांसि। उपेयिवत्, उपेयुषी, उपेयिवांसि। उपेयिवद्भ्याम्। उपेयिवत्सु। इस प्रकार होगा। अन्य सकारान्तों का नपुंसक में—ज्यायः, ज्यायसी, ज्यायांसि आदि।

[लघु०] अदः। विभक्तिकार्यम्। उत्व-मत्वे। अमू। अमूनि। शेषं पुंवत्॥

व्याख्या—अब 'अदस्' शब्द के नपुंसक में रूप सिद्ध किये जाते हैं।

अदस् + सुँ। सुँलुक् होकर रुँत्व विसर्ग करने से—अदः†।

अदस् + औ = अदस् + ई (शी)। उत्व-मत्व के असिद्ध होने से प्रथम त्यदाद्यत्व, पररूप, और गुण एकादेश होकर—'अदे'। अब 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) सूत्र से एकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर—'अमू'।

अदस् + जस् = अदस् + शि। त्यदाद्यत्व, पररूप, नुम् आगम तथा उपधादीर्घ होकर—अदानि। अब 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) सूत्र से उत्व-मत्व करने से—'अमूनि'।

द्वितीया में भी इसी तरह प्रयोग बनते हैं। शेष प्रक्रिया पुंवत् होती है।

---

† यहाँ अदस् शब्द के सान्त होने से 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) द्वारा उत्व-मत्व नहीं होता है। विभक्ति परे न होने के कारण 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र भी प्रवृत्त नहीं हो सकता।

नपुंसक में 'अदस्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	अदः	अमू	अमूनि	प०	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः	स०	अमुष्मिन्	,,	अमीषु
च०	अमुष्मै	,,	अमीभ्यः		सम्बोधन नहीं होता।		

अभ्यासः (४७)

(१) 'ऊर्जि' रूप पर "नरजानां संयोगः" लिखने की क्या आवश्यकता थी? सविस्तर सोदाहरण स्पष्ट करो।

(२) नपुंसक में किन-किन प्रत्ययों के परे होने पर भसञ्ज्ञा और सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा हुआ करती है? ससूत्र स्पष्ट करें।

(३) 'हलन्त-नपुंसक' में ऐसा कौन सा शब्द आया है जिसके सुँ और अम् के रूपों में भेद होता है? (उत्तर—अन्वादेश में 'इदम्' शब्द)।

(४) गतिपक्ष के 'गवाक्षु' आदि रूपों में 'चयो द्वितीयाः...' क्यों प्रवृत्त नहीं होता।

(५) "धनुस् शब्द से सान्त अवस्था में ही स्वादिप्रत्यय उत्पन्न होते हैं"—इस कथन की सोदाहरण सप्रमाण पुष्टि करो।

(६) 'अदः' प्रयोग में उत्व-मत्व क्यों नहीं होते? कम से कम त्यदाद्यत्व तो होना ही चाहिये था।

(७) 'इदम्' शब्द के नपुंसक के अन्वादेश में 'एनत्' आदेश क्यों विधान किया गया है, क्या 'एन' आदेश से काम नहीं चल सकता था? भाष्यानुकूल तात्पर्य स्पष्ट करें।

(८) "नपुंसकलिङ्ग में शत्रन्त शब्द चार प्रकार के होते हैं"—इस कथन की परस्पर-भेदनिर्देशपूर्वक सोदाहरण व्याख्या करें।

(९) वारि, ददति, तुदति, पचति, दीव्यति, दीव्यन्ति, के, इमे, ते, ये, एते—आदि प्रयोग क्या आप को कहीं अन्यशब्द वा धातु की वा अन्य विभक्ति आदि की भ्रान्ति तो उत्पन्न नहीं कराते? यदि कराते हैं तो कहां कहां? सविस्तर लिखें।

(१०) 'गो अञ्च्' शब्द के १०८ रूपों की सङ्क्षिप्तरीत्या सिद्धि करें।

(११) गवाक् शब्द के १०८ रूपों की सङ्ख्या पर पूर्वपक्षियों के आक्षेप लिख कर उनका समाधान करें।

(१२) तत्, यत्, एतत् – इन में 'तदोः सः—' द्वारा सकारादेश क्यों न हो ?

(१३) 'वाधु' में खर् परे होने पर भी रेफ को विसर्ग आदेश क्यों नहीं होता ?

(१४) ऊर्न्जि, चत्वारि, सुपुमांसि, धनूंषि, पयोभिः, धनुष्षु, तपांसि, हे दण्डि !, सुपन्थानि, अह्नी, इमे, स्वनडुत्, अमूनि—इन प्रयोगों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सविस्तर सिद्धि करें ।

यहां सकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः [शब्दाः] ॥

अर्थः—यहां हलन्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है ।

व्याख्या—षड्लिङ्गप्रकरण भी यहां समाप्त समझना चाहिये ।

इति भैमी व्याख्ययो—

पबृंहितायां लघुसिद्धान्त-

कौमुद्यां हलन्त-नपुंसक-लिङ्ग-

प्रकरणं पूर्त्तिमगात् ॥

—❀—

* अथाऽव्यय-प्रकरणम् *

—:—:※:—:—

संस्कृतसाहित्य में दो प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। १. विकारी, २. अविकारी। जो शब्द विभक्तिवचनवशात् विकार को प्राप्त होते हैं वे 'विकारी' कहाते हैं। इस कोटि में सुबन्त† और तिङन्त शब्द आते हैं। जो शब्द सदा सब परिस्थितियों में विकाररहित अर्थात् एकसमान रहते हैं वे 'अविकारी' कहाते हैं। यथा—च, न, यदि, अपि, नाना, विना आदि। व्याकरण में अविकारी शब्दों को 'अव्यय' कहते हैं। अब यहां उन अव्ययों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्— ३६७ स्वरादिनिपातमव्ययम्। ।१।१।३६।।

स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसञ्ज्ञाः स्युः।

अर्थः—स्वर् आदि शब्द तथा निपात अव्ययसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—स्वरादिनिपातम्। १।१। अव्ययम्। १।१। समासः—'स्वर्'-शब्द आदिर्येषान्ते स्वरादयः। स्वरादयश्च निपाताश्च = स्वरादिनिपातम्। समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(स्वरादिनिपातम्) स्वर् आदि शब्द तथा निपात (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं। स्वरादि शब्द पाणिनिमुनिविरचित 'गणपाठ' में पढ़े गये हैं। निपात—अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के चतुर्थपादान्तर्गत 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१. ४. ५६) के अधिकार में पढ़े गये हैं। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक् आदि आगे मूल में ही स्पष्ट हो जायगा।

अब मूलगत स्वरादिगण—अर्थ, उदाहरण तथा विस्तृतटिप्पण सहित नीचे दिया जा रहा है। इस गण में बालोपयोगी अत्यन्त प्रसिद्ध शब्दों पर चिह्न (+) कर दिया गया है।

---

† यहां सुबन्त से तात्पर्य अव्ययभिन्न सुबन्त से है।

स्वरादि-गण

शब्द	अर्थ	उदाहरण व स्पष्टीकरण
१. स्वर् +	स्वर्ग व परलोक	पुण्यकर्माणः स्वर्गच्छन्ति । मनुष्यः प्रेत्य स्वर्गच्छति । 'स्वर्गे परे च लोके स्वः' इत्यमरः ।
२. अन्तर् +	मध्य	गृहस्यान्तर्विगाहते ।
३. प्रातर् +	प्रातःकाल	{ प्रातर्द्यूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गतः । रात्रौचौरप्रसङ्गेन कालोगच्छति धीमताम्॥[1] }
४. पुनर् +	फिर	गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय ।
५. सनुतर्[2]	छिपना	सनुतश्चौरो गच्छति ।

नोट—उपर्युक्त पाञ्चों अव्यय रेफान्त हैं, अतः 'हशि च' (१०७) आदि द्वारा उत्वादिकार्य नहीं होते । यथा—प्रातर्गच्छ, पुनरत्र, अन्तरस्ति, सनुतर्धेहि तं ततः । प्रातोऽत्र, पुनोऽपि—लिखने वाले विद्यार्थी सावधान रहें ।

१. द्यूतप्रसङ्गः = भारतम्, स्त्रीप्रसङ्गः = रामायणम् , चौरप्रसङ्गः = भागवतम् ।

२. 'सनुतर्' अव्यय का प्रयोग प्रायः लोक में नहीं देखा जाता । वेद में इस का प्रयोग पाया जाता है । ऊपर का उदाहरण 'गणरत्नमहोदधि' से उद्धृत किया गया है । अमरकोषादि लौकिक कोषों में इसका उल्लेख नहीं ।

निघण्टु में यह अव्यय 'निर्णीतान्तर्हित' अर्थ में पढ़ा गया है । 'निर्णीतञ्च तद् अन्तर्हितञ्चेति कर्मधारयः' (स्कन्दमाहेश्वरकृत निरुक्तभाष्यटीका) । जो छिपा हुआ तो हो परन्तु निर्णीत हो—उसे 'सनुतर्' कह सकते हैं । व्याकरण के सब ग्रन्थों में इसका अर्थ 'अन्तर्धान' अर्थात् छिपना लिखा है । परन्तु श्रीसायण अपने वेदभाष्य में सर्वत्र इसका अर्थ 'छिपा हुआ' करते हैं । यथा—"(सनुतः) अन्तर्हितनामैतत्" [ऋग्वेद १. ६२. ११] । "सनुतरित्यन्तर्हितनाम" [ऋग्वेद ५. ४५. ५] । "सनुतश्चरन्तम् = निगूढं चरन्तम्" [ऋग्वेद ५. २. ४] । इसका 'छिपा हुआ' अर्थ करने से गणरत्नमहोदधिकार का उदाहरण भी बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है—सनुतश्चौरो गच्छति (छिपा हुआ चोर जा रहा है) ।

६. उच्चैस्+	ऊँचा	उच्चैः पर्वताः सन्ति ।
७. नीचैस्+	नीचा	नीचैर्गच्छति रथः ।
८. शनैस्+	आहिस्ता	शनैः पन्थाः शनैः कन्था शनैः पर्वतलङ्घनम् ।
९. ऋधक्	सत्य	ऋधग्वदन्ति विद्वांसः ।

नोट—लौकिककोषों में प्रायः इसका उल्लेख नहीं मिलता। वेद में इसका प्रचुर प्रयोग है ।

१०. ऋते +	बिना व बग़ैर	ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।

नोट—इस शब्द के योग में 'अन्याराद्.......' (२. ३. २९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का विधान होता है। लोक में द्वितीया का भी क्वाचित्क प्रयोग देखा जाता है। उसका समाधान कई लोग "ततोऽन्यत्रापि दृश्यते" से करते हैं।

११. युगपत्+	एक साथ	युगपद् गच्छन्ति बालकाः ।
१२. आरात्+	दूर व समीप	आराद् दुष्टात् सदा वसेत (दूरे)। आरादीशाद्-सेद् बुधः (समीपे)।

नोट—इस शब्द के योग में 'अन्याराद्.......' (२. ३. २९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का विधान होता है।

१३. पृथक् +	भिन्न व इलहदा	दुष्टः कार्यात्पृथक्कार्यः । ईश्वरात्पृथग्जगन्नास्ति ।

नोट—इस शब्द के योग में 'पृथग्विना....' (२. ३. ३२) सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान होता है।

—आर्यसमाज के प्रवर्त्तक श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अष्टाध्यायीभाष्य तथा वेदाङ्गप्रकाश 'अव्ययार्थ' में 'सनुतः' का 'सदा' अर्थ किया है। वेदाङ्गप्रकाश में उन्होंने 'सनुतः पुरुषार्थे प्रयतेरन्' ऐसा उदाहरण भी दिया है। पता नहीं इन के अर्थ का क्या आधार है।

१४. ह्यस् +	गुजरा हुआ पिछला दिन	ह्योऽस्माकं परीक्षाऽभवत् ।
१५. श्वस् +	आगे आने वाला दिन	श्वःकार्यमद्य कुर्वीत । श्वोऽस्माकं गृहे यज्ञो भविता ।
१६. दिवा+	दिन	पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते । दिवा च रात्रिश्च तयोः समाहारः = दिवारात्रम् । निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः । (भा० १. १६. ९)
१७. रात्रौ	रात	दिवा काकरवाद् भीता रात्रौ तरति नर्मदाम् ।

नोट—'गणरत्नमहोदधि' में इसका उल्लेख नहीं, परन्तु काशिकादि सब ग्रन्थों में है । समझ नहीं पड़ता कि जब 'रात्रि' शब्द से काम चल सकता है तब इसके मानने की क्या आवश्यकता है । यजुर्वेद के (२३.४) मन्त्र के सिवाय अन्य किसी वेद में 'रात्रौ' शब्द नहीं पाया जाता । यजुर्वेद के (२३. ४) मन्त्र के पदपाठ के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहां अव्यय का प्रयोग नहीं है किन्तु 'रात्रि' शब्द के सप्तमी के एकवचन का प्रयोग है ।

'प्रक्रियाकौमुदी' की 'प्रसाद' टीका में टीकाकार ने "रात्रौ वृत्तं तु द्रक्ष्यसि" यह उदाहरण लिख स्वयं ही असन्तुष्ट होकर 'रात्रौचरः' यह नया उदाहरण दिया है । हमें किसी कोष व काव्यादि में इस नये शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ ।

१८. सायम्+	सायङ्काल	सायं सन्ध्यामुपासीत ।

नोट—इसी अर्थ में घञन्त 'साय' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है । वह घञन्त होने से पुल्ँलिङ्ग माना जाता है । 'सङ्ख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहनन्यतरस्यां ङौ' (६. ३. १०९) सूत्र में इसी का ग्रहण होता है—सायाह्नि, सायाहनि, सायाह्ने । इस विषय में 'सायंचिरंप्राह्णे........' (४. ३. २३) सूत्र की काशिकावृत्ति भी द्रष्टव्य है ।

१९. चिरम्+	देर तक	मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् । चिरं जीवतु मे भर्ता ।

नोट—दीर्घकालवर्त्ती पदार्थ में त्रिलिङ्गी 'चिर' शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ करता है। यथा—

चिरजीविन्—"अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनुमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥"
अथ राज्ञो बभूवैव वृद्धस्य चिरजीविनः। [रामायणे]

चिरजीविका—वृणीष्व वित्तं चिरजीविकाञ्च। [कठोपनिषदि]

चिरायुस्—लब्धदौहृदा च वीर्यवन्तं चिरायुषं पुत्रं जनयति। [सुश्रुते]

चिरलोक—स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। [तै. उप.]

इसी प्रकार चिरक्रियः, चिरपाकी प्रभृति शब्दों में भी समझ लेना चाहिये। उपर्युक्त 'चिरं जीवतु मे भर्ता' प्रभृति 'चिरम्' अव्यय के उदाहरण भी 'चिर' शब्द से क्रियाविशेषणत्वेन निष्पन्न हो सकते हैं। अतः इस अव्यय का फल—'चिरञ्जीवी, चिरञ्जीवकः' प्रभृति कतिपय शब्दों में ही देखा जाता है। 'चिरन्तनः' भी 'चिर' शब्द से निष्पन्न हो सकता है—देखो 'सायंचिरम्........' (४. ३. २३) सूत्र पर काशिकावृत्ति।

२०. मनाक्+	थोड़ा	रे पान्थ विह्वलमना न मनागपि स्याः।
२१. ईषत् +	थोड़ा व आसान	पात्रे ईषदपि दानं कल्याणकरम्। ईषत्करः कटो भवता।
२२. जोषम्	सुख, चुप्पी	जोषमास्ते जितेन्द्रियः। जोषं कुरु मूढ !।
२३. तूष्णीम्+	मौन	न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह। [गीता]
२४. बहिस् +	बाहर (बाह्य)	बहिर्गच्छ इतः स्थानात्। न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
२५. अवस्	बाहर (बाह्य)	अवो गच्छति। [गणरत्नमहोदधि]

नोट— इसके प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

२६. अधस् +	नीचे	'अधः पश्यसि किं बाले ! तव किं पतितं भुवि । रे रे मूढ न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम् ॥' 'अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते' ॥
२७. समया +	समीप	त्वां समयास्ते । [तेरे समीप है ।]
	मध्य	ग्रामं समयास्ते । [ग्राम के मध्य है ।]

नोट—इसके योग में द्वितीया का विधान है ।

२८ निकषा +	समीप	'समेत्य लङ्कां निकषा हनिष्यति' । [शिशुपालवधे]

नोट—इसके योग में भी द्वितीया का विधान है ।

२९. स्वयम् +	अपने आप व खुद	स्वयमिच्छामि पठितुम् । स्वयङ्कृतमिदं कर्म ।※
३०. वृथा +	व्यर्थ	'वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तस्य भोजनम् । वृथा दानं समर्थस्य वृथा दीपो दिवापि च ॥'
३१. नक्तम् +	रात (में)	नक्तञ्चरोऽसौ सहसा प्रयाति ।

नोट—संस्कृत-साहित्य में 'नक्त' इस प्रकार का अजन्त नपुंसक शब्द भी क्वाचित्क प्रयुक्त होता है । तद्घटित शब्द यथा--

नक्तचर—"जयेत् नक्तचरान् सर्वान् सपुरोहित धूर्गतः" । (?)

नक्तभोजिन्—"हविष्यभोजनं स्नानं सत्यमाहारलाघवम् ।"

"अग्निकार्यमधःशय्यां नक्तभोजी षडाचरेत् ॥" (भविष्यपु०)

इसे अव्यय मानना भी परमावश्यक है । अन्यथा—नक्तञ्चरः, नक्तञ्चारी प्रभृति शब्द उपपन्न न हो सकेंगे ।

३२. नञ् +	नहीं	न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके, सहस्रशो यन्न मया व्यधायि । सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द ! क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥

※ चतुरः सखि मे भर्ता यल्लिखति च तत् परो न वाचयति ।
तस्मादप्यधिको मे स्वयमपि लिखितं स्वयं न वाचयति ॥

नोट—इसके अनुबन्ध ञकार का लोप हो जाता है, अतः प्रयोग में 'न' ही आता है। यह अनुबन्धकरण इसलिये किया गया है कि—'नलोपो नञः' (६. ३. ७२) द्वारा इसी नकार का ग्रहण हो (यथा—अनेकधा), अग्रिम 'न' का न हो, अतः 'नैकधा' आदियों में नकार का लोप नहीं होता। इस 'नञ्' के अनेक अर्थ होते हैं। यहां बालोपयोगी साधारण अर्थ लिख दिया है; ईषत् अर्थ में भी कुछ कुछ प्रसिद्ध है—'अनुदरा कन्या'। विशेष विस्तार 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में देखें।

३३. न +	नहीं	"चित्रं चित्रं किमथ चरितं नैकभावाश्रयाणाम्। सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥" इसी प्रकार—गमिकर्मीकृतनैकनीवृता, नैकधा, नान्तरीयम् प्रभृति।
३४. हेतौ	निमित्त	हेतौ हृष्यति। [गणरत्नमहोदधि]

नोट—हमें किसी ग्रन्थ में इस अव्यय का प्रयोग नहीं मिल सका। किसी कोषकार ने इसका उल्लेख नहीं किया। ऊपर दिया श्रीवर्धमान का उदाहरण भी सारहीन प्रतीत होता है। 'हेतौ हृष्यति' का अर्थ है—'निमित्त से प्रसन्न होता है'। यह अर्थ भावसप्तम्यन्त 'हेतु' शब्द से भी सिद्ध हो सकता है। अतः इसके प्रयोग अन्वेषणीय है।

३५. इद्धा	प्रकाश [ज़ाहिर]	'समिद्धमिद्धेश महो ददासि'। [गणरत्नमहोदधि]

नोट—यह अव्यय हमें किसी ग्रन्थ में नहीं मिला। किसी कोषकार ने इसका उल्लेख नहीं किया। चारों वेदसंहिताओं में भी इसका कहीं पता नहीं चलता। ऊपर का उदाहरण गणरत्नमहोदधिकार श्रीवर्धमान का है। अन्य सब ग्रन्थकारों ने इसे ही उद्धृत किया है। प्रतीत होता है कि अन्य ग्रन्थकारों को इसके अतिरिक्त अन्य कोई उदाहरण नहीं मिल सका। वाचस्पत्यकोषकार श्रीतारानाथ ने यह उदाहरण भागवत

का माना है; परन्तु हमें यह भागवत में नहीं मिल सका। सम्भव है कि यह भागवत में ही हो और हमारे दृष्टिगोचर न हुआ हो। परन्तु इतना तो सत्य है कि वर्त्तमान उपलब्ध संस्कृतसाहित्य में इसके प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

३६. श्रद्धा

१ सचमुच	'श्रद्धा नकिरन्यस्त्वावान्' (ऋग्वेद १. ५२. १३)। [हे प्रभो ! सचमुच तेरे जैसा कोई नहीं]।
२ सत्य	'क श्रद्धा वेद' (ऋ० ३. ५४. ५) [इस संसार को कौन सत्य जानता है।]
३ साक्षात् व प्रत्यक्ष	त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्। रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥ [भागवत १. ८.४२]†
४ निःसन्देह	'यास्यत्यद्धाऽकुतोभयम्' [भागवत १.१२.२८]। (निःसन्देह वह अमरपद को पावेगा)❀

३७. सामि

१ आधा	१. सामि कार्यं त्वया कृतम्।
२ निन्दित	२. साम्यधर्मः सेवितोऽनेन।

३८. वत्

नोट—यह प्रत्यय है। 'वतिप्रत्ययान्त अव्यय हों' यह इसके ग्रहण का प्रयोजन है। यहां 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५. १. ११४), 'तत्र तस्येव' (५. १. ११५), 'तदर्हम्' (५. १. ११६) इन तीन सूत्रों से विहित 'वति' प्रत्यय का ही ग्रहण समझना चाहिये। 'ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत्' - ये दो वतिप्रत्ययान्त के उदाहरण दिये गये हैं। इसीप्रकार— नृपवत्, बालवत्, चौरवत् आदि अन्य वत्यन्त भी जान लेने चाहिये। यह 'वति' प्रत्यय सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त होता है।

---

† हे मधुपते। जैसे गङ्गा का प्रवाह निरन्तर समुद्र की ओर बढ़ता रहता है वैसे ही साक्षात् आप में मेरी सर्वदा अनन्यप्रीति हो।

❀ एष ह वा अनद्धापुरुषो यो न देवानर्चति न पितॄन्। [शत० ८. ३. १. २४] यहाँ पर समास में उसका प्रयोग है।

यथा—ब्राह्मणवत् = ब्राह्मण के समान, क्षत्रियवत् = क्षत्रिय के समान इत्यादि। वस्तुतः इस अव्यय का पाठ यहां उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि वत्प्रत्ययान्तों की अव्ययसञ्ज्ञा तो 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (३६८) से ही सिद्ध हो सकती है।

३९. सना	सदा व नित्य	सना भवः = सनातनो धर्मः। ['सायंचिरम्—' इति ट्यु प्रत्ययस्तुडागमश्च]। सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम्। [महाभारते]
४०. सनत्	सदा व नित्य	सनत्कुमारः [सदा कुमार]।
४१. सनात्	सदा व नित्य	सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे [ऋ० १. ५१. ६]

नोट—यह अव्यय प्रायः वेद में ही देखा जाता है।

४२. उपधा	भेद	

नोट—यह अव्यय हमें किसी ग्रन्थ में प्रयुक्त तथा किसी कोष में लिखा नहीं मिला। काशिका, गणरत्नमहोदधि आदि प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों में इस का पाठ उपलब्ध नहीं। हमारा कुछ ऐसा विचार है कि यह बाद में [स्यात् 'प्रक्रियाकौमुदी' के समय से] स्वरादिगण में सम्मिलित कर लिया गया है। पर हमें यह विदित नहीं हो सका कि सम्मिलित करने वाले ने कौन से ऐसे प्रयोग देखे हैं जिनके कारण उसे परवश (मजबूर) होकर इसे अव्यय मानना पड़ा है। आशा है कि अन्वेषणप्रेमी विद्वज्जन इस ओर अवश्य ध्यान देंगे।

४३. तिरस्+	टेढ़ा व तिरछा	तिरोदृष्ट्या समीक्षते।
	छिपना	अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे।
	अनादर	गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभि- स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्। अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति॥

नोट—'छिपना' अर्थ में तिरस् अव्यय का प्रयोग प्रायः धातु के साथ ही पाया जाता है। 'तिरोऽन्तर्धौ' (१. ४. ७०) सूत्र द्वारा छिपना अर्थ में तिरस् की गति सञ्ज्ञा हो जाती है। गतिसञ्ज्ञा होने से 'कुगतिप्रादयः' (२. २. १८) सूत्र द्वारा समास हो जाता है। समास होने के कारण 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७. १. ३७) से क्त्वा को ल्यप् हो जाता है—यथा—तिरोभूय, तिरोधाय इत्यादि।

परन्तु 'कृञ्' धातु के योग में 'छिपना' अर्थ होने पर भी 'विभाषा कृञि' (१. ४. ७१) सूत्र द्वारा 'तिरस्' की विकल्प कर के गतिसञ्ज्ञा होती है। गतिसञ्ज्ञा वाले पक्ष में 'कुगतिप्रादयः' (२. २. १८) द्वारा समास होकर क्त्वा को ल्यप् हो जाता है। यथा—तिरस्कृत्य। गति-सञ्ज्ञा के अभाव वाले पक्ष में समास न होने से क्त्वा को ल्यप् नहीं होता। यथा—तिरःकृत्वा†।

४४. अन्तरा+

मध्य	'अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति'।
विना	न च प्रयोजनमन्तरा चाणक्यः स्वप्नेऽपि चेष्टते। [मुद्राराक्षसे]

नोट—इस अव्यय के योग में 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (२. ३. ४) द्वारा द्वितीया विभक्ति का विधान किया जाता है।

४५. अन्तरेण+

विना	क्रियान्तरान्तरायमन्तरेणार्य्यं द्रष्टुमिच्छामि। [मुद्राराक्षसे]
मध्य	त्वां माञ्चान्तरेण हरिः।

नोट—इस अव्यय के योग में भी 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (२.३.४) द्वारा द्वितीया विभक्ति का विधान है।

† गति पक्ष में 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' (८. ३. ४२) सूत्र द्वारा विसर्ग को विकल्प कर के सकारादेश हो जाता है। यथा—तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य। परन्तु 'तिरःकृत्वा' में गतिसञ्ज्ञा न होने से सकारादेश भी नहीं होता।

४६. ज्योक्	बहुत समय	'सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या'। [छान्दोग्योपनिषदि]

नोट—यह अव्यय वैदिकसाहित्य में ही प्रयुक्त देखा जाता है। लौकिकग्रन्थों में इसका प्रयोग नहीं देखा जाता। इसके शीघ्र, समाप्ति आदि अन्य अर्थ भी हैं।

४७. कम्	जल	कञ्जम् = पद्मम् [पानी में पैदा होने वाला, कमल]।
	मस्तक	कञ्जाः = केशाः [मस्तक पर पैदा होने वाले, केश]।
	कुत्सित व निन्दनीय	कन्दर्पः = कामः [जिसके कारण कुत्सित अभिमान हो, काम]
	सुख	कंयुः = सुखी [अत्र 'कंशम्भ्यां बभयुस्........' (५. २. १३८) इति मत्वर्थीयो 'युस्' प्रत्ययः। सित्त्वाच्च 'सिति च' इति पदत्वेन मोऽनुस्वारः। वैकल्पिकपरसवर्णश्च—'कय्ँयुः'।]
४८. शम् +	सुख व शान्ति	शङ्करः शङ्करोतु नः।
४९. सहसा +	विना विचार	सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदांपदम्।
	यकदम	सहसाग्निरिवोत्थितः।
५०. विना +	बगैर	दुर्भगाभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना।

नोट— इसके योग में 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्' (२. ३. ३२) सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी का विधान होता है।

५१. नाना +	अनेक	नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्, रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि। स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥ (तुलसीरा०)

	विना	नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा ।

नोट—इस शब्द के योग में भी पूर्वोक्त सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान है ।

सूचना—विना और नाना का पाठ भी 'वत्' की तरह यहां व्यर्थ सा प्रतीत होता है । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (३६८) से ही इनकी अव्ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है ।

५२ स्वस्ति +	मङ्गल व कल्याण	स्वस्त्यस्तु ते ।

नोट—इस अव्यय के योग में 'नमःस्वस्ति......' (८९८) सूत्र से चतुर्थी विभक्ति विधान की जाती है । उदाहरण में 'तुभ्यम्' के स्थान पर 'ते' आदेश हुआ है ।

५३ स्वधा	पितरों के उद्देश्य से त्याग करना	पितृभ्यः स्वधा ।

नोट—इस अव्यय के योग में भी पूर्वोक्त सूत्र से चतुर्थी विभक्ति होती है । इसके अन्य भी अनेक अर्थ शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों में किये गये हैं । इसके अतिरिक्त वैदिकसाहित्य में 'स्वधा' इस प्रकार आकारान्त स्त्रीलिङ्ग भी देखा जाता है । यथा—

१ अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतः [ऋग्वेदे १. १६४. ३८]

२ आदह स्वधामनु । [ऋग्वेदे १. ६. ४]

३ नमो वः पितरः स्वधायै । [यजुर्वेदे २. ३२] इत्यादि ।

५४ अलम् +	भूषण (सजाना)	अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते । [मनु०]

नोट—यहां 'भूषणेऽलम्' (१. ४. ६३) सूत्र से 'अलम्' की गतिसञ्ज्ञा हो जाने से 'कुगतिप्रादयः' (९४९) द्वारा समास हो जाता है । अतः 'समासेऽनञ्पूर्वे......' (८८४) सूत्र से क्त्वा को ल्यबादेश होता है ।

पर्याप्ति (काफी होना)	अलं भुक्तवान् । अलमस्त्यस्य धनम् ।
शक्ति (सामर्थ्य)	अलं मल्लो मल्लाय । दैत्येभ्यो हरिरलम् ।

नोट—शक्ति अर्थात् सामर्थ्य अर्थ में 'अलम्' के योग में 'नमः-स्वस्ति........' (८६८) सूत्र द्वारा चतुर्थी विभक्ति होती है। 'अल-मिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' इस वार्त्तिक में पर्याप्ति का तात्पर्य सामर्थ्य से ही है, पूर्वोक्त पर्याप्ति से नहीं।

वारण (रोकना)	अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् । न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः, शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ (रघु०) अलमतिप्रसङ्गेन ।

नोट—ऐसे स्थलों पर प्रायः तृतीया विभक्ति प्रयुक्त होती है। विशेष 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखें।

५५ वषट् ५६ श्रौषट् ५७ वौषट्	देवाताओं के निमित्त हवि-त्याग	वषडस्तु तुभ्यम् (यजुर्वेद ११. ३६) अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निम् । (ऋग्वेद १. १३६. १) इसका उदाहरण अन्वेषणीय है।

नोट—इन में से 'वषट्' के योग में 'नमःस्वस्ति........' (८६८) द्वारा चतुर्थी होती है।

५८ अन्यत्	अन्य, इतर, भिन्न	देवदत्त आयातोऽन्यच्च यज्ञदत्तः । [गणरत्न०]

नोट—इसके प्रयोग भी अन्वेषणीय हैं।

५९ अस्ति	सत्त्व = विद्यमानता	अतिथिर्बालकश्चैव राजा भार्या तथैव च । अस्ति नास्ति न जानन्ति देहि देहि पुनः पुनः ॥ (चाणक्य०) अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी । अस्त्यहमार्येणादिष्टः । (मुद्राराक्षसे) । अस्ति परलोके मतिरस्येत्यास्तिकः ।
६० उपांशु	विजन (एकान्त)	परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् । (रघु०)

नोट—"जिह्वोष्ठौ चालयेत्किञ्चिद् देवतागतमानसः । निजश्रवणयोग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः" । इस लक्षण वाला जप भी 'उपांशु' कहाता है; परन्तु वह उकारान्त पुँल्लिङ्ग है—अव्यय नहीं ।

६१ क्षमा	क्षमा	क्षमा करोतु भवान् । [व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि]

नोट—इस अव्यय का संस्कृतसाहित्य में प्रयोग अन्वेषणीय है ।

६२ विहायसा	आकाश	विहायसा पश्य विहङ्गराजम् । [हेमचन्द्र]

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । उपर्युक्त उदाहरण श्रीहेमचन्द्राचार्यप्रणीत 'अभिधान-चिन्तामणि' का है ।

६३ दोषा	रात्रि	दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति । [माघे ४. ४६] दिवाभूता रात्रिः,दोषाभूतमहः । [महाभाष्ये १.१.४१]

नोट—'दोषा' यह आकारान्त स्त्रीलिङ्ग भी प्रयुक्त हुआ करता है । यथा—'ततः कथाभिः समतीत्य दोषाम्' (भट्टि० २२. २४) ।

६४ मृषा +	मिथ्या व असत्य	अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।

		मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादप: प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नलः । [नैषधे]
६५ मिथ्या +	झूठ व असत्य	यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् । तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥ (मनु०)
	व्यर्थ	ज्योतिषं जलदे मिथ्या, मिथ्या श्वासिनि वैद्यकम् । योगो बह्वशने मिथ्या, मिथ्या ज्ञानञ्च मद्यपे ॥
६६ मुधा +	व्यर्थ	सीतया रामचन्द्रस्य गले कमलमालिका । मुधा बुधा भ्रमन्त्यत्र प्रत्यक्षेऽपि क्रियापदे ॥ (अत्र 'प्रत्यक्षेपि' क्रिया)
६७ पुरा +	प्रबन्ध = निरन्तर क्रिया करना	उपाध्यायेन स्म पुराधीयते । अविरतमपाठीत्यर्थः ।
	निकट आगामी काल	गच्छ पुरा देवो वर्षति । समनन्तरं वर्षिष्यतीत्यर्थः । अत्र 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' (१. ३. ४) इति लट् ।
	व्यतीत प्राचीन काल	पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे, कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः। अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद् अनामिका सार्थवती बभूव ॥
६८ मिथो	एकान्त व आपस में	मन्त्रयन्ते मिथो । [शब्दकौस्तुभे]

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । किञ्च ध्यान रहे कि इससे अच् परे होने पर 'ओत्' (५६) सूत्र प्रवृत्त होकर प्रगृह्यसञ्ज्ञा कर देता है । यथा—मिथो अत्र, मिथो इति ।

६९ मिथस् +	एकान्त	मिथो भजेताप्रसवात् सकृत्सकृदृतावृतौ (मनु० ९.७०) ['रहसि' इति कुल्लूकः]

	परस्पर	असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः । अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ (मनु०)
७० प्रायस् +	बहुधा (अक्सर)	प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ।†
७१ मुहुस् +	बार बार (पुनः २)	मुहुर्मुहुर्वारि पिबेद्भूरि ।
७२ प्रवाहुकम् ७३ प्रवाहिका	समानकाल, शीघ्र	प्रवाहुकं गृह्णीयात् । [प्रक्रियाकौमुदी प्रसादटीका]

नोट—कई गणपाठों में 'प्रवाहुकम्' के स्थान पर 'प्रवाहिका' पाठ पाया जाता है । इन अव्ययों के प्रयोग संस्कृतसाहित्य में अन्वेषणीय हैं । किसी कोष में इनका उल्लेख नहीं । ग्रहणीरोगवाची 'प्रवाहिका' शब्द टाबन्त होता है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'प्रवाहुकम्' पाठ मान कर उसका 'प्राबल्य' अर्थ किया है । इस अर्थ में 'प्रवाहुक्' शब्द तो काठकसंहिता में देखा जाता है—"देवा वा असुरान् यज्ञमभिजित्य ते प्रवाहुग् ग्रहान् गृह्णाना आयन्" । [काठक २९. ६] । सम्भव है कि इस शब्द का किसी लुप्त शाखा में पाठ हो ।

७४ आर्यहलम्	बलात्कार करना	आर्यहलं गृह्णाति । [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

७५ अभीक्ष्णम् +	निरन्तर, पुनः २	क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णम् ।
७६ साकम् + ७७ सार्धम् +	साथ	पित्रा साकं सार्धं वाऽऽगतः पुत्रः ।

नोट—साकम्, सार्धम् इन दोनों अव्ययों के योग में अप्रधान में 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२. ३. १९) द्वारा तृतीया विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार—'समम्, सत्रा, सह' इनके साथ भी तृतीया का विधान है ।

७८ नमस् +	नमस्कार	येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः । तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥

† 'प्राय' इस प्रकार अकारान्त शब्द भी होता है—निन्दाप्रायां सेवां त्यजेत् ।

नोट—इस अव्यय के योग में 'नमःस्वस्ति......' (८९८) द्वारा चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। इस अव्यय के 'अन्न, वज्र' आदि अन्य अर्थ भी वेद में प्रसिद्ध हैं।

७९ हिरुक्

वर्जन=छोड़ना — य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
[ऋग्वेदे १. १६४. ३२]

नोट—यह अव्यय प्रायः वैदिकसाहित्य में ही प्रसिद्ध है।

८० धिक् +

धिक्कार —
रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे,
विक्रीणीते यो नरस्तञ्च धिक् धिक्।
अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति,
व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिक् धिक्॥*

नोट—इस अव्यय के योग में 'उभसर्वतसोः कार्या........' द्वारा द्वितीया का विधान होता है।

८१ अथ +

प्रारम्भ	अथ शब्दानुशासनम्। अथ योगानुशासनम्।
आनन्तर्य	अथातो ब्रह्मजिज्ञासा [वेदान्तशास्त्रे १. १]। [अथ = साधनचतुष्टयानन्तरमित्यर्थः] अथ प्रजानामधिपः प्रभाते—(रघुवंशे)। [अथ = निशाशयनानन्तरमित्यर्थः।]
संशय	शब्दो नित्योऽथानित्यः? (महाभाष्ये)।
समुच्चय	भीमोऽथार्जुनः।
पक्षान्तर	अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः—(वेणीसंहारे)। अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि (गीता०)

नोट—'अथ' शब्द का अर्थ मङ्गल नहीं हुआ करता; किन्तु

* अत्र 'इवे प्रतिकृतौ' इतिविहितस्य कनः 'जीविकार्थे चापण्ये' इति लुपोऽभावाद् रामकं सीतिकां लक्ष्मणकम् इत्येव प्रयोगाः माधवः।

अन्य अर्थ का वाचक यह यदि आदि में प्रयुक्त किया जाए तो मङ्गल का द्योतक हो जाता है। यथा—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (यहां भी आनन्तर्य अर्थ ही है)। यह शब्द माङ्गलिक माना जाता है, मङ्गलार्थ नहीं।

८२ अम् — शीघ्र और अल्प — इसके प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

नोट—वर्त्तमान उपलब्ध लौकिक व वैदिक साहित्य मे हमें यह शब्द कहीं नहीं मिला। श्रीदीक्षित आदि इसे प्रत्यय मानते हैं। उनका कथन है कि 'अमु च छन्दसि' (५. ४. १२) सूत्र से विहितप्रत्ययान्त की अव्ययसञ्ज्ञा होती है। उदाहरण यथा—प्र तं नय प्रतरं वयस्यः—(यजुर्वेद १२. २६)। परन्तु चाहे यहां 'अम्' से प्रत्यय भी समझ लें; तो भी 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (३६८) से ही इसके अव्ययसञ्ज्ञक हो जाने से यहां ग्रहण व्यर्थ सा प्रतीत होता है।

८३ आम् + — स्वीकार करना — आम्! ज्ञातम्।

नोट—कई लोग यहां भी पूर्ववत् 'किमेत्तिङव्यय—' (५.४.११) आदि सूत्रों से आम्प्रत्ययान्तों की अव्ययसञ्ज्ञा मानते हैं।

८४ प्रताम् — ग्लानि — इसके उदाहरण अन्वेष्टव्य हैं।

८५ प्रशान् — तुल्य, सदृश, समान — प्रशान् देवदत्तो यज्ञदत्तेन। [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—इसके प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

८६ मा + — मत — माऽस्तु।

८७ माङ् + — मत — भगवन्! मा स्म भूदेवम्।

नोट—यहां का विशेष विचार 'माङि लुङ्' (४३५) सूत्र पर देखें।

आकृतिगणोऽयम् ।

यह स्वरादिगण आकृतिगण है । आकृतिगण का तात्पर्य (३६) सूत्र पर शकन्ध्वादिगण में समझा कर लिख चुके हैं ।

वस्तुतः पाणिनि के गणपाठ में कालक्रम से जितने फेरफार हुए हैं, उतने स्यात् ही व्याकरण के किसी ग्रन्थ में हुए हों । स्वरादिगण में कई शब्द जो आज से चार शताब्दी पूर्व उसमें न थे आज विद्यमान हैं । कई शब्द इस गण के निकाल कर चादिगण में सम्मिलित कर दिये गये हैं॥ इन सब को सहेतुक पृथक् २ करना—एक महान् परिश्रम-साध्य कार्य है । यदि प्रभु की इच्छा हुई तो 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में आप यह सब देख सकेंगे ।

स्वरादिगण में गिनने योग्य कुछ अन्य शब्द यथा —

१ समम् = साथ । २ सत्रा = साथ । ३ भूयम् = पुनः, फिर । ४ झटिति = शीघ्र व जल्दी । ५ झगिति = शीघ्र व जल्दी । ६ तरसा = शीघ्र व जल्दी । ७ द्राक् = शीघ्र व जल्दी । ८ अञ्जसा = शीघ्र व जल्दी । ९ मङ्क्षु = शीघ्र व जल्दी । १० सपदि = उसी समय, तत्क्षण । ११ कामम् = यथेच्छ, बेशक । १२ संवत् = वर्ष ('संवत्सर' का संक्षिप्त रूप है) । १३ बदि = कृष्णपक्ष ('बहुलदिवस' का संक्षिप्त रूप है) । १४ शुदि = शुक्ल-पक्ष ('शुक्लदिवस' का सङ्क्षिप्त रूप है) । १५ साक्षात् = सामने, दर्शन । १६ साचि = टेढ़ा । १७ अजस्रम् = निरन्तर, हमेशा । १८ अनिशम् = निरन्तर, हमेशा । १९ वरम् = अच्छा । २० स्थाने = उचित । २१ कृतम् = 'अलम्' के अर्थ में, बस, निषेध, रोकना । २२ प्रादुस् = प्रकट होना । २३ आविस् = प्रकट करना । २४ प्रकामम् = यथेच्छ । २५ उषा = रात । २६ ओम् = अङ्गीकार करना, परब्रह्म । २७ अवश्यम् = निश्चय से । २८ सन्ततम् = निरन्तर व हमेशा । २९ साम्प्रतम् = इस समय, ठीक । ३० परम् = लेकिन, परन्तु, किन्तु । ३१ सुष्ठु = अच्छा । ३२ दुष्ठु = निकृष्ट । ३३ मिथु = दो । ३४ कु = कुत्सित, थोड़ा । ३५ चिरेण = देर तक । ३६ चिराय = देर तक । ३७ चिररात्राय = देर तक ।

॥ यथा 'मिथो' अव्यय का पाठ स्वरादियों में न होकर चादियों में ही होना उचित प्रतीत होता है । यदि स्वरादियों में पाठ मानेंगे तो 'चादयोऽसत्त्वे' (५३) द्वारा निपात-सञ्ज्ञा न होगी । तब निपात न होने से 'ओत्' (५६) सूत्र द्वारा—'मिथो + अत्र, मिथो + इति' आदि रूपों में प्रगृह्यसञ्ज्ञा उपपन्न न हो सकेगी ।

३८ चिरात्=देर तक। ३६ चिरस्य=देर तक। ४० सु=पूजा व सत्कार (यथा—सुब्राह्मणाः), बहुत–(सुशोफा)। इत्यादि अन्य भी यथा-प्रयोग शिष्टग्रन्थों से जान लेने चाहियें।

'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) सूत्र में निपातों की भी अव्ययसञ्ज्ञा की गई है। निपातों का सम्पूर्णतया वर्णन अष्टाध्यायी में 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१. ४. ५६) सूत्र के अधिकार में किया गया है। अब चादिगण का परिगणन करते हैं। ध्यान रहे कि चादियों की निपातसञ्ज्ञा (५३) सूत्र में कर चुके हैं।†

शब्द	अर्थ	उदाहरण व स्पष्टीकरण
१ च +	समुच्चय, और	ईश्वरं गुरुञ्च भजस्व।
	नोट—'च' के अर्थों का विवेचन द्वन्द्वसमास में देखें।	

† चादिगण को यदि स्वरादिगण में सम्मिलित कर दें तो भी इसकी सञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती है। तो पुनः इसकी निपातसञ्ज्ञा का प्रयोजन यह है कि 'चादयोऽसत्त्वे' (५३) सूत्र में 'असत्त्व' कथन के कारण द्रव्यवाचक चादियों की निपात सञ्ज्ञा और उसके कारण अव्यय-सञ्ज्ञा न हो। यथा—

'पशु' शब्द चादिगण में पढ़ा गया है। 'पशु' शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक—पशु=चौपाया, दूसरा—सम्यक्=अच्छी तरह। चौपाया अर्थ वाला 'पशु' शब्द द्रव्यवाचक होने से न निपातसञ्ज्ञक होता है और न अव्ययसञ्ज्ञक। यथा—'पशुंपश्य' (चौपाये को देखो) यहाँ अव्ययसञ्ज्ञा न होने से 'पशु' शब्द से परे द्वितीयाविभक्ति का लुक् नहीं होता। 'पशु पश्य' (ठीक तरह से देखो) यहां 'पशु' शब्द द्रव्यवाचक नहीं अतः उसकी अव्यय-सञ्ज्ञा होकर सुब्लुक् हो जाता है। इसीप्रकार लक्ष्मीवाचक 'मा' शब्द की अव्ययसञ्ज्ञा नहीं होती, निषेधवाचक की हो जाती है।

अब यदि चादियों का पाठ स्वरादियों में ही होता और उसकी निपातसञ्ज्ञा न की जाती तो 'पशु पश्य' इत्यादि स्थलों की तरह 'पशुं पश्य' इत्यादियों में भी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाने से अनिष्ट हो जाता जो अब नहीं होता। सार यह है कि—स्वरादियों में तो द्रव्यवाचकों की भी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है; यथा—'स्वः पश्य' (स्वर्ग को देख)। परन्तु चादियों में द्रव्यवाचक की नहीं होती। किञ्च—'निपाता आद्युदात्ताः' (फिट्सूत्र ४. ८०) द्वारा आद्युदात्त स्वर भी निपातसञ्ज्ञा का प्रयोजन है।

२ वा +	विकल्प	यवैर्वा व्रीहिभिर्वा यजेत ।
		"श्वशुरगृहनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणाम्, यदि भवति विवेकी पञ्च वा षड् दिनानि ।"

नोट—इसके उपमादि अन्य अर्थ भी होते हैं ।

३ ह	पादपूर्त्ति	इति ह स्माहुराचार्य्याः । तस्य ह शतं जाया बभूवुः।

नोट—यह शब्द पादपूर्त्ति के लिये तथा कहीं कहीं वाक्यपूर्त्ति व शैलीवशात् शोभा के लिये वैदिकसाहित्य व प्राचीनसाहित्य में प्रयुक्त होता है । इसके सम्बोधन आदि अन्य अर्थ भी होते हैं ।

४ अह	१ आचारातिक्रमण	स्वयमह ओदनं भुङ्क्त आचार्यं सक्तून् पाययति । स्वयमह रथेन याति, उपाध्यायं पदातिं गमयति ।
	२ पूजा	अह माणवको भुङ्क्ते ।
५ एव +	अवधारण	पार्थ एव धनुर्धरः । अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव ।

नोट—सादृश्य, अनवक्लृप्ति आदि इसके अन्य अर्थ भी देखे जाते हैं ।

ध्यान रहे कि 'च' से लेकर 'एव' तक का प्रयोग पाद व वाक्य के आदि में नहीं होता । "पादादौ न च वक्तव्याश्चादयः प्रायशो बुधैः" (वाग्भटालङ्कारे) । इस प्रकार 'खलु' 'तु' आदि के विषय में भी जानना चाहिये ।

६ एवम् +	१ उक्त बात का निर्देश	एवंवादिनि देवर्षौ—(कुमार० ६. ८४) ।
	२ निश्चय	एवमेतत् ।
	३ स्वीकार	एवं कुरु ।

७ नूनम् +	१ तर्क [खयाल दौड़ाना]	पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि, पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि । तत्रायमद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥ (रामायणे)
	२ निश्चय ही	"अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस्-त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ ।" (शाकु०)
८ शश्वत् +	१ नैरन्तर्य	शश्वत्सत्यं वदेत्
	२ नित्य	क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
९ युगपत् +	एक साथ	आगता युगपत् सर्वे ।
१० भूयस् +	पुनः, फिर	भूय एव महाबाहो ! शृणु मे परमं वचः । (गीता) भूयोऽपि सिक्तः पयसा घृतेन, न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति ॥
	आधिक्य	भूयो देहि सत्पात्राय ।
११ कूपत्	प्रश्न, वितर्क, प्रशंसा	कूपदयं गायति । [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

१२ सूपत्	'कूपत्' वाला अर्थ	इसका प्रयोग लोक वेद में कहीं उपलब्ध नहीं ।
१३ कुवित्	बहुत	कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद् । (ऋ० १, १४३, ६) ।

नोट—इस अव्यय का प्रयोग वैदिकसाहित्य में पर्याप्त पाया जाता है; परन्तु लौकिकसाहित्य में बिलकुल नहीं ।

१४ नेत्	शङ्का	नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम । (निरुक्ते)

नोट—यह अव्यय गवेषणीय है । वेद में 'नेत्' का प्रयोग तो

अनेक बार आया है; परन्तु वहां सर्वत्र पदपाठकारों ने 'न+इत्' ऐसा छेद ही माना है। ऊपर का उदाहरण निरुक्त का है। उसमें भी अल्प-रिशिष्ट (अष्टमाष्टक षष्ठाध्याय-द्वितीयवर्गान्त) से उद्धृत किया गया है। शब्दकौस्तुभादि ग्रन्थों में इसे ही उद्धृत किया गया है।

१५ चेत् + | यदि | "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।" (गीता)

१६ चण् + | यदि | अयञ्च मरिष्यति। चेन्मरिष्यतीत्यर्थः।

नोट—'च' यह अव्यय यदि णित हो तो उसका अर्थ 'यदि' होता है, जैसा कि ऊपर 'काशिका' का उदाहरण दिया गया है। अनुबन्धरहित यह समुच्चय आदि अर्थों का वाचक होता है। [देखो—'निपातैर्यद्यदि........' (८. १. ३०)]

१७ यत्र + | जहां | यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।
"यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि निरस्तपादपे देश एरण्डोपि द्रुमायते"। (चाण०)

नोट—इसके अनवक्लृप्ति आदि अन्य भी अनेक अर्थ होते हैं। यद्यपि त्रलन्त होने से 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (३६८) सूत्र द्वारा ही इसकी अव्ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती है तथापि यहां चादियों में पाठ निपातसञ्ज्ञा के लिये है। निपातसञ्ज्ञा का प्रयोजन 'निपातैर्यद्यदि—' (८. १. ३०) सूत्र में स्पष्ट है।

१८ कच्चित् + | इष्ट बात के प्रश्न में | आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः, कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत्। [रघु०]
"कच्चिद्विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान्। यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे"। [महाभारते]

१९ नह | | नह भोक्ष्यसे। [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—'नह प्रत्यारम्भे' इति श्रीवर्धमानः, 'निश्चितनिषेधे' इति कौस्तुभे दीक्षितः। यह अव्यय 'न' और 'ह' इन दो अव्ययों के समुदाय से बनाया गया है। इसके उदाहरण गवेषणीय हैं।

२० हन्त +

१ विषाद-दुःख	'काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया'।
२ हर्ष-सुख-प्रसन्नता	'हन्त! भो! लब्धं मया स्वास्थ्यम्'।
३ वाक्यारम्भ	'हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।' (गी०)
४ अनुकम्पा-दया	'हा हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहार'।

२१ माकिर्

मत (निषेध) 'माकिर्नो दुरिताय धायीः'। (ऋग्वेदे १. १४८.५)

नोट—शाकटायनाचार्य इस अव्यय को सान्त मानते हैं। इसका प्रयोग केवल वेद में ही उपलब्ध होता है।

२२ माकिम्

मत (निषेध)

नोट—वैदिकसाहित्य में 'माकीम्' ऐसा दीर्घघटित पाठ देखा जाता है। यथा—"माकिर्नेशन्माकीं रिषन्माकीं संशारि केवटे" (ऋग्वेदे ६. ५४. ७)।

२३ नकिर्

निषेध 'सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्।' (ऋ० १. ५२. १३)

२४ नकिम्

निषेध

नोट—वैदिकसाहित्य में 'नकीम्' इसप्रकार दीर्घघटित पाठ देखा जाता है। यथा—"नकीमिन्द्रो निकर्त्तवे" (ऋग्वेदे ८. ७८. ५)।

२५ माङ्

मत (निषेध) मा कार्षीः, मा हार्षीः।

नोट—अनुबन्ध ङकार का लोप होकर 'माङ्' का 'मा' ही अवशिष्ट रहता है। ध्यान रहे कि इस अव्यय का स्वरादियों में भी पाठ किया गया है। श्रीनागेश के विचार में इसका वहां पाठ व्यर्थ है; क्योंकि यहां पढ़ने से स्वर (अन्तोदात्त) में तो कोई अन्तर आता ही

नहीं, उलटा—यहां पढ़ने के कारण लक्ष्मीवाची 'मा' शब्द की अव्यय-सञ्ज्ञा नहीं होती—जो न करनी ही अभीष्ट है। यहां का विशेष विचार 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में करेंगे।

२६ नञ् +	नहीं	न हि सुशिक्षितोऽपि वटुः स्वस्कन्धमारोढुं पटुः।

नोट—इसका भी स्वरादियों में पाठ श्रीनागेश के मतानुसार अप्रामाणिक है—देखो 'लघुशब्देन्दुशेखर'।

२७ यावत् +	१ अवधि (पर्यन्त)	'स्तन्यत्यागं यावत् पुत्रयोरवेक्षस्व'। (उत्तरराम०) 'सर्पकोटरं यावत्'। (पञ्चतन्त्रे)
	२ जब (यदा)	'यावदुत्थाय निरीक्षते तावद्धंसोऽवलोकितः' (पञ्च०)
	३ जब तक	'यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः'। 'यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहम्—' (भर्तृहरि)।
	४ उस समय तक, तब तक	'तद् यावद् गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि'। 'यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि'। (शाकु०)

नोट—'जितना' अर्थ में त्रिलिङ्गी 'यावत्' शब्द का भी बहुधा प्रयोग देखा जाता है। यथा—

"पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम्।
दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते।"
(कुमार०)

"यावान् अर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः"॥
(गीता)

२८ तावत् +	पहले (अन्य काम करने से पूर्व)	आर्ये! इतस्तावद् आगम्यताम्।
	तब तक	तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किञ्चिन्न भाषते।

नोट—'यावत्' की तरह 'तावत्' शब्द भी त्रिलिङ्गी परिमाणवाची हुआ करता है। यथा—

'यावती सम्भवेद् वृत्तिस्तावतीं दातुमर्हसि'।

२९ त्वै	विशेष	अयं त्वै प्रकुप्यते। [गणरत्नमहोदधौ]
	वितर्क	कस्त्वा एषोऽभिगच्छति। [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—यह अव्यय ब्राह्मणग्रन्थों के कतिपय प्रयोगों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हो सका। शतपथ (माध्यान्दिनीय) के (१२. २. २. १२) में इसका प्रयोग देखा जाता है। एवम् अन्य ब्राह्मणों में भी क्वाचित्क प्रयोग है।

३० न्वै	विशेष, वितर्क	को न्वा एषोऽभिगच्छति। [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—कई लोग 'त्वै' के स्थान पर 'न्वै' का पाठ करते हैं। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में दोनों का पाठ देखा जाता है। 'न्वै' का पाठ निदर्शनार्थ माध्यन्दिनीय शतपथ में (१२. ४. १. ३) के स्थान पर देखें।

३१ ह्वै	वितर्क	इसका उदाहरण व प्रयोग वर्त्तमान उपलब्ध संस्कृतसाहित्य में हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।
३२ रै	१ दान (देना)	रै करोति। दानं ददातीत्यर्थः।
	२ अनादर	त्वं रै किं करिष्यसि।

नोट—इस अव्यय के उपर्युक्त दोनों उदाहरण 'प्रक्रियाकौमुदी' की 'प्रसादटीका' के हैं। 'प्रौढमनोरमा' में भी इन्हें उद्धृत किया गया है। अन्यत्र प्रयोग अन्वेषणीय है।

३३ श्रौषट्	पहले स्वरादिगण में व्याख्या की जा चुकी है।
३४ वौषट्	पहले स्वरादिगण में व्याख्या की जा चुकी है।
३५ स्वाहा	देवताओं के निमित्त हविर्दान में — अग्नये स्वाहा।

३६ स्वधा — पहले स्वरादियों में व्याख्या की जा चुकी है।

३७ वषट् — पहले स्वरादियों में व्याख्या की जा चुकी है।

नोट—स्वरादियों में कथित श्रौषट् आदि अनेक अच् वालों का यहां पुनर्ग्रहण स्वरभेद के लिये ही है।

३८ तुम्	तूँ २ कह कर अनादर करना	'गुरुं हुङ्कृत्य तुङ्कृत्य.......'।

नोट—यहां 'तुम्' से उपर्युक्त उदाहरणगत 'तुम्' के ग्रहण में हमारा मन सन्देह करता है। आगे सुधीजन ही युक्तायुक्त को विचारें।

३९ तथाहि +	किसी प्रसिद्ध बात के निदर्शन में	"तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना। तथाहि सर्वे तस्यासन् परार्थैकफला गुणाः"॥ [रघु०]

नोट—यह अव्यय 'तथा' और 'हि' इन दो अव्ययों के समुदाय से रचा गया है।

४० खलु +	१ निश्चय-वस्तुतः-सचमुच	'न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्' (रघु०)। 'पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानम्' (पञ्चतन्त्रे)
	२ अनुनय करना	'न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योयमस्मिन्' (शाकु०)
	३ जिज्ञासा-पूछताछ	स खल्वधीते वेदम्।
	४ नियम, अवधारण	'प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां धियः' (गणरत्नमहोदधौ) प्रवृत्तिसारा एवेत्यर्थः।
	५ निषेध	खलु कृत्वा।['अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः-'(३.४.१८)]

नोट—'न पादादौ खल्वादयः' वाला वामनसूत्र निषेधार्थकभिन्न 'खलु' के लिये है।

४१ किल +	१ ऐतिह्य बात कहने में	'कंसं जघान किल वासुदेवः'। 'बभूव योगी किल कार्त्तवीर्यः।
	२ अरुचि	'एवं किल केचिद्वदन्ति'। [केषाञ्चिदेवं कथन वक्तुररुचिविषय इत्यर्थः।]
	३ न्यक्कार-तिरस्कार	'स किल योत्स्यते'। [तस्य योधनशक्तिराहित्य-द्योतनात् तिरस्कारो गम्यते।]
	४ सम्भावना	'पार्थः किल विजेष्यते कुरून्' [पार्थकर्तृककुरुविजयः सम्भावनाविषय इत्यर्थः।]
	५ अलीक-अवास्तविक बात कहने में	'प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष' (रघु०)। सिंहकर्तृक-नन्दिनीकर्षणं वस्तुतोऽलीकमित्यर्थः।
४२ अथो	समुच्चय	'स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या—' (मनु०)
	आनन्तर्य	"इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना, मनोगतं सा न शशाक शंसितुम्। अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्त्तिनीम्, विवर्त्तितानञ्जननेत्रमैक्षत ॥" (कुमार०)

नोट—इस अव्यय के भी प्रायः 'अथ' के समान अर्थ होते हैं। किञ्च—इसके आगे स्वर आने पर 'ओत्' (५६) सूत्र द्वारा प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जाती है। तब प्रकृतिभाव होने के कारण सन्धि नहीं होती। यथा—अनेन व्याकरणमधीतमथो एनं छन्दोऽध्यापयेति।

४३ अथ

इसका विवेचन स्वरादियों में हो चुका है। स्वरादियों में इस के पाठ का प्रयोजन बतलाते हुए श्रीभट्टोजिदीक्षित 'प्रौढमनोरमा' में लिखते हैं—"स्वरादियों में इसके पढ़ने का प्रयोजन यह है कि मङ्गलरूपसत्त्ववाची 'अथ' शब्द की भी अव्ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो जावे। यथा नैषध में—(१५. ६)।

"उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव ॥"

यहां 'अथ स्नपयाम्बभूव' का अर्थ 'मङ्गलं स्नपनं चकार' ऐसा है। निपातों में पढ़ा गया यह 'अथ' शब्द तो स्वरूप से ही मङ्गलजनक होता है किन्तु उसका वाचक नहीं होता।"

तत्त्वबोधिनीकार श्रीज्ञानेन्द्रस्वामी आदि ने दीक्षितजी के इसी कथन का अनुकरण किया है। परन्तु दीक्षितजी के ये विचार हमें कुछ रुचिकर प्रतीत नहीं होते, क्योंकि यदि ऐसा माना जावे तो केवल स्वरादियों के अन्तर्गत पाठ से ही काम चल सकता है निपातों में गिनने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हमारा तो कुछ ऐसा विचार है कि स्वरादियों में इस का पाठ ही प्रक्षिप्त है। इसका पाठ केवल चादियों में ही है। इस विषय पर विशेष विचार 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में व्यक्त करेंगे।

४४ सुष्ठु +	प्रशस्त-अच्छा	'सुष्ठु शोभसे आर्यपुत्र'।
४५ स्म +	भूतकाल में	'क्रीणन्ति स्म प्राणमूल्यैर्यशांसि' (माघे)

नोट—यहां भूतकाल में भी 'लट् स्मे' (३. २. ११८) तथा 'अपरोक्षे च' (३. २. ११९) सूत्र से लट् हो जाता है।

४६ आदह	१ हिंसा	'आदहारीन् पुरंदर'। [गणरत्नमहोदधौ]
	२ उपक्रम	'आदह भक्तस्य भोजनाय' [गणरत्नमहोदधौ]
	३ कुत्सन	'कुर्वादह यदि करिष्यसि' [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—इस अव्यय का हमें कहीं प्रयोग नहीं मिल सका। श्री दीक्षितजी को भी इसका प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ; यह उन्होंने स्पष्ट 'शब्दकौस्तुभ' में स्वीकार किया है।

उपसर्ग-विभक्ति-स्वर-प्रतिरूपकाश्च। (गणसूत्रम्)

अर्थः—उपसर्गप्रतिरूपक, विभक्तिप्रतिरूपक तथा स्वरप्रतिरूपक भी चादियों में पढ़ने चाहियें। जो वस्तुतः उपसर्ग तो न हों किन्तु उपसर्ग के समान प्रतीत हों उन्हें

'उपसर्गप्रतिरूपक' कहते हैं । इसीप्रकार—विभक्ति के समान प्रतीत होने वाले 'विभक्तिप्रतिरूपक' तथा अच् के समान प्रतीत होने वाले 'स्वरप्रतिरूपक' कहाते हैं ।

(उपसर्गप्रतिरूपक यथा—)

४७ अवदत्तम्	दिया हुआ	किमन्नम् अवदत्तं त्वया ?

नोट—यहां 'अव' के उपसर्ग न होने के कारण 'दा' धातु को 'अच उपसर्गात्तः' (७.४.४७) सूत्र द्वारा तान्त आदेश नहीं होता । 'दो दद् घोः' (७. ४. ४६) सूत्र से 'दद्' आदेश ही होता है । ध्यान रहे कि 'अव' उपसर्ग के योग में 'अवत्तम्' रूप बनता है । इसी प्रकार—

"अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तञ्चादिकर्मणि ।
सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेष्यते ॥"

(विभक्तिप्रतिरूपक यथा—)

४८ अहंयु	अहङ्कारवान्	"अहंयुनाऽथ क्षितिपः शुभंयुरूचे वचस्तापसकुञ्जरेण" । [भट्टि० १. २०]

नोट—'अहम्' यह विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है । 'अस्मद्' शब्द के प्रथमा के एकवचन के समान प्रतीत होता है; परन्तु है उससे नितान्त भिन्न ही । इस अव्यय से 'अहंशुभमोर्युस्' (११९२) सूत्र द्वारा मत्वर्थीय 'युस्' प्रत्यय हो जाता है । अहम् अस्यास्तीति —'अहंयुः' । 'अहंयु' शब्द उकारान्त त्रिलिङ्गी हो जाता है (ध्यान रहे कि इसे सकारान्त समझना भूल है । सित्त्व पदत्वार्थ है । अतः 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार हो जाता है) । 'अहंयु' शब्द में यदि 'अस्मद्' शब्द होता तो 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७. २. ९८) द्वारा मपर्यन्त मद् आदेश होकर—'मद्यु' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता ।

इसीप्रकार 'शुभम्' (पवित्रता व भाग्य) इस विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय से भी 'युस्' प्रत्यय होकर —'शुभंयु' शब्द निष्पन्न होता है । इस का उदाहरण भी ऊपर साथ ही दे दिया है ।

चिरेण, चिराय, चिरात्, चिरे, चिरस्य, अकस्मात्, मम ['क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव' (कुमार० १. १२), 'ममत्वं गतराज्यस्य', 'ममता मता'] इत्यादि अव्ययों को भी कई लोग स्वरादियों में न पढ़ कर चादियों में पढ़ते हैं। ये सब विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय हैं। विभक्ति न होने पर भी इन में विभक्ति का भ्रम होता है। इन में सुबन्तविभक्ति का भ्रम होने से इन को सुबन्तप्रति-रूपक अव्यय भी कहते हैं। तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय का उदाहरण यथा —

४९ अस्तिक्षीरा क्षीरवती गौ आदि, अस्ति ममैकाऽस्तिक्षीरा गौः।

नोट—अस्ति (विद्यमानम्) क्षीरं (दुग्धम्) यस्याः सा = अस्तिक्षीरा। बहुव्रीहिसमासः। यहां 'अस्ति' यह विद्यमानार्थ विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय है। यदि यह तिङन्त होता तो इसका सुबन्त 'क्षीर' शब्द के साथ समास न हो सकता। [देखो—'अनेकमन्यपदार्थे' (८३९)]।

वस्तुतः 'अस्ति' को तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय मानना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसका पीछे स्वरादियों में पाठ आ चुका है। अतः इसकी अव्ययसञ्ज्ञा तो सिद्ध है ही। इसके स्थान पर 'अस्मि' (मैं) का उदाहरण यहां के लिये युक्त है। 'अस्मि' के उदाहरण यथा—

१. "त्वाम् अस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति" (साहित्यदर्पणे)

२. "दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणाम्
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नास्मि दूये"।

३. "आसंसृतेरस्मि जगत्सु जातः" (किरा० ३. ६)।

योगशास्त्र में प्रसिद्ध 'अस्मिता' शब्द भी इस अव्यय से निष्पन्न होता है। इसीप्रकार—अस्तु, आह, आस प्रभृति भी तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय हैं।

(स्वरप्रतिरूपक यथा—)

५० अ	आक्षेप	अ पचसि त्वं जाल्म !
	सम्बोधन	अ अनन्त !
५१ आ	१ पूर्वप्रक्रान्त वाक्य के अन्यथा करने में	आ एवं नु मन्यसे । [अब तू ऐसा मानता है । अर्थात् पहले तू ऐसा नहीं मानता था अब मानने लगा है ।]
	२ स्मरण	आ एवं किल तत् । [ओह ! वह ऐसा ही है ।]
५२ इ	सम्बोधन, विस्मय	इ इन्द्रं पश्य ।
५३ ई	सम्बोधन	ई ईश !
५४ उ	सम्बोधन, वितर्क	उ उमेश !
५५ ऊ	सम्बोधन	ऊ ऊषरे बीजं वपति ।
५६ ए	,,	ए इतो भव ।
५७ ऐ	,,	ऐ इतो भव ।
५८ ओ	,,	ओ श्रावय ।
५९ औ	,,	औ महात्मन् ! ।

नोट— इन अव्ययों से अच् परे होने पर 'निपात एकाजनाङ्' (५५) सूत्र द्वारा प्रगृह्यसञ्ज्ञा होकर प्रकृतिभाव हो जाता है । ये सब स्वरप्रतिरूपक अव्यय हैं ।

६० पशु	ठीक तरह	लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः ।
६१ शुकम्	शीघ्र	शुकं गच्छति । [प्रक्रियाकौमुदी की प्रासादटीका]

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

६२ यथाकथाच	अनादर	'यथाकथाच दीयते' [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—प्रयोग गवेषणीय हैं ।

६३ पाट्	सम्बोधन	पाट् पान्थाः !
६४ प्याट्	,,	प्याट् पाठकाः !
६५ अङ्ग +	सम्बोधन	'तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्ग ! वाग्घस्तवता नरेण'। 'प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकस्ते'।

नोट—'अङ्ग' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यथा—

"क्षिप्रे च पुनरर्थे च सङ्गमासूययोस्तथा।
हर्षे सम्बोधने चैव ह्यङ्गशब्दः प्रयुज्यते॥"

६६ है	सम्बोधन	है राम ! पाहि माम्।
६७ हे +	,,	हे राम ! मां पालय।
६८ भोस् +	,,	कः कोऽत्र भो ! दौवारिकाणाम्।
६९ अये +	,,	अये ! गौरीनाथ ! त्रिपुरहर ! शम्भो ! त्रिनयन !
७० घ	पादपूर्त्ति, हिंसा, प्रातिलोम्य	घ हिनस्ति मृगं व्याधाः। [प्रक्रियाकौमुदी प्रासादटीका]

नोट—इस अव्यय का प्रयोग आधुनिक उपलब्ध संस्कृतसाहित्य में नहीं मिलता। अथर्ववेद में 'घ' का पाठ तीन स्थानों पर आया है परन्तु वहां अव्यय का प्रयोग न होकर धातु का रूप प्रयुक्त किया गया है।

७१ विषु	साम्य	विषु विद्यतेऽस्येति—विषुवत्। समरात्रिन्दिवः कालः (Equinox) इत्यर्थः। उक्तञ्च भारते— "भवति सहस्रगुणं दिनस्य राहो- र्विषुवति चाक्षयमश्नुते फलम्॥"
	नाना	उदाहरणम्मृग्यम्।
७२ एकपदे	शीघ्र	'निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव' (माघे०)।

	अचानक	'कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे' (रघु० ८. ४८)
७३ पुत्	कुत्सा-गर्हा	उदाहरणम्मृग्यम् ।

नोट—शब्दकौस्तुभ, प्रौढमनोरमा, व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि आदि ग्रन्थों में यहां 'पुत्' पाठ देकर "पुत् = कुत्सितमवयवं छादयतीति-पुच्छम्" ऐसा उदाहरण भी लिखा हुआ है ।

७४ आत	इतोऽपि = इस कारण से भी	'आतश्च सूत्रत एव' (महाभाष्ये पस्पशाह्निके)

आकृतिगणोऽयम् ।

यह चादिगण भी आकृतिगण है । प्रयोग में देखे जाने वाले कुछ अन्य शब्द यथा—

१ आहोस्वित् = विकल्प । २ उताहो = विकल्प । ३ दिष्ट्या = बधाई व आनन्द । ४ चाटु = चापलूसी । ५ चटु = चापलूसी । ६ इति = समाप्ति । ७ इव = सादृश्य, तरह । ८ अथत्वे = आजकल । ९ जातु = कदाचित् । १० नो = नहीं । ११ अह्नाय = शीघ्र । १२ अहो = आश्चर्य । १३ व = सादृश्य (मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम) । १४ प्रसह्य = बलपूर्वक, जबरदस्ती । १५ किञ्च = और भी, इसके अतिरिक्त । १६ ते = तुझ से (त्वया) । १७ मे = मुझ से (मया) ['तेमेशब्दौ निपातेषु' (५. २. १०) इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ । 'श्रुतं ते (त्वया) वचनं तस्य', 'विलस्य वाणी न कदापि मे (मया) श्रुता' ।] इत्यादि शिष्टग्रन्थों के प्रयोगानुसार जान लेने चाहियें ।

यहां यह ध्यान रखने योग्य है कि यद्यपि स्वरादि और चादि दोनों आकृतिगण हैं तथापि जिन में निपातस्वर (आद्युदात्त) इष्ट हो उन्हें चादियों में और जिन में इष्ट न हो उन्हें स्वरादियों में गिनना चाहिये । किञ्च जहां दोनों प्रकार के स्वर अभीष्ट हों उन को दोनों गणों में पढ़ना युक्त है । इन चादियों से अतिरिक्त अन्य भी बहुत से निपात होते हैं । उन सब की भी 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) सूत्र से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है । इन सब का विवेचन जानने के इच्छुक 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१. ४. ५६) के अधिकार को अष्टाध्यायी व काशिकावृत्ति में देखें ।

'प्र' आदि भी निपाताधिकार में 'प्रादयः' (१. ४. ५८) द्वारा निपातसञ्ज्ञक होकर अव्ययसञ्ज्ञक हो जाते हैं। इन प्रादियों का क्रिया के योग में तथा क्रियायोग के अभाव में भी स्वतन्त्ररीत्या प्रयोग हुआ करता है। क्रिया के योग में इन की (३५) सूत्र से उपसर्गसञ्ज्ञा विशेष है। निपातसञ्ज्ञा तो दोनों अवस्थाओं में ही अक्षुण्ण बनी रहती है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्— ३६८ तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ।१।१।३७॥

यस्मात् सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात्।

अर्थः—जिस तद्धितान्त से वचनत्रयात्मिका सब विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं वह अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—तद्धितः । १ । १ । च इत्यव्ययपदम् । असर्वविभक्तिः । १ । १ । अव्ययम् । १ । १ । ['स्वरादिनिपातमव्ययम्' से] समासः—नोत्पद्यन्ते सर्वा वचनत्रयात्मिका* विभक्तयो यस्मात् सोऽसर्वविभक्तिः, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(असर्वविभक्तिः) जिस से वचनत्रयात्मिका सम्पूर्ण विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं वह (तद्धितः = तद्धितान्त†) तद्धितान्त (च) भी (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

यथा—'अतः' (इस से) इस तद्धितान्त से सब विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं अर्थात् 'इस से को, इस के द्वारा, इसके लिये' इत्यादि विभक्तियों वाला व्यवहार इस से नहीं हो सकता। इसलिये यह अव्ययसञ्ज्ञक है। इसलिये—'अत्रतः' 'तत्रतः' 'कुत्रतः' आदि प्रयोग ठीक नहीं।

---

* "एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते" इस महाभाष्य के कथन से सब विभक्तियों का एकवचन तो सब शब्दों से स्वतःसिद्ध है ही, अतः 'असर्वविभक्तिः' यह कथन व्यर्थ हो जाता है। इसलिये यहां इसका यह आशय समझना चाहिये कि—जिस तद्धितान्त से सब विभक्तियों के सब वचनों की उत्पत्ति न हो उसकी अव्ययसञ्ज्ञा होती है।

† केवलस्य तद्धितस्य प्रयोगाभावेन फलाभावात् सञ्ज्ञाविधावपि तदन्तविधिरिति भावः।

प्रशस्तं पचतीति—पचतिरूपम् ['प्रशंसायां रूपप्' (५. ३. ६६)] ईषत् पचतीति पचतिकल्पम् ['ईषदसमाप्तौ कल्पब्.......' (५. ३. ६७)]। यहां इन तद्धितान्तों से भी सब वचनत्रयात्मिका विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं अतः इन की भी अव्ययसञ्ज्ञा होकर सुप् का लुक् प्राप्त होता है—जो अत्यन्त अनिष्ट है। किञ्च वचनत्रयात्मिका सब विभक्तियां तो 'उभय' शब्द से भी उत्पन्न नहीं होतीं और यह तद्धितान्त भी है अतः इसकी भी अव्यय सञ्ज्ञा होकर सुब्लुक् आदि दोष प्राप्त होते हैं। इस पर उन उन तद्धितप्रत्ययों का परिगणन करते हैं जिन के अन्त में आने से अव्ययसञ्ज्ञा होती है। †

[लघु०] परिगणनं कर्त्तव्यम्। तसिलादयः प्राक्पाशपः। शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः। अम्। आम्। कृत्वोऽर्थाः। तसि-वती। ना-नाञौ। एतदन्तमव्ययम्। अत इत्यादि।

अर्थः—उन तद्धित प्रत्ययों का परिगणन करना चाहिये

(क) 'तसिल्' से लेकर 'पाशप्' के पूर्व तक सब प्रत्यय।

(ख) 'शस्' से लेकर समासान्तों के पूर्व तक सब प्रत्यय।

(ग) 'अम्' और 'आम्' प्रत्यय।

(घ) 'कृत्वसुच्' तथा उस के अर्थ वाले अन्य प्रत्यय।

(ङ) 'तसि' और 'वति' प्रत्यय।

(च) 'ना' और 'नाञ्' प्रत्यय।

ये तद्धितप्रत्यय जिन के अन्त में हों उनकी अव्ययसञ्ज्ञा होती है। यथा—'अतः' (यहां 'तसिल्' प्रत्यय अन्त में है)।

व्याख्या— उपर्युक्त सब प्रत्यय अष्टाध्यायी के क्रम से कहे गये हैं। जिन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होगी उन के लिये यह सब समझना अत्यन्त सुकर है। हम कोष्ठ में ससूत्र इनका स्पष्टीकरण करते हैं—

---

† यहां यह ध्यान रहे कि इस परिगणन के विना दोषनिवृत्ति असम्भव है, अतः यह 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' सूत्र व्यर्थ सा हो जाता है। अत एव प्राचीन वैयाकरणों ने इस परिगणन को स्वरादिगण में सम्मिलित कर दिया है। [देखो—काशिकावृत्ति १. १. ३७]

(क) तसिलादयः प्राक्पाशपः।

प्रत्यय	सूत्र	सार्थ उदाहरण व स्पष्टीकरण
तसिल्	'पञ्चम्यास्तसिल्' (५. ३. ७)	कुतः = किस से, सर्वतः = सब से, अतः = इस से, यतः = जिस से, ततः = उस से, बहुतः = बहुतों से, इत्यादि।
	'पर्यभिभ्याञ्च' (५. ३. ९)	परितः = चहुं ओर, अभितः = दोनों ओर।
त्रल्	'सप्तम्यास्त्रल्' (५. ३. १०)	कुत्र = कहां, तत्र = वहां, यत्र = जहां, अत्र = यहां, सर्वत्र = सब जगह, अन्यत्र = दूसरी जगह, बहुत्र = बहुत जगह, इत्यादि।
ह	'इदमो हः' (५. ३. ११)	इह = यहां।
	'वाह च च्छन्दसि' (५. ३. १३)	कुह = कहां (वेद में ही प्रयोग होता है)।
अत्	'किमोऽत्' (५. ३. १२)	क्व = कहां।
दा	'सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा' (५. ३. १५)	सर्वदा = सदा, सदा = हमेशा, कदा = कब, एकदा = एक बार, अन्यदा = अन्य बार, यदा = जब, तदा = तब।
र्हिल्	'इदमो र्हिल्' (५. ३. १६)	एतर्हि = इस समय।
	'अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्' (५. ३. २१)	कर्हि = कब, यर्हि = जब, तर्हि = तब, इत्यादि।
धुना	'अधुना' (५. ३. १७)	अधुना = अब। [भाष्य के मत से 'अधुना' प्रत्यय है, 'इदम्' को 'इश्' होकर उसका लोप हो जाता है]
दानीम्	'दानीञ्च' (५. ३. १८)	इदानीम् = अब।
	'तदो दा च' (५. ३. १९)	तदानीम् = तब।

द्यस् आदि (निपातन)	'सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्य-पूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः' (५. ३. २२)	सद्यः = उसी समय, फौरन, तत्काल। परुत् = पूर्वले वर्ष (में)। परारि = पहिले से पहिले वर्ष (में), परार। ऐषमस् (ऐषमः) = इस वर्ष। परेद्यवि = परले दिन, परसों। अद्य = आज। पूर्वेद्युस् (:) = पूर्व दिन। अन्येद्युस् (:) = अन्य दिन। अन्यतरेद्युस् (:) = अन्य से अन्य दिन। इतरेद्युस् (:) = अन्य दिन। अपरेद्युस् (:) = अन्य दिन। अधरेद्युस् (:) = परले दिन, परसों। उभयेद्युस् (:) = दोनों दिन (में)। उत्तरेद्युस् (:) = अगले दिन।
	'द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः'	उभयद्युस् (:) = दोनों दिन।
थाल्	'प्रकारवचने थाल्' (५. ३. २३)	यथा = जैसे, तथा = वैसे, सर्वथा = सब प्रकार से, उभयथा = दोनों तरह से, इत्यादि।
थमु	'इदमस्थमुः' (५. ३. २४)	इत्थम् = इस प्रकार।
	'किमश्च' (५. ३. २५)	कथम् = कैसे, किस प्रकार।
था	'था हेतौ च च्छन्दसि' (५. ३. २६)	कथा = किस कारण से [वेद में ही प्रयोग होता है]।
अस्ताति	'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' (५. ३. २७)	पुरस्तात् = पूर्व में, पूर्व से, पूर्व (दिशा, देश और काल तीनों के लिये)। इसी प्रकार—अधस्तात् इत्यादि।
अतसुच्	'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' (५. ३. २८)	दक्षिणतः = दक्षिण में, दक्षिण से, दक्षिण (दिशा और देश केवल दो के लिये)। उत्तरतः = उत्तर में, उत्तर से, उत्तर (दिशा, देश और काल तीनों के लिये)।

	'विभाषा परावराभ्याम्' (५. ३. २९)	परतः = पर में, पर से, पर। अवरतः = पीछे में, पीछे से, पीछे। (दिशा, देश और काल)
अस्तातेर्लुक्	'अञ्चेर्लुक्' (५. ३. ३०)	प्राक् = पूर्व में, पूर्व से, पूर्व (दिशा, देश, काल)।
रिल् रिष्टातिल्	'उपर्युपरिष्टात्' (५. ३. ३१)	उपरि / उपरिष्टात् } ऊपर में, ऊपर से, ऊपर (दिग्देशकाल)।
आति	'पश्चात्' (५. ३. ३१)	पश्चात् = पीछे ['अस्ताति' की तरह अर्थ]
अ आ	'पश्च पश्चा च च्छन्दसि' (५. ३. ३३)	पश्च / पश्चा } पीछे (अस्तात्यर्थे, वेद एव प्रयोगः।)
आति	'उत्तराधरदक्षिणादातिः' (५. ३. ३४)	उत्तरात् = अस्तात्यर्थे, यथा – उत्तरस्तात्। अधरात् = अस्तात्यर्थे, यथा—अधरस्तात्। दक्षिणात् = अस्तात्यर्थे, यथा – दक्षिणस्तात्।
एनप्	'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः' (५. ३. ३५)	उत्तरेण, अधरेण, दक्षिणेन। सब जगह 'अस्ताति' वाला अर्थ केवल पञ्चमी का ग्रहण नहीं, एवमग्रे।
आच्	'दक्षिणादाच्' (५. ३. ३६)	दक्षिणा (अस्तात्यर्थे)।
आहि	'आहि च दूरे' (५. ३. ३७)	दक्षिणाहि (अस्तात्यर्थे)।
	'उत्तराच्च' (५. ३. ३८)	उत्तराहि (अस्तात्यर्थे)।
असि	'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' (५. ३. ३९)	पुरस् (:), अधस् (:), अवस् (:)। (अस्ताति की तीनों विभक्तियों वाला अर्थ)
धा	'सङ्ख्याया विधार्थे धा' (५. ३. ४२)	एकधा = एक प्रकार, द्विधा = दो प्रकार, त्रिधा = तीन प्रकार। इसी प्रकार—चतुर्धा, पञ्चधा, षोढा, षड्धा आदि।

ध्यमुञ्	'एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम्' (५. ३. ४४)	ऐकध्यम् = एक प्रकार ।
धमुञ्	'द्वित्र्योश्च धमुञ्'(५. ३. ४५)	द्वैधम् = दो प्रकार, त्रैधम् = तीन प्रकार ।
एधाच्	'एधाच्च' (५. ३. ४६)	द्वेधा = दो प्रकार, त्रेधा = तीन प्रकार ।

अब इस के आगे 'याप्ये पाशप्' (५. ३. ४७) इस सूत्र से पाशप् प्रत्यय का विधान किया जाता है। 'पाशप्' से पूर्व का ग्रहण होने से 'पाशप्' प्रत्ययान्त की अव्यय-सञ्ज्ञा नहीं होती। अतएव—याप्यो (निन्दितो) वैयाकरणः = 'वैयाकरणपाशः' इत्यादियों में सुप् का लुक् नहीं होता। सुप् का लुक् तो अव्यय से परे ही हुआ करता है। देखो—'अव्ययादाप्सुपः' (३७२)।

(ख) शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः ।

प्रत्यय	सूत्र	सार्थ उदाहरण व स्पष्टीकरण
शस्	'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्' (५. ४. ४२) इत्यादि	बहुशः = बहुत (कर्मादिकारक)। अल्पशः = थोड़ा (कर्मादिकारक)। इत्यादि।
तसि	'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः' (५. ४. ४४)	प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति [प्रद्युम्न वासुदेव का प्रतिनिधि है]। अभिमन्युरर्जुनतः प्रति।
	'आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वार्त्तिक)	आदौ इति आदितः। मध्ये इति—मध्यतः।
	'अपादाने चाहीयरुहोः' (५. ४. ४५)	चौरादिति चौरतो बिभेति। अध्ययनादिति अध्ययनतः पराजयते।
	'अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्त्तरि तृतीयायाः' (५.४.४६)इत्यादि	वृत्तेनेति वृत्ततोऽतिगृह्यते। चारित्रेणेति चारित्रतोऽतिगृह्यते। इत्यादि।
च्वि	'अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः' (५.४.५०) इत्यादि।	अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोतीति शुक्लीकरोति। इत्यादि।

साति	'विभाषा साति कार्त्स्न्ये' (५. ४. ५२) इत्यादि ।	उदकीभवति—उदकसाद्भवति लवणम् । इत्यादि
त्रा	'देये त्रा च' (५. ४. ५५) इत्यादि ।	ब्राह्मणत्रा करोति । ब्राह्मणाधीनं देयं करोतीत्यर्थः । 'राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाध्वराज्योपमयेव राज्यम्' । (नैषधे-३. २४)
डाच्	'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्द्धादनितौ डाच्' (५. ४. ५७) इत्यादि	पटपटाभवति। दमदमाकरोति । इत्यादि ॥

इससे आगे समासान्त आरम्भ हो जाते हैं । तदन्तों की अव्ययसञ्ज्ञा नहीं होती । यथा—व्यूढोरस्कः ।

(ग) 'अम्' और 'आम्' ।

अम्	'अमु च छन्दसि' (५. ४. १२)	'प्रतरं नयामः' । [वेद एव]
आम्	'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (५. ४. ११)	पचतितराम् । पचतितमाम् । [अच्छा पकाता है ।] इत्यादि ।

(घ) कृत्वोऽर्थाः ॥

कृत्वसुच्	'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (५. ४. १७)	पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । [पाञ्च बार खाता है] सप्तकृत्वः = सातबार ।
सुच्	'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' (५. ४. १८)	द्विः = दो बार । त्रिः = तीनबार । चतुः = चार बार ।
	'एकस्य सकृच्च' (५.४. १९)	सकृत् = एक बार ।
धा	'विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले' (५. ४. २०)	बहुधा = अनेक बार ।

(ङ) 'तसि' और 'वति' प्रत्यय।

तसि	'तसिश्च' (४. १. ११३)	सुदामतः। पीलुमूलतः। हिमवत्तः।†
वति	'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' 'तत्र तस्येव' (५. ४. ११४-११६) इत्यादि।	ब्राह्मणेन तुल्यं वर्त्तत इति ब्राह्मणवत्। मथुरायामिव—मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। इत्यादि।

(च) 'ना' और 'नाञ्' प्रत्यय।

ना नाञ्	'विनञ्भ्यां नानाञौ न सह' (५. २. २७)	विना = पृथक् नाना = पृथक्	यहां का वक्तव्य पीछे स्वरादिगण में (५०-५१) शब्दों पर लिख चुके हैं।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्— ३६९ कृन्मेजन्तः। १। १। ३८॥

कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं स्यात्। स्मारम् स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै॥

अर्थः—मकारान्त व एजन्त कृत्प्रत्यय जिस के अन्त में हो उस की अव्ययसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या—कृत्। १। १। मेजन्तः। १। १। अव्ययम्। १। १। ['स्वरादि-निपातमव्ययम्' से] समासः—म् च एच् च = मेचौ। इतरेतरद्वन्द्वः। मेचौ अन्ते यस्य स मेजन्तः। बहुव्रीहिसमासः, सौत्रत्वात् कुत्वाभावः। ध्यान रहे कि केवल कृत्प्रत्यय का प्रयोग नहीं हो सकता अतः सञ्ज्ञाविधि में भी तदन्तविधि होकर 'कृत्' से 'कृदन्त' का ग्रहण होता है। अर्थः – (मेजन्तः) मकारान्त और एजन्त (कृत् = कृदन्तः) जो कृत्, वह जिसके अन्त में हो ऐसा शब्द (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

णमुल्, कमुल्, खमुञ्, तुमुन्—ये चार प्रत्यय ही कृत्प्रत्ययों में मान्त होते हैं। इनके उदाहरण यथा—

---

† ध्यान रहे कि यहाँ का 'तसि' प्रत्यय पीछे शस्प्रभृति में आए हुए 'तसि' प्रत्यय से भिन्न है।

णमुल्—स्मारं स्मारम्। 'स्मृ चिन्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' (३. ४. २२) सूत्र द्वारा णमुल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि और रपर करने से—'स्मारम्'। अब 'नित्यवीप्सयोः' (८. १. ४) से द्वित्व होकर—'स्मारं स्मारम्' प्रयोग सिद्ध होता है †। यहां अन्त में अम् (णमुल्) यह कृत् प्रत्यय विद्यमान रहने से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है। अव्ययसञ्ज्ञा होने से कृदन्तत्वात् सुप् की उत्पत्ति होने पर वक्ष्यमाण (३७२) सूत्र से उसका लुक् हो जाता है। 'स्मारं स्मारं गुरोर्वचः' (प्रौढमनोरमा) [गुरु जी के वचनों का बार-बार स्मरण कर के]।

कमुल्—'अग्निर्वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्' (विभक्तुमित्यर्थः)। यहां 'शकि णमुल्कमुलौ' (३. ४. १२) द्वारा णमुल् प्रत्यय हो जाता है। इसी सूत्र से 'अपलुपं नाशकत्' (अपलोप्तुमित्यर्थः) यहां 'कमुल्' प्रत्यय हो जाता है।

खमुञ्—'चोरङ्कारम् आक्रोशति'। यहां 'कृ' धातु से 'कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ्' (३. ४. २५) सूत्र द्वारा 'खमुञ्' प्रत्यय हो जाता है।

तुमुन्—पठितुम् (पढ़ने के लिये), भवितुम् (होने के लिये) इत्यादियों में 'तुमुन्ण्वुलौ—' (८४६) आदि सूत्रों से 'तुमुन्' प्रत्यय होता है।

ध्यान रहे कि णमुल् आदि चारों कृत्प्रत्यय अनुबन्धों का लोप हो जाने से मकारान्त हो जाते हैं। यथा—णमुल्—अम्, कमुल्—अम्, खमुञ्—अम्, तुमुन्—तुम्।

कृत्प्रत्ययों में एजन्तप्रत्यय [एकारान्त, ओकारान्त, ऐकारान्त, औकारान्त] 'तुमर्थे से—' (३. ४. ९) आदि सूत्रों से वेद में विधान किये जाते हैं। तदन्तों की भी अव्ययसञ्ज्ञा होती है। उदाहरण यथा—

प्रत्यय	उदाहरण	विधायकसूत्र	प्रत्यय	उदाहरण
से	वक्षे	'तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः' (३. ४. ९)	कध्यै	आहुवध्यै
सेन्	एषे		कध्यैन्	आहुवध्यै
असे	जीवसे		शध्यै	मादयध्यै
असेन्	जीवसे		शध्यैन्	पिबध्यै
क्से	प्रेषे		तवै	दातवै
कसेन्	श्रियसे		तवेङ्	सूतवे
अध्यै	उपाचरध्यै		तवेन्	कर्त्तवे
अध्यैन्	उपाचरध्यै			

† आध्यानार्थे णिचि मित्त्वे ह्रस्वे 'चिण्णमुलोः' इति वा दीर्घः।

प्रत्यय	उदाहरण	सूत्र
निपातन	प्रयै, रोहिष्यै, अव्यथिष्यै	'प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै' (३. ४. १०)
तवै	म्लेच्छितवै	'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वन.' (३. ४. १४)
केन्	अवगाहे	

इत्यादि कृदन्त शब्द वेद में ही प्रयुक्त होते हैं। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक् आदि होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—३७० क्त्वा-तोसुन्-कसुनः ।१।१।३९।।

एतदन्तमव्ययम् । कृत्वा । उदेतोः । विसृपः ।।

अर्थः—क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्यय जिनके अन्त में हों वे भी अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—क्त्वा-तोसुन्-कसुनः । १ । ३ । अव्ययानि । १ । ३ । ['स्वरादि-निपातमव्ययम्' से वचनविपरिणाम द्वारा । केवल प्रत्यय की सञ्ज्ञा का कुछ भी प्रयोजन न होने से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(क्त्वातोसुन्कसुनः) क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्यय जिनके अन्त में हों वे (अव्ययानि) अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं। उदाहरण यथा—

क्त्वा—कृत्वा, पठित्वा, भूत्वा, गत्वा आदि। यहां 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३. ४. २१) सूत्र से क्त्वा प्रत्यय हो जाता है। अतः क्त्वाप्रत्ययान्त होने के कारण इनकी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक् (३७२) आदि है।

तोसुन्—उदेतोः, अपाकर्त्तोः, आविजनितोः आदि। यहां 'भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदि-चरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्' (३. ४. १६) सूत्र द्वारा तोसुन् (तोस्) प्रत्यय हो जाता है। अतः इनकी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है।

कसुन्—विसृपः, आतृदः। यहां 'सृपितृदोः कसुन्' (३. ४. १७) सूत्र द्वारा 'कसुन्' (अस्) प्रत्यय हो जाता है। अतः इन की अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है।

क्त्वा, तोसुन् और कसुन् इन तीन प्रत्ययों में तोसुन् और कसुन् केवल वेद में तथा क्त्वा प्रत्यय लोक वेद दोनों में प्रयुक्त होता है। ये तीन प्रत्यय भी कृत्सञ्ज्ञक होते हैं।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्— ३७१ अव्ययीभावश्च ।१।१।४०।।

अधिहरि ॥

अर्थः—अव्ययीभावसमास भी अव्ययसञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—अव्ययीभावः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । अव्ययम् ।१।१। ['स्वरादिनिपातमव्ययम्' से] अर्थः—(अव्ययीभावः) अव्ययीभावसमास (च) भी (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होता है ।

समासप्रकरण में अव्ययीभावसमास का विवेचन किया गया है वहीं देखें। उदाहरण यथा—

अधिहरि [हरौ इत्यधिहरि । (हरि में)]

यहां विभक्त्यर्थ में 'अव्ययं विभक्ति......' (९०८) सूत्र द्वारा अव्ययीभावसमास हो जाता है । अव्ययीभावसमास होने से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है । अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक् आदि होता है । इसी प्रकार 'यथाशक्ति' आदियों में भी समझ लेना चाहिये ।

अब अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन दर्शाने के लिये अग्रिमसूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३७२ अव्ययादाप्सुपः ।२।४।८२।।

अव्ययाद्विहितस्यापः सुपश्च लुक् । तत्र शालायाम् ॥

अर्थः—अव्यय से विहित आप् (टाप् आदि) और सुप् प्रत्ययों का लुक् हो जाता है ।

व्याख्या—अव्ययात् ।५।१। आप्सुपः ।६।१। लुक् ।१।१। ['ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' से] आप् च सुप् च = आप्सुप्, तस्य = आप्सुपः, समाहारद्वन्द्वः । अर्थः—(अव्ययात्) अव्यय से विधान किए हुए (आप्सुपः) आप् और सुप् प्रत्ययों का (लुक्) लुक् हो जाता है । 'आप्' से टाप्, डाप् आदि स्त्रीप्रत्ययों का तथा सुप् से सु, औ, जस् आदि का ग्रहण होता है । उदाहरण यथा—

तत्र शालायाम् [उस शाला में] । यहां 'तत्र' यह अव्यय 'शाला' इस स्त्रीलिङ्ग का विशेषण है, अतः इस से 'अजाद्यष्टाप्' (१२४५) द्वारा टाप् प्रत्यय होकर प्रकृतसूत्र से लुक् हो जाता है ।

'सुप्' का लुक् तो प्रत्येक अव्यय से होता है । इस सूत्र विषयक विशेष विचार 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में देखें ।

अब 'अव्यय' का लक्षण करने के लिये एक अत्यन्त प्राचीन श्लोक (गोपथब्राह्मण की ब्रह्मपरक श्रुति) उद्धृत करते हैं—

[लघु०] "सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥"

अर्थः—जो तीनों लिङ्गों, सब विभक्तियों और सब वचनों में विकार को प्राप्त नहीं होता—एक जैसा ही रहता है—बदलता नहीं, वह अव्यय कहाता है।

व्याख्या—'अव्ययम्' यह अन्वर्थ (अर्थानुसारिणी) सञ्ज्ञा है। नास्ति व्ययः = विनाशः = विकृतिर्यस्य यस्मिन् वा, तद् अव्ययम्। जिस में किसी प्रकार की विकृति न हो—प्रत्येक अवस्था में एक जैसा स्वरूप रहे उसे 'अव्यय' कहते हैं। इसी लक्षण को ऊपर के श्लोक में और अधिक परिष्कृत किया गया है। श्लोक में 'विभक्ति' से तात्पर्य कर्म आदि कारक और 'वचन' से एकत्व, द्वित्व और बहुत्व का ग्रहण समझना चाहिये।

अब 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के विषय में श्रीभागुरि आचार्य का मत दर्शाते हैं—

[लघु०] "वष्टि† भागुरिरल्लोपम् अवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥"

वगाहः। अवगाहः। पिधानम्। अपिधानम् ॥

अर्थः—'भागुरि' आचार्य 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के (आदि) अकार का लोप चाहते हैं तथा हलन्त शब्दों से स्त्रीत्वबोधक 'आप्' प्रत्यय भी विधान करना चाहते है।

व्याख्या—'भागुरि' आचार्य सम्भवतः पाणिनि से पूर्व के आचार्य हो चुके हैं। परन्तु अष्टाध्यायी में पाणिनि ने उनके मत का कहीं उल्लेख नहीं किया। 'भागुरि' के मत में 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के आदि अकार का लोप हो जाता है, अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है। उदाहरण यथा—

---

† वशेश्छान्दसत्वेन प्रयोगश्चिन्त्य इति नागेशः। एतज्ज्ञापकाद् भाषायामप्यस्य प्रयोग इति तत्त्वबोधिनीबालमनोरमाकारादयः।

भागुरिसम्मतलोपपक्षे	लोपाभावे (अन्येषां मते)	अर्थः
१. वगाहः	अवगाहः	ग़ोता
२. पिधानम्	अपिधानम्	ढकना
३. वकाशः	अवकाशः	अवसर

इसी प्रकार अन्य धातुओं के योग में भी शिष्टग्रन्थानुसार लोप समझना चाहिये।

किञ्च—'हलन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्गबोधक टाप् हो' यह भी भागुरि आचार्य चाहते हैं। पाणिनि के मत में हलन्तों से टाप् विधायक कोई सूत्र नहीं अतः विकल्प सिद्ध हो जायगा। उदाहरण यथा—

१. वाच् (वाणी)	वाच् + टाप् (आ) = वाचा।
२. निश् (रात्रि)	निश् + टाप् (आ) = निशा।
३. दिश् (दिशा)	दिश् + टाप् (आ) = दिशा।

इसीप्रकार—

४. क्षुध् (भूख)	क्षुध् + टाप् (आ) = क्षुधा।
५. गिर् (वाणी)	गिर् + टाप् (आ) = गिरा।
६. प्रतिपद् (पहली तिथि)	प्रतिपद् + टाप् (आ) = प्रतिपदा।
७. सम्पद् (सम्पत्ति)	सम्पद् + टाप् (आ) = सम्पदा।
८. विपद् (विपत्ति)	विपद् + टाप् (आ) = विपदा।

परन्तु शेखरकार श्रीनागेश इस टाप् वाले पक्ष को अप्रामाणिक मानते हैं। विशेषजिज्ञासु उनका मत वहीं देखें।

[लघु०] इत्यव्ययप्रकरणं समाप्तम्।

इति सुबन्तम्।

इति पूर्वार्धम्॥

अर्थः—यहां 'अव्ययप्रकरण' और उसके साथ ही सुबन्त प्रकरण समाप्त होता है। किञ्च ग्रन्थ का पूर्वार्ध भी यहीं समाप्त जानना।

अभ्यासः (४८)

(१) 'मिथो' अव्यय का स्वरादिगण में पाठ उपयुक्त है या नहीं, सप्रमाण सोदाहरण विवेचन करो।

(२) 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'असर्वविभक्तिः' पद का तात्पर्य स्पष्ट करो और यह भी लिखो कि इस सूत्र के रचे जाने पर भी परिगणन की क्या आवश्यकता थी ?

(३) उपसर्गप्रतिरूपक और विभक्तिप्रतिरूपक अव्ययों को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है, उदाहरण देकर स्पष्ट करो ।

(४) निम्नलिखित अव्ययों का सार्थ सोदाहरण स्पष्टीकरण करो तथा इनकी अव्यय-सञ्ज्ञा करने वाला सूत्र भी सार्थ लिखो —

अथ, पठितुम्, परस्तात्, स्थाने, अलम्, नाना, विसृपः, यर्हि, पुरा, अस्ति, ऐषमः, तिरस्, अन्तरा, चिरम्, कम्, समया, कच्चित्, अस्मि, ऐकध्यम्, जीवसे, परुत्, खलु, प्रसह्य, यथाशक्ति, किल, सनुतर् ।

(५) "परिगणनं कर्त्तव्यम्" यह कह कर किन-किन प्रत्ययों का परिगणन किया गया है—सोदाहरण लिखो ।

(६) स्वर्, अन्तर्, प्रातर् आदि अव्यय यदि सकारान्त होते तो क्या अनिष्ट हो जाता, सोदाहरण सप्रमाण लिखो ।

(७) 'भागुरि' आचार्य के मत में क्षुध्, दिश्, निश्, वाच्, प्रतिपद्, सम्पद् आदि शब्दों के क्या २ रूप बनते हैं ? सप्रमाण स्पष्ट करो ।

(८) मान्त कृत्प्रत्यय कौन-कौन से हैं ? तदन्तों की अव्ययसञ्ज्ञा किस सूत्र से होती है ?

(९) 'अव्ययसञ्ज्ञा' की अन्वर्थता सिद्ध कर 'अव्यय' का सार्थ लक्षण लिखो ।

(१०) 'यत्र' अव्यय का चादिगण में पाठ क्यों किया गया है ? 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' से भी इसकी अव्ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती है ।

(११) (क) 'चादयोऽसत्त्वे' में 'असत्त्वे' कथन का क्या अभिप्राय है ?

(ख) 'चण्' और 'च' में तथा 'नञ्' और 'न' में अन्तर बताओ ।

(ग) 'तिरःकृत्वा' और 'तिरःकृत्य' इन दोनों के अर्थ का भेद स्पष्ट करो ।

इति श्रीभाटियावंशावतंस-स्वर्गीय-श्रीरामचन्द्र-वर्म-सूनु-श्रीभीमसेन-शास्त्रि-कृतायां भैम्यभिधविस्तृतव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याम् अव्यय-प्रकरणं समाप्तम् ।

समाप्तञ्चात्रपूर्वार्द्धम् ॥ शुभं भूयात् ॥

परिशिष्टम्

पूर्वार्द्ध-मूल-गत-सूत्राणाम् अकारादि-वर्णानुक्रमणिका

—— :०❀०: ——

सूत्राणि — पृष्ठसंख्या

[अ]

* सूत्रों के आगे (   ) इस प्रकार कोष्ठान्तर्गत अङ्क, उन सूत्रों के ग्रन्थगतक्रम के सूचक हैं। ग्रन्थ के प्रत्येक सूत्र से पूर्व उनका अङ्क लिखा है।

—:❀:—

पूर्वार्द्ध-गत-वार्त्तिकानाम् अकारादिवर्णानुक्रमणिका

——:o ❀ o:——

परिभाषादीनामनुक्रमणिका

(यहां व्याख्या वा मूल-गत परिभाषाओं न्यायों तथा विशेषवचनों की सूची दी जा रही है।)

——०:*:०——

—०:❀:०—

सुबन्त-शब्दानुक्रमणिका

[इन शब्दों की रूपमाला वा प्रक्रिया के लिए आगे लिखी पृष्ठसंख्या देखें]

——o:*:o——

तस्मै पाणिनये नमः

येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥
अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः ॥

सम्मति

(लेखक—कुरुक्षेत्रभूषण श्रीपण्डित कुञ्जुरामजी शास्त्री विद्यासागर)

—०:❀:०—

मैं ने श्री भीमसेनजी शास्त्री प्रभाकर कृत लघुकौमुदी की भैमी व्याख्या का साद्यान्त अवलोकन किया। लेखक की प्रतिभा प्रशंसनीय है। यद्यपि आज के युग में असङ्ख्य हिन्दी टीका कौमुदी पर विद्यमान हैं किन्तु इस टीका की लेखनप्रक्रिया, विशेष स्थलों का विस्तृत उद्घाटन, प्राञ्जलता रोचकता, भव्यता तथा सूत्रादिकों की विशदव्याख्या मुझे सब से अधिक पसन्द आई। यह टीका बालकों को ही क्या विद्वानों के लिये भी अध्यापनकार्य्य में महान् सहायक सिद्ध होगी। आजकल छात्रों का अध्ययन परीक्षा तक सीमित रहता है ज्ञान तो लेशमात्र ही होता है—कारण वे चुने हुए स्थलों का ही अध्ययन करते हैं किन्तु इस ग्रन्थ के लेखक ने अगाध अध्ययन, अकथनीय परिश्रम से परीक्षा के साथ योग्यतादायक टीका का सम्पादन करके परीक्षादित्सु छात्रों के लिये—**'आम के आम गुठलियों के दाम'** की कहावत चरितार्थ की है। छात्र ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक व्याकरण ज्ञानाभिलाषी को इससे प्रेरणा मिलेगी। आधुनिक शास्त्रिवर्ग के लिये तो अध्यापनकार्य में महान् उपयोगी सिद्ध होगी। आपको आरम्भ में ही इतनी सफलता मिली है भविष्य का तो फिर कहना ही क्या ? निस्सन्देह आप कृतपुण्यकर्मा पुरुषों में से हैं। आशा है कि भविष्य में लेखक सर्वोच्च टीकाकारों में एक होगा। मैं लेखक की उत्तरोत्तर सफलता हृदय से चाहता हूँ।

———